वैदिक विनय

आचार्य अभयदेव

वेद—कितना प्यारा है यह शब्द ! कितनी पवित्रता व उज्ज्वलता का वातावरण जुड़ा हुआ है इस शब्द के साथ ! वेद अनन्त ही नहीं है, शाश्वत भी है। यह यह देश की दृष्टि से ही असीम नहीं है। यह केवल परम व्योम में नहीं, मनुष्य के हृदयाकाश में भी विद्यमान है और सदा विद्यमान है।

प्रत्येक मानव प्राणी के हृदय में छिपे हुए इस शाश्वत वेद को जान लेने की आवश्यकता है जो कि अक्षर परम व्योम में विद्यमान वेद का मानव हृदयाकाश में पड़ा परिपूर्ण और शाश्वत प्रतिबिम्ब है।

—आचार्य अभयदेव

विशिष्ट संस्करण : एक सौ रुपए
साधारण संस्करण : साठ रुपए

वैदिक विनय
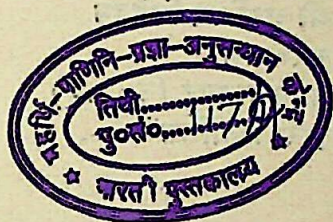
आचार्य अभयदेव

श्री अरविन्द निकेतन, चरथावल
जिला मुज़फ्फरनगर (उ० प्र०)

डा० सुरेश चन्द्र त्यागी
(अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
एम० एस० कालेज, सहारनपुर)
द्वारा सम्पादित

श्री अरविन्द निकेतन
चरथावल
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)
द्वारा प्रकाशित

आशिर प्रकाशन
रामजीवन नगर, चिलकाना रोड,
सहारनपुर-247001
द्वारा वितरित

नवयुगान्तर प्रेस
पो० बा० 333
शारदा रोड, मेरठ-250002
द्वारा मुद्रित

संस्करण 1988
विशिष्ट : एक सौ रुपये
साधारण : साठ रुपये

Vedic Vinaya, Acharya Abhay Dev, 1988

अनुक्रम

सम्पादकीय

दिशा-निर्देश

श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी के पुराने साधक एवं गुरुकुल कांगड़ी में आचार्य अभयदेव के शिष्य रहे श्री जगन्नाथ वेदालंकार ने आचार्य जी के बारे में लिखा है कि "स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा संस्थापित गुरुकुल कांगड़ी के तपस्वी स्नातकों में अग्रगण्य, उसके आचार्यों में सर्वाधिक प्रसिद्ध, आचार्य शब्द के सच्चे अर्थों में आचार्यत्व-विभूषित, आर्य-जगत् के विद्वानों और नेताओं में मूर्धन्य, महात्मा गांधी के अनुयायियों में विनोबा भावे और काका कालेलकर आदि की कोटि में परिगणित, सत्याग्रह आन्दोलन के मूक सेनानियों में प्रमुख, विद्यार्थी-जीवन से ही योगारूढ़, हठयोग एवं राजयोग आदि से नाना सिद्धिप्राप्त, श्री अरविन्द-योग के अनुसार समर्पण-साधना से सतत योगयुक्त, बाल ब्रह्मचारी, तपोधनी, अचलव्रती, वेदमूर्ति ब्रह्मर्षि अभयदेव का चरित्र कागज पर न लिखकर अपने जीवन-पट पर ही लिखना चाहिए।"

आचार्य अभयदेव (1896–1970) के व्यक्तित्व-कृतित्व के उपर्युक्त विविध आयामों से बहुत लोग चाहे परिचित न भी हों लेकिन 'वैदिक विनय' के रचयिता के रूप में उनकी ख्याति अक्षय बनी हुई है। 'वैदिक विनय' उनके जीवन-चिन्तन और आध्यात्मिक साधना का सार है। अनेक परिवार ऐसे हैं जहाँ प्रतिदिन प्रातःकाल 'वैदिक विनय' का नियमित पाठ किया जाता है।

वेद को अनन्त और शाश्वत मानने वाले आचार्य जी के जीवन-चिन्तन के प्रेरणा-स्रोत प्रातःस्मरणीय स्वामी श्रद्धानन्द रहे थे। उन्होंने आचार्य जी को 1921 में वैदिक तत्त्वशोधन के लिए गुरुकुल कांगड़ी बुला लिया था। तब छह माह ही वहाँ रहकर आचार्य जी असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के लिए गुरुकुल से चरथावल लौट आये थे। फिर स्वामी श्रद्धानन्द के आदेश से वह 1923 में वेदोपाध्याय के रूप में गुरुकुल आ गये। आचार्य जी ने अपनी आत्मकथा 'एक योगयात्री' में लिखा है—"गुरुकुल में ऐसे वेद पढ़ाने वाले की आवश्यकता प्रबलता से अनुभव की जा रही थी जो स्नातक हो तथा वेद में श्रद्धा उत्पन्न कर सके। मेरी तरफ दृष्टि जाती थी। यद्यपि गुरुकुल में द्वादश श्रेणी तक मैं वेद के घंटे को सबसे निरर्थक घंटा मानता था पर पीछे से मुझे लाला मुरारी लाल जी की संगति से वेद में श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। सो मेरे पास वेदोपाध्याय बनने के लिए पत्र तो कई आये थे।·· अन्त में जब स्वामी श्रद्धानन्द ने देहली में मुझे इसके लिए विशेषतया कहा और यहां तक कहा कि 'क्या तुम मेरा कहना नहीं मानोगे?' तब मुझे नतमस्तक हो जाना पड़ा। मैं स्वामी जी को स्नातक होने के बाद यह वचन दे चुका था कि आप मुझे जो कार्य बतायेंगे, वह अवश्य करूँगा।"
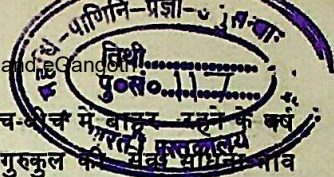
आचार्य अभयदेव ने इक्कीस वर्षों तक (बीच-बीच में बाहर रहने के वर्ष छोड़ दें तो लगभग चौदह वर्षों तक) विभिन्न रूपों में गुरुकुल की सेवा सात्त्विक भाव से की, स्वामी श्रद्धानन्द के वैयक्तिक प्रेम के प्रत्युत्तर रूप में या उनके ऋण से आनृण्य पाने के स्वाभाविक यत्न के रूप में की। वेदों का अध्ययन अध्यापन, चिन्तन-मनन निरन्तर चलता ही था। श्री जगन्नाथ जी ने लिखा है—"मुझे आचार्य जी से वेद पढ़ने तथा उनके आचार्यत्व में उन्हीं से स्नातक पदवी पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जब वे सुखासन या अर्धपद्मासन पर बैठ आंखों के पास वेद रख, आँखें आधी मींचे, वेदमन्त्रों की व्याख्या करते थे तो ऐसा लगता था मानों कोई ऋषि अपने साक्षात्कृत मन्त्रों का मर्म समझा रहा हो।" ऐसे वेदमय जीवन के चिन्तन-मनन का निचोड़ है 'वैदिक विनय' शीर्षक यह ग्रन्थ।

आचार्य जी ने स्वयं ही इस ग्रन्थ की भूमिका 'प्रारम्भिक वचन' में इसकी रचना की पृष्ठभूमि की ओर संकेत किया है। उनकी अप्रकाशित आत्मकथा का एक अंश 'वैदिक विनय' की रचना कैसे हुई ?' भी इस संस्करण में जोड़ा जा रहा है जिससे पाठकों को उन बाह्य घटनाओं की जानकारी मिलेगी जो आचार्य जी की अन्त:प्रेरणाओं के उद्घाटन का निमित्त बनीं। 'वैदिक विनय' का प्रथम प्रकाशन गुरुकुल कांगडी से तीन खण्डों में हुआ था। श्री अरविन्द निकेतन, चरथावल (आचार्य अभयदेव के पैतृक गांव में उन्हीं के द्वारा स्थापित संस्था) से इस ग्रन्थ के तीन खण्डों में ही कई संस्करण निकले। इस संस्करण में तीनों खण्डों को एकत्र कर दिया गया है और एक पृष्ठ पर एक ही तिथि के मन्त्र की व्याख्या आ गई है।

कानपुर जेल में रहते हुए आचार्य जी ने इस 'वैदिक विनय' की रचना का श्रीगणेश किया था। बाद में गुरुकुल के पवित्र वातावरण में इसकी रचना का क्रम चला। श्री जगन्नाथ जी ने एक संस्मरण लिखते हुए कहा है—"'वैदिक विनय' के तृतीय खण्ड की रचना के समय उन्होंने कृपावश मुझे अपना पांडुलिपि-लेखक बनाया था। बहुत तड़के वे ध्यानस्थ, समाहित से होकर, वेदमन्त्रों की विनय मुझे लिखाया करते थे। उस समय विनय का एक-एक शब्द उनके मुख से ऐसे निकलता था जैसे हृदय-गुहा मे ईश्वर-प्रेरित पश्यन्ती वाक् उद्भूत होकर वैखरी के रूप में झर रही हो। यही कारण है कि 'वैदिक विनय' का एक-एक शब्द हृदय-स्पर्शी है, हृत्तन्त्री को झंकृत और निनादित करता है, पाठक को भाव-विभोर और आनन्द-विह्वल कर देता है।" 'वैदिक विनय' का पारायण करके यह कथन अक्षरश: सत्य सिद्ध हो जाता है।

श्री अरविन्द के योग-मार्ग का साधक पथिक होने पर आचार्य अभयदेव का वैदिक दृष्टिकोण और व्यापक एवं गम्भीर बना। यह जानकारी यहाँ आवश्यक है कि श्री अरविन्द के वैदिक ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद करने का कार्य आचार्य जी ने ही किया था। यह कार्य सरल नहीं था क्योंकि श्री अरविन्द के वेदार्थ को हृदयंगम

करना और उसी गम्भीरता से दूसरी भाषा में व्यक्त करना तभी सम्भव है जबकि साधना की उच्चभूमि पर प्रतिष्ठित होकर कोई करे। आचार्य जी ने यह कार्य कितनी सफलतापूर्वक किया है, यह वैदिक साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् जानते हैं। 'आर्य' में धारावाहिक प्रकाशित श्री अरविन्द के वेद-विषयक लेखों का यह अनुवाद आचार्य जी ने श्री अरविन्द की अनुमति से ही किया था और अंगरेजी में पुस्तकाकार प्रकाशित होने से पहले ही 'वेद रहस्य' के नाम से हिन्दी में तीन खण्डों में प्रकाशित हो गया था।

वैदिक साहित्य के ऐसे व्याख्याता का यह ग्रन्थ 'आचार्य अभयदेव ग्रन्थावली' योजना का चतुर्थ खंड है। पाठकों को 'वैदिक विनय' भेंट करते हुए हमारी प्रसन्नता स्वाभाविक है। आइये, आचार्य जी की अपेक्षा के अनुरूप बनकर हम इसका अनुशीलन करें—"जब तक कि अर्थ इतना स्पष्ट नहीं हो गया कि अपना मन सन्तुष्ट हो जाय, तब तक अर्थ नहीं लिखा गया।···अपनी तरफ से निःसंशय कहा जा सकता है कि मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को जान लेने के लिए यथाशक्ति विकार-शून्य और निर्मल मन से पहुँच की गई है तथा इन मन्त्रों में से एक-एक मन्त्र का अर्थ सर्वप्रेरक प्रभु से सच्चे अर्थ का प्रकाश पाने की प्रार्थना करके, मानसिक पवित्रता की अवस्था लाकर ही लिखा गया है इसलिए पाठकों से भी प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे भी यदि ऐसे ही कुछ निर्मल भाव से इन प्रार्थनाओं का पाठ करेंगे, इनका स्वाध्याय व मनन करेंगे तो अच्छा होगा।"

सुरेश चन्द्र त्यागी

सहारनपुर
24 अप्रैल 1988

आचार्य अभयदेव

2 जुलाई 1896 — 9 जनवरी 1970

फोटो — विद्याव्रत, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी
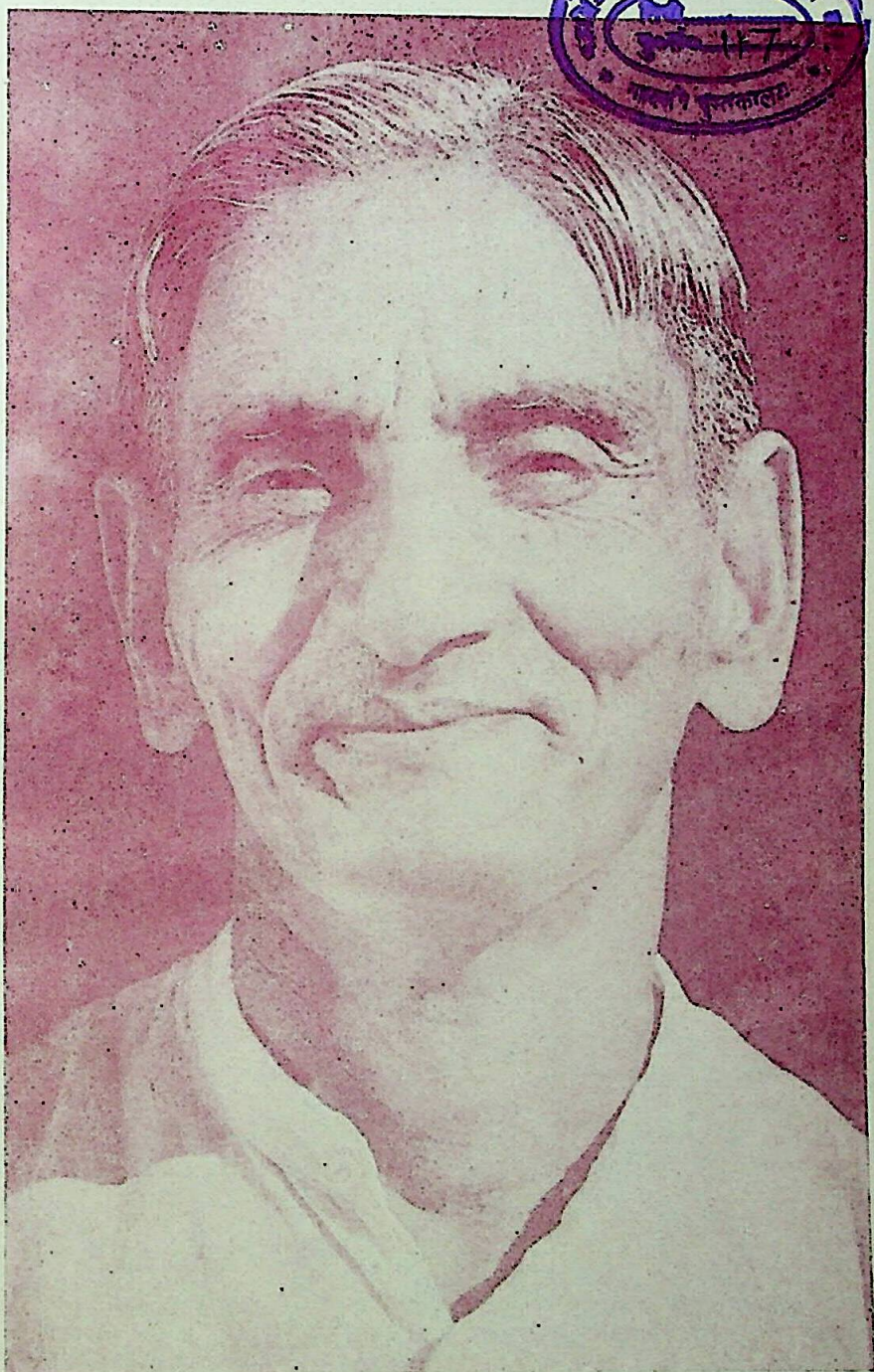
प्रारम्भिक वचन

अनुकूल संयोग

कानपुर का जेल ठीक गंगा के तट पर बना हुआ है। गत वर्ष (संवत् 1987) के शीतकाल के छह महीने भर मुझे इसी 'कृष्ण मन्दिर' में रहने का सौभाग्य रहा है। सौभाग्य इसलिए कहता हूँ क्योंकि यहाँ रहते हुए, जेल का स्वाभाविक कठोर जीवन बिताते हुए और जेल के स्वाभाविक एकांत का सेवन करते हुए मैं सदा यही अनुभव करता रहा कि मैं इस गंगा-तट की तपोभूमि में तप करने आया हुआ हूँ, परमात्मा ने मुझे यहाँ इसीलिए भेजा है और इस अनुकूल स्थिति में जब एक दिन मेरे पैरों में महीने भर के लिए बेड़ियाँ देने वाले मेरे कानपुर-जेल के खान बहादुर जेलर साहिब ने तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट 'करनल ओनील' साहिब ने मेरे हाथों में लेखन-सामग्री भी दे दी, तब उन्होंने मुझ पर जो कृपा की, उसके लिए मैं उन दोनों का सदा कृतज्ञ रहूँगा क्योंकि इसी का परिणाम यह 'वैदिक-विनय' पुस्तक है। ऐसी एक प्रार्थना-पुस्तक, जिसमें वर्ष के प्रत्येक दिन के लिए एक वैदिक प्रार्थना हो, लिखने का संकल्प तो चार-पाँच वर्ष से था। तब से था, जबसे कि पंजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा की अन्तरंग सभा ने ऐसी एक पुस्तक निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव की थी और उसकी रचना के लिए मुझे कहा गया था परन्तु अब कानपुर जेल में दो महीने तक यत्न करने के पश्चात् जब मुझे जेल में कुल लिख सकने की अनुमति मिली और मुझे लेखन-सामग्री दी गई तो, चूँकि तब तक सहारनपुर-जेल में लिखनी प्रारम्भ की गई 'अग्निहोत्र रहस्य' नामक पुस्तक के कागजात मुझे वापिस नहीं किये गये थे और न किये जाने की आशा थी, इसलिए तब मैंने अपने ऐसी प्रार्थना-पुस्तक लिखने के ही संकल्प को पूरा कर डालने का निश्चय कर लिया और '16 नम्बर की बैरक' में रहते हुए ही अगले चार महीनों में इस 'वैदिक-विनय' का आधे से अधिक भाग लिख भी डाला अर्थात् वर्ष भर के सम्पूर्ण मन्त्रों का संग्रह कर लिया तथा लगभग छह महीने तक के मन्त्रों का अर्थ-लेखन भी समाप्त कर लिया।

तैयारी

पाठकों को यह विदित होना ही चाहिये कि ये प्रार्थनायें आपके लेखक ने कितने यत्न और कितने प्रेम से तैयार की हैं।

इसके लिए पहले तो अर्थों पर दृष्टि रखते हुए और अर्थ-चिन्तन करते हुए चारों वेदों का एक बार पाठ किया गया है और इस तरह 365 वेदमन्त्रों का उनके छन्दों के अनुसार चुनाव तथा संग्रह किया गया है। अर्थ लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व यास्क के सम्पूर्ण निरुक्त का दो बार अच्छी तरह बड़े ध्यान से अध्ययन किया गया है। लेखक का विश्वास है कि तपस्या तथा अध्ययन की कमी, पूर्व आग्रह व पक्षपात अथवा जल्दबाज़ी आदि किन्हीं भी कारणों से वेद-मन्त्रों का अशुद्ध अर्थ किया जाना पाप करना है, इसलिए मन्त्र का सत्य अर्थ पाने के लिए उसने अपनी शक्ति भर पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। जिस मन्त्र का अर्थ लिखना हो उसे पहिले कण्ठाग्र करके उसका चलते-फिरते देर तक मनन किया गया है। मन्त्र को कण्ठाग्र करके उसे बार-बार मन में पढ़ते, बोलते और गाते हुए सो जाना तथा अगले दिन प्रातःकाल अपने नित्य के सन्ध्या, भजन और अग्निहोत्र कर लेने के बाद उसका अर्थ लिखना, बहुत बार यह क्रम रखा गया है। जब तक कि अर्थ इतना स्पष्ट नहीं हो गया कि अपना मन सन्तुष्ट हो जाय, तब तक अर्थ नहीं लिखा गया। कई बार सन्देह रह जाने के कारण अर्थ लिखना स्थगित भी कर दिया गया है। अपनी तरफ से निःसंशय कहा जा सकता है कि मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को जान लेने के लिए यथाशक्ति विकारशून्य और निर्मल मन से पहुँच की गई है तथा इन मन्त्रों में से एक एक मन्त्र का अर्थ सर्वप्रेरक प्रभु से सच्चे अर्थ का प्रकाश पाने की प्रार्थना करके, मानसिक पवित्रता की अवस्था लाकर ही लिखा गया है इसलिए पाठकों से भी प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे भी यदि ऐसे ही कुछ निर्मल भाव से इन प्रार्थनाओं का पाठ करेंगे, इनका स्वाध्याय व मनन करेंगे तो अच्छा होगा।

पाठ की विधि

लेखक की इच्छा है—स्वाध्यायप्रेमी पाठकों के पास न जाने इतना समय होगा कि नहीं किन्तु लेखक की इच्छा है—कि पाठक निम्न प्रकार से इन मन्त्रों का स्वाध्याय करें—

1. स्वाध्याय प्रतिदिन किया जाय; इसमें कभी नागा न किया जाय।

प्रत्येक मन्त्र के ऊपर तिथियाँ इसलिए नहीं लिखी गई हैं कि उन तिथियों के दिन ही उन मन्त्रों के पढ़ने का कुछ माहात्म्य है, किन्तु इसलिए लिखी गई हैं कि पाठक प्रत्येक दिन जरूर एक न एक वैदिक प्रार्थना में से गुजर जाया करें। स्वाध्याय में एक दिन भी नागा न हो, स्वाध्याय लगातार प्रतिदिन जारी रहे, यह तो सबसे पहला प्रयोजन है जिसके लिए कि यह प्रार्थना-पुस्तक रची गई है।

2. यदि सम्भव हो तो स्वाध्याय के मन्त्र को पहिले दिन कण्ठाग्र कर लिया जाय। पहिले दिन का सन्ध्या-समय इस कार्य के लिए अच्छा रहेगा।
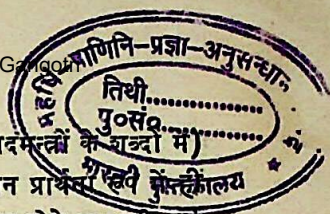
लेखक का अभिप्राय यह है कि पाठक वेदमन्त्रों द्वारा (वेदमन्त्रों के शब्दों में) प्रार्थना करने के अभ्यासी होएं। वेद में प्रायः सब उपदेश व ज्ञान प्रार्थनारूप में कहे गये हैं अतः लेखक की समझ में किसी समय वेद के प्रचार होने का यही अर्थ है कि उस समय के लोग वेदमन्त्रों द्वारा प्रार्थना कर सकें, वेदमन्त्रों के सहारे अपने संकल्प-बल को संगृहीत करने और उसका सफल प्रयोग करने में समर्थ हो सकें। अतः हम वेद का प्रचार चाहने वालों को समाज में यह अवस्था लानी ही चाहिये कि लोग वेद के शब्दों में ही ईश्वर-स्तुति कर सकें। अस्तु तात्पर्य यह है कि यदि पाठकों ने मन्त्र कण्ठस्थ कर रखा होगा तभी वे वेदमन्त्रों के शब्दों में प्रार्थना कर सकने में सफल होंगे। यदि उन्होंने मन्त्र पहिले से कण्ठस्थ कर रखा होगा तो इससे उस मन्त्र का आशय समझने में और उसके आशय का आनन्द लेने में अर्थात् ठीक तरह स्वाध्याय करने में उन्हें बड़ी सहायता मिलेगी।

3. अगले दिन प्रातःकाल अपने स्वाध्याय के समय में पुस्तक द्वारा वह वेदमन्त्र पढ़कर तथा उसकी विनय पढ़कर स्वाध्याय करना चाहिये।

यह कहने की जरूरत नहीं कि यह दैनिक स्वाध्याय जहाँ तक हो सके, पति-पत्नी तथा अन्य सब परिवार के सदस्य मिलकर किया करें। यदि उस परिवार में अग्निहोत्र भी हुआ करता हो तो यह प्रतिदिन का स्वाध्याय अग्निहोत्र के बाद अग्निकुण्ड के चारों तरफ बैठकर ही करना चाहिये। एक पढ़ता जाये तथा दूसरे उसे सुनें। इस प्रकार परस्पर अर्थ समझने-समझाने में भी सहायता प्राप्त होती रहेगी।

4. विनय-पाठ कर लेने के अनन्तर मन्त्र के शब्दार्थ को ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए। शब्दार्थ देख लेने द्वारा यह अच्छी तरह देख लेना—समझ लेना—चाहिये कि मन्त्र के इन थोड़े से शब्दों में किस तरह पूर्वपठित विनय का सम्पूर्ण भाव आया हुआ है।

विनय में विस्तार से दिखलाये हुए सब विचारों और भावों को अन्त में हम मन्त्र-शब्दों में रखे हुए पा लेवें इसीलिये इस पुस्तक में शब्दार्थ विनय के पीछे दिखाये गये हैं। बहुत सम्भव है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये पाठकों को फिर एक दो बार मन में विनय को पढ़ लेना पड़ा करेगा, कम से कम एक वार तो विनय को फिर पढ़ ही लेना चाहिये, तभी मन्त्र का अर्थ स्पष्ट होगा।

विनय के शब्द बड़े यत्न से इस ढंग से लिखे गये हैं कि पाठकों के लिए मन्त्र के सब शब्दों का अर्थ और उनका पूरा-पूरा अभिप्राय इसकी प्रार्थनामय भाषा में ही अच्छी तरह खुल जाय। विनय के शब्दों द्वारा प्रार्थना भी की गई है और मन्त्र के एक-एक शब्द का अर्थ और अभिप्राय भी स्पष्ट किया गया है। यद्यपि इन विनयों की रचना में अनेक जगह इसके प्रार्थनारूप को और इसकी भाषा को भी बिगड़ जाने दिया गया है परन्तु मन्त्र के शब्दों का अर्थ तथा उनका पूरा आशय इन दोनों का स्पष्टीकरण ठीक हो जाय, इस असली उद्देश्य को कहीं भी नहीं भूलने दिया गया

हैं। अतः पाठकों को उचित है कि चाहे उन्हें विनय के शब्द कई बार देखने पड़ें पर वे तब तक स्वाध्याय को समाप्त न करें जब तक कि वे मन्त्र के आशय को मन्त्र के शब्दों में पूरी तरह न देख लेवें। और ऐसा कर लेने के बाद—

5. उस मन्त्र को— केवल वेदमन्त्र को- बार-बार आनन्द से गा गा कर पढ़ें, कम से कम सात बार जरूर दोहरावें, और मन्त्रार्थ को इतनी अच्छी तरह अनुभव करते हुए यह मन्त्रगान करें कि मानो वह वेदमन्त्र हमारे ही हृदय से निकल रहा है—हम ही उस मन्त्र के ऋषि हैं। विनय में प्रदर्शित वे सब भाव, भावावेश और भक्ति आदि रस उस समय मन में पूरी तरह उठ रहे हों।

हमने यदि वेदमन्त्र के आशय को पूरी तरह ले लिया होगा तो इसकी पहिचान ही यह है कि तब हमारा स्वयं जी करेगा कि हम उस वेदमन्त्र को बार-बार पढ़ें, गावें, गाते जायें। मन्त्र के बार-बार दोहराने में बड़ा आनन्द मिलेगा।

आर्यसमाज में भक्ति के बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता है। वेदवर्णित भगवद्-भक्ति का प्रसार करने के लिए—इस दिशा में कुछ तुच्छ सेवा कर सकने के लिए— ही यह पुस्तक लिखी गई है। सच तो यह है कि लेखक को स्वयं इस पुस्तक के मन्त्रों का मनन करते समय बड़ा आनन्द मिला है। उसे ये अपने '16 नम्बर की बैरक' के उच्च सात्त्विक सुख के दिन कभी न भूलेंगे। उन दिनों इन मन्त्रों का अर्थ जानने के लिए मन्त्रों का विचार और मनन करते-करते मन मग्न हो जाया करता था। मग्न होकर इन मन्त्रों को गाते हुए मानसिक स्थिति उस समय के लिए एकदम ऊँची उठ जाती थी। अतः यदि अन्य भी किन्हीं सहृदय भाइयों को इन वेदमन्त्रों का स्वाध्याय उनकी आत्मा को ऊँचा कर देने वाला हो, उन्हें भक्ति प्रेमरस से नहला देने वाला हो, तो क्या ही अच्छा हो! असल में इसी आशा से और इसी प्रार्थना के साथ, लेखक ने यह संग्रह प्रकाशित करवाने की—छपवा कर कुछ स्थिर कर रखने की—इच्छा की है। क्या कहीं यह आशा और यह प्रार्थना सुनी जायेगी?

छन्द

ऊपर मन्त्रों के गाने का वर्णन आया है। यद्यपि लेखक को स्वर तथा गान विद्या के विषय में कुछ ज्ञान नहीं है, तो भी इस संग्रह में छन्दों का ध्यान रखा गया है। इस पुस्तक के उस ऋतु के सब मन्त्र उस उस ऋतु के अनुकूल छन्दों में ही संगृहीत किये गये हैं। निरुक्त के दैवतकांड में ऋतुओं के साथ छन्दों का सम्बन्ध निम्न प्रकार कहा है—

1 ···· वसंतो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथंतरं साम।

नि० दैवत 7.3.1 ॥

2······ग्रीष्मः त्रिष्टुप् पंचदशस्तोमो बृहत्साम······

नि० दै० 7.3.3 ॥

3 ······ वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम ···

नि० दै० 7.3.4 ॥

4 ··· शरदनुष्टुप् एकविंशस्तोमो वैराजं साम ······

5 ····· हेमंतः पंक्तिः त्रिणवस्तोमः शाक्वरं साम इति ॥

6 ·· शिशिरोऽतिच्छंदाः त्रयस्त्रिंशो सोमो रैवतं साम ॥

नि० दै० 7.3.5 ॥

स्वयं वेद में भी कई जगह ऋतुओं के साथ छन्दों का यही सम्बन्ध वर्णित हैं। यजुर्वेद मे निम्न मन्त्र देखिये—

1 - अयं पुरो... वसंतःप्राणयन्नो गायत्री वासंती······।

यजु० 13.55 ॥

2— अयं दक्षिणा······ग्रीष्मो मानसःत्रिष्टुप् ग्रैष्मी ······।

यजु० 13.55 ॥

3 — अयं पश्चात्······वर्षाःचाक्षुष्यो जगती वार्षी ······।

यजु० 13.56 ॥

4—इदमुत्तरात्··· · शरत् श्रोत्र्यनुष्टुप शारदी ······।

यजु० 13.57 ॥

5 — इदमुपरि······हेमंतो वाच्यः पंक्तिर्हैमंती······।

यजु० 13.58 ॥

इन मन्त्रों में तथा निरुक्त वचन में एक ही समान ऋतुओं और छन्दों का सम्बन्ध कहा है। अन्तर केवल इतना है कि निरुक्त में छठी ऋतु के साथ 'अतिच्छन्दा' छन्द कहा है और वेद वाक्य में पांच ऋतुओं का ही वर्णन है। इसलिए हमने भी वसन्तादि पहिली पांच ऋतुओं में तो क्रमशः गायत्री आदि पांच छन्दों का ही क्रम रखा है परन्तु छठी (शिशिर) ऋतु को विविध छन्दों वाला बना दिया है। निम्न कोष्ठक देखिये—

ऋतु	छन्द	पद	अक्षर	कुल अक्षर
वसन्त	गायत्री	3	8	24
ग्रीष्म	त्रिष्टुप्	4	11	44
वर्षा	जगती	4	12	48
शरद्	अनुष्टुप्	4	8	32
हेमन्त	पंक्ति	4 5	10 8	40
शिशिर	विविध	...	...	...

सौर वर्ष

इस पुस्तक को दैनंदिनी (Diary) के लिए 'सौर वर्ष' चुना गया है—अर्थात् सूर्य की एक राशि से दूसरी राशि में संक्रान्ति से जो महीने बनते हैं, उन बारह महीनों का वर्ष गिना गया है। यद्यपि हमारे देश में कई कार्यों में चान्द्रतिथियों का भी उपयोग बहुतायत से होता है, परन्तु चूँकि चान्द्र महीनों की तिथियाँ नियत नहीं होती हैं, बिना किसी क्रम के कभी द्विगुणित और कभी लुप्त होती रहती हैं, इसलिए उन तिथियों के अनुसार प्रतिदिन के स्वाध्याय की पुस्तक को चलाना किसी तरह व्यवहार्य्य नहीं हो सकता। अतः सौरतिथियों के अनुसार यह पुस्तक चलाई गई है। यद्यपि अभी तक देश में प्रचलित सौरतिथियों के अनुसार भी प्रतिवर्ष प्रत्येक मास में निश्चित दिन नहीं होते हैं (जैसे कि पाश्चात्य जनवरी, फरवरी आदि महीनों में होते हैं) पर सौरमहीनों की इस त्रुटि को काशी के ज्ञानमण्डल से प्रकाशित होने वाले 'पंचांग' और 'सौर रोजनामचे' में जिस तरह दूर किया गया है, उससे सब समस्या हल हो जाती है।

उन्होंने प्रत्येक राशि व सौरमास के दिन नियत कर दिये हैं और प्रत्येक मास की घटती-बढ़ती को अगले मास से मिलाकर पूर्णाङ्क कर दिये हैं। इस तरह सौरतिथियों की एकता सारे देश में (और संसार में) हो सकती है। और यदि हमें यह अभीष्ट हो कि सौर तिथियों का चलन हो जाय तो इन तिथियों को व्यवहार्य्य बनाने के लिए यह करना पड़ेगा। अस्तु। इस पुस्तक में लेखक ने इसी के अनुसार प्रत्येक मास के दिन निश्चित कर दिये हैं। प्रत्येक सौरमास में ये नियत दिन कितने कितने होते हैं, यह याद रखने के लिए पाठक निम्न दोहा याद कर सकते हैं –

मार्ग पौष उनतीस के, का मा फा चै तीस।
आ बत्तीस, फा चौथ सन, औ बाकी इकतीस ॥

[मार्गशीर्ष और पौष 29 दिन के होते हैं, कार्तिक, माघ, फाल्गुन और चैत्र 30 दिन के होते हैं। आषाढ़ महीना बत्तीस दिन का होता है। और चौथे साल में फाल्गुन महीना तथा शेष सब महीने (अर्थात् वैशाख, ज्येष्ठ, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन) 31 दिन के होते हैं]।

यद्यपि पंजाब, बंगाल, गढ़वाल आदि प्रदेशों में सौरतिथियों का चलन है पर उनमें संक्रमण काल के मान में भेद रहने के कारण जो एक दिन का अन्तर रहता है, वह इस ज्ञान-मण्डल के 'पंचांग' की विधि से हट जाता है।

यद्यपि सौरवर्ष वैशाख मास से प्रारम्भ होता है, पर इस पुस्तक में यह चैत्र-मास से प्रारम्भ कर दिया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने पूर्वोल्लिखित ऋतुक्रम ठीक रखना था और प्रथम ऋतु वसन्त ऋतु ही होनी चाहिए, इसलिए चैत्रमास को भी वैशाख मास के साथ जुड़ा रखना आवश्यक समझा गया।

आशा है कि इस पुस्तक द्वारा सौरतिथियों के व्यापी प्रचार में भी यह जरा सी अप्रत्यक्ष सहायता मिलेगी।

ऋतुचर्या

प्रत्येक ऋतु के स्वाध्यायमन्त्रों का प्रारम्भ करने से पूर्व इस पुस्तक में यह बात भी दिखला दी गई है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों के अनुसार उस ऋतु में कैसी चर्या रखनी चाहिये, उस ऋतु में क्या पथ्य है और क्या अपथ्य। परन्तु इन ऋतुचर्याओं के अनुसार आचरण करने वालों का ध्यान एक बात की तरफ आकृष्ट कर देना उचित है। वह यह है कि ऋतुचर्या दिखाते हुए प्रारम्भ में उस ऋतु के जो लक्षण दिये हैं, वे लक्षण जिन दिनों में घटते हों उन्हीं दिनों के लिए वह ऋतुचर्या है। इसीलिए प्रत्येक ऋतुचर्या के प्रारम्भ में उस ऋतु के लक्षण भी लिख दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि वसन्त महीनो (चैत्र, वैशाख) में यदि ये वसन्त के लक्षण न हों तो तब तक यह चर्या नहीं करनी चाहिए अथवा यदि ये लक्षण फाल्गुन में ही प्रकट हों तो तभी से यह वसन्तचर्या करनी चाहिए। अर्थात् इन ऋतुचर्याओं को किन्हीं निश्चित महीनों के लिए नहीं समझना चाहिए किन्तु जिन भी किन्हीं दिनों उस ऋतु के लक्षण प्रकट हों तो तभी उस ऋतुचर्या का अनुसरण करना चाहिये। सुश्रुत महाराज ने तो प्रत्येक अहोरात्र में भी छहों ऋतुएँ मानी हैं; जैसे प्रातःकाल वसन्त, मध्याह्न ग्रीष्म, सायं वर्षा इत्यादि। दूसरी ध्यान रखने योग्य बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को बहुत बार ऋतु से भी अधिक अपनी निजी प्रकृति का ध्यान रखने की आवश्यकता होगी। अतः (उदाहरणार्थ) पित्त प्रकृति वाले को चाहिये कि वह वसन्त और वर्षा में भी पित्त-कारक वस्तुओं से सावधान रहे। अस्तु।

प्रत्येक महीने में क्या वस्तु निषिद्ध है, त्याज्य है, यह जो प्रत्येक ऋतुचर्या के अन्त में उसके दोनों महीनों के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया है, वह जिस हिन्दी कहावत के अनुसार है, वह निम्नलिखित है—

चैते गुड़, वैसाखे तेल।
जेठे पन्थ, असाढ़े बेल॥
सावन दूध (साग), न भादों मही।
असौज करेला, न कातिक दही।
मगसिर ज़ीरा, पूसे धना।
माघे मिसरी, न फागुने चना॥

बारह सौर महीने या बारह आदित्य

सौर वर्ष के पक्ष में मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि सौर बारह महीने ही प्रसिद्ध तैंतीस देवताओं में से बारह आदित्य देवता हैं। ये देवता क्यों हैं, यह बात

पाठकों को विदित होना आवश्यक है, क्योंकि यह समझा कर पाठकों को मैं यह भी कुछ निर्देश कर सकूँगा कि प्रत्येक मास के लिए जो मैंने एक-एक प्राणायामपूर्वक व्यायाम लिखी है, उसका उस उस महीने से क्या सम्बन्ध है ।

यद्यपि आदित्य (सूर्य) पृथ्वी के चारों तरफ घूमता नहीं है तो भी वर्षभर में जो पृथ्वी उसका एक चक्कर पूरा करती है, उससे आदित्य ही हमें आकाश में एक गोलाकार चक्र में वर्षभर घूमता प्रतीत होता है । यह सूर्यमार्ग 'ज्योतिर्मण्डल' या 'राशिचक्र' कहलाता है । इस मार्ग के बारह भाग किये गये हैं, और इस में दीखने-वाले आकाश के बारह नक्षत्र समूहों के कारण ये भाग ही बारह (मीन, मेष, वृष आदि) राशि कहलाते हैं । एक (जैसे मीन) राशि में जब तक सूर्य रहता है, तब तक एक (जैसे चैत्र) सौर महीना रहता है । जब इस राशि से संक्रान्त कर सूर्य दूसरी राशि (जैसे मेष) में आता है तो दूसरा जैसे (वैशाख) सौर महीना हो जाता है । अब यहाँ वह बात देखिये जिसके कारण कि ये बारह सौरमहीने बारह आदित्य देवता कहलाते हैं । आदित्य तो बेशक इस बारह विभागवाले मण्डल में नहीं घूमता है परन्तु तो भी पृथ्वी के आदित्य के चारों तरफ घूमने के कारण आदित्य का प्राण (जीवनशक्ति प्रकाश आदि) हम पृथ्वीवासियों को इन राशियों से चिह्नित भिन्न-भिन्न बारह विभागों में से गुजर कर पहुँचता है, अतः यह भिन्न-भिन्न बारह प्रकार का प्रभाव रखता है । एवं भिन्न-भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण ही एक आदित्य बारह प्रकार का आदित्य हो जाता है । इसीलिये ये बारह महीने बारह आदित्य कहलाते हैं, द्युस्थानीय बारह आदित्यदेव कहलाते हैं ।

देवताओं में आदित्य सर्वोच्च देवता है । शरीर में जैसे जीवात्मा है वैसे इस सौर-मण्डल का आत्मा आदित्य है । यह बात निरुक्त के परिशिष्ट में अच्छी तरह स्पष्ट की गई है । वेद में स्पष्ट कहा है—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।

ऋ० 1. 115.1।।

'सब स्थावर जंगम जगत् का आत्मा सूर्य है' यह इस सूर्यदेवता के मन्त्र का आधिदैविक अर्थ है ।

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ।।

प्रश्नोपनिषद् 1.8।।

'सब प्राणियों का, सब उत्पन्न वस्तुओं का, प्राण होकर यह सूर्य उदय होता है ।' प्रश्नोपनिषद् में यह मन्त्र ऋग्वेद का वचन कहकर उपदेश किया गया है । वास्तव में इस संसार के सब प्रकार के जीवन का, सब प्रकार की चेष्टा, गति व क्रिया का तथा सब प्रकार की शक्ति का केन्द्र सूर्य ही है । भौतिक विद्या के ज्ञाता

भी प्रकाश, ताप, विद्युत, चुम्बक आदि सब बलों का तथा वनस्पति, पशु, मनुष्यों में रूपान्तरित सब बलों का भी आधार आदित्य को ही मानते हैं। पर आदित्य का यह प्राण ही हमें देश, काल, अवस्था आदि नाना भेदों से भिन्न भिन्न प्रकार का मिलता है और यही प्राण के प्रकार का भेद है जिसके कारण द्युस्थानीय देवता भिन्न-भिन्न बहुत से हुए हैं तथा एक आदित्य की जगह नाना आदित्य बने हैं। इन प्रसिद्ध 12 आदित्यों के अतिरिक्त 7 आदित्यों का वर्णन निम्न वेदमन्त्र में देखिये—

"सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः।
देवा आदित्या ये सप्त तेभिः...॥"

ऋ० 9.114.3

इस मन्त्र में नाना सूर्यवाली (भिन्न भिन्न प्रकार के सूर्यवाली, भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के सूर्यवाली) सात दिशाओं का वर्णन है और इसी के अनुसार सात आदित्यों का वर्णन है। एक ही आदित्य भिन्न भिन्न सात दिशाओं में भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण सात आदित्य हो गया है। इस बात का स्पष्टीकरण प्रश्नोपनिषद् के निम्न वाक्य से हो जाता है—

"अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदंतरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते।"

प्रश्नोपनिषद् 1.6

अर्थात् सूर्य प्राची (सामने की) दिशा में उदय होता हुआ अपनी रश्मियों में. 1. प्राच्य प्राणों को धारित करता है, दक्षिणा (दायीं) दिशा में उदय होता हुआ 2. दक्षिण प्राणों को रश्मियों द्वारा देता है, इसी तरह 3. पीछे, 4. बायें, 5. नीचे, 6. ऊपर तथा 7. अन्तराल के प्राणों को देता है—और एवं सब प्रकार के प्राणों को अपनी किरणों में देता है। ये ही सात नाना सूर्य दिशाओं के सात आदित्य हैं। पर यह तो दिशा भेद से प्राणभेद हुआ। जो काल या अवस्था भेद से 12 प्राणभेद हैं, उन्हीं के कारण प्रसिद्ध बारह महीनों के बारह आदित्य बने हैं।

कतमे आदित्या इति द्वादश वै मासा : संवत्सरस्य एते आदित्याः······।

बृहदारण्यक उप० 3.9.5. ॥

'आदित्य कौन से हैं? संवत्सर के बारह महीने ही बारह आदित्य हैं।'

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक महीने में सूर्य भिन्न-भिन्न प्रकार का प्राण देता हुआ भिन्न-भिन्न आदित्य कहलाता है। प्रत्येक महीने में आदित्य की किरणें हम पर अपना ज़रा ज़रा भिन्न प्रकार का प्रभाव डालती हुई पड़ रही हैं। इसी सिद्धान्त के

अनुसार इस पुस्तक में प्रत्येक महीने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की एक-एक प्राणवर्धक व्यायाम बतलाई गई है।

बारह अंगों के लिये बारह प्रकार का प्राणदायक व्यायाम

यह तो कहा ही जा चुका है कि सूर्य प्राणभण्डार है। सूर्य का पृथ्वी के प्रत्येक जीव के प्राणमय शरीर पर सीधा प्रभाव पड़ता है, और सूक्ष्मदर्शी योगियों के कथनानुसार सूर्यप्राण के इन उपर्युक्त बारह विभागों का, इन बारह आदित्यों का, मनुष्य के निम्नलिखित बारह अंगों पर विशेष प्रभाव पड़ता है अथवा यूँ कहना चाहिये कि सूर्य शरीर के इन बारह अंगों का मनुष्य के निम्न अगों से सम्बन्ध है, आकर्षण है, मेल है, एकता है—

आदित्य	राशि	महीना	अंग
पहिला आदित्य	मीन	चैत्र	सिर और मुख
दूसरा ,,	मेष	वैशाख	गर्दन और गला
तीसरा ,,	वृष	ज्येष्ठ	भुजायें, कन्धे, फेफड़े
चौथा ,,	मिथुन	आषाढ़	छाती और आमाशय
पाँचवा ,,	कर्क	श्रावण	हृदय, पीठ और रीढ़
छठा ,,	सिंह	भाद्रपद	अन्तड़ियाँ और पेट
सातवाँ ,,	कन्या	आश्विन	गुर्दे और कटि
आठवाँ ,,	तुला	कार्त्तिक	उत्पादक अंग
नवाँ ,,	वृश्चिक	मार्गशीर्ष	कूल्हे और जांघें
दसवाँ ,,	धनु	पौष	घुटने, टाँगें
ग्यारहवाँ ,,	मकर	माघ	गिट्टे Shin
बारहवाँ ,,	कुम्भ	फाल्गुन	पैर और अँगूठे

इसी प्राकृतिक अनुकूलता को लेकर योगियों ने इन अंगों के प्राणायाम (प्राणदायक व्यायामें) निकाले हैं जिन्हें कि इन महीनों में करने से विशेष लाभ होता है। पर यहाँ भी कोई इस अन्धविश्वास में न पड़े कि चैत्र में लिखी व्यायाम केवल चैत्र मास में ही करनी चाहिये। एक तो संक्रान्ति के मान में कुछ दिनों का हेर-फेर सम्भावित है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पहिला आदित्य बिल्कुल ठीक-ठीक चैत्र मास में ही पूरा-पूरा पड़ता है। पर यह तो निश्चित बात है कि मास की अपेक्षा शरीर के अंगों के साथ इन व्यायामों का अधिक सम्बन्ध है। अर्थात् जिसे शिर के विशेष आरोग्य पाने की आवश्यकता है वह इस चैत्र मास में लिखी शिर की व्यायाम को बारहों महीने करे तो अच्छा है। बल्कि उसे तो चैत्र-व्यायाम के अन्त में उल्लिखित शिर की तीनों गौण व्यायामों को भी बारहों महीने करना चाहिये। इस ही प्रयोजन के लिए उस अंग के लिए तीन-तीन गौण व्यायामें भी प्रत्येक महीने की व्यायाम के अन्त में दिखला दी गई हैं। पर फिर भी यह सत्य है कि मनुष्य को अपने शिर पर इस व्यायाम से चैत्रमास में बहुत अधिक लाभ मिलेगा, क्योंकि चैत्र मास के आदित्य का (इस महीने में आने वाले सूर्यप्राण का) मनुष्य के प्राणमय शरीर के उस भाग पर सीधा प्रभाव पड़ता है जो कि स्थूल शरीर में शिर और मुख से सम्बन्धित है। इसी तरह प्रत्येक मास के प्राणायाम के विषय में समझ लीजिये।

प्राणायामों (व्यायामों) की विधि

देखने में ये प्राणायाम, ये प्राणदायक व्यायामें बहुत सादी लगेंगी पर यदि ये विधि के साथ की जायें तो इनका प्रभाव बहुत अधिक है। कोई इनकी सादगी के कारण इनको तुच्छ न समझे।

इन प्राणदायक व्यायामों का सब रहस्य, सब महत्त्व निम्न तीन बातों में है। यदि इन तीन बातों पर ध्यान रखा जायगा तो ये मामूली दिखाई देने वाली व्यायामें अत्यन्त गुणदायक और बड़ी अद्भुत साबित होंगी।

1. प्रत्येक व्यायाम में यथास्थान मांसपेशियों का तानना और ढीला छोड़ना।

2. प्रत्येक व्यायाम में ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास लेना व रोकना तथा ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास को बाहिर निकालना।

3. प्रत्येक व्यायाम मानसिक ध्यानपूर्वक करना, मन को निर्दिष्ट प्रकार से यथास्थान लगाना।

इन तीनों बातों के विषय में पाठकों को कुछ अधिक जान लेना चाहिये, इसलिये इन तीनों विषयों पर क्रमशः कुछ पंक्तियाँ लिखता हूँ—

1. जो व्यायाम मांसपेशियों को खींचने द्वारा इन्हें तान कर की जाती है, ऐसी कुछ मिनटों की व्यायाम ही ढीली मांसपेशियों के साथ की गई आध घंटे की

व्यायाम से भी बहुत अधिक गुणकारी होती है। व्यायाम-कला के अच्छे ज्ञाता लोग बहुत बार बिना शरीर को हिलाये-डुलाये बैठे-बैठे ही, केवल मांसपेशियों को तानने-खींचने और फिर ढीला छोड़ने द्वारा, सब व्यायाम कुछ मिनटों में कर लिया करते हैं। बात यह है कि जब हम मांसपेशियाँ तानते हैं तो इस द्वारा अपनी नसों के असंख्यात घटक अणुओं को समाकृष्ट करते हैं और इनके मलों को बाहिर निकाल फेंकते हैं और इस तरह उस अंग में निब ध प्राणसंचरण कर लेते हैं। जिस व्यायाम पद्धति में केवल अंगों का बढ़ाना होता है, मलों का निकालना नहीं होता तो उससे अंगों का स्थूल अंश बेशक बढ़ जाता है पर उनमें बल, प्राण, जीवनीशक्ति नहीं होती, उनमें प्राण व रुधिर का संचरण रुकने से रोगोत्पत्ति जरूर होती है।

2. ये व्यायामें सदा शुद्ध से शुद्ध वायु में करनी चाहियें। सूर्य द्वारा आने वाला प्राण हमारे शरीर को वायु द्वारा ही सबसे अधिक मिलता है अतः ठीक प्रकार से श्वास लेने में ही प्राण की प्राप्ति हो जाती है। हमें गहरा, दीर्घ पूर्णश्वास लेना चाहिये। यदि श्वास दीर्घ और गहरा होगा तो वह पेट तक पहुँचता अनुभव होगा और उससे पहिले पेट फूलेगा पीछे छाती तनेगी, बाहिर निकालते समय पहिले छाती खाली होगी और अन्त में पेट पिचकेगा। ऐसे गम्भीर श्वास का लेना दृढ़तापूर्वक और काबू के साथ होना चाहिये तथा श्वास का छोड़ना एकरस और आसानी से होना चाहिये। इस प्रकार के पूर्णश्वास लेने का, ठीक तरह श्वास-प्रश्वास करने का, अभ्यास करना चाहिये। शरीर में बल और आरोग्य बढ़ाने वाली यह ठीक प्रकार की श्वसनक्रिया ही है, व्यायाम अर्थात् अंगों का हिलाना-डुलाना उतना नहीं है। मांसपेशियाँ बनाने वाले लोग शरीर की प्राणशक्ति और नीरोगता पर ध्यान नहीं देते। असल में तो प्राण की जीवनी शक्ति (नीरोगता और कार्यक्षमता) ही पहिली वस्तु है, शरीर की दृढ़ता और सुडौलता आदि सर्वथा गौण हैं। इसलिए प्रतिमास की उन भिन्न-भिन्न व्यायामों को भी कोई बेशक न करे किन्तु ठीक प्रकार से दीर्घ–श्वास–प्रश्वास दिन में 5, 7 बार कर लें तो यह पर्याप्त है। हमें ठीक प्रकार के प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को शुद्ध और बलवान् (प्राण पूर्ण) बनाना चाहिये। जब हम श्वास अन्दर लेवें तो हमारे शरीर का एक-एक अणु प्राण से उज्जीवित और परिपूर्ण हो जाय तथा जब हम श्वास बाहिर छोड़ें तो हमारे अंगों के मल बाहिर निकलें और नवीन प्राण के लिए शरीर शुद्ध हो जाय। व्यायाम करते हुए जब हम कोई ऊपर की तरफ चेष्टा कर रहे हों तो श्वास का अन्दर लेना तथा जब अपने अग को नीचे की तरफ ले जा रहे हों तो श्वास को बाहिर निकालना चाहिये, ऐसा करने से इस बल-प्राप्ति और शुद्धि की क्रिया में बड़ी सहायता और अनुकूलता मिलती है अतः व्यायामों में श्वास लेने और छोड़ने का यही सामान्य नियम है।

3. पर मन प्राण से भी ऊँची वस्तु है। हम जो कुछ बने हुए हैं, वह अपने विचारों के ही परिणामरूप हैं। यदि हमारी मनःशक्ति जागृत हो तब तो हम व्यायाम का सब काम मन द्वारा ही कर सकते हैं और इसके विपरीत यदि मनःशक्ति

न लगायी जाय तो घंटाभर भी किया व्यायाम व्यर्थ है। इसीलिये इन मासिक व्यायामों के साथ कुछ महीनों तक ध्यान व संकल्प भी अच्छे शब्दों में प्रदर्शित कर दिये गये हैं और पाठकों को आगे भी इसी तरह संकल्प व ध्यान स्वयं अपने शब्दों में बना लेने चाहियें और इन संकल्पों के साथ मनोयोगपूर्वक ये व्यायामें करनी चाहियें। पाठकों को धीरे-धीरे अनुभव होगा कि ध्यानों का कितना प्रभाव है। यदि बीमारी आदि के कारण इन प्राण-व्यायामों का करना कभी सम्भव न हो तो भी इन ध्यानों को नहीं छोड़ना चाहिये, केवल इन ध्यानों संकल्पों ही से बड़ा लाभ होगा। याद रखिये कि आखिरकार हमारे शरीर का एक-एक अंग और कुछ नहीं है, यह भौतिकरूप में दृढ़ हुआ मनस्तत्त्व ही है। अतः यदि हम में मनःशक्ति प्रबल हो तो हम शरीर में जो चाहें वही परिवर्तन कर सकते हैं। अथर्ववेद के बहुत से सूक्त संकल्प-शक्ति द्वारा रोगों को निर्मूल करने के लिए ही हैं। वेद से वास्तविक लाभ तो हम तभी उठा सकते हैं जबकि हमने अपने मन को जागृत और बलरूप बना लिया हो। अस्तु।

यह फिर दोहराने की आवश्यकता है कि मुख्य वस्तु स्वास्थ्य है, प्राणशक्ति-पूर्ण स्वास्थ्य है। हमारा शरीर पुष्ट हो रहा है या नहीं, इसकी अपेक्षा हमें इस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है कि हमारे शरीर की पुष्टि कैसे (किस प्रकार के) अणुओं से हो रही है। यदि हमारा रुधिर अशुद्ध होगा तो उससे बने अंग भी मलिन होंगे और ये स्वास्थ्य भी दान-आदान (हवन) के सिद्धान्त पर–अशुद्ध अणुओं के छोड़ने तथा नये शुद्ध अणुओं के लेने के सिद्धान्त पर — आश्रित है। पर ये अणु किस प्रकार के आकृष्ट होंगे, यह सबसे पहिले हमारे विचारों पर (मन पर) निर्भर है और फिर इस बात पर निर्भर है कि हमारे अंग ठीक प्राणाभ्यासों द्वारा अभीष्ट अणुओं के खींचने के अभ्यासी हो गये हैं या नहीं। अतः हमें अपने विचारों को बहुत प्रबल, उत्साहमय और शुद्ध बनाना चाहिये, मन को आज्ञा देने वाला बनाना चाहिये और प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को संसारव्यापक महाप्राण से एक स्वर (In tune) रचना चाहिये। अपनी मनःशक्ति से प्राणायामों (ठीक प्रकार श्वसन के अभ्यास) के साधन द्वारा शरीर को शुद्ध और नित्य नव प्राणान्वित करना यही वास्तव में सच्ची शरीर-साधना (Physical Culture) है। इस ही प्रयोजन के लिए ये व्यायामें हैं।

ये व्यायामें प्राणाभ्यासपूर्वक मनोयोग के साथ प्रतिदिन दो बार कर लेनी चाहियें—प्रातः उठते ही, यदि शौच व लघुशंका का वेग हो तो उससे निवृत्त होकर, तथा रात्रि में सोने से पूर्व (यदि उस समय पेट भारी हो जो कि होना नहीं चाहिये, तो सायं भोजन से पूर्व) करनी चाहियें। व्यायाम शुरू करने से पूर्व 5, 7 बार उपरिनिर्दिष्ट पूर्ण श्वास-प्रश्वास कर लेना चाहिये, और अपने मन को स्वास्थ्य, शक्ति, पवित्रता आदि भावों से भरपूर पूरे मनोयोग के साथ इन अभ्यासों को करना चाहिये।

अन्त में मैं अपने मित्र पं० देवनाथ जी विद्यालङ्कार का बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने कि न केवल छपाने के लिए बड़ी समझदारी और बड़े यत्न से इस पुस्तक की एक दूसरी ठीक-ठीक प्रतिलिपि कर देने की कृपा की है, किन्तु इसके छपाने के सम्पूर्ण अति कठिन कार्यभार को ही अपने स्वाभाविक बिलकुल अनन्यभाव से सम्पन्न किया है।

इस पुस्तक के स्वाध्याय से लाभ उठाने वाले सज्जनों को वर्त्तमान वेदभाष्य-कारों में से पं० श्री पा० दा० सातवलेकर जी तथा श्री पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार को भी हृदय से धन्यवाद देना चाहिये, क्योंकि मन्त्रों के चुनाव में तथा अर्थों के निश्चय करने में मुझे उक्त दोनों महानुभावों के भाष्यों से बड़ी सहायता मिली है।

गुरुकुल कांगड़ी
1 माघ 1989

स्वाध्यायशील जनों का सेवक
'अभय'

वसन्त की ऋतुचर्या

लक्षण—साधारणत: चैत्र और वैशाख मास की ऋतु वसन्त ऋतु मानी जाती है। कई फाल्गुन और चैत्र मास की ऋतु को वसन्त ऋतु कहते हैं। पूरे जाड़े (शीत) की ऋतु से पूरी गर्मी की ऋतु में पहुंचने में मध्य में दो ऋतुएं पड़ती हैं, इनमें से एक जाड़े को समाप्त करनेवाली है और दूसरी गर्मी का प्रारम्भ करने-वाली है। यह दूसरी ऋतु वसन्त ऋतु है। इस ऋतु में गर्मी प्रारम्भ हो जाती है, परन्तु अपने पूर्ण रूप में नहीं आती।

महिमा—वसन्त ऋतु में नये जीवन का प्रारम्भ होता है। शिशिर ऋतु की रुक्षता से शीर्ण हुई वनस्पतियां फिर नये अंकुरों, नये पत्तों, नये पुष्पों से नया जीवन प्रारम्भ करती हैं। शिशिर में सब वृक्ष वनस्पतियों की रुक्षता के कारण जब पुराने पत्ते झड़ चुकते हैं तब उन के नये पत्ते, फूल अंकुर आदि वसन्त ऋतु में फूटते हैं। इस ऋतु में वनस्पतियों तथा स्थावर, अस्थावर जगत् का नवीन जीवन शुरू होता है। हमें भी अपना नवीन जीवन इस ऋतु में शुरू करना चाहिये। इसलिये वसन्त ऋतु ही सब से पहिली ऋतु समझी जाती है और 'ऋतुराज' कहलाती है। श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है 'ऋतूनां कुसुमाकर:'—अर्थात् सब ऋतुओं में से सबसे अधिक दिव्यता, सब से अधिक परमात्मा के वैभव का प्रकाश इस ऋतु में ही होता है। इस ऋतु में जैसा जीवन प्रारम्भ किया जायेगा, उसका असर शेष सारे वर्ष पर पड़ेगा। इस ऋतु में हमें खूब अच्छी तरह से – सावधानी से – अपना खान-पान, व्यवहार-विचार आदि पवित्र और सुन्दर बनाने चाहियें।

योगसाधन करने वाले वसन्त में (या शरद् में) ही अपना साधन प्रारम्भ करते हैं। प्राणायाम के नये अभ्यास का प्रारम्भ भी वसन्त या शरद् में किया जाता है। अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने से नाना रोग होने की सम्भावना होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास छोड़ देना चाहिये। प्राणायाम को वसन्त या शरद् में प्रारम्भ करके जारी तो हमेशा रखना चाहिये, परन्तु जो पुरुष प्राणायाम पहिले से न करता हो उसे प्राणा-याम का प्राण-सम्बन्धी किसी भी क्रिया का प्रारम्भ वसन्त या शरद् में ही करना चाहिये। इसका कारण यह है कि प्राण की क्रियाओं का सम्बन्ध वात से है। अत: इसे यदि हम कफ और पित्त की अधिकता के समय में प्रारम्भ करें तो किसी प्रकार के वातविकार होने का डर नहीं होता।

गुण—यह ऋतु पदार्थों में मधुरता उत्पन्न करने वाली, स्निग्ध और कफ की वृद्धि करने वाली है। जाड़ों (शीत) में संचित कफ इस ऋतु में प्रकुपित होता है।

पथ्यापथ्य—वसन्त ऋतु में कफ प्रकुपित होता है इसलिये कफ को दूर करने के सब उपाय इस ऋतु में करने चाहियें। शिशिर में स्निग्ध तथा शीत पदार्थों के सेवन के कारण शरीर में जो श्लेष्मा (कफ) संचित हुई होती है, वह वसन्त में सहसा गर्मी के पड़ने से प्रकुपित हो जाती है और कफजन्य रोग यथा जुकाम, खाँसी, गले की खराबी, अरुचि, भूख न लगना, भारीपन आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इस ऋतु के प्रारम्भ में ही श्लेष्मा के क्षय के लिए यत्न करना चाहिये। कोई अच्छे प्रकार का अपनी प्रकृति के अनुसार उचित ढंग से एक बार वमन कर लेना चाहिये। वमन कर लेने से आमाशय की श्लेष्मा क्षीण होती है। इसी प्रकार गले की कफ-नाशक गरारों द्वारा, आँखों की कफनाशक अंजनों द्वारा तथा नासिका की कफनाशक नस्यों द्वारा एवं आंतों की हलके विरेचन द्वारा कफ दूर कर लेनी चाहिये।

इस ऋतु में हलके, रुक्ष, तीक्ष्ण, गरम पदार्थ खाने हितकर हैं। गेहूँ मूंग, चित्रक, शहद, सोंठ, अदरक आदि का सेवन अत्यन्त लाभकर है।

इसके विरुद्ध इस ऋतु में कफवर्धक वस्तुएं न खानी चाहियें। अर्थात् खट्टे भारी, मीठे, चिकने तथा शीतवीर्य भोजन तथा दही भल्ले पकवान आदि गरिष्ठ भोजन कफवर्धक होने से खाने उचित नहीं हैं।

इन दिनों कभी-कभी उपवास कर लेना लाभदायक होगा।

व्यायाम द्वारा भी श्लेष्मा दूर कर देनी चाहिये। इस ऋतु में भ्रमण करना बहुत अच्छा समझा जाता है—'वसन्ते भ्रमण पथ्यम्।'

दिन में सोना कफवर्धक होने से वर्जनीय है।

एक कहावत के अनुसार चैत्र में गुड़ खाना और वैशाख में तेल खाना या तैल-मर्दन निषिद्ध है।

चैत्र (मीन) के लिए
प्राणदायक व्यायाम्

एड़ियाँ मिलाकर, पंजों को एड़ियों से 30-35 अंश के कोण पर रखकर सीधे खड़े होइये। खड़े होकर अपनी दोनों भुजाओं को दायें बायें पूरा खोलकर फैला दीजिये, ऐसी सीधी फैलाइये कि ये कंधों के साथ समतल फैली हों। हथेली ऊपर की तरफ रहे। छाती ज़रा-सी आगे बढ़ी हुई हो। अब हाथों की मुट्ठी इतनी जोर से कसिये कि भुजाओं की सब मांसपेशियाँ (Muscles) कस जाएँ और साथ ही सारे शरीर की मांसपेशियाँ तन जायें। इस अवस्था में भुजाओं को धीरे-धीरे ऊपर उठाते जाइये जब तक कि ऊपर दोनों मुट्ठियाँ मिल न जायें। जब ये भुजायें ऊपर उठायी जा रही हों तब एक दीर्घश्वास अन्दर भरिये। जिस समय हाथों को नीचे ला रहे हों तब श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालिये। यह कर चुकने पर हाथों की मुट्ठी और मांसपेशियों को ढीला कर दीजिये और पूर्वस्थिति में हो जाइये। इस प्रकार व्यायाम 8-10 मिनट तक बार-बार कीजिये। इस प्राणायाम के समय मन को सिर में लगाइये, मन द्वारा यह चित्रित कीजिये कि प्राणवायु मेरे मस्तिष्क में, मेरे सिर में, मेरे एक-एक घटक (Cell) में पहुँच कर उसे अनुप्राणित कर रहा है। ऐसा ध्यान करने से सिर की तरफ रुधिर-संचरण (Circulation) बढ़ेगा और वास्तव में सिर में प्राण पहुँचने में सहायता करेगा।

ध्यान—यह प्राणायाम मुझे लाभ पहुँचा रहा है। रुधिर मेरे सिर में, मेरे मस्तिष्क में भली प्रकार संचरण कर रहा है। यहाँ के सब दूषित मल निकल रहे हैं और प्राणशक्ति निर्बाध—बे-रोकटोक—ऊपर पहुँच रही है। मेरा शीर्ष निर्मल है और उसका एक-एक घटक स्वास्थ्य से जीवन पूर्ण हुआ है।

सिर के लिए गौणतया आषाढ़, आश्विन और पौष की प्राणदायक व्यायामें भी लाभ पहुँचायेंगी।

1 चैत्र

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ऋ० 3.62.10, यजु० 3.55, साम० उ० 6.3.10

मुझे क्या करना चाहिये क्या नहीं, यह मैं नहीं जानता। किस समय क्या कर्त्तव्य है क्या अकर्त्तव्य, क्या धर्म है क्या अधर्म, यह मैं नहीं जान पाता। सुना है कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी बहुत बार इस तरह किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहते हैं। पर क्या इसका कोई इलाज नहीं है ? हे सवितः देव ! हमारे उत्पादक देव ! क्या तूने हमें उत्पन्न करके इस अंधेरे संसार में यों ही छोड़ दिया है ? कोई निर्भ्रान्त (निश्चित) प्रकाश हमारे लिए तुमने नहीं दिया है ? यह कैसे हो सकता है ? नहीं, तुम अपने अनन्त प्रकाश के साथ सदा हमारे हो। यदि हम चाहें और यत्न करें तो तुम हमें अपने प्रकाश से आप्लावित कर सकते हो। इसके लिए हम आज से ही यत्न करेंगे और तेरे उस 'भर्ग' (विशुद्ध तेज) को अपने में धारण करने लगेंगे जो कि वरणीय है, जिसे कि हर किसी को लेना चाहिये, जिसे कि प्रत्येक मनुष्य-जन्म पाने वाले को अपने अन्दर स्वीकार करने की ज़रूरत है। इस तेरे वरणीय शुद्ध स्वरूप का हम जितना श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेंगे अर्थात् जितना तेरा कीर्त्तन सुनेंगे, तेरा विचार करेंगे, तेरे में मन एकाग्र करेंगे, तेरा जप करेंगे, तुझमें अपना प्रेम समर्पित करेंगे, उतना ही तेरा शुद्ध स्वरूप हमारे अन्दर धारण होता जायगा। बस, यह ऊपर से आता हुआ तुम्हारा तेज ही हमारी बुद्धि को और फिर हमारे कर्मों को ठीक दिशा में प्रेरित करता रहेगा। इस शुद्ध स्वरूप के साथ तुम ही मेरे हृदय में बस जाओगे और तुम ही मेरे बुद्धि, मन आदि सहित इस शरीर के संचालक हो जाओगे। फिर धर्म अधर्म की उलझन कहाँ रहेगी ? तुम्हारे पवित्र संस्पर्श से इस शरीर की एक-एक चेष्टा में शुद्ध धर्म की ही वर्षा होगी। इसलिए हे प्रभो ! हम आज से सदा तुम्हारे शुद्ध तेज को अपने में धारण करने में लगते हैं। एक-एक मानसिक विचार के साथ, एक-एक जप के साथ इस तेज का अपने अन्दर आह्वान करेंगे और इस तरह प्रतिदिन इस तेज को अपने में अधिक-अधिक एकत्र करते जायेंगे। निश्चय है कि इस 'भर्ग' की प्राप्ति के साथ-साथ धर्म के निश्चय में पटु होती जाती हुई हमारी बुद्धि एक दिन तुम्हारी सर्वज्ञता के कारण पूरी तरह बिल्कुल ठीक मार्ग पर ही चलने वाली हो जायगी।

(सवितुः) प्रेरक उत्पादक (देवस्य) परमात्मदेव के (तत्) उस (वरेण्यं) वरने योग्य (भर्गः) शुद्ध तेज को (धीमहि) हम धारण करते हैं, ध्यान करते हैं (यः) जो धारण किया हुआ तेज (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को, कर्मों को (प्रचोदयात्) सदा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ।।

ऋ० 1.1.7, साम० पू०. 1.1.4

जब से हम उत्पन्न हुए हैं, दिन के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिन आता जाता है। प्रतिदिन एक नया-नया दिन और एक नयी-नयी रात आती जाती है। इस तरह यह अनवरत अविश्रान्त काल-चक्र चल रहा है। इस काल चक्र में हम कहाँ जा रहे हैं ? हे मेरे प्रभु अग्निदेव ! तुमने तो ये अहोरात्र इसलिए रचे हैं कि प्रत्येक अहोरात्र के साथ अपनी आत्मिक उन्नति का दायाँ और बायाँ पैर आगे बढ़ाते हुए हम प्रतिदिन तुम्हारे निकट-निकट पहुँचते जायें। यदि हम प्रत्येक अहोरात्र के आरम्भों में अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल के समय में अपनी बुद्धि द्वारा तुम्हारे आगे झुकते हुए, नमन करते हुए तथा कर्म द्वारा भी अपने 'नमः' की भेंट तुम्हारे प्रति लाते हुए, तुम्हारे लिए स्वार्थ-त्याग करते हुए चलेंगे तो यह दिन-रात का चक्र हमें एक दिन तुम्हारे चरणों में पहुँचा देगा। इसलिए, हे अग्निरूप परम-देव ! हम आज से निश्चय करते हैं कि हम प्रत्येक अहरोत्र को (प्रातःकाल और सायंकाल) अपनी बुद्धि तथा कर्म द्वारा तुम्हें नमस्कार की भेंट चढ़ाते हुए (आत्म-समर्पण व स्वार्थ-त्याग करते हुए) ही अब जीयेंगे और इस तरह जहाँ प्रत्येक दिन के श्रममय काल में हमारा दायाँ पैर तुम्हारी तरफ बढ़ेगा, वहाँ प्रत्येक रात्रिकाल में हमारी उन्नति का बायाँ पैर उस उन्नति को स्थिर करता जायगा। हे प्रभो ! ये दिन-रात इसीलिए प्रतिदिन आते हैं। निश्चय ही आज से प्रत्येक अहोरात्र हमें तुम्हारे समीप लाता जायगा। आज से प्रतिदिन हम स्वार्थ-त्याग द्वारा पवित्रान्तःकरण होते हुए और पवित्रान्तःकरण से प्रातः-सायं तुम्हारी वन्दना करते हुए प्रतिदिन तुम्हारी तरफ आने लगे हैं। हे प्रभो ! प्रतिदिन तुम्हारे समीप आते जा रहे हैं।

(अग्ने) हे अग्ने ! (वयं) हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) रात और दिन के समय (धिया) बुद्धि व कर्म से (नमो भरंतः) नमस्कार की भेंट लाते हुए (त्वा) तेरे (उप) समीप (एमसि) आ रहे हैं।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।
स इद् देवे गच्छति ॥

ऋ० 1. 1. 4

हम कई शुभ अभिलाषाओं से कुछ यज्ञों को प्रारम्भ करते हैं और चाहते हैं कि यज्ञ सफल हो जायें। परन्तु हे देवों के देव अग्निदेव ! कोई भी यज्ञ तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उस यज्ञ में तुम पूरी तरह न व्याप रहे हो, चूंकि जगत् में तुम्हारे अटल नियमों व तुम्हारी दिव्य-शक्तियों के अर्थात् देवों के द्वारा ही सब कुछ सम्पन्न होता है। तुम्हारे बिना हमारा कोई यज्ञ कैसे सफल हो सकता है ? और जिस यज्ञ में तुम व्याप्त हो, वह यज्ञ अध्वर (ध्वरा अर्थात् कुटिलता और हिंसा से रहित) तो जरूर होना चाहिये। पर जब हम यज्ञ प्रारम्भ करते हैं, कोई शुभ कर्म-करते हैं, किसी संघ, संगठन में लगते हैं, परोपकार का कार्य करने लगते हैं तो मोह-वश तुम्हें भूल जाते हैं। उसकी जल्दी सफलता के लिए हिंसा और कुटिलता से भी काम लेने को उतारू हो जाते हैं, तभी तुम्हारा हाथ हमारे ऊपर से उठ जाता है। ऐसा यज्ञ तुम्हारे देवों को स्वीकृत नहीं होता, उन्हें नहीं पहुँचता— सफल नहीं होता। हे प्रभो ! अब जब कभी हम निर्बलता के वश अपने यज्ञों में कुटिलता व हिंसा का प्रवेश करने लगें और तुझे भूल जायें तो हे प्रकाशक देव ! हमारी अन्तरात्मा में एक वार इस वैदिक सत्य को जगा देना, हमारा अन्तरात्मा बोल उठे कि 'हे अग्ने ! जिस कुटिलता व हिंसा-रहित यज्ञ को तुम सब तरफ से घेर लेते हो, व्याप लेते हो; केवल वही यज्ञ देवों में पहुँचता है अर्थात् दिव्य फल लाता है—सफल होता है।' सचमुच तुम्हें भुलाकर, तुम्हें हटाकर यदि किसी संगठन शक्ति द्वारा कुटिलता व हिंसा के जोर पर कुछ करना चाहेंगे तो चाहे कितना घोर उद्योग करें पर हमें कभी सफलता न होगी।

(अग्ने) हे परमात्मन् ! (त्वं) तुम (यं) जिस (अध्वरं यज्ञं) कुटिलता तथा हिंसा से रहित यज्ञ को (विश्वतः परि भूः असि) सब तरफ से व्याप लेते हो (स इत्) केवल वही यज्ञ (देवेषु गच्छति) दिव्य फल लाता है।

यद् अंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत् तत् सत्यमंगिरः ।।

ऋ० 1. 1. 6

हे प्रकाशमय देव ! यह सच है कि स्वार्थत्यागी का कल्याण ही होता है पर दुनिया में ऐसा दिखाई नहीं देता। दुनिया में तो दीखता है कि स्वार्थमग्न लोग ही आनन्द मौज उड़ा रहे हैं और स्वार्थत्यागी दु.ख भर रहे हैं। स्वार्थी विजय पर विजय पा रहे हैं, दूसरों पर जुल्म कर रहे हैं और स्वार्थत्यागी पुरुष सताये जा रहे हैं। परन्तु हे मेरे प्यारे देव ! हे मेरे जीवनसार ! आज मैं तेरी परम कृपा से सूर्य की तरह यह साफ देख रहा हूँ कि आत्म-बलिदान करने वाले का तो सदा कल्याण ही होता है। इसमें कुछ संशय नहीं रहा, यह अटल है, बिल्कुल स्पष्ट है दुनिया की ये प्रतिदिन की उल्टी दिखाई देने वाली घटनायें भी आज मेरी खुली आँखों के सामने से इस प्रकाशमान सत्य को छिपा नहीं सकती हैं कि आत्मसमर्पण करने वाले के लिए कल्याण ही कल्याण है। मैं देखता हूँ कि दुनिया में चाहे कभी सूर्य टल जाय, ऋतुएँ बदल जायें, पृथ्वी उल्टी घूमने लग जाय और सब असंभव संभव हो जाय पर यह तेरा सत्य अटल है कि आत्म-बलिदान करने वाले का अकल्याण कभी नहीं हो सकता—'नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गति तात गच्छति' [हे प्यारे ! कल्याण करने वाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता] कृष्ण भगवान् के गाये हुए ये सान्त्वनामय शब्द परम सच्चे हैं।

हे जीवन के जीवन ! जब मनुष्य स्वार्थ को त्यागता है, आत्म बलिदान करता है तो उस त्याग व बलिदान द्वारा हे कल्याणस्वरूप ! वह केवल तेरे और अपने बीच की रुकावट का ही त्याग करता है, निवारण करता है और तेरे कल्याणस्वरूप को पाता है। भला, आत्म-बलिदान में अकल्याण की गुंजाइश ही कहाँ है ? सचमुच, स्वार्थशून्य पवित्र पुरुषों पर आये हुए कष्ट, दुःख, आपत् सब क्षणिक होते हैं। उनके सम्बन्ध में जो अक्षणिक है, सत्य है, अटल है वह तो उनका कल्याण है।

(अंग) हे प्यारे ! (अंगिरः) मेरे जीवनसार (अग्ने) प्रकाशक देव ! (यत् त्वं) जो तू (दाशुषे) आत्म बलिदान करने वाले का (भद्रं) कल्याण (करिष्यसि) करता है (तत्) वह (तव) तेरा (सत्यं इत्) सच्चा, न टलने वाला नियम है।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥

ऋ० 1. 1. 9

संसार में हमारा जिन द्वारा जन्म होता है, उन्हें हम पिता कहते हैं और भी जो वृद्ध पुरुष, गुरु आदि होते हैं, वे भी हमारा उत्कृष्ट पालन करने वाले होने से पिता कहलाते हैं। परन्तु हे प्रभो अग्ने ! हम सभी को कभी न कभी अनुभव हो जाता है कि हमारे असली पालक पिता तो तुम्हीं एक मात्र हो। एक समय आता है जब कि सांसारिक पिता भी वैसे ही रोते खड़े रह जाते हैं और हमारी पालना, रक्षा नहीं कर सकते। सचमुच संसार के हम सब वासी—सांसारिक पिता व पुत्र सब के सब—तेरे एक समान पुत्र हैं। हे हम सबके पिता ! हे परमपिता ! जब हम सब तेरे पुत्र हैं तो हमारी तेरे तक हमेशा पहुँच क्यों नहीं होती है ? पुत्र का तो यह अधिकार है कि वह जब चाहे पिता के पास पहुँच सके। जब इस संसार में और कोई हमारी रक्षा कर सकने वाला है ही नहीं, हमारा दुखड़ा सुन सकने वाला है ही नहीं, तो हे पिता ! हम और कहाँ जायें ? तू तो हमारे लिए 'सु उपावेन' रह, सुगमता से पहुँच सकने वाला हो। हे एक-मात्र पिता ! हम जिस समय चाहें, जिस जगह चाहें तुझे मिल सकें—अपना दुःख सुना सकें—अपनी बाल-कामनायें पूरी करा सकें। हम बच्चों की तुमसे यही प्रार्थना है, यही याचना है।

और हमारा कल्याण किसमें है, यह भी हम अबोध बालक क्या जानें। जो हमें अकल्याण दिखाई देता है वही पीछे पता लगता है कि वह कल्याण था। हे पिता ! तुम्हीं जानते हो कि हम बच्चों का कल्याण किसमें है। बस, तुम्हीं हमारी स्वस्ति के लिए, कल्याण के लिए हमें—अपने बच्चों को—सेवित करो, पालो-पोसो। हम तुम्हारे बच्चे हैं ! हम तुम्हारे बच्चे हैं ! !

(अग्ने) हे प्रभो अग्ने ! (सः) वह तुम (पिता सूनवे इव) पिता की तरह मुझ पुत्र के लिए (सु उपायनः भव) सुगमता से पहुँचने योग्य (भव) होओ और (स्वस्तये) कल्याण के लिए (नः) हमें (सचस्व) सेवित करो।

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥

ऋ० 10.57.1, अथर्व० 13.1.59

हे इन्द्र, परमैश्वर्यवान् ! हम तुमसे ऐश्वर्य नहीं माँगते हैं। हमारी तुमसे याचना तो यह है कि हम सदा सन्मार्ग पर चलते जायें, इसको कभी न छोड़ें। सन्मार्ग पर चलते हुए हमें जो कुछ ऐश्वर्य मिलेगा, वही सच्चा ऐश्वर्य होगा। जिस किसी तरह मिला हुआ 'ऐश्वर्य' ऐश्वर्य नहीं होता—उसमें ईश्वरत्व नहीं होता—सामर्थ्य नहीं होता। सन्मार्ग से जो कुछ ऐश्वर्य मुझे मिलेगा, उस ऐश्वर्य को तुझसे पाकर हे इन्द्र ! मेरी प्रार्थना है कि मैं यज्ञ से कभी विचलित न होऊँ। यज्ञ करता हुआ—उपकार करता हुआ ही मैं उस तेरे दिये ऐश्वर्य को भोगूं। जो कुछ तुम्हारे द्वारा (तुम्हारे देवों द्वारा) मुझे मिला है, उसे तुम्हें (देवों को) बिना दिये भोगना चोरी[1] है। ऐसा पाप स्वार्थवश हम कभी न करें। यज्ञ को, आत्मत्याग को, परार्थ में आत्म-विसर्जन को कभी न भूलें। यज्ञ के बिना भोग भोगना विषपान करना है। अतः हमारी दूसरी प्रार्थना है कि हम यज्ञ को कभी न छोड़ें।

हमारी तुमसे यह प्रार्थना नहीं है कि तुम हमारे शत्रुओं का नाश कर दो। हमारी याचना तो यह है कि हमारे अपने अन्दर 'अराति'[2] न ठहरें। हमारे अन्दर अराति न हों तो बाहर हमारा अराति कोई कैसे हो सकता है ? अराति अर्थात् अदानभाव हमारे अन्दर क्षण भर को न ठहरे, क्षण भर के लिए न आए। अदानभाव होते हुए यज्ञ असम्भव है। अतः हमारा एक-मात्र शत्रु अदानभाव ही है। यह अन्दर का शत्रु ही हमारा शत्रु है। हे प्रभो ! इससे हमारी रक्षा करो। फिर बाहर के किसी शत्रु की हमें परवाह नहीं।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वयं) हम (पथो मा प्रगाम) सन्मार्ग को छोड़कर मत चलें (सोमिनः) ऐश्वर्ययुक्त होते हुए (वयं यज्ञात्) [मा प्रगाम] हम यज्ञ को छोड़ कर मत चलें। (अरातयः) अदानभाव (नः अन्तः मा स्थुः) हमारे अन्दर न ठहरें।

---

1. देखो गीता 3. 12
2. अराति का अर्थ शत्रु प्रसिद्ध है—इसका शब्दार्थ 'दान न देना' है।

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षद् अति द्विषः ॥

ऋ० 10.187.1, अथर्व० 6.34.1

हे मनुष्य ! क्या तू अब चाहता है कि तू द्वेष से पार हो जाय ? क्या तू अपने मनुष्य भाइयों से द्वेष कर करके और बदले में उनके द्वेष को पा पाकर अब तंग आ चुका है ? तूने अपने सुख में बाधक समझ न-जाने कितनों से द्वेष किया है, पर जितना ही तूने उनसे द्वेष किया है—वैर का बदला वैर से दिया है-- क्या उतना ही वह द्वेष बढ़ता नहीं गया है ? ओह, इस बदले की, प्रतिद्वेष की प्रक्रिया से द्वेष इतना बढ़ता गया है कि तू आज अपने बनाये एक द्वेष-सागर में घिर गया है । यदि तू अब पूरा व्याकुल हो चुका है और चाहता है इस द्वेष-चक्र से पार हो जाय तो तू उठ और जगत् में व्यापक अपने उस अग्निदेव तक अपनी वाणी को पहुँचा, जो कि सब मनुष्यों की कामनाओं को पूरा करने वाला है । अरे, वह तो 'वृषभ' है, हम पर करुणा करके कामनाओं को बरसा रहा है । केवल उस तक अपनी आवाज पहुँचाने की देर है कि वह तेरी कामना पूरी कर देगा । यदि यह तेरी इच्छा हार्दिक है तो निश्चय से तेरी प्रार्थना, तेरी पुकार, वेग से, प्रकृष्टता से वहाँ पहुँचेगी । यदि वाणी को प्रकृष्टता से प्रेरित करने का हममें सामर्थ्य हो तो प्रार्थना की वाणी उस अग्निदेव को पहुँचकर उससे क्या नहीं करा सकती, किस कामना की पूर्ति नहीं करा सकती ? पर हमारी कामना को पूरी करने की सामर्थ्य उसी में है—केवल उसी में है । वही हमें द्वेष-सागर से पार करेगा । इसलिये तू अपने सुख में बाधक समझ कर अब किसी से द्वेष न कर, किन्तु सुख के बरसाने वाले उस प्रभु से प्रार्थना कर और फिर देख कि द्वेष कहाँ है ? प्रार्थना द्वारा उस प्रभु के सम्मुख पहुँचते ही सब द्वेष समाप्त हो जायगा ।

(क्षितीनां) मनुष्यों के (वृषभाय) अभीष्टों को बरसाने वाले (अग्नये) अग्नि प्रभु के लिए (वाचम्) अपनी वाणी को (प्र ईरय) प्रकृष्टता से प्रेरित कर । (स) वह (नः) हमें (द्विषः) द्वेषों से (अति पर्षत्) पार लगायेगा ।

सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः ।
सुमृडीको न आविश ॥

ऋ० 1.91.11

हे प्रशान्तस्वरूप सोमदेव ! तुम सब जगत् के सार हो, जीवन रस हो, तो भी प्रकृति के विषयों में फँसा हुआ मनुष्य-संसार तुम्हें नहीं जानता, तुम कुछ हो यह कभी अनुभव नहीं करता । इसलिये हम लोग जिन्होंने तुम्हारी दया से तुम्हारी थोड़ी बहुत अनुभूति का सुख पाया है, अपना यही कार्य समझते है कि पागलों की तरह सब जगह तुम्हारे गुण गाते फिरें – फिरा करें । तुम्हारी भक्ति ने ही हमें 'वचोविद्' भी बना दिया है – तुम्हारी भक्ति से हम वाणी की शक्ति को, रहस्य को जान गये हैं और इस शक्ति का प्रयोग करना भी जान गये हैं अत: अपनी वाणियों से हम सदा तुम्हारा कीर्त्तन करते हैं, तुम्हारा यश गाते हैं, तुम्हारे स्वरूप का वर्णन करते हैं । जहाँ विषयग्रस्त मानवी हृदयों ने तुम्हें निकाल रखा है या जहाँ प्रकृतिवाद ने तुम्हारे लिए जगह नहीं रखी है, वहाँ भी तुम्हारा नाम फैलाते हैं, तुम्हें पहुँचाते हैं । मानों तुम्हारे सैनिक बन कर सांसारिक दृष्टि से तुम्हारा राज्य बढ़ाने का यत्न करते हैं । पर, हे देव ! तुम इतना करो कि हमारे अन्दर सात्त्विक सुख के दाता होते हुए सदा प्रविष्ट रहो, बस हम यही चाहते हैं । हम तुच्छ लोग तुझे कहाँ से बढ़ा सकते हैं ? हम तुझे फैलाते हैं, तुम्हारा राज्य फैलाते हैं यह कहना कितनी धृष्टता का वचन है ! असल में तुम ही, हे सर्व शक्तिमान् ! हे अनन्त अपार ! असल में तुम ही हमारे अन्दर जितना प्रविष्ट होते हो, उतना ही हममें वह तुम्हारा अवर्णनीय सात्विक सुख अनुभूत होता है कि उस आनन्द में मस्त होकर हम तुम्हारे गुण गाते फिरते हैं । बल्कि तब हमारी प्रार्थना तो यही है कि तुम हमारे में अन्दर प्रविष्ट होओ, तुम हमारे में आविष्ट होओ । जितनी मात्रा में तुम हमारे में प्रविष्ट होगे, उतनी ही मात्रा में हमारे द्वारा जगत् में तुम्हारा प्रचार व प्रकाश होगा । हे प्रभो ! इस सात्त्विक सुख से हमें अनुप्राणित करते हुए हममें आविष्ट होओ ।

(सोम) हे सोमदेव ! (वयं वचोविदः) वाणी के वेत्ता हम लोग (त्वा) तुझे (गीर्भिः) अपनी वाणियों द्वारा (वर्धयामः) बढ़ाते हैं । (सुमृडीकः) अच्छे सुख देने वाले होते हुए तुम (नः आविश) हममें प्रविष्ट होओ ।

तुंजे तुंजे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥

ऋ० 1.7.7, अथर्व० 20.70.13

भगवान् ने मुझ पर कितनी कृपा की है, इसका मैं वर्णन नहीं कर सकता ! जब जिस वस्तु की आवश्यकता मेरे कल्याण के लिए हुई, तभी वह वस्तु कहीं से आ मिली। वह कल्याण-स्वरूपिणी माता पुत्र की एक-एक जरूरत को पूरी तरह जानती हुई चिन्ता-पूर्वक देती जाती है। ओह, उसकी करुणा अपार है। इस भगवान् के जगत् में रहने वाले वहुत से मनुष्य न जाने क्यों संतोष का परित्याग किये रहते हैं और घबराते हैं। वे या तो प्रत्येक प्राणी को दी गई भगवान् की स्वाभाविक देन का मूल्य नहीं समझते या वे अकृतज्ञ हैं। पहली बात ही ठीक समझी जा सकती है। पर मैं तो यही कहूँगा और बिना थके कहता जाऊँगा कि पाप से हटानेवाले उस परमैश्वर्य युक्त इन्द्र भगवान् ने मुझे निहाल कर दिया है, मुझे पाप और दुःख के गर्त्त से उबारा है। एक के बाद एक ऐसा आंतरिक सुख मिलता गया कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। जब-जब उसकी ये देनें याद आती हैं तो आनन्दाश्रुओं से मैं गद्गद हो जाता हूँ और मेरे मुख से कृतज्ञता भरी वाणी से उसके गुणगान निकलने लगते हैं; स्तोत्र गाता जाता हूँ पर तृप्ति नहीं होती। ओह, यह अपूर्ण वाणी हृदय के अनुभूत भाव को पूर्णतया कहाँ प्रकट कर सकती है ? फिर भी मैं पूर्णता की आशा में वार-वार गाता जाता हूँ—गाता जाता हूँ - पर स्तुति कभी पूरी नहीं होती। यह कभी अनुभव नहीं हो पाता कि उसकी दिल भर के स्तुति हो गयी। ओह, उसकी स्तुति का कौन पार पा सकता है ? अपार तेरी दया, अपार तेरी दया !!

(तुंजे तुंजे) एक एक दान पर मैं (वज्रिणः इन्द्रस्य) पापवर्जक इन्द्र की (ये उत्तरे स्तोमाः) अधिक अधिक स्तुति करता हूँ, उन सबसे भी (अस्य सुस्तुतिं) उसकी स्तुति का पार (न विन्धे) नहीं पाता हूँ।

आत एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥

ऋ० 10.57.4

हे मनुष्य ! जो तू इतना निर्बल, हतोत्साह और शिथिल हो गया है इसका कारण तेरे मन की निर्जीवता है । तेरा मन निर्जीव हो गया है, मानो तुझमें मन रहा ही नहीं है । तेरे रोग का और कोई कारण नहीं है । तू अपनी इस मन्दता को — निर्बलता को — दूर करने के लिए यों ही अप्राकृतिक दवायें खाता फिरता, है इनसे कुछ नहीं बनेगा । वहम का इलाज लुकमान के पास भी नहीं है । जरा वहम को छोड़कर अपने अन्दर उस जगद्व्यापक मन की धारा को प्रविष्ट होने दे जो कि सब संसार में व्यापक है और सब संसार को चला रही है - प्रत्येक मनुष्य के मन को हिला रही है । उस मनोमय धारा को तू जितना अपने अन्दर ग्रहण करेगा, उतना तेरा मन सजीव होता जायगा । तब तू फिर से ठीक तरह क्रतु कर्म—कर सकेगा, तेरे अन्दर दक्ष—बल—आ जायगा और तुझमें एक नये जीवन का संचार हो जायगा । और जगत् को प्राण देने वाले जो सूर्य देव हैं, उनका दर्शन करता हुआ— उनसे प्राण लेता हुआ—तू दीर्घ आयु तक जीवित रहेगा । यह सब मनःशक्ति के प्रवेश का चमत्कार है । अतः हमारी तो परमात्मा से यही प्रार्थना है कि तुझ में मनः शक्ति का प्रवेश हो । इसी में तेरा कल्याण है । मनः शक्ति के बिना तो अन्य भी किसी उपचार से लाभ नहीं उठाया जा सकता । अतः मन ही को बढ़ा, मन ही को जगा, मन ही को चैतन्य कर ।

(मनः) मन का (ते) तुझ में (पुनः) फिर (आ एतु) प्रवेश हो जाये । जिससे कि तू (क्रत्वे) कर्म करने लगे (दक्षाय) तुझ में बल आ जाय (जीवसे) जीवन आ जाय (ज्योक् च) और तू चिरंजीवी होता हुआ (सूर्यं दृशे) निरन्तर सूर्यदर्शन करता रहे ।

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ ऋ० 2.41.12, अथर्व० 20.57.10

मैं डरता क्यों हूँ ? इस परमेश्वर की (इन्द्र की) सृष्टि में रहते हुए तो किसी भी काल में, किसी भी देश में भय का कुछ भी कारण नहीं है । क्या मैं अपने शत्रुओं से डरता हूँ ? मेरा तो इस इन्द्र की सृष्टि में कोई शत्रु नहीं होना चाहिये । मेरा कोई शत्रु है ही नहीं । हाँ, एक अर्थ में पाप करने वाले मनुष्यों को शत्रु कहा जा सकता है, क्योंकि पाप करना परमात्मा से शत्रुता करना है—पाप करना ईश्वरीय शासन का विद्रोह करना है । पर ऐसे पाप करने वाले भाई से भी मुझे डरने की क्या जरूरत है ? यह ठीक है कि ऐसे पाप करने वाले भाई तब मुझे अपना शत्रु समझ लेंगे जब कभी कि उनके पाप का विरोध करना मेरा कर्त्तव्य हो जायगा और तब वे मुझे अपना शत्रु मानकर नाना प्रकार से सताने—कष्ट देने— को भी उद्यत होंगे । पर उस पापी भाई के सताने से भी मेरा क्या बिगड़ेगा, वह तो बिचारा स्वयं परमात्मदेव का मारा हुआ है । परमात्मा तो स्वभावतः 'शत्रून् विजेता' हैं । उससे शत्रुता करके अर्थात् पाप करके कौन बचा रह सकता है ? यदि यह विश्वास पक्का हो जाय कि परमात्मा 'शत्रून् जेता' है तो अज्ञानी पापी पुरुषों की तरफ से आये हुए बड़े से बड़े सन्तापों का, घोर से घोर अत्याचारों का भी भय हट जाय । ऐसा विचार थोड़ी देर के लिए आने पर ही एकदम निर्भयता हो जाती है । और फिर उसे सचमुच 'विचर्षणि' समझ लेने पर तो कोई भय रहता ही नहीं । देखो, वह 'विचर्षणि' परमेश्वर सब प्राणियों के सब कर्मों को ठीक-ठीक देखता हुआ पाप और पुण्य का फल दे रहा है । वह ठीक ढंग से ठीक समय हरेक पाप का विनाश कर रहा है—पाप को परास्त कर रहा है । तो मुझे डरने की क्या जरूरत है ? मुझे तो कोई दुःख क्लेश तभी मिलेगा, यदि मेरा ही कोई पापकर्म उदय होगा । नहीं तो किसी अन्य मनुष्य की चाहना से मुझे क्लेश कभी नहीं हो सकता है । और यदि मेरे अपने ही पाप-कर्मों के कारण कोई क्लेश आता है तो वह तो आना ही चाहिए । उसे मैं खुशी से सह सहकर निष्पाप और उऋण होता जाऊँगा । वह क्लेश उस 'शत्रु' का भेजा हुआ नहीं है, किन्तु मेरे प्यारे परमेश्वर का भेजा है, उसका तो मुझे स्वागत करना चाहिए । एवं इस संसार में—चारों दिशाओं में, मेरा अब कोई दुःख दे सकने वाला शत्रु नहीं रहा है । जब से प्रभु को 'विचर्षणि' और 'शत्रून् जेता' जान लिया है तब से मैं अभय हो गया हूँ - सब तरफ से अभय हो गया हूँ—किसी दिशा से कोई भय नहीं । अभय, अभय !

(इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर, मुझे **(सर्वाभ्य आशाभ्यः परि)** सब दिशाओं से **(अभयं करत्)** अभय कर दे । **(शत्रून् जेता)** जो कि परमेश्वर शत्रुओं को जीतने वाला है । **(विचर्षणि)** और सब कुछ [हर एक प्राणी के हर एक कर्म को] पूरी तरह देखने वाला है ।

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते ।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ ।।

ऋ० 8. 45. 20

हे भगवान् ! मैं बुड्ढा हूँ और तुम मेरी लाठी हो । तुम मेरे सहारे हो । मेरा इस जन्म का यह देह चाहे वृद्ध न दीखता हो, पर मैं सच्चे अर्थ में जीर्ण हूँ, पुराना हूँ अतएव अनुभवी हूँ । मैं न जाने कितनी योनियों में फिरा हूँ — सब संसार भोग चुका हूँ । पर अब मैं तुम्हें 'शवसस्पते' करके सम्बोधन करता हूँ क्योंकि मैंने सुदीर्घ अनुभव से जान लिया है कि सब बलों के स्वामी तुम्हीं हो । मैंने कभी बड़ा धनाढ्य होकर धनवल का अभिमान किया है, किसी समय यह समझा है कि मेरे साथ इतना बड़ा भारी-दल है, सो जो मैं चाहूँ कर सकता हूँ इस तरह दलवन्दी के बल को भी आजमाया है, कभी अपने बुद्धि-बल, चतुराई-बल के मुकाबिले में सब दुनिया को हेय समझा है । शरीर-बलों और शस्त्र-बलों का तो कहना ही क्या है ! पर इतने लम्बे, अनगिनत योनियों के सुदीर्घ अनुभवों के बाद जीर्ण होकर – पुराना होकर अब समझा है कि सब बलों के स्वामी तो तुम हो । इसलिये अब और सब बलों का सहारा छोड़कर एक तुम्हारा सहारा पकड़ लिया है । हे मेरे एक-मात्र बल ! तुम मुझ से अब क्षणभर के लिए भी मत दूर होओ । अब मैं यदि क्षण भर के लिए भी तुमको भूल जाता हूँ — अपने मानसिक विचार नेत्र के सामने से क्षण भर के लिए भी तुम्हें ओझल पाता हूँ — तो मैं व्याकुल हो जाता हूँ — एकदम निस्सहाय हो जाता हूँ । अतः अब तो यही सतत कामना है कि तुम सदा ही मेरे सामने और मेरे साथ ही बने रहो । बुड्ढे की लाठी जब आँखों के सामने पड़ी हो — पर उसकी पहुँच के परे पड़ी हो — तब तो उसका सहारा न पा सकते हुए उसका दीखना बुड्ढे के लिए और भी दुःखदायक हो जाता है । इसलिये हे मुझ वृद्ध की लाठी ! हे मुझ निर्बल के बल ! हे मेरे एक मात्र सहारे ! तुम अब सदा मेरे साथ रहो — सधस्थ बने रहो । तुम से जरा भी दूर होकर अब मैं नहीं रह सकता ।

(शवसः पते) हे सब बलों के स्वामी ! (जिव्रयः) बुड्ढा पुरुष (रम्भं न) जैसे डंडे को (त्वा) उस तरह तुझको मैंने (आरम्भ) अवलम्बन कर लिया है और अब मैं (त्वा) तुझे (सधस्थे) अपने समान स्थान में (आ) आमने सामने — आँखों के सामने (उश्मसि) चाहता हूँ — देखना चाहता हूँ ।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादं अतन्द्रा ॥

ऋग्वेद 8. 2 18, अथर्व० 20. 18. 3

आलस्य मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है। हम जो नित्य पाप करते हैं, उनमें से बहुतों का कारण मन की कुटिलता नहीं होता किन्तु बहुत बार केवल हम आलस्य व सुस्ती के कारण पापी बनते हैं। एवं बहुत से अत्यन्त लाभकारी कार्यों को शुरू करके केवल आलस्य से हम उन्हें छोड़ देते हैं और आत्मकल्याण से वंचित हो जाते हैं। अतः आलस्य करने वाले लोग कभी परमात्मा के प्यारे नहीं हो सकते। यों कहना चाहिये कि परमात्मा के देवता आलसियों को नहीं चाहते, क्योंकि आलसी लोग देवों के चलाये इस संसार-यज्ञ में उनको सहयोग नहीं दे सकते। परमात्मा अपने इन देवों द्वारा जगत् में परिपूर्ण व्यवस्था रखते हैं – इन द्वारा पूरा नियमन, अनुशासन (Discipline) चला रहे हैं। भूल, गलती, अनुचितता, अपराध, पाप का ठीक नियमानुसार हमें दण्ड मिलता रहता है—बेचैनी, रोग, व्यथा, वेदना, क्लेश, मृत्यु आदि द्वारा हमें शिक्षा दी जाती रहती है कि हम परमात्मा की आज्ञाओं का उल्लंघन न करें। ये देवता इस अनुशासन को – बिल्कुल अतन्द्र होकर – बिल्कुल भूल-चूक से रहित होकर – कर रहे हैं। ये सृष्टि के देव उस सत्त्वगुण के बने हुए हैं जो कि तमः को जीतकर रजः को अपने वश में किये हुए हैं। अतः आलस्य, प्रमाद करने वाले तमोगुणी (तमोगुण से दबे हुए) मनुष्य देवों के प्यारे कैसे हो सकते हैं? अतः उन्हें देव बार-बार प्रमादों के लिए दण्ड दे दे कर – उन्हें पुनः पुनः ठोकरें मारते हुए – जगाते रहते हैं। परमात्मा के देव जो यह जगत् रूपी यज्ञ चला रहे हैं, उसी के अनुसार—उसकी अनुकूलता में—जो भी कुछ कर्म मनुष्य करता है, वह सब यज्ञ-कर्म ही है। मनुष्य को इस यथार्थ-कर्म के सिवाय और कोई कर्म नहीं करना चाहिये। वही कर्म शुभ है, पुण्य है, यज्ञिय है, जिस द्वारा इस संसार को कुछ अच्छे, ऊँचे और पवित्र बनाने में सहायता व सहयोग मिलता है। इस तरह का कोई भी कर्म करना इस संसार-यज्ञ के लिए सोम-रस का सेवन करना है। जरा देखो—इन देवों के प्यारे लोगों को देखो—जो कि अपने प्रत्येक कर्म द्वारा संसार यज्ञ के संवर्द्धक, पोषक इस सोम-रस को पैदा करते हुए और अपने इस कर्त्तव्य में सदा जागृत, कटिबद्ध, संनद्ध रहते हुए देव तुल्य जीवन बिता रहे हैं।

(देवाः) देव लोग (सुन्वन्तं) यज्ञ कर्म करते हुए की (इच्छन्ति) इच्छा करते हैं। (न स्वप्नाय स्पृहयन्ति) निद्राशील सुस्तों को नहीं चाहते। (अतन्द्राः) स्वयं आलस्यरहित ये देव लोग (प्रमादं) गलती, भूल करने वाले का (यन्ति) नियमन करते हैं।

जीवान्नो अभिधेतन आदित्यासः पुरा हथात् ।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः ॥

ऋ० 8. 67. 5

हे आदित्य देवो ! दौड़ो । हमें बचाओ । मौत हमारे सामने मुँह खोले खड़ी है । अगले ही क्षण में हम उसके ग्रास होने वाले हैं । भोगों को भोगते हुए तो हमें मालूम न था कि ये आसानी से भोगे जाते हुए भोग एक दिन भोक्ता बनकर हमें खाने के लिये आयेंगे । उस समय हम खुशी से अपने को इन विषयों के बन्धन-जाल में बाँधते गये, यह न अनुभव किया कि हम मृत्यु के जाल में बँध रहे हैं । पर अब इस समय का—यह मृत्यु मुख में जाने का—एक क्षण, पश्चात्ताप-मय यह एक क्षण, शेष सारे बीते हुए जीवन काल के मुकाबिले में खड़ा है । बस यह ही एक क्षण है । इस बीच, हे आदित्यो ! मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ । सुना है तुम जगदीश्वर की अखण्डनीय शक्तियाँ हो, तुम बन्धन-जाल से छुड़ाने वाली शक्तियाँ हो, तुम प्रकाश देने वाली शक्तियाँ हो । वो तुम कहाँ हो ? मेरी पुकार क्यों नहीं सुनते ? क्षण भर में दम निकलना चाहता है । तुम तो 'पुकार सुनने वाले' (हवनश्रुत्) प्रसिद्ध हो । तुमने बड़े-बड़े पापियों के हार्दिक पश्चात्ताप के करुण-क्रन्दनों को सुना है और उन्हें अन्तिम समय में भी उबारा है । क्या यह मेरा इस समय का पश्चात्तापमय रुदन भी हृदय से निकला रुदन नहीं है ? तो फिर तुम क्यों नहीं सुनते, क्यों नहीं दौड़ कर मुझे बचाते ? क्या अगले क्षण जब मैं मर चुकूँगा, मेरा विनाश पूर्ण हो चुका होगा, मेरी ही समाप्ति हो चुकी होगी, तब आओगे ? तब क्या बनेगा ? ओह ! यदि मेरा उबारना अभीष्ट है तो ये जो जीवन के दो-चार पल शेष हैं, इन्हीं में आ पहुँचो । दौड़ो, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ ।

(आदित्यासः) हे आदित्यो ! (अभिधेतन) दौड़ो (जीवान् नः) हम जीते रहतों के पास (हथात् पुरः) हमारे मारे जाने से पहिले ही दौड़ो । (हवनश्रुतः) हे पुकार सुनने वालो ! (कद्ध स्थ) तुम कहाँ हो ?

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत् स मन्दी धावति ॥ ऋ० 9.58.1, साम० पू. 6. 1. 2. 4

हे दुःख और पाप से तरना चाहने वाले भाइयो ! देखो, कोई हैं, जो कि तर गये हैं। इस दुस्तर दीखने वाले संसार महासागर से तरा जा सकता है—सचमुच तरा जा सकता है। पर तरता वह है जो कि 'मन्दी' है। क्या तुम भगवान् की भक्ति-स्तुति में रमने वाले हो ? क्या इस भजनरस से तुम्हारा अन्तःकरण तृप्त हो गया है ? तुम्हारा अपना अन्तर (अन्दर) आनन्द से परिपूर्ण हो गया है अर्थात् तृप्त होकर तुम्हें संसार की अब अन्य किसी वस्तु की—किसी भी वस्तु की—कामना नहीं रही है ? क्या तुम ऐसे मस्त हो गये हो ? ऐसे आत्माराम हो गये हो ? 'मन्दी' होने के लक्षण तो ये ही हैं। देखो, ऐसे 'मन्दी' तरते जा रहे हैं और तर गये हैं।

यह अवस्था कैसे प्राप्त होती हैं ? जब भजन करने से अन्दर सोई पड़ी हुई शक्ति जागती है तो वह प्राण, वाणी और मन को उज्जीवित करती हुई ऊपर की तरफ चढ़ने लगती है। हठ-योगियों की परिभाषा में इसे कुण्डलिनी का जागरण और प्राणोत्थान कहते हैं। इस कुण्डलिनी का वास्तविक जागरण ही 'तरना' शुरू करना है। प्राण की धारा मूलाधार से उठकर ऊपर चढ़ने लगती है, हैमवती-शक्ति नाचती कूदती हुई, भजन-स्तुति करती हुई—मार्ग में प्राण, वाणी, मन के अद्भुत चमत्कार दिखाती हुई – ऊपर, अपने शिवरूप स्वामी की तरफ चढ़ने लगती है। यह आध्यान अर्थात् मानसिक-चेतना से युक्त प्राणधारा के रूप में क्रमशः ऊपर जाती हुई अनुभूत होती है। यही उत्पन्न किये 'अन्धस्' (सोम) की धारा है जिसके साथ-साथ आत्मा ऊँचा होता जाता है। इसी धारा के साथ 'मन्दी' नामक भक्त की ऊर्ध्वगति होती है। प्रसिद्ध सात लोक सब अन्दर हैं। उन्नत होता हुआ आत्मा इन सब लोकों को पार करता हुआ सत्यलोक में पहुँच कर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है—बिल्कुल पार तर जाता है। शिर के सत्यलोक में प्राण, वाणी, मन आदि शक्ति जाकर ठहर जाती है और समाधि हो जाती है। इस प्रकार देखो ! 'मन्दी' (भगवान् का भक्त) दुःख-सागर को तर जाता है - ऊपर पहुँच जाता है। अहो ! इस पुण्य घटना का विचार करना —इसे कल्पना की आँखों से देखना—भी कितना ऊँचा उठाने वाला है ! 'तरत् स मन्दी धावति', तरत् स मन्दी धावति ।

(मन्दी) जो भक्ति, स्तुति करने वाला, स्वयं तृप्त, आनन्दमग्न पुरुष होता है (स) वह (तरत्) तर जाता है (स) वह (सुतस्य) उत्पन्न की गई (अंधसः) आध्यानयुक्त प्राण व वाणी की (धारया) धारा के साथ (धावति) ऊपर वेग से उठता जाता है। (स मन्दी) वह आनन्द तृप्त (तरत्) तर जाता है, (धावति) ऊर्ध्वगति द्वारा ऊपर चढ़ जाता है।

नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः ।
नृभिः सुवीर उच्यते ॥ ऋ० 6.45. 6

'सुवीर'—सर्वश्रेष्ठ वीर—किसे कहना चाहिये ? अन्त में तो प्रत्येक ही गुण की पराकाष्ठा भगवान् में है, परिपूर्ण वीरता का निवास भी उन्हीं में है । उनकी वीरता का अनुकरण करनेवाले मनुष्य, नर लोग, सच्चे पुरुष उन भगवान् को ही 'सुवीर' नाम से पुकारते हैं । पर उनकी वीरता कैसी है ?

अज्ञानी लोग समझते हैं कि अपने शत्रु, द्वेषी को नुकसान पहुँचाने में सफल हो जाना ही बहादुरी है । यह निरा अज्ञान है । क्रोध के वश में आ जाना तो हार जाना है । क्रोधवश होकर मनुष्य केवल अपने को विषयुक्त करता है और जलाता है । एवं क्रोधी अपने शत्रु का नाश क्या करेगा ? वह तो अपना नाश पहिले कर लेता है । ज्यों-ज्यों हम अपने द्वेषी के लिए अनिष्ट-चिन्तन करते हैं, त्यों-त्यों उसमें हमारे प्रति द्वेष और बढ़ता जाता है, उसका द्वेष, उसका शत्रुपना बढ़ता जाता है । उसे हानि पहुँचा लेने पर, उसके शरीर को चोट दे लेने पर, यहाँ तक कि उसे मार डालने तक पर भी उसकी शत्रुता नष्ट नहीं होती, वह तो और और बढ़ती जाती है । शत्रु के शरीर का, धन का, मान का एवं उसकी अन्य सब चीजों का हम बेशक नाश करने में सफल हो जायें पर उतना ही उतना वह शत्रु (असली शत्रु) बढ़ता जाता है, उसका शत्रुपना बढ़ता जाता है । यह क्या हुआ ? अतः वीरता (परमात्म-देव से अनुकरणीय सच्ची वीरता) इसमें है कि हम उसकी बाहरी किसी चीज का नाश न करें (और क्रोध से हम अपना भी नाश न करें) किन्तु किसी तरह उसका—उसकी शत्रुता का—नाश कर दें । उसके अन्दर हम ऐसे घुसें कि वह हमारा शत्रु न रहे; वह मित्र हो जाय । बहादुरी इसमें है कि हम क्रोध को जीतकर, धैर्य रखकर अपने द्वेषी के द्वेषभाव को बिल्कुल निकाल डालें, ऐसा निकाल डालें कि वह हमारी निन्दा करना तो दूर रहा, वह हमारी प्रशंसा के गीत गाने लगे । यह है शत्रु पर विजय पाना । पर ऐसी विजय पाने के लिए अपने में बड़ा भारी बल चाहिये – अपने में बलिदान को न खतम होनेवाली शक्ति चाहिये—बड़ा धैर्य चाहिये, बड़ी भारी वीरता चाहिये । हम भी परिमित अर्थ में बोला करते हैं कि वीर वह है जिसकी शत्रु भी प्रशंसा करें, पर हमें तो अपरिमित अर्थ में उस भगवान् की सुवीरता का आदर्श अपने सामने रखना चाहिये जिनके विषय में भक्त लोग समझते हैं कि आज संसार में जो लोग बिल्कुल उल्टे रास्ते जा रहे हैं, वे भी एक दिन लौटकर भगवद्भक्त—भगवान् के प्रशंसक – बनेंगे और मुक्त होंगे । भगवान् की उस अपरिमित वीरता में से, हृदय-परिवर्तन करने की उनकी इस अनंत शक्ति में से और उनके अनन्त धैर्य में से हम भी कुछ ले लेवें, हम भी वीर बनें ।

हे इन्द्र तू (द्विषः) द्वेष करनेवाले के द्वेषभाव को (इत् उ) निश्चय से (अति नयसि) निकाल डालता है । (तान्) तू उन्हें (उक्थशंसिनः) अपना प्रशंसक (कृणोषि) बना देता है (नृभिः) सच्चे मनुष्यों से तू (सुवीर उच्यते) सुवीर कहाता है ।

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा ।।
मर्य इव स्व ओक्ये ।।

ऋ० 1. 91. 13

हे देव ! तुम मेरे हृदय में आ विराजो, इसी में रमण करो । कहने को तो पहले बहुत बार ऐसी प्रार्थना मैंने की है तथा औरों को करते सुना है पर शायद तब मैं न तो अपने हृदय को जानता था और न तुम्हें जानता था । तुम तो मुझमें तभी विराज सकते हो जब कि मेरा हृदय स्वार्थ से बिल्कुल साफ हो, सर्वथा निर्मल हो । इसीलिए अब मैंने अपने जीवन के लिए भगीरथ-यत्न से हृदय को पवित्र किया है । मैंने झूठ, हिंसा, कुटिलता, असंयम आदि विकारों के मैल को ही नहीं निकाला है किन्तु बड़े यत्न से क्षण-क्षण आत्मनिरीक्षण करते हुए राग और द्वेष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मल को भी खुरच खुरच कर निकाला है और अतएव अब इसमें भक्ति-स्रोत भी खुल गया है । इसीलिये मैं अब तुम्हें बुलाने की हिम्मत करता हूँ । हे मेरे जीवनसार ! मैं कहता हूँ कि तुम मेरे हृदय में ऐसे आ जाओ जैसे कि गौवें जौ के हरे खेत में प्रसन्नता से आकर खाने का आनन्द लेती हैं क्योंकि मैंने भी न केवल अपने हृदय को तुम्हारे योग्य स्वच्छ बनाया है किन्तु इसमें यह भक्ति का रस भी जुटा रखा है । मेरे इस हार्दिक प्रेम का रसास्वादन करने के लिए तुम यहाँ आओ । मेरा प्रेम देखता है कि अब तुम ही मेरे प्राणों के प्राण हो, तुम्हारा स्पर्श मेरा जीना है और तुम्हारा हट जाना मेरी मौत है । इसलिए मेरा हृदय पुकारता है कि तुम मुझ में आकर सदा रमण करो । क्या मेरा सच्चा ज्ञानमय प्रेम तुम्हें यहाँ नहीं खींच लायगा ? नहीं, मैं भूल करता हूँ । तुम मेरे हृदय में न केवल आओ किन्तु आकर इस तरह बस जाओ जैसे मनुष्य अपने घर में रहता है व रमण करता है । मेरी भक्ति आर्त्त, जिज्ञासु व अर्थार्थी की भक्ति नहीं है क्योंकि मैंने अपने हृदय से अब 'अहंकार' को भी सर्वथा निकाल दिया है । अब यह शरीर तेरा है, यह हृदय अब तेरा अपना घर है । 'मैं', 'मम' सब यहाँ से लोप हो गया है । हे आत्मा की आत्मा सोम ! सर्वथा विशुद्ध इस हृदय में अपना यथेच्छ रमण करो । यह तुम्हारा घर हो गया ।

(गावः न यवसेषु) जैसे जौओं के बीच में गायें आकर रमण करती हैं, आनन्दित होती हैं और (मर्यः स्व ओक्ये इव) जैसे मनुष्य अपने निजी घर में बसता है वैसे ही (त्वं) तुम (नः हृदि) हमारे हृदय में (आ) आकर (रारन्धि) सदा रमण करो व बस जाओ ।

बृबदुक्थं हवामहे, सृप्रकरस्नमूतये ।
साधु कृण्वन्तं अवसे ॥ ऋ० 8.32.10

हे परमेश्वर ! हम तुम्हें रक्षा के लिए पुकारते हैं । इस संसार में बहुत से क्लेश, दुःख और आपत्ति हम पर आती हैं, बहुत से भय उपस्थित होते रहते हैं । उस समय में हे परमेश्वर ! हम तुम्हें ही याद करते हैं । तुम्हारे सिवा क्लेश में हम और किसे पुकारें ? क्योंकि हम जानते हैं कि तुम ही एक मात्र रक्षक हो । जब तुम रक्षा करना चाहते हो तो सैकड़ों विपत्तियों के बादलों को एक क्षण भर में उड़ा देते हो, सैकड़ों बन्धन एक दम में काट देते हो । जहाँ कोई भी रक्षा का उपाय नहीं नजर आता, अन्तिम नाश ही दीख रहा होता है, बच जाने की हम कोई कल्पना तक नहीं कर सकते होते, वहाँ पर भी तुम्हारे अदृश्य हाथ पहुँचे हुए हमारी रक्षा कर देते हैं । तुम्हारे रक्षा करने वाले हाथ हर जगह और हर वक्त पहुँचे हुए हैं । इस लिए हे सृप्रकरस्न ! हम कभी भी आशा नहीं छोड़ते कि तुम हमें बचा न लोगे । अतः हम तुम्हें पुकारते जाते हैं । आखिर तुम यदि नहीं भी रक्षा करते तो भी हम अशान्त नहीं होते क्योंकि हम जानते हैं कि तुम्हारी अरक्षा में भी रक्षा छिपी होती है । हे देव ! अटल विश्वास है कि तुम कल्याण ही करने वाले हो । तुमसे अकल्याण कभी हो ही नहीं सकता है । हम नहीं समझ पाते हैं कि स्पष्ट दीखने वाली अमुक आपत्ति किस तरह कल्याण के रूप में बदल जायगी, कैसे हमारा विनाश भलाई के लाने वाला होगा, पर अनुभवों द्वारा अन्तस्तल पर यह विश्वास निहित है कि तुम अपनी हर एक घटना द्वारा हम लोगों का भला ही कर रहे हो और आखिर तुम हमारी पालना करोगे, हमें बचा लोगे । हमारा अत्यन्त विनाश तुम कभी नहीं होने दे सकते । अतः हम तुम्हें ही रक्षा के लिए पुकारते हैं । सदा ऐसे विलक्षण ढंग से सब का कल्याण करते हुए तुम हमारी निश्चित रक्षा करने वाले हो; हमारे कल्याण के लिए अपने रक्षक बाहुओं को प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक स्थान में फैलाए बैठे हो; तुम्हारे सिवाय मनुष्य के लिए और कौन स्तुत्य है ? मनुष्य और किसके गीत गावे ? तुम्हारी ही स्तुति कर वह अपनी वाणी को कृतकृत्य कर सकता है ।

(बृबदुक्थं) स्तुति करने योग्य इन्द्र को (ऊतये) रक्षा के लिए (हवामहे) हम पुकारते हैं जो इन्द्र (सृप्रकरस्न) सब जगह फैली हुई भुजाओं वाला है (अवसे) जो पालन पोषण के लिए (साधु कृण्वन्तम्) कल्याण ही करने वाला है, उस इन्द्र को ।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ऋ० 1.3.11

जिन्होंने अपने जीवन को यज्ञ बनाया है, वे जानते हैं कि इस जीवन-यज्ञ को जहाँ अन्य (परमेश्वर के शक्तिरूप) देवों ने धारण कर रखा है, वहाँ सरस्वती देवी ने भी इसे धारण किया हुआ है। यह देवी दो कार्य कर रही है। यह एक तो 'सूनृता' वाणी को प्रेरित करती है और दूसरी सुमतियों को जगाती रहती है। सूनृता उस वाणी का नाम है जो कि सच्ची और प्यारी होती है। केवल प्रिय वाणी तो किसी काम की है ही नहीं किन्तु केवल सच्ची वाणी बोलना भी अधूरा है। सत्य के साथ वाणी में अहिंसा भी रहे, तभी वाणी पूरी होती है और तब वाणी में प्रेम भी आ जाता है। सरस्वती देवी हम लोगों में ऐसी सत्यमयी और मधुर वाणी को प्रेरित करती रहती है। इस कारण हमारा जीवन-यज्ञ अभग्न चलता है। और इसके अतिरिक्त यह सरस्वती देवी इस यज्ञ के एक ऐसे अन्य गहरे और सूक्ष्म अंग को भी निबाहती है, जब कि यह हममें निरन्तर श्रेष्ठ, सुन्दर, कल्याणकर, बुद्धि (ज्ञान) को जगाती है। जब जीवन-यज्ञ ठीक चल रहा होता है तो अन्दर सरस्वती देवी हममें शुभ, सबकी कल्याणकारी, हितकारी, बुद्धियों को ही उत्पन्न करती हुई और हमारी वाणी से सच्चे और प्रेममय वचनों का ही प्रवाह बहाती हुई होती है। अतः जब कभी हमारे मन में कोई दुर्मति उत्पन्न होवे, हमारा मन किसी के लिए अहित व अनिष्ट सोचे तो समझ लो कि सरस्वती देवी ने हमें छोड़ दिया है। जब कभी हम अनृत या कठोर (हिंसक) वचन बोलें तो समझ लो कि सरस्वती देवी हमारे जीवन की यज्ञ-शाला से उठ गई है। हमें फिर सुमति और सूनृता वाणी का संकल्प करके अपने हृदयासन में सरस्वती देवी को बिठलाना चाहिए और इस यज्ञ-भंग के लिए प्रायश्चित करना चाहिए।

हम प्रायः समझते हैं कि सरस्वती देवी का प्रसाद पढ़ना-लिखना आ जाना है। पर यह नहीं है। यदि किसी के हृदय में निरन्तर सुमति की ही धारा बहती हो और उसकी वाणी से सत्यमय और मधुर वचनों का ही अमृत झरता हो तो वह मनुष्य चाहे बिल्कुल निरक्षर हो तो भी उसमें निश्चय से सरस्वती का वास है, जो कि उसके जीवन-यज्ञ को धारे हुए चला रही है।

(सूनृतानां) सच्ची और प्यारी वाणी को (चोदयित्री) प्रेरित करती हुई (सुमतीनां) और अच्छी बुद्धियों को (चेतन्ती) चेताती हुई (सरस्वती) सरस्वती (यज्ञं) यज्ञ को (दधे) धारण किये हुए है।

**केतुं कृण्वन् अकेतवे पेशो मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिः अजायथाः ॥**

ऋ० 1. 6. 3., साम० उ० 6. 3. 14, अ० 20.69.11

यह शरीर तो मर्य है, मुर्दा है। इस समय भी मुर्दा है। जब अर्थी पर उठाकर इस शरीर को जलाने के लिए ले जाया जाता है, उस समय यह शरीर जैसा मुर्दा होता है वैसा ही यह अब भी है। पर इस समय यह मुर्दा इसलिये नहीं दीखता चूंकि इन्द्र (आत्मा) ने अपनी चेतनता, अपनी सुन्दरता इसमें बसा रखी है।

हे इन्द्र आत्मन्! जब यह शरीर सुषुप्तावस्था में होता है, तब तुम ही इसमें से अपनी जागरण शक्तियों को समेट लेते हो, अपने में खींच लेते हो। अतः तुरन्त हमारा चलना फिरना, बोलना आदि सब व्यापार बन्द हो जाता है। सदा चलनेवाले मन के भी सब संकल्प, विकल्प बन्द हो जाते हैं। यह शरीर जड़वत् हो जाता है। और जब तुम फिर अपनी जागरण-रश्मियों को शरीर में फैला देते हो तो फिर मनुष्य उठ बैठता है, सोचना विचारना शुरू हो जाता है; मनुष्य फिर चलने बोलने लगता है। इस 'अकेतु' शरीर में फिर चेतना दीखने लगती है—उसका खोया हुआ जागृत रूप फिर उसमें आ जाता है। हे इन्द्र! सुषुप्ति में तो तुम अपनी जागरण शक्तियों को केवल समेट लेते हो, पर जब तुम इस शरीर को छोड़ ही देते हो, तब क्या होता है? तब यह शरीर अपने असली रूप में—मिट्टी के ढेर के रूप में—दीख जाता है। न इसमें ज्ञान है और न रूप है। हे इन्द्र! इस मिट्टी के बर्तन में अमृत होकर तुम ही भरे हुए हो। इस मिट्टी में जो रूप, सुडौलता आ गई है, सुन्दर अवयव-संनिवेश हो गया है, यह तुम्हारे व्यापने से हुआ है और इस मिट्टी की मूर्ति में शव की अपेक्षा जो इतनी चेतना दिखाई देती है, वह तुम्हारे समाने से ही हुई है। यह शरीर जो मुर्दा होने पर इतना अपवित्र समझा जाता है कि इसे छू लेने से स्नानादि शौच करना पड़ता है, वही असल में मुर्दा शरीर, हे परम-पावन इन्द्र! इस समय तुम्हारे समाये रहने के कारण, तुम्हारे पवित्र संस्पर्श से इतना पवित्र हुआ है। तुम्हारा इतना अद्भुत माहात्म्य है। मनुष्य तुम्हारे इस माहात्म्य को क्यों नहीं देखता?

आज हम स्पष्ट देख रहे हैं कि इन सब मुर्दा जड़ शरीरों में चेतनता लाते हुए और इन अरूपों में रूप-सौन्दर्य प्रदान करते हुए तुम ही अपनी जागृत शक्तियों के साथ उदय हुए हो; तुम ही आये हुए हो।

हे इन्द्र आत्मा! तू (मर्याः) इस मरण-शील (अकेतवे) और ज्ञानरहित अवस्था वाले शरीर में (केतुं कृण्वन्) ज्ञान और जीवन लाता हुआ (अपेशसे) तथा इस अरूप असुन्दर शरीर में (पेशः कृण्वन्) रूप सौन्दर्य लाता हुआ (उषद्भिः) अपनी जागरण शक्तियों के साथ (सं अजायथाः) उदय होता है—पुनर्जागरण और पुनर्जन्म में—उदय होता है।

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन् अघायतः ।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥ ऋ० 1.91.8

हे सोमदेव ! तुम्हीं वास्तव में हमारे राजा हो । यद्यपि संसार के मनुष्य-राजा भी जान माल आदि की रक्षा करने के लिए ही होते है, पर वे अल्पशक्ति राजा चाहे जितनी हुकूमत की शक्ति रखते हों तो भी हमारी पूरी तरह रक्षा नहीं कर सकते हैं । पर मुझे अपने जान माल की ऐसी परवाह नहीं है, इनको तो मैं धर्म के लिए खुशी से जाने दूँगा । अतः हत्यारों और लुटेरों के आक्रमण से रक्षा पाने की मुझे कोई चिन्ता नहीं होती । मुझे तो चिन्ता है पाप के आक्रमण से रक्षा पाने की । इस पाप के आक्रमण से ही बचने की मुझे सख्त जरूरत है। और इस आक्रमण से तो, हे मेरे अन्तरतम के राजा ! मुझ में अन्दर से हकूमत करने वाले स्वामी ! हे असली राजा ! तुम्हीं चारों तरफ से मुझे बचा सकते हो । बड़े से बड़ा श्रेष्ठ राजा भी अपने बाहिरी सुप्रवन्ध से हमें पाप के आक्रमण से सर्वथा सुरक्षित नहीं कर सकता । इसीलिए हे राजाओं के राजा परमेश्वर ! तुम से हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमें पाप चाहने वालों से सब तरफ से रक्षित करो । हे सर्वशक्तिमान् ! मैं तो अन्दर तुमसे सम्बन्ध जोड़ चुका हूँ; तो मुझे अब किसका डर है ? तुझ जैसे से अपना सम्बन्ध जोड़ने वाला—तुझ सर्वशक्तिमान् राजा की मैत्री पाया हुआ तेरा सखा—कभी नष्ट नहीं हो सकता । तेरी सर्वशक्तिमान् शरण में पहुँचे हुए को नाश कर सकने वाली वस्तु कहाँ से आयेगी ? पर ऐसा तेरा सखित्व पाने के लिए—और ऐसा अमूल्य सखित्व पाकर उसको कायम रखने के लिए—बस, पाप से सुरक्षित रहने की जरूरत है । इसलिए हमारी वारम्बार यही प्रार्थना है कि हमें पाप से चारों तरफ से बचाइये—हमें पाप से सब तरफ से बचाइये ।

(सोम) हे सोम ! (राजन्) हे राजा ! हे असली राजा । (त्वं नः) तू हमें (अघायतः) पाप चाहने वालों से (विश्वतः) चारों तरफ से (रक्षा) रक्षा कर । (त्वावतः सखा) तेरे जैसे से मित्रता रखने वाला (न रिष्येत्) कभी नष्ट नहीं होता ।

22 चैत्र

प्रियं नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः।
प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥ ऋ॰ 1. 86. 10, सा॰ उ॰ 8.1.1

हे मनुष्य भाइयो! हम अपने परम आत्मा को, परम अग्नि को भूल गये हैं। हम यह भी भूल गये हैं कि हम स्वयं भी वास्तव में आत्मा रूप हैं, आत्माग्नि हैं। इसीलिए हम इस संसार की परम तुच्छ धन, दौलत, माल, असबाब, पुत्र, वधू, सुख, आराम, शरीर तथा सौन्दर्य आदि विनश्वर वस्तुओं से तो इतना प्रेम करने लग गये हैं, इनमें इतने आसक्त, लिप्त और अनुरक्त हो गये हैं कि हमें इस गन्दी दलदल में से अब ऊपर उठना असम्भव सा हो गया है। पर जो हमारा असली स्वामी, सखा और सब कुछ है, परम पवित्र प्रभु है, उसे हम दिन रात के चौबीसों घण्टों में से कुछ क्षणों के लिए भी स्मरण नहीं करते। अब तो हम होश संभालें, जागें और अपने परम प्यारे अग्नि प्रभु को अपना लें। वही हम सब प्रजाओं का एकमात्र पति है, स्वामी है, वही हमें सब सुखों का देने वाला 'मन्द्र' है, वही एकमात्र है जो कि हम सब का वरणीय है और वही है जो कि अपने परम यज्ञ द्वारा हम प्रजाओं को सब कुछ दे रहा है। अरे प्यारो! हम उसे छोड़कर कहाँ प्रेम करने लगे? सचमुच हमने अपनी प्रेम-शक्ति का अभी तक घोर दुरुपयोग किया है। क्या प्रेम जैसी पवित्र वस्तु हमें इन अशुचि, तुच्छ, अनित्य वस्तुओं में रखने के लिए ही दी गई थी? आओ, अब तो हम अपने प्रेम के लक्ष्य को पा लेवें और उस मन्द्र 'विश्पति' को, वरेण्य 'होता' को अपना प्यारा बना लेवें, अपना प्रेम समर्पण कर देवें।

किन्तु इस तरह प्रेमपथ पर चल देने पर हे भाइयो! हमें भी उसे रिझाना होगा, उसे प्रसन्न करना होगा, उसके प्रेम को अपने प्रति आकर्षण करना होगा अर्थात् हमें भी उसका प्यारा बनना होगा और उसके प्यारे तो हम तभी बन सकते हैं जब कि हम 'स्वग्नि' बन जायें, उत्तम प्रकार की आत्मायें बन जायें। अतः आओ, हम सब मनुष्य अपने उस परम प्यारे के लिए अपनी आत्माओं को शुद्ध करें। उस बृहत् अग्नि के लिए अपनी अग्नियों को उत्तम प्रकार की बना लेवें। अब हमारी आत्माग्नि में विश्वप्रेम की सुन्दर किरणें ही प्रसारित होवें, हमारी बुद्धि-अग्नि में से सत्य की ज्योति ही निकले, हमारी मानसिक अग्नि सर्व कल्याण के उत्तम विचारों में ही प्रकाशित हुआ करे और हमारी चित्ताग्नि से पवित्र इच्छायें व भावनायें ही उठें। इस प्रकार हम उत्तम अग्नि वाले हो जायें क्योंकि इसी प्रकार वह हमारा प्यारा हमसे प्रसन्न होगा। इसी प्रकार हमने अपने प्यारे को रिझाना है।

वह (विश्पतिः) हम प्रजाओं का स्वामी (मन्द्रः) आनन्द देने वाला (वरेण्यः) और वरणीय (होता) दाता अग्नि (नः) हमें (प्रियं अस्तु) प्यारा हो जाय तथा (वयं) हम भी (स्वग्नयः) उत्तम अग्नियों वाले होकर (प्रिया) उसके प्यारे हो जाएँ।

गूहता गुह्यं तमो, वि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि ॥ ऋ० 1. 86. 10

हे मरुत देवो ! हे प्राणो ! हम अंधेरी गुफा में पड़े हुए हैं। चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा है। इस अंधेरे में खा जाने वाले राक्षस हमें सता रहे हैं, हमें खाये जा रहे हैं; इन्हें भगाओ। इन सब 'अत्रियों' को हमसे दूर कर दो। हमें जो कुछ चाहिए, वह प्रकाश है। हमें प्रकाश दो, इस गुफा में चारों तरफ प्रकाश फैला दो।

मैं पंचकोशों की अँधेरी गुहा में रह रहा हूँ—शरीर, प्राण, मन आदि के पाँच शरीरों में बंद पड़ा हुआ हूँ—अपने आपको भूल इन शरीरों को आत्मा समझ रहा हूँ इसलिए काम, क्रोध, लोभ आदि राक्षस मुझे खाये जा रहे हैं। ये काम, क्रोध आदि अज्ञान में ही रह सकते हैं। आत्मान्धकार में ही ये फलते-फूलते हैं। इसलिए हे प्राणो ! तुम मेरे गुहा के अंधकार को विलीन कर दो, अंधकार के हटने पर ये 'अत्रि' अपने आप ही यहाँ से भाग जाएँगे। जब हम में आत्म-ज्योति फैल जायगी, सब भूतों, सब प्राणियों में, फिर आत्मा दिखाई देने लगेगा तो हम किस के प्रति क्रोध करेंगे ? जब हमारा प्रेम सर्वव्यापक हो जायगा तो हम किस एक में कामासक्त होंगे ? लोभ किसलिए करेंगे ? ओह, आत्म-ज्योति का प्रकाश हो जाने पर ये क्षुद्र 'अत्रि' कहाँ ठहर सकते हैं ? आत्म-ज्योति वह ज्योति है जिससे कि सहस्रों सूर्य, चन्द्र और विद्युतें प्रकाशित हो रही हैं, जिस परमोज्ज्वल-ज्योति के सामने हजारों सूर्यों की इकट्ठी ज्योति भी फीकी है—वह प्रकाश हमें दो। हम उस प्रकाश के पाने के लिए तड़प रहे हैं। उस प्रकाश के पा जाने पर तो सब कुछ हो जायगा, हृदय का अंधकार मिट जायगा और इन खा जाने वालों से हमारी रक्षा हो जायगी। हे प्राणो ! तुम प्रकाश के लाने वाले हो। हम जानते हैं कि तुम्हारे जागने पर प्रकाशावरण का क्षय हो जाता है।[1] इस सत्य में हमें विश्वास है। इसलिए हे प्राणो ! हम तुमसे विनय कर रहे हैं। तुम हममें समा कर हमारे प्रकाश का द्वार खोल दो।

(मरुतः) हे प्राणो ! (गुह्यं तमः) गुहा के अँधेरे को (गूहत) विलीन कर दो (विश्वं अत्रिणम्) सब खा जाने वालों को (वि यात) भगा दो। (यत् उश्मसि) जिसे हम चाह रहे हैं उस (ज्योतिः) ज्योति को (कर्त्ता) हमारे लिए कर दो।

1—योग दर्शन में प्राणायाम का फल बतलाते हुए कहा है "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" अर्थात् प्राणायाम सिद्ध होने पर प्रकाश का आवरण हट जाता है—अनन्त प्रकाश खुल जाता है।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः ।। ऋ॰ 1.25.10

वरुण सम्राट् हम प्रजाओं के अन्दर आकर बैठा हुआ है । यह कितनी विचित्र बात लगती है; पर यह उतनी ही सच्ची है । असली साम्राज्य अन्दर ही है । बाहिर भी सच्चा सम्राट् वही हो सकता है जिसने पहिले अपनी प्रजाओं के हृदयों में सिंहासन प्राप्त कर लिया है । प्रजाओं के हृदयों में बिना घुसे कोई सच्चा सम्राट् नहीं बन सकता है । ठीक-ठीक सच्चा शासन अन्दर घुसकर ही किया जा सकता है । इसीलिए इस सब ब्रह्माण्ड के एकमात्र अखण्ड सम्राट् जो वरुण देव हैं, वे हम प्रजाओं के अन्दर आकर बैठे हुए हैं । उस असली सम्राट् के दर्शन के लिए यदि हम निकलें तो हमें बाहिरी सम्राटों के पास पहुँचने की तरह उनके पास पहुँचने के लिए कहीं बाहिर नहीं फिरना होगा । वे तो स्वयं हमारे अन्दर आकर बैठे हुए हैं और इसलिए आकर बैठे हैं कि हमें साम्राज्य दे दें—'साम्राज्याय' । पर हम ऐसे मूर्ख हैं कि हमें कुछ खबर ही नहीं है । हम छोटी-छोटी बातों पर हकूमत पाने के लिए—राज्य पाने के लिए बाहिर घूमते-फिरते हैं, लड़ते-झगड़ते, सत्यादि नियमों का भंग करते, मारकाट करते फिरते हैं । पर यह नहीं जानते कि सर्वश्रेष्ठ (वरुण) राजा तो स्वयं हमें सारे संसार का बादशाह बनाने के लिए, विश्व का साम्राज्य देने के लिए अन्दर आकर बैठा हुआ है और प्रतीक्षा कर रहा है । हम उधर देखते ही नहीं ।

पर जो उधर देखते हैं वे देखते हैं, कि वे वरुण प्रभु 'धृतव्रत' और 'सुक्रतु' हैं -वे व्रतों को धारे हुए हैं, उनके व्रत अटल हैं, उनके नियम कभी टूट नहीं सकते और वे शोभन कर्म ही करने वाले हैं, उनसे कभी बुरा कर्म हो ही नहीं सकता है । हम भी यदि सत्य नियमों का कभी भंग न करने वाले और सदा शोभन कर्म करने वाले हो जायँगे तो उसी क्षण हमें वह सच्चा साम्राज्य मिल जायगा । वे महात्मा उस साम्राज्य को भोग रहे हैं जिनके लिए सत्य व्रतों का उल्लंघन और बुरा काम होना असम्भव हो गया है । वह वह साम्राज्य है जिसके प्रथम दर्शन होने पर सब कालों और सब देशों के इस महापद को प्राप्त महापुरुष चिल्ला उठते रहे हैं—मैंने जो पाना था वह पा लिया,[1] मैं बादशाह हो गया, मैं तो अमृत हूँ ।[2]

सन्तों द्वारा प्राप्त किये गये इस महा साम्राज्य को 'धृतव्रत' और 'सुक्रतु' बन कर हम भी पा लेवें इसीलिए वे वरुण हमारे अन्दर बैठे हुए हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं ।

(वरुणः) वरुण (धृतव्रतः) अटल व्रतों के धारण कर्त्ता और (सुक्रतुः) सदा शोभन कर्म ही करने वाले होकर (साम्राज्याय) साम्राज्य के लिए (पस्त्यासु आ) प्रजाओं के अन्दर आकर (निषसाद) बैठा हुआ है ।

1. योगदर्शन 1-16 व्यास-भाष्य । 2. तै॰ उपनिषद् शिक्षाध्याय 10-1

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ॥ ऋ० 1.3.12

ज्ञान की सच्ची जिज्ञासा होते ही यह अनुभव होने लगता है कि अरे, संसार में तो बड़ा ज्ञातव्य है; एक से एक अद्‌भुत विद्या है; जिस विषय में देखो उसी विषय में ज्ञान पाने का इतना क्षेत्र है कि मनुष्य कई जन्मों में भी उसका पार नहीं पा सकता। तब दीखता है कि मनुष्य के सामने न जाने हुए ज्ञान का एक अनन्त समुद्र भरा पड़ा है। यह देखने वाले मनुष्य नम्र हो जाते हैं, उन्हें ज्ञान का अभिमान नहीं रहता। ऐसे ही मनुष्य सरस्वती देवी की शरण में जाते हैं। सरस्वती देवी के झण्डे के नीचे आने वालों को सबसे पहिले तो यही पता लगा करता है कि ज्ञेय अनन्त है, हमारे ज्ञातव्य संसार का पार नहीं है और हम तुच्छ लोग तो अपनी क्षुद्र इन्द्रियों और बुद्धि को लिए हुए इस के एक किनारे खड़े हैं। विद्या देवी पहिले तो इस बड़े भारी समुद्र को ही हमारे लिए प्रकाशित करती है, इसके पार तो पीछे पहुँचाती है। पहिले हमें यह अनुभव होना चाहिये कि ज्ञेय अनन्त है। ज्ञान की अनन्तता तो हमें पीछे दीखेगी। सरस्वती देवी जिधर-जिधर अपने 'केतु' को—अपने झण्डे को – ले जाती है अर्थात् जिधर-जिधर अपनी प्रज्ञापक शक्ति को फिराती है, वहाँ-वहाँ पता लगना जाता है कि अरे ! यह भी एक बड़ा उत्तम ज्ञेय-क्षेत्र है, यह भी एक बड़ा भारी ज्ञेय-क्षेत्र है। एवं हरेक क्षेत्र को हमारे लिए जगाती जाती है और फिर सब बुद्धियों को विशेष रूप से दीपित भी करती जाती है—अर्थात् जिस-जिस वस्तु की गहराई में हम जाकर जानना चाहते हैं, उस-उस वस्तु के तत्त्व को, उसके सच्चे स्वरूप को भी हमारे लिए चमका देती है। तब हम जिस विषयक बुद्धि पाना चाहें, उसी विषय के ज्ञान को यह देवी हमारे लिए प्रदीप्त कर देती है। तभी अनुभव होता है कि सभी बुद्धियों में वही प्रदीप्त हो रही है, वही चमक रही है, सर्वत्र उसी का राज्य है। सरस्वती देवी के सच्चे स्वरूप का या ज्ञान के आनन्त्य का (जिसके कि सामने ज्ञेय कुछ भी नहीं होता)[1] अनुभव उसी अवस्था में पहुँचने पर होता है।

अतः वे मनुष्य जिन्हें अभी तक यह भी प्रकट नहीं हुआ है कि हमें ज्ञान का एक बड़ा भारी समुद्र पार करना है, वे समझ लें कि उन पर सरस्वती देवी की कुछ भी कृपा नहीं हुई है और उनके लिए वह दिन तो बहुत दूर है जब कि सरस्वती देवी उनके लिए सब बुद्धियों को दीपित कर देगी।

(सरस्वती) ज्ञान देवी **(केतुना)** ज्ञान द्वारा, प्रज्ञापक शक्ति द्वारा **(महः अर्णः)** बड़े भारी ज्ञान-समुद्र को **(प्रचेतयति)** प्रकाशित करती है और **(विश्वा धियः)** सब प्रकाशित बुद्धियों को **(विराजति)** विशेषतया दीपित करती है।

1—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्। योग० सू० 4—31

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वां अभि पश्यति ।
कृतानि या च कर्त्वा ।। ऋ० 1.25.11

इस संसार में हम बहुधा आश्चर्यचकित कर देने वाली घटनाएँ होते देखा करते हैं। इनका करने वाला कौन है ? वैसे तो प्रतिदिन होने वाली बातों को भी यदि ध्यान से देखें तो हमको उनमें बड़ी अद्भुतता दीखेगी। ये अन्धकार और प्रकाश कितनी अद्भुत वस्तु हैं जिनका परिवर्तन हम रोज सायं प्रातः देखते हैं। नन्हे से बीज से बड़ा भारी वृक्ष बन जाना; अभी चलते, फिरते, हँसते, खेलते, दीखते मनुष्य का एक दम ऐसा सो जाना कि फिर वह कभी न जग सकेगा; जीव से जीव पैदा हो जाना; ये सब भी वास्तव में कितनी अद्भुत बातें हैं। परन्तु जब पृथ्वी आग बरसाने लगती है और ज्वालामुखी फटने से सैकड़ों शहर बरबाद हो जाते हैं; भूकम्प आते हैं; बड़े-बड़े साम्राज्य देखते-देखते मिट जाते हैं; थोड़े ही दिनों में एक मनुष्य, सितारे की तरह ऊँचा, यशस्वी हो जाता है या राजा रंक हो जाता है, तो इनमें अद्भुतता सभी अनुभव करते हैं। विज्ञान के आजकल के अद्भुत चमत्कारों को देखो; सिद्ध साधु, सन्तों द्वारा हुई चकित कर देने वाली बातों को देखो ! ये सब संसार के एक से एक बढ़ कर के अद्भुत हैं। इन सब अद्भुतों का करने वाला कौन है ? हम लोग समझते हैं कि इनके करने वाले मनुष्य हैं, मनुष्य की वैज्ञानिक शक्ति या संघशक्ति है; या कुछ भी नहीं है केवल प्रकृति का खेल है। पर जो 'चिकित्वान्' (जानने वाले) हैं, उन्हें तो सब तरफ इन अद्भुतों का करने वाला वही इन्द्र (परमेश्वर) दीखता है। उसी से ये सब संसार के आश्चर्य निकलते दीखते हैं। इन सब विविध आश्चर्यों को देखते हुए उनकी दृष्टि सदा उस एक इन्द्र पर ही रहती है। उनके लिए फिर ये आश्चर्य कुछ आश्चर्य नहीं रहते। प्रभु तो 'गूंगे को वाचाल करने वाले और लँगड़े को भी पहाड़ लँघाने वाले' हैं ही। संसार में जो अद्भुत बातें हो चुकी हैं, वे सब प्रभु की ही की हुई थीं; कल जो अद्भुत घटना होने वाली है, कोई तख्ता पलटने वाला है, वह भी उसी प्रभु की सहज लीला से ही होने वाला है। प्रभु की अपार लीला देखने वाले ज्ञानी इसमें कुछ आश्चर्य नहीं करते, वे अद्भुत से अद्भुत घटना में भी कार्य-कारण भाव को देखते हैं।

अतः हे मनुष्य ! संसार के इन आश्चर्यों को देखकर चकित होना छोड़ दो किन्तु इनको देखकर इनके कर्त्ता को पहिचानो। उस नट को पहिचानो जो कि संसार को यह अद्भुत नाच नचा रहा है।

(चिकित्वान्) ज्ञानी पुरुष **(कृत्वानि या च कर्त्वा)** जो की जा चुकी हैं और जो की जायेंगी **(विश्वानि अद्भुतानि)** उन सब अद्भुत बातों को **(अतः)** इस परमेश्वर से हुई **(अभिपश्यति)** सब तरफ देखता है।

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं, न मरामहे।
प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः॥ ऋ० 1.91.6

हे हृदयेश ! हे देव ! हे सोम ! जब तुम्हारी इच्छा हमें जीवित रखने की है, तब हमें कोई मार नहीं सकता। यह अन्धा, अज्ञानी संसार बहुत बार तेरे भक्तों से द्वेष करने लगता है और उन्हें सताता है और उन्हें मारना तक चाहता है। भक्त प्रह्लाद को मारने की कितनी चेष्टायें की गईं; भक्त मीरा की जान लेने के लिए राजा ने कई बार यत्न किया; भक्त दयानन्द को लोगों ने कई बार जहर दिया। पर तेरी इच्छा बिना कौन मर सकता है ? भक्त लोग इस तत्त्व को जानते होते हैं अतः वे आनन्दित रहते हैं। मरने के डरने वाला यह संसार—तेरे ईश्वरत्व को न जानने वाला यह संसार—यों ही भय-त्रास और मरणाशंका से मरा जाता है। पर भक्त देखते हैं कि जब तक तेरी इच्छा नहीं है, तब तक उन्हें कोई मार नहीं सकता और जब तेरी इच्छा होगी, तब तो मरना भी उनके लिए उतना ही आनन्ददायक होगा जितना कि तेरी इच्छा से जीना आनन्ददायक है। ओह, इस ज्ञान के कारण वे भक्त जीवित ही अमर हो जाते हैं, अभिनिवेश के क्लेश से पार हो जाते हैं। वे संसार की किसी भयंकर से भयंकर वस्तु से भी न डरते हुए, तेरे स्तोत्र गाते हुए निर्भय फिरते हैं। प्यारे स्तोत्रों से तुझे रिझाना या तेरे स्तुतिगान से जगत् में भक्ति का प्रसार करना, यही उनका कार्य होता है। अपनी रक्षा व अरक्षा की चिन्ता वे तुझ पर छोड़ बेफिक्र हो जाते हैं। तू तो संभजन करने वालों की रक्षा करने वाला मौजूद ही है। तो उन्हें क्या चिन्ता ? अहा, कैसी बेफिक्री और निरापदता की अवस्था है ! कैसी अमृत्युता (अमरता) का आनन्द है !

(सोम) हे सोम ! (त्वं च) तुम यदि (नः) हमारे (जीवातुं) जीवित रहने की (वशः) इच्छा करते हो (न मरामहे) तो हम मर नहीं सकते। (प्रियस्तोत्रः) तुम प्रियस्तोत्र वाले हो और (वनस्पतिः) संभजन करने वालों के रक्षक हो।

आ हि ष्मा सूनवे पितापि र्यजत्यापये।
सखा सख्ये वरेण्यः ॥ ऋ० 1. 26.3

संसार में पिता पुत्र-वात्सल्य से प्रेरित होकर पुत्र के लिए क्या नहीं करता ? बन्धु बन्धु के लिए जी जान से पूरी सहायता करता है, श्रेष्ठ मित्र अपने मित्र के लिए सब कुछ अर्पण करने को उद्यत रहता है। पर हे प्रभो ! तुम तो मेरे सब कुछ हो। तुम्हारे होते हुए मुझे किसी चीज की क्यों कमी रहनी चाहिये ? तुमसे मेरा जो सम्बन्ध है, वह घनिष्ठ, अटूट सम्बन्ध है—उसे मैं किस नाम से पुकारूं ? उस परिपूर्ण सम्बन्ध का वर्णन नहीं हो सकता। मैं संसार की भाषा में तुझे कभी पिता, कभी बन्धु, कभी सखा पुकारता हूँ। पर हे प्यारे ! हे मेरी आत्मा ! इन शब्दों से मेरा-तेरा वह सम्बन्ध व्यक्त नहीं हो सकता। जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे पैदा करने वाले और लगातार पालने वाले हो, तब मैं अपनी भक्ति और प्रेम को प्रकट करने के लिए तुम्हें 'पिता पिता' पुकारने लगता हूँ और तुमसे पुत्र-वात्सल्य पाने के लिए रोने लगता हूँ। जब मुझे तुम्हारे घनिष्ठ सम्बन्ध की याद आती है, उस अटूट सम्बन्ध की जो कि मेरा संसार में और किसी से भी नहीं है, तब मैं बन्धु-भाव में होकर तुम से बातें करने लगता हूँ। और जब देखता हूँ कि मैं भी तुम्हारी तरह आत्मा हूँ और चेतन हूँ, तुम भले ही मुझसे बहुत बड़े 'वरेण्य' होओ, तो मैं सखा बनकर तुम्हें 'वरेण्य सखा' नाम से सम्बोधन करता हूँ। हे प्रभो ! तुम मुझे पुत्र मानो, बन्धु या सखा मानो, कुछ मानो, हर तरह मैं तेरा हूँ और तुम मेरे हो। हे मेरे ! तो मुझ अपने को तुम कैसे छोड़ सकते हो ? मैं अपूण अशक्त बालक तेरा हूँ, इसलिये मेरी सहायता किये बिना तुम कैसे रह सकते हो ? तुम परिपूर्ण हो, तुम्हें सदा मुझे देते रहने के सिवा और कार्य ही क्या है ? यही मेरे लिए तुम्हारा यजन है – तुम मुझे देते रहो और मैं लेता रहूं, यही तुम्हारी तरफ से मेरा यजन है। तुमसे मेरा सम्बन्ध इसी रूप में कायम है। बड़ा छोटे को दिया ही करता है, इसलिये मैं क्या मांगू ? मेरी जरूरत को समझना और पूरी तरह पूर्ण करना तुम स्वयं ही करोगे। हे मेरे ! तुम स्वयं ही करोगे। बस, मैं तेरा हूं, मैं तेरा हूँ, और क्या कहूँ ? हे मेरे सर्वस्व ! हे मेरे सब कुछ ! मैं तेरा हूँ।

(पिता सूनवे) पिता पुत्र के लिए (हि स्म आयजति) सर्वथा सहायता प्रदान करता है; कमी पूरी करता है (आपिः आपये) बन्धु बन्धु के लिए (वरेण्यः सखा सख्ये) श्रेष्ठ मित्र मित्र के लिए सर्वथा सहायता प्रदान करता है।

यच्चिद्धि शश्वता तना देवं देवं यजामहे ।
त्वे इत् हूयते हविः ॥ ऋ० 1.26.6, साम० उ० 7.3.1.

हे देवाधिदेव, एक देव ! इस जगत् में दो प्रकार के नियम काम कर रहे हैं। एक शश्वत सनातन नियम हैं जो कि सब काल और सब देशों में सत्य हैं, सदा लागू हो रहे हैं। दूसरे वे नियम हैं जो कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में ही सत्य हैं, जो कि स्थानिक हैं, स्वल्पकालिक होते हैं, शश्वत नियमों के अनुसार चलने से हे प्रभो ! तुम्हारा पूजन होता है और अशश्वत, अविस्तृत नियमों के अनुसार चलने से केवल उस-उस देव की तृप्ति होती है, उस-उस देव का यजन होता है। पर हे प्रभो ! इस परिमित अशाश्वत संसार में रहने वाले हम परिमित अशाश्वत शरीरधारी प्राणी तुम्हारा यजन भी सीधा कैसे कर सकते हैं ? हम तुम्हारा यजन इन देवों द्वारा ही कर पाते हैं। फिर तुम्हारे यजन में और इन देवों के यजन में भेद यह है कि हम जो यज्ञ विस्तृत और सनातन दृष्टि से (भावना से) करते हैं, वह तो इन देवों द्वारा तुम्हें पहुँच जाता है और जो यज्ञ परिमित भावना से करते हैं, वह इन देवों तक ही पहुँचता है। यदि हम अग्नि-होत्र अपनी वायुशुद्धि के लिए करते हैं तो यह अग्नि व वायुदेवता का यजन है, पर यदि हम यही अग्नि-होत्र संसार चक्र को चलाने में अंग-भूता बनकर करते हैं तो इस अग्नि-होत्र से तुम्हारा यजन होता है। यदि हम विद्या का संग्रह अपने सुख के लिए करते हैं तो यह सरस्वती देवी का यजन है पर यदि यह हमारा ज्ञान तुम्हारी ही प्राप्ति के प्रयोजन से है तो यह सरस्वती देवी द्वारा तुम्हारा पूजन है। इसी तरह अपनी मातृभूमि देवी का पूजन भी केवल स्वदेशोद्धार के लिए या जगत् हित के लिए दोनों तरह का हो सकता है। यहाँ तक कि यदि हमारे अपने देह की रक्षा, हमारा नित्य का भोजन खाना भी सचमुच तुम्हारे ही लिए है तो यह दीखने वाली देह-पूजा भी असल में तुम्हारा ही यजन है। इसलिये सब बात भाव की है, हवि के प्रकार की है। हम सनातन और विस्तृत भावना से जिस भी किसी देव का यजन करते हैं, उन सब देवों के नाम से दी हुई हमारी हवि तुम्हें ही जा पहुँचती है। तब हमारा लक्ष्य तुम्हारी तरफ हो जाता है। अतएव जब हमारा एक-एक कार्य शश्वत दृष्टि से सनातन नियमों के अनुसार होता है तब हमारे कर्म से जिस किसी भी देव की पूजा होती दीखती है, वह सब पूजा असल में तुम्हारे ही चरणों में पहुँच जाती है।

(शश्वता तना) सनातन और विस्तृत हवि से (यत् चित् हि देवं देवं) यद्यपि हम भिन्न-भिन्न देवों का (यजामहे) यजन करते हैं (हविः) पर वह हवि (त्वे इत्) तुझ में ही (हूयते) हुत होती है, तुझे ही पहुँचती है।

यमग्ने पृत्सु मर्त्यं, अवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः ॥ ऋ० 1.27.7

इस संसार में मनुष्य को प्रत्येक अभीष्ट फल पाने के लिए लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं । संसार में नाना प्रकार के संघर्ष चल रहे हैं । हे प्रभो ! जिस मनुष्य की तुम इन संग्रामों में रक्षा करते हो अर्थात् जिस तुम्हारे अनन्य भक्त को सदा तुम्हारी सहायता मिलती रहती है, उस मनुष्य को नित्य अक्षय अन्न प्राप्त होते हैं । उसे रोटी के सवाल के लिए कोई लड़ाई नहीं लड़नी पड़ती । वह इससे निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि उसे एक नित्य अन्न मिल जाता है जिससे कि वह सदा ही तृप्त बना रहता है । वह जानता है कि जिस तूने उसे शरीर दिया है और जो तू उसके इस शरीर की नाना तरह से रक्षा कर रहा है, वही तू उसके इस शरीर को अन्न भी देता रहेगा । सब दुनियाँ के पशु-पक्षियों की चिन्ता करने वाला तू उसके शरीर की भी खुद चिन्ता करेगा, नहीं तो शरीर को ही वापिस ले लेगा । वह जानता है कि अपने भक्तों के प्रति तेरी यह प्रतिज्ञा है 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं भजाम्यहम्' भक्तों के योगक्षेम करने की चिन्ता तूने अपने ऊपर ले रखी है । बस, यही ज्ञान है जिसके कि कारण वे निश्चिन्त रहते हैं—तृप्त रहते हैं । यही ज्ञान 'नित्य अन्न' है । यह रोटी का अन्न तो अनित्य है । आज खाते हैं, कल फिर भूख लग आती है । इससे नित्यतृप्ति नहीं प्राप्त होती, पर उस आत्म-ज्ञान को प्राप्त होकर वे सदा के लिए तृप्त हो जाते हैं । वे इसी आत्म-ज्ञान पर जीते हैं, रोटी पर नहीं जीते । अतएव रोटी न मिलने पर (शरीर छूटने पर) वे मरते भी नहीं, वे अमर हो चुके होते हैं । हम लोग रोटी पर ही जीते हैं और रोटी न मिलने पर मर जाते हैं । इस अनित्य अन्न (रोटी) के हमेशा मिलते रहने का प्रबन्ध करके यदि इसे नित्य बनाने का यत्न किया जाय तो भी यह नित्य नहीं बनता; नित्यतृप्तिकारक नहीं रहता, क्योंकि हमेशा अन्न मिलते रहने पर भी यह शरीर एक दिन बुड्ढा होकर छूट ही जाता है । रोटी उस समय उसकी तृप्ति व रक्षा नहीं कर सकती है । अतः नित्य अन्न तो ज्ञान-तृप्ति ही है । हे परमेश्वर ! इस युद्धमय संसार में तुम जिसके सहायक होते हो, उसे यह शश्वत अन्न देकर—इस शश्वत 'इष्' का स्वामी बनाकर—तुम अमर भी कर देते हो ।

(अग्ने) हे अग्ने ! तू (यं मर्त्यं) जिस मनुष्य की (पृत्सु अवाः) युद्धों में रक्षा करता है और (यं वाजेषु जुनाः) और जिसे युद्धों में सहायता करता है (सः) वह मनुष्य (शश्वतीः) नित्य सनातन (इषः) अन्नों को (यन्ता) वश करता है—प्राप्त करता है ।

वैशाख (मेष) के लिए

प्राणदायक व्यायाम

पूर्व निर्दिष्ट (चैत्र मास में निर्दिष्ट) विधि के अनुसार खड़े होकर भुजायें फैलाइये। इस बार हथेलियाँ सामने की ओर हों। मुट्ठियाँ बाँधने के बाद सब मांस-पेशियों (Muscles) को तान लीजिये। अब हाथों को धीमे-धीमे छाती के सामने तक लाइये कि दोनों हाथ मिल जाएं। क्षण भर ठहर कर दोनों हाथों को फिर वापिस धीमे-धीमे ले जाइये। जब दोनों हाथों को छाती के सामने ले जा रहे हों तो उस समय दीर्घ श्वास अन्दर लीजिए जिससे कि जिस समय दोनों हाथ सामने मिलें, उस समय तक फेफड़े पूरी तरह से भर जायें और जब हाथों को वापिस ला रहे हों तो श्वास को धीमे-धीमे बाहिर निकालिये।

अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिये। और इस तरह इस व्यायाम को 8-10 मिनट तक बार-बार कीजिये।

इस प्राणायाम को करते समय अपना मन गर्दन तथा गले पर एकाग्र कीजिए और इनको अपने सामने स्वस्थ और सर्वथा नीरोग हालत में चित्रित कीजिये।

ध्यान—रुधिर मेरे गर्दन तथा गले में अच्छी तरह संचरण कर रहा है। इस प्राणायाम से मेरी एक-एक नाड़ी और इन अंगों का एक-एक घटक पुष्टि पा रहे हैं। सब जीर्ण परमाणु निकल रहे हैं और मुझे बहुत नवीन जीवन मिल रहा है।

इन अंगो को गौणतया श्रावण, कार्त्तिक और माघ की व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँच सकता है।

अपां मध्ये तस्थिवान्सं तृष्णाऽविदत् जरितारम् ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ।। ऋ० 7.89.4

हे प्रभो ! क्या तुम्हें मेरी दशा पर तरस नहीं आता ? संत लोग मेरे जैसों पर हँस रहे हैं और कह रहे हैं 'मुझे देखत आवत हाँसी, पानी में मीन प्यासी ।' सचमुच मैं तो पानी के बीच में बैठा हुआ भी प्यास से व्याकुल हो रहा हूँ । तेरे करुणा-सागर में रहता हुआ भी मैं दुःखी हूँ, संतप्त हूं । जब कि तूने मेरी इच्छाओं को पूरा करने ही के लिए यह संसार ऐश्वर्यों से भर रखा है और तुम प्रतिक्षण मेरी एक-एक आवश्यकता को बड़ी सावधानी से ठीक-ठीक स्वयं पूरा कर रहे हो, तब मुझे अपने में कोई इच्छा या कामना रखने की क्या जरूरत है ? पर फिर भी न जाने क्यों मुझे अनेकों तृष्णायें लग रही हैं, सैकड़ों कामनायें मुझे जला रही हैं । हे नाथ ! मैं क्या करूँ ? इस विषम दशा से मेरा कौन उद्धार करेगा ? हे उत्तम शक्ति वाले ! मैं इतना अशक्त हो गया हूं—इतना निर्बल हूँ कि सामने भरे पड़े हुए पानी से भी अपनी प्यास बुझा लेने में असमर्थ हूं । मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये, किन्तु कमजोरी इतनी है कि उसे मैं कर नहीं सकता ! हे सच्चिदानन्दरूप ! मैं देखता हूँ कि आत्मा में सचमुच अपरिमित बल है, तो भी मैं उस बल को ग्रहण नहीं कर सकता । मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा अमूल्य ज्ञान-रत्नों का भंडार है, पर मैं इस रत्नाकर के बीच में बैठा हुआ भी ज्ञान का भिखारी बना हुआ हूँ । मैं जानता हूं कि तुम मेरे आनन्दमय प्रभु सर्वदा सर्वत्र हो, सदा मेरे साथ हो, पर फिर भी मैं कभी आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता । अरे, मैं तो अमृत के सागर में पड़ा मरा जा रहा हूँ । तेरी अमृतमय गोद में बैठा हुआ, स्वयं अमृततत्व होता हुआ बार-बार मौत के मुंह में जा रहा हूँ । हे नाथ ! अब तो मुझ पर दया करो, मुझे इस विषम अवस्था से उबार लो, अब तो मुझे सुखी कर दो । हे परमकारुणिक ! हे सुक्षत्र ! मुझे इतना क्षत्र—इतना बल—तो दे दो कि मैं सामने भरे पड़े जल का सेवन तो कर सकूं, इससे अपनी तृष्णा शान्त करके सुखी तो हो सकूं । हे शक्तिवाले ! जिस तूने मुझे इस पानी के सागर में रखा है, वही तू मुझे इसके पीने का सामर्थ्य भी प्रदान कर जिससे कि मैं अपनी प्यास बुझा कर सुखी हो सकूं । हे नाथ ! मुझे सुखी कर, सुखी कर, अब तो अपनी शक्ति देकर मुझे सुखी कर । यह तेरा स्तोता कब से चिल्ला रहा है, इसे अब तो सुखी कर दे ।

(जरितारं) मुझ स्तोता को (अपां मध्ये तस्थिवांसं) पानी के बीच में बैठे हुए भी (तृष्णा) प्यास (अविदत्) लगी है । (सुक्षत्र) हे शुभशक्तिवाले ! (मृड) मुझे सुखी कर, (मृडय) सुखी कर ।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ।। ऋ० 8.81.3

हे मेरे तेजस्वी स्वामिन् ! मुझ दीन की प्रार्थना सुनो । मैं इतना दीन हूं, इतना अशक्त हूं कि अपने कर्त्तव्य के विरुद्ध आचरण कर देता हूं । मैं जानता हुआ कि यह करना नहीं चाहिए, फिर भी कर देता हूं । मैं कई शुभ संकल्प करता हूं कि मैं आज से नित्य व्यायाम करूंगा, नित्य सन्ध्या करूंगा, पर दीनतावश इसे निभा नहीं सकता । हृदय में कई अच्छी-अच्छी प्रज्ञायें (बुद्धियाँ) स्थान पाती हैं पर झूठे लोक लाज के वश में उन पर अमल करना नहीं शुरू करता । उसके विरुद्ध ही चलता जाता हूं । यह मैं जानता होता हूं कि मेरा 'क्रतु' क्या है—कर्त्तव्य कर्म क्या है, अन्दर से दिल कहता जाता है कि तू उल्टे मार्ग पर चला जा रहा है, फिर भी मैं दुर्बल किसी भय का मारा हुआ, उसी उलटे मार्ग चलता जाता हूं । हे दीप्यमान देव ! हे मेरे स्वामी ! तू मुझे तेज क्यों नहीं देता जिससे कि मैं निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य पर डटा रहूं, किसी के कहने से या हंसी उड़ाने से उलटा आचरण करने को प्रवृत्त न होऊं, किसी क्लेश से डरकर अपने 'क्रतु' को न छोड़ूं । मुझे यह अवस्था बड़ी प्रिय लगती है पर दीनतावश मैं इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर रहा हूं । हे 'सुक्षत्र' ! हे शुभ बल वाले ! मुझे अदीन बना दे । मैं दीनता का मारा हुआ तेरी शरण आया हूँ , इस दीनता के कारण मुझ से सदा उलटे काम होते रहते हैं और फिर मेरा अन्तरात्मा मुझे कोसता रहता है, इसीलिये मैं सदा बेचैन रहता हूं । हे प्रभो ! मुझे सुखी कर । मुझ में तेज देकर मेरी बेचैनी दूर कर । इस अशक्तता के कारण मैं जीवन में पग-पग पर असफल हो रहा हूं—मेरा जीवन बड़ा निकम्मा हुआ जा रहा है । हे प्रभो ! क्या कभी मेरे वे सुख के दिन न आयेंगे जब मैं अपने क्रतु पर दृढ़ रहा करूंगा, अपने संकल्पों पर अटल रहा करूंगा । हे मेरे स्वामी ! ऐसी शक्ति देकर अब मुझे सुखी कर दो, मुझे सुखी कर दो ।

(समह) हे तेजोयुक्त ! (शुचे) हे दीप्यमान ! (दीनता) दीनता, अशक्तता के कारण मैं (क्रत्वः) अपने क्रतु से, संकल्प से, प्रज्ञा से, कर्त्तव्य से (प्रतीपं) उलटा (जगम) चला जाता हूं (सुक्षत्र) हे शुभ शक्तिवाले ! (मृड) मुझे सुखी कर । (मृडय) मुझे सुखी कर ।

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति । ऋ० 1.18.7

हममें से बहुत से लोगों को अपनी अक्ल का—अपनी बुद्धि का—बहुत अधिक अभिमान होता है। वे समझते हैं कि वे अपनी अक्ल व चतुराई के बल पर हर एक कार्य में सिद्धि पा लेंगे, उन्हें अपने बुद्धि-बल के सामने कुछ भी दुःसाध्य नहीं दीखता। पर उन्हें यह मालूम नहीं कि बहुत बार उन्हें जिन कार्यों में सफलता मिलती है, वह इसीलिए मिलती है कि अचानक उस विषय में उनकी समझ (बुद्धि) प्रभु के बुद्धियोग के अनुकूल होती है। असल में तो इस जगत् का एक-एक छोटा-बड़ा कार्य उस प्रभु के योगबल (बुद्धियोग) द्वारा सिद्ध हो रहा है। हम मनुष्यों की बुद्धि जब प्रभु के बुद्धियोग के अनुकूल (जानबूझ कर अनुकूल होती है या अचानक) होती है, तब हमें दीखता है कि हमारी बुद्धि से किया कार्य सफल हो गया। पर अचानक हुई अनुकूलता के कारण जो हमें अपनी सफलता का अभिमान हो जाता है, वह सर्वथा मिथ्या होता है। वह हमें केवल धोखे में रखने का कारण बनता है और कुछ नहीं। पर जो जान-बूझ कर प्राप्त की गई अनुकूलता होती है, वही सच्ची है। यदि मनुष्य अपने कार्यों की सिद्धि चाहता है—अपने कार्यों को सफल-यज्ञ बनाना चाहता है, तो उसे यत्न-पूर्वक अपनी बुद्धि को प्रभु से मिलाना चाहिये, अपनी बुद्धि का प्रभु में योग करना चाहिए। हमारी बुद्धि प्रभु से युक्त हो गई है—उसकी बुद्धि से जुड़ गई है कि नहीं—यह पूरी तरह से निर्णीत कर लेना तो हम अल्पज्ञ पुरुषों के लिए सदा सम्भव नहीं होता। हमारे लिए तो इतना ही पर्याप्त है कि हम युक्त करने का यत्न करते जायें। प्रभु सत्यमय हैं अतः हमारी बुद्धि सदा सत्य और न्याय के अनुकूल ही रहे (हमारे ज्ञान में जो कुछ सत्य और न्याय है, बुद्धि उसके विपरीत जरा भी निर्णय न करे) यह यत्न करना ही पर्याप्त है। हमारी बुद्धि के प्रभु से योग करने का यत्न करते हुए जब यह योग परिपूर्ण हो जाता है अर्थात् इस योग में प्रभु व्याप्त हो जाते हैं तभी वह कार्य सिद्ध हो जाता है। अतः हमें अपनी बुद्धियों का अभिमान छोड़कर, हमारे यज्ञ-कार्य में जो बड़े प्रसिद्ध अक्लमन्द लोग हैं, उनके बुद्धिबल पर भरोसा करना छोड़कर, नम्र होकर अपनी बुद्धियों को सत्य और न्याय-तत्पर बना कर प्रभु से जोड़ने का यत्न करना चाहिये। हम चाहे कितने बुद्धिमान् हों पर हमें सदा अपनी बुद्धि प्रभु से जोड़कर रखनी चाहिये। प्रभु के अधिष्ठान के बिना कोई भी यज्ञ-कार्य सफल नहीं हो सकता है।

(यस्मात् ऋते) जिस प्रकाशक प्रभु के बिना (विपश्चितः च न) बड़े-बड़े बुद्धिमान अक्लमन्द का भी (यज्ञः) यज्ञ (न सिध्यति) सिद्ध नहीं होता (स) वह प्रभु (धीनां योगं इन्वति) बुद्धियों के योग में व्याप्त हो जाता है।

तमध्वरेषु ईडते देवं मर्त्ता अमर्त्यम् ।
यजिष्ठं मानुषे जने ॥ ऋ० 5.14.2

नाना प्रकार के यज्ञों में जो हम विविध कर्म करते हैं, असल में हम उन सब कर्मों द्वारा उस अमर देव का ही पूजन करते हैं । हम मरणशील मनुष्यों को अमर देव के ही पूजन करने की जरूरत है । प्रत्येक यज्ञ-कर्म का प्रयोजन यही है कि हम उस द्वारा मृत्यु से पार हो जायें–अमर हो जायें । यज्ञ मर्त्य को अमर बनाने के लिए ही है । पर हम यज्ञों द्वारा जिस अमर देव की पूजा करते हैं, वह अमरदेव कहाँ पर है ? सुनो, वह अमरदेव प्रत्येक मानुष्य जन में है, प्रत्येक मनुष्य में 'यजिष्ठ' होकर विद्यमान है । हमें प्रत्येक मनुष में उसका यजन करना चाहिए । इसीलिये कहा जाता है कि यज्ञ सब मनुष्यों के हित के लिए होता है । यज्ञ का स्वरूप परोपकार है--एक-एक मनुष्य का हितसाधन है । मनुष्यों की सेवा करना ही यज्ञ करना है । जितना हम मनुष्यों की सेवा करते हैं—मनुष्यों की पीड़ाओं और दुःखों को दूर करने के लिए निःस्वार्थ भाव से यत्न करते हैं—उतना ही हमारे ये कार्य यज्ञ होते हैं—अग्निहोत्र द्वारा किये जाने वाले पुराने ऋतु यागादि भी आधिदैविक देवों की अनुकूलता प्राप्त करके मनुष्य जनता के हित के प्रयोजन से ही किये जाते थे । पर इतने से भी यज्ञ का तात्पर्य पूरा नहीं होता । मनुष्यों की जिस किसी प्रकार की सेवा करने से यज्ञ नहीं हो जाता । हमने तो प्रत्येक मनुष्य में उस अमरदेव का ही यजन करना है । जिस सेवा से मनुष्य के अमरदेव की सेवा नहीं होती, वह सेवा सेवा नहीं है; वह सेवा यज्ञ नहीं है । भोगविलाप की सामग्री जुटाने से बेशक मनुष्यों की तृप्ति होती दीखती है पर यह मनुष्यों की सच्ची सेवा नहीं है । ऐसा 'परोपकार' यज्ञ नहीं, अयज्ञ है । इसी प्रकार भूखों को इस तरह अन्न देना, रोगियों को इस तरह औषध देना भी जो कि उनकी सच्ची उन्नति में—उन्हें अमर बनाने में—बाधक होवे, यह भी यज्ञ नहीं है । अर्थात् जनता की भौतिक उन्नति साधना तभी तक यज्ञ है जब तक कि यह भौतिक उन्नति उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिए ही हो । आध्यात्मिक उन्नति करना ही—दूसरे शब्दों में—मर्त्य से अमर बनना है । आओ, हम मर्त्य अमरदेव की पूजा करें, मनुष्य की ऐसी सेवा करने में अपने को खो देवें जो सेवा उनके अमर बनने में सहायक हो ।

(अध्वरेषु) सब यज्ञों में (मर्त्ता) हम मरणशील मनुष्य (तं अमर्त्यं देवं) उस अमर—कभी न मरने वाले—देव की ही (ईडते) पूजा करते हैं जो कि देव (मानुषे जने) प्रत्येक मनुष्य के अन्दर (यजिष्ठं) यजनीय है ।

य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः।
पति र्जज्ञे वृषक्रतुः॥ ऋ० 6.45.16

हे मनुष्य ! तू किस-किस की स्तुति करता फिरता है ? संसार में तो एक ही स्तुति के योग्य है। संसार में हम मनुष्यों का एक ही पति, पालक और रक्षक है। हे मनुष्य ! तू न जाने किस-किस को अपना पालक समझता है और उस-उसकी स्तुति करने लगता है। कहीं तू रुपये पैसे वाले व्यक्ति को अपना रक्षक समझता है, कहीं तू किसी लब्धप्रतिष्ठ रोवदाब वाले व्यक्ति को अपना स्वामी बनाकर रहता है। कहीं तू किसी दार्शनिक व कवि की प्रज्ञा व प्रतिभा के स्तुति-गीत गाने लगता हैं, उनके ज्ञान व कवित्व पर तू मोहित रहता है। संसार में ऐसे भी मनुष्य बहुत हैं जो कि किन्हीं जीवित व जीवरहित आकृतियों के सौन्दर्य को देखकर ही ऐसे मोहित हो जाते हैं कि उनका मन उस सौंदर्य की प्रशंसा करता नहीं थकता। परन्तु संसार में मनुष्य की स्तुति के पात्र बहुत नहीं हैं। एक ही है, केवल एक ही है; और वह इन सब स्तुत्य वस्तुओं का एक स्रोत है। उनकी स्तुति न कर, इन शाखाओं की स्तुति करने से कल्याण नहीं होता—रक्षा नहीं मिलती। रूप, रस आदि ऐन्द्रियिक विषयों की स्तुति तो मनुष्य का विनाश ही करती है, पालन कदापि नहीं। इनकी स्तुति तो अति अज्ञानी पुरुष ही करते हैं। पर जो संसार में हमारे अन्य रक्षा करने वाले बल, ज्ञान और आनन्द हैं (बली, ज्ञानी और सुखी लोग हैं) वे भी 'विचर्षणि' 'वृषक्रतु' नहीं हैं, उनमें ज्ञान और बल पर्याप्त नहीं है। संसार के ये सब बल, ज्ञान और आनन्द तो उस एक सच्चिदानन्द महासूर्य की क्षुद्र किरणें मात्र हैं। इन किरणों की स्तुति करने से अपने को बड़ा धोखा खाना पड़ेगा। हे मनुष्य ! ये संसार के क्षुद्र बल और ज्ञान मनुष्य का पालन न कर सकेंगे, ये बीच में ही छोड़ देंगे। इन में पूरा ज्ञान और बल नहीं है। अतः इनमें आसक्त होकर इनकी स्तुति मत कर। स्तुति उस 'मनुष्यों के एक पति' की कर, जो 'विचर्षणि' होता हुआ पालक है और 'वृषक्रतु' होता हुआ पालक है। वह एक-एक मनुष्य को विशेषतया देख रहा है। प्रत्येक मनुष्य को और उसके सब संसार को वह इतनी अच्छी तरह देख रहा है कि प्रत्येक मनुष्य यही अनुभव करेगा कि उस मेरे प्रभु को मानो एकमात्र मेरी फिक्र है। और उस पालक पति का एक-एक क्रतु, एक-एक संकल्प, एक-एक कर्म ऐसा 'वृष' अर्थात् बलवान् है कि उसकी सफलता के लिए उसे दुवारा संकल्प व यत्न करने की जरूरत नहीं होती। हे मूर्ख मनुष्य ! अपने उस 'पति' की ही स्तुति कर, उसकी सैकड़ों किरणों की स्तुति छोड़कर उस असली सूर्य की ही स्तुति कर, उस एक की ही स्तुति कर।

(य एक इत्) जो एक ही है और जो (कृष्टीनां) मनुष्यों का (विचर्षणिः) सर्वद्रष्टा और (वृषक्रतुः) सर्वशक्तिमान् (पतिः) पालक (जज्ञे) हुआ है (तं उ) उसकी ही (स्तुहि) तू स्तुति कर।

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः ।
नास्य क्षीयन्त ऊतयः ।। ऋ० 6.45.3

मैं क्या बतलाऊँ कि प्रभु किन-किन अद्भुत ढंगों से मनुष्य को उन्नत कर रहे हैं। जब मनुष्य रोता और पीटता रहता है, जब उसके अन्दर ऐसे युद्ध चल रहे होते हैं कि उसे विफलता पर विफलता ही मिलती जाती है, पीछे से पता लगता है कि उस समय में, उन्हीं दिनों में, उसने अपनी उन्नति का बहुत बड़ा रास्ता तै कर लिया होता है। मनुष्य प्रभु की कल्याणमयी घटनाओं को नहीं समझ पाता कि उन घटनाओं से कभी—सुदूर भविष्य में—उसका कल्याण कैसे सधेगा। प्रभु के उन्नत करने वाले मार्ग इतने महान् और विशाल हैं कि अल्पदृष्टि मनुष्य उन्हें पूर्णता में कभी नहीं देख सकता, अतएव वह कल्याण की तरफ जाता हुआ भी घबराया रहता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति--- स्वभाव—के अनुसार अपने-अपने निराले ढंग से उन्नत व विकसित हो रहा है। जब मनुष्य अपने ही उन्नति-मार्ग को नहीं समझ पाता तो उसके लिए दूसरे मनुष्यों के विकास का दावा भरना कितना कठिन साहस है! उस अगम्य लीला वाले प्रभु की जिस 'प्रणीति' से जिस व्यक्ति ने उन्नति पायी होती है, वह व्यक्ति उसी रूप में उस प्रभु के गीत गाता फिरता है। इस तरह अनादिकाल से मनुष्य नाना प्रकार से उसकी प्रशस्तियाँ गाते आ रहे हैं और गाते रहेंगे। मनुष्य उसकी स्तुतियों का कैसे पार पावें? भक्त पुरुष तो उस प्रभु की रक्षाओं का—रक्षा के प्रकारों का—ही अन्त नहीं देखता। प्रभु की रक्षक-शक्ति क्षीण नहीं होती, वहाँ से रक्षणों का एक ऐसा सनातन प्रवाह बह रहा है कि वह सब मनुष्य, पशु,पक्षी, कीट-पंतगों की, सब स्थावर और अस्थावर जगत् की, एक ही समय में अकल्पनीय तरीकों से रक्षा कर रहा है। मनुष्य अपने पिछले कुछ अनुभवों के आधार पर सोचता है कि ऐसा होने से मेरी रक्षा हो जायगी अतः वह वैसा ही होने की प्रभु से प्रार्थना करता है और वैसी ही आशा करता है। पर इस बार प्रभु एक बिलकुल नये मार्ग से रक्षा करके मनुष्य को आश्चर्यचकित कर देते हैं। एवं नये से नये अकल्पनीय ढंगों से मनुष्य को प्रभु का रक्षण मिलता जाता है। तब पता लगता है कि प्रभु संसार का सब प्रकार से कल्याण ही कर रहे हैं। हम मानें या न मानें, पर वे तो हमें मारते हुए भी हमारी रक्षा कर रहे हैं। अहो, देखो उस प्रभु के उन्नति-मार्ग महान् हैं, उसकी रक्षा के प्रकार अनन्त हैं, सब जाननेवाला संसार उसकी स्तुतियाँ ही स्तुतियाँ गाता है।

(अस्य) इस परमेश्वर के (प्रणीतयः) आगे ले जाने के—उन्नत करने के—मार्ग (महीः) बड़े हैं (उत प्रशस्तयः पूर्वीः) और इसकी प्रशंसायें सनातन हैं (अस्य ऊतयः न क्षीयन्ते) इसकी रक्षायें कभी क्षीण नहीं होतीं।

उत नः सुभगाँ अरि र्वोचेयु दंस्म कृष्टय ।
स्यामेत् इन्द्रस्य शर्मणि ॥ ऋ० 1.4.6

हे पापों और बुराइयों का उपक्षय करने वाले जगदीश्वर ! तुम्हारी कृपा से मैं इतना उच्च हो जाऊं कि मेरी अच्छाइयों का बखान मेरे शत्रु भी करें। मेरी तरफ से तो मेरा कोई शत्रु नहीं होना चाहिये, पर जो मेरे प्रतिद्वन्द्वी हैं–जिनके कि विचार मेरे विचारों से नहीं मिलते, जो कि मेरे वायुमण्डल से विल्कुल उलटे वायु-मण्डल में रहते हैं—उन मेरे विरोधी भाइयों के लिए यह स्वाभाविक होगा कि उनके कानों में सदा मेरे अवगुण ही पहुंचे और उनका दृष्टिकोण ही ऐसा होगा कि उन्हें मेरी बुराइयाँ ही सहज में दिखाई देवें। पर हे प्रभो ! यदि मेरा जीवन बिल-कुल पवित्र होगा, मेरे आचरण में सर्वथा सचाई और शुद्धता होगी तो मेरे जीवन का उस दूरस्थ (विचारों से मुझ से दूर रहने वाले) भाई पर भी असर क्यों न होगा ? बस, हे प्रभो ! मेरे अन्दर से सब बुराइयों का नाश करके मुझे ऐसा उच्च बना दो कि जो मुझसे इतनी विपरीत परिस्थिति में रहते हैं, उन पर भी मेरी अच्छाई की, उच्चता की छाप पड़े बिना न रहे। सामान्य मनुष्य तो मुझे अच्छा कहेंगे ही, मेरी स्तुति करेंगे ही, पर इन विरोधियों के अन्तःकरण भी मेरी विशुद्धता को पहिचानें, यही इच्छा है। अपने सच्चे विरोधियों से जो यश मिलेगा, वह खरा यश होगा, उसमें अत्युक्ति आदि का खोट न होगा। मित्रों और उदासीनों से तो यश मिला ही करता है, उसमें कुछ विशेषता नहीं, उसका कुछ मूल्य नहीं।

पर हे प्रभो ! इस यश को पाकर मैं फूल नहीं जाऊँगा, तुम्हें भूल नहीं जाऊँगा, बल्कि इस यश को भूला रहकर सदा तुम्हारी ही याद में सुखी रहूंगा। यह यश तो मेरी विशुद्धता की पहचान मात्र होगा, यह मेरे सुख का कारण कभी नहीं होगा। मेरा सुख तो तुम्हारी शरण में है। बाहिरी दुनियाँ चाहे मेरी घोर निन्दा करे, मुझे अपमानित करे तो भी मैं तेरे प्रसाद से पाये सुख से वैसा ही सुखी रहूंगा जैसा कि बाहरी यश पाने पर हूं। मेरा सुख या दुःख बाहरी यश या अपयश पर अवलम्बित न होगा। हे प्रभो ! ऐसी कृपा करो कि तुझ परमेश्वर की प्रसन्नता से पाये हुए सुख में ही मैं सदा सुखी, आनन्दित और सन्तुष्ट रहूं। बाहिरी यश द्वारा सुख पाने की चाह मुझे कभी उत्पन्न न हो, बाहिरी यश मिलते होने पर भी उस यश से सुख पाने की चाह मुझे कभी न उत्पन्न हो। मैं तुम्हारे ही सुख में रहूं।

(दस्म) हे पापनाशक इन्द्र ! (अरिः उत) शत्रु भी (नः सुभगान् [वोचेयुः]) हमारी अच्छाइयों को, हमारे सौभाग्यों को कहें (कृष्टयः वोचेयुः) सामान्य मनुष्य तो कहें ही। फिर भी हम (इन्द्रस्य इत) तुझ परमेश्वर के ही (शर्मणि) सुख में (स्याम) रहें, होवें।

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः ।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ऋ० 10.57.6

हे सोम ! तुम्हारा दिया हुआ, तुम्हारी महाशक्ति का अंशभूत मन हमारे शरीरों में विद्यमान है । इस मन का—इस तुम्हारी अमूल्य देन का—हमें गर्व है । इस मन के कारण ही हम मनुष्य हैं । इस मननशक्ति के कारण ही हम पशुओं से ऊँचे हुए हैं । तो क्या अपने शरीरों में मन जैसी प्रबल शक्ति को धारण किये हुए भी हम लोग तुम्हारे व्रत में न रह सकेंगे ? बेशक तुम्हारे व्रत का पालन करना बड़ा कठिन है । तुमने जगत् में जो उन्नति के नियम बनाये हैं, ठीक उनके अनुसार चलना बड़ा दुःसाध्य है । पर जहाँ तुमने ये कठिन नियम बनाये हैं, वहाँ तुमने ही हममें मन की अतुलशक्ति भी दी है । अतः हमारा दृढ़ निश्चय है कि हम अपनी मनःशक्ति के प्रयोग द्वारा सदा तुम्हारे व्रत में ही रहेंगे—कभी इसको भंग न करेंगे—कठिन से कठिन प्रलोभन व विपत्ति के समय में भी मनःशक्ति द्वारा व्रत में स्थिर रहेंगे ।

पर यह सब व्रतपालन किस लिए है ? यह तुम्हारी सेवा के लिए है । यह तुम्हारा दिया मन इसी काम के लिए है । हम चाहते हैं कि केवल यह हमारा मन ही नहीं, किन्तु हमारे मन की प्रजा भी तुम्हारी सेवा में ही काम आवे । मन में जो एक रचना-शक्ति (Creative Power) है, उस द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह कुछ रचना कर जावे, कुछ निर्माण कर जावे, यह रचना ही मन की प्रजा है । यदि हम, हे सोम ! सर्वथा तुम्हारे व्रत में होंगे तो हमारी यह रचना (प्रजा) भी निःसंदेह तुम्हारी सेवा के लिए ही होगी—इसी में व्यय होगी । एवं हम और हमारी प्रजा सदा तुम्हारी सेवा में रहें, तुम्हारी सेवा में ही अपना जीवन बिता देवें । अब यही संकल्प है, यही इच्छा है, यही प्रार्थना है ।

(सोम) हे सोमदेव ! (तनूषु) अपने शरीरों में (मनः) मन को, मनःशक्ति को (बिभ्रतः) धारण किये हुए (वयं) हम लोग (तव व्रते) तुम्हारे व्रत में हैं—तुम्हारे व्रत का पालन करते हैं और (प्रजावन्तः) प्रजा-सहित हम लोग (सचेमहि) तुम्हारी सेवा करते रहें ।

अहमिद्धि पितुःपरि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवाजनि ।।

ऋ० 8.6.10, साम० पू० 2.2.6.8, अथर्व० 20.115.1

मैं सूर्य के सदृश हो गया हूं। मैं अनुभव करता हूं कि मैं मनुष्यों में सूर्य बन गया हूं। मुझ सूर्य से सत्यज्ञान की किरणें सब तरफ निकल रही हैं। जैसे इस हमारे सूर्य से प्राणिमात्र को ताप, प्रकाश और प्राण मिल रहा है, सब का पालन हो रहा है; इसी तरह मैं भी ऐसा हो गया हूं कि जो कोई भी मनुष्य मेरे सम्पर्क में आता है, उसे मुझ से ज्ञान, भक्ति और शक्ति मिलती है। मैं कुछ नहीं करता हूं पर मुझे अनुभव होता है कि मुझ से स्वभावतः जीवन की किरणें चारों तरफ निकल रही हैं और चारों तरफ के मनुष्यों को उच्च, पवित्र और चेतन बना रही हैं। इसमें मेरा कुछ नहीं है, मैंने तो प्रभु के आदित्य (सूर्य) रूप की ठीक तरह से उपासना की है अतः उनका ही सूर्यरूप मुझ द्वारा प्रकट होने लगा है। मैंने बुद्धि द्वारा सूर्य की उपासना की है। मनुष्य का बुद्धि-स्थान (सिर) ही मनुष्य में द्युलोक (सूर्य का लोक) है। मैंने अपनी बुद्धि द्वारा सत्य का ही सब तरफ से ग्रहण किया है और ग्रहण करके इसे धारण किया है। धारण करने वाली बुद्धि का नाम ही 'मेधा' है। इस प्रकार मैंने मेधा को प्राप्त किया है, द्युलोक के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर द्युलोक को अपने में ग्रहण किया है, इसीलिये मैं सूर्य के समान हो गया हूं। द्युलोक में स्थित प्रभु का रूप ऋतरूप है, सत्यरूप है। मैंने अपनी सब बुद्धियाँ, सब ज्ञान, उन सत्यस्वरूप पिता से ही ग्रहण किये हैं। मैंने इसका आग्रह किया है कि मैं सत्य को ही—केवल सत्य को ही—अपनी बुद्धि में स्थान दूंगा। इस तरह मैंने प्रभु के द्युरूप की सतत उपासना की है, ऋत की मेधा का परिग्रह किया है। इस सत्यबुद्धि के धारण करने के साथ-साथ मुझमें भक्ति और शक्ति भी आ गई है, मेरा मन और शरीर भी तेजस्वी हो गया है। पालक पिता के सब गुण मुझमें प्रकट हो गये हैं। मैं सूर्य हो गया हूं। हे मुझे सूर्यसमान करनेवाले मेरे कारुणिक पिता! तुझ ऋत की मेधा को सब तरह से पकड़े हुए मैं तेरे चरणों में पड़ा हुआ हूं।

(अहं इत्) मैंने तो (हि) निश्चय से (पितुः) पालक पिता (ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर की (मेधां) धारणावती बुद्धि को (परिजग्रभ) सब तरफ से ग्रहण कर लिया है, अतः (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) हो गया हूं।

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥

ऋ० 8.6.4, साम० पू० 2.1.5.3, अ० 20.107.1

इन्द्र परमेश्वर जहाँ हमारे पिता हैं, उत्पादक और पालक हैं, वहाँ वे हमारे कल्याण के लिए रुद्र भी हैं, संहारकर्त्ता भी हैं। जब जगत् में किसी स्थान पर संहार की आवश्यकता आ जाती है तो प्रभु अपने मन्यु को प्रकट करते हैं, मानो अपना तीसरा नेत्र खोल देते हैं, अपने तीसरे रूप को प्रकाशित करते हैं। उस कल्याणकारी शिव के मन्यु का तेज जब देदीप्यमान होने लगता है तो सब नाश होने योग्य संसार पतंगे की तरह आ आकर उसमें भस्म होने लगता है; मन्यु का पात्र कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता, सब बहे चले आते हैं। देखो, समय-समय पर बड़े-बड़े संग्राम, दुष्काल या महामारी आदि रूपों में प्रभु का वह महाबल वाला मन्यु जगत् में प्रकट होता रहता है। सब मनुष्य अपने विनाश की तरफ खिंचे चले जा रहे होते हैं पर उन्हें यह मालूम नहीं होता। जैसे कि सब नदियाँ समुद्र की तरफ बही चली जा रही हैं कि उसमें जाकर समाप्त हो जायेंगी, लीन हो जायेंगी; उसी तरह प्रभु का मन्यु काल-समुद्र बनकर उन सब प्राणियों को अपनी तरफ खींचता जा रहा है जिनका कि समय आ गया है। मनुष्यों के किये हुए पाप उन्हें विनाश की ओर वेग से खींचे ले जा रहे हैं। जिन्होंने इस संसार को जरा भी तह के अन्दर घुसकर देखा है, वे देखते हैं कि किस-किस विचित्र ढंग से मनुष्य अपने मृत्यु-स्थल की तरफ खिंचे चले जा रहे हैं। धन्य होते हैं अर्जुन जैसे दिव्यदृष्टिप्राप्त पुरुष जिन्हें कि काल का यह आकर्षण दिखाई दे जाता है और जो देखते हैं कि 'यथा नदीनां बहवोम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति। तथा तवामी नरलोक वीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिज्वलन्ति' पर हम लोग तो मौत के मुँह में घुसे जा रहे होते हैं पर कुछ पता नहीं होता। हम में से अपनी शक्तियों का बड़ा गर्व करने वाले बड़े-बड़े प्रख्यात लोग जिस समय संसार को जितने अभिमान के साथ अपना पराक्रम दिखा रहे होते हैं, उसी समय वे उतने ही वेग से मृत्यु की तरफ दौड़े जा रहे होते हैं; पर उन्हें कुछ पता नहीं होता। जबकि उनका सब ठाठ एक क्षण में गिर पड़ता है, सामने मौत खड़ी दीखती है तब जाकर प्रभु का रुद्र रूप उन्हें दीख पड़ता है। प्यारो! तो तुम अभी से क्यों नहीं देखते कि उसके मन्यु के सामने सब संसार झुका पड़ा है—पापी होकर कोई भी मनुष्य उसके सम्मुख खड़ा नहीं रह सकता है—जिससे तुम अभी से उसके मन्यु का पात्र न बनने की समझ पा सको।

(अस्य) इस परमेश्वर की (मन्यवे) मन्यु, 'क्रोध', दीप्ति के सामने (विश्वा-विशः) सब प्रजायें (कृष्टयः) सब मनुष्य (सं नमन्त) ऐसे झुक जाते हैं (समुद्राय इव सिन्धवः) जैसे कि नदियाँ समुद्र में समा जाने के लिए उधर स्वयं बही जाती हैं।

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिः गीर्भिः ईमहे ।
इन्द्र अभिमातिषाह्ये ॥

ऋग्वेद० 3·37.3, अथर्व० 20.19.3

हे परमेश्वर ! मुझे यह वाणी तेरे नामोच्चारण के लिए ही मिली है । मैं निरन्तर तेरे पवित्र नामों का उच्चारण करता रहता हूं । तेरी दी हुई इस वाणी से मैं अन्य कुछ कर ही नहीं सकता; कोई भी निरर्थक बात, कोई भी अनीश्वरीय बात मेरी वाणी से नहीं निकल सकती । मेरे एक-एक कथन में तेरी ही धुन होती है, तेरा ही निवास होता है । हे इन्द्र ! मैं इस प्रकार अपनी सब वाणियों से नानारूप में तेरे ही नामों का कीर्तन करता रहता हूं । यदि मैं ऐसा न करूँ तो मैं अपने शत्रुओं को कैसे पराजित कर सकूँ ? उनसे कैसे रक्षित रहूं ? तेरा पवित्र नामोच्चारण करता हुआ ही मैं निरन्तर सब शत्रुओं पर विजयी हुआ हूं और हो रहा हूं । मेरा सबसे बड़ा शत्रु 'अभिमाति' है, अभिमान है । आजकल इस महाशत्रु को मार डालने के लिए विशेषतया तेरा नाम मेरा महाअस्त्र हो रहा है । जब मनुष्य के काम, क्रोध आदि अन्य शत्रु जीते जा चुके होते हैं, मनुष्य आत्मिक उन्नति की ऊँची अवस्था को पहुंचा होता है, तब भी यह अभिमान, अहंकार, अस्मिता, मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता । यह है जो कि अविद्या का कुछ अंश शेष रहने तक भी आत्मा का मुकाबला करता रहता है । यही है जो कि, हे मेरे परमेश्वर ! मुझे अन्त तक तुमसे जुदा किये रहता है । जब मनुष्य खूब उन्नत हो जाता है, तब उसे और कुछ नहीं तो, अपनी उन्नतावस्था का, अपने पुण्यात्मा होने का अभिमान हो जाया करता है । यह अभिमान ही मनुष्य को बिल्कुल पतित कर देने के लिए पर्याप्त होता है। इसीलिए हो हे शतक्रतो ! हे अनन्तवीर्य ! हे अनन्तप्रज्ञ ! इसीलिए मैं निरंतर तेरे नाम को जपता रहता हूं, जीभ पर तेरा परमपवित्र नाम रखे फिरता हूं । जब जरा भी अभिमान मन में आता है 'यह बड़ा भारी काम मैं कर रहा हूं' 'यह मैंने किया है' तो तुरन्त मेरे हाथ जुड़ जाते हैं और मुख से तेरा नाम निकल पड़ता है । इस तरह इस महाशत्रु से मेरी रक्षा हो जाती है । तेरा नाम मुझे तुरन्त नमा देता है, तेरा स्मरण आते ही मैं अवनत-शिर होकर भूमि पर मस्तक टेक देता हूं—तो उस महाबली अभिमान को क्षण भर में विलीन हो चुका पाता हूँ, चारों तरफ कोसों दूर तक उस का पता नहीं होता; सब पृथ्वी पर तुम ही तुम होते हो और मैं तुम्हारे चरणों में । मैं उस समय तेरे पृथ्वीरूप विस्तृत चरणों में लगी हुई धूल का एक परम तुच्छ कण बनकर निरभिमानता के परम-परम सात्विक सुख का उपभोग पाता हूं । हे नाथ ! तेरे नाम की अपार महिमा का मैं क्या वर्णन करूँ ?

(शतक्रतो) हे अनन्तकर्म ! हे अनन्तप्रज्ञ ! (विश्वाभिः गीर्भिः) मैं अपनी सब वाणियों से (ते नामानि) तेरे नामों को (ईमहे) लेता हूं—लेता रहता हूं; (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (अभिमातिषाह्ये) शत्रु का—अभिमान शत्रु का—पराभव करने के लिए लेता हूं ।

सदा व इन्द्रश्चर्कृषत् आ उपो नु स सपर्यन् ।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ।। साम० पू०. 3.1.1.3

हे मनुष्यो ! तुम अपने परमात्मा से प्रेम क्यों नहीं करते ? जहाँ हरिकथा होती है, वहाँ से तो तुम भाग आते हो । बार बार प्रभु-चर्चा होती देखकर तुम ऊबते हो, जबकि विषयों की चर्चायें सुनने के लिए सदा लालायित रहते हो । तुम्हें उस अपने पिता से इतना हटाव क्यों है ? तुम चाहे जो करो, पर वह देव तो तुम्हें कभी भुला नहीं सकता । वह तो तुम्हें प्रेम से अपनी तरफ आकर्षण ही कर रहा है, सदा आकर्षण कर रहा है, निरन्तर अपनी तरफ खींच रहा है । तुम जानो या न जानो पर वह अत्यन्त समीपता के साथ माता की तरह तुम पुत्रों की निरन्तर परिचर्या भी कर रहा है । वह परमेश्वर हमारे रोमरोम में रमा हुआ, हमारे एक एक श्वास के साथ आता-जाता हुआ, हमारे मन के एक-एक चिंतन के साथ तद्रूप हुआ और क्या कहें, हमारी आत्मा की आत्मा होकर, एक अकल्पनीय एकता के साथ हमसे जुड़ा हुआ है । हमें संसार में जो कुछ प्रेम, आराम, वात्सल्य, भोग, सेवा, सुख मिल रहा है, वह किन्हीं इष्ट मित्रों या प्राकृतिक वस्तुओं से नहीं मिल रहा है, वह सब हमारे उस एक अनन्य सम्बन्धी परमदयालु प्रभु से ही मिल रहा है । वह केवल हमें अपनी तरफ खींच ही नहीं रहा है, किन्तु इतनी समीपता से निरन्तर हमारी सेवा भी कर रहा है, प्रेमप्रेरित होकर हमारी खिदमत कर रहा है, हमारा पालन, पोषण रक्षण, दुःखनिवारण, आदि सब परिचर्या कर रहा है । अरे ! वह तो कहीं छिपा हुआ भी नहीं है । उसके और हमारे बीच में कोई भी आवरण नहीं हैं । उसे ढका हुआ, आच्छादित भी कौन कहता है ?

हे मनुष्यो ! सच बात तो यह है कि यदि हम उसके इस प्रेमाकर्षण को जानने लग जायें—वे प्रभु देव सदा प्रेम से हमें अपनी तरफ खींच रहे हैं, यह हम सचमुच अनुभव करने लग जायें—तो हमें यह भी दीख जाये कि वे हमारे अत्यन्त निकट हैं और अत्यन्त निकटता के साथ हमारी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं; और फिर एक दिन हमें यह भी दिख जाये कि सब ब्रह्माण्ड के रचयिता महा पराक्रमी इन्द्र प्रभु—जिनके कि विषय में परोक्षतया हम इतनी बातें सुना करते थे, वे हमसे किसी आवरण से ढके हुए भी नहीं हैं, वे प्रत्यक्ष हमारे सामने हैं और यह दीख जाना ही परमात्मा का साक्षात्कार करना है, परम प्रभु को पा लेना है ।

हे मनुष्यो ! (इन्द्रः) परमेश्वर (वः) तुम्हें (सदा) सदैव (आचर्कृषत्) अपनी तरफ आकर्षित कर रहा है । (सः) वह (नु) निःसंदेह (उप उ) समीप ही, समीपता के साथ (सपर्यन्) तुम्हारी सेवा करता हुआ है । (शूरः इन्द्रः देवः) वह महापराक्रमी इन्द्रदेव (न वृतः) ढका हुआ, आच्छादित नहीं है ।

जुहुरे वि चितयन्तो अनिमिषं नृम्णं पान्ति ।
आ दृढां पुरं विविशुः । ऋ० 5.19.2

एक नगरी है जो कि बिल्कुल दृढ़ है, अभेद्य है; इसमें पहुंच जाने पर किसी भी शत्रु का हम पर आक्रमण सफल नहीं हो सकता; क्या कोई उस स्थान पर पहुंचना चाहता है ? वहाँ पहुंचने का मार्ग कुछ विकट है, कड़ा है, आसान नहीं है । वहाँ पहुंचनेवालों को ज्ञानपूर्वक स्वार्थ-त्याग करते जाना होता है और सदा जागते हुए अपने 'नृम्ण' की—आत्म-बल की—रक्षा करते रहना होता है, ये दो साधनायें साधनी होती हैं । कई लोग अपने कर्तव्य व उद्देश्य का बिना विचार किसे यूं हो ज़ोश में आकर 'आत्म-बलिदान' कर डालते हैं । ऐसा करना आसान है पर यह सच्चा बलिदान नहीं होता । इससे यथेष्ट फल नहीं मिलता । इस पवित्र उद्देश्य के सामने अमुक वस्तु वास्तव में तुच्छ है इसलिये अब इस वस्तु को स्वाहा कर देना मेरा कर्त्तव्य है, इस प्रकार से स्पष्ट-ज्ञान के साथ, बिना किसी जोश के जो आत्म-बलिदान होता है, वही सच्चा आत्म-बलिदान होता है । नहीं तो, हम तो बहुत बार आत्म-बलिदान के नाम से आत्मघात कर रहे होते हैं । वहाँ पहुंचने के लिए तो आत्मा का घात नहीं, किन्तु आत्मा की रक्षा करनी होती है । हम लोग प्रायः क्रोध करके, असत्य बोलकर, इन्द्रियों को स्वच्छन्द भोगों में दौड़ाकर अपना आत्म-तेज,आत्मवीर्य, आत्मबल खोते रहते हैं । पर वे पुरुष अपने इस 'नृम्ण' आत्मबल की बड़ी सावधानी से, सदा जागरूक रहते हुए, बड़ी चिन्ता से, रक्षा करते हैं । वे पल पल में अपनी मनोगति पर भी ध्यान रखते हुए देखते रहते हैं कि कहीं अन्दर कोई आत्मबल का क्षय करनेवाला काम तो नहीं हो रहा है । एवं रक्षा किया हुआ आत्म-बल ही उस दृढ़ पुरी में पहुंचने वाला है । वास्तव में ये दोनों साधनायें एक ही हैं, यदि हम इनके इस सम्बन्ध पर विचार करें कि ऐसे लोग आत्मबल की रक्षा करने के लिए शेष हरेक वस्तु का बलिदान करने को उद्यत रहते हैं और ये सदा इतने सत्य के साथ आत्म-बलिदान करते जाते हैं कि उनके प्रत्येक आत्म-बलिदान का फल यह होता है कि उनका आत्म-बल बढ़ता है । आओ ! हम भी आत्म-हवन करते हुए और आत्म बल की रक्षा करते हुए चलने लगें और उस मार्ग के यात्री हो जायें जो कि अभयता, अजातशत्रुता, अमरता और अभेद्यता की दृढ़ पुरी में पहुँचनेवाला है ।

जो (वि चितयन्तो जुहुरे) ज्ञान पूर्वक स्वार्थ त्याग करते हैं और (अनिमिषं नृम्णं पान्ति) लगातार जागते हुए, अपने आत्मबल की रक्षा करते रहते हैं [ते] वे (दृढां पुरं) दृढ अभेद्य नगरी में (आविविशुः) प्रविष्ट हो जाते हैं ।

कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते ।
तदिद्धि अस्य वर्धनम् ॥ साम० पू० 3.1.4.2

प्रभु की थोड़ी सी भी भक्ति महान् फल को देनेवाली होती है। हम लोग समझा करते हैं कि थोड़े से सन्ध्या-भजन से, एक आध मन्त्र द्वारा उसका स्मरण कर लेने से हमारा क्या लाभ होगा या एक दिन यह भजन छोड़ देने से हमारी क्या हानि होगी ? पर यह सत्य नहीं है। हमारी उपासना चाहे कितनी स्वल्प और तुच्छ होवे पर वह उपास्यदेव तो महान् है। ज्ञान और शक्ति में वह हमसे इतना महान् है कि हम कभी भी उसके योग्य उसकी पूरी भक्ति नहीं कर सकते हैं और उसके सामने हम इतने तुच्छ हैं कि वह यदि चाहे तो अपने जरा से दान से हमें क्षण में भरपूर कर सकता है। हम यदि थोड़ी देर के लिए भी उससे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं तो वह महान् देव उस थोड़े से समय में ही हमें भर देता है। संत लोग अनुभव करते हैं कि प्रभु का क्षण भर ध्यान करते ही प्रभु की आशीर्वाद-धारा उनके लिए खुल जाती है और वे उस क्षण भर में ही प्रभु के आशीर्वाद से नहा जाते हैं; एक बार प्रभु का नामोच्चारण करते ही उन्हें ऐसा आवेश आता है कि शरीर रोमांचित हो जाता है, मन और आत्मा आनन्दरस से पवित्र और प्रफुल्ल हो जाते हैं। पर यदि हम साधारण लोगों की प्रार्थना, उपासना अभी उस महाप्रभु से इतना ऐश्वर्य नहीं पा सकती है तब तो हमें उसके थोड़े से भी भजन की बहुत कदर करनी चाहिये, एक भी दिन, एक भी समय नागा न करनी चाहिए। एक समय भी नागा होने से जो सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह फिर जोड़ना पड़ता है। यही कारण है कि नागा होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। एवं एक समय नागा होने से एक समय की देरी नहीं होती, वह दुबारा सम्बन्ध जोड़ने जितनी देरी हो जाती है। अतः हम चाहे किसी दिन भजन में बिल्कुल दिल न लगा सकें, तथापि उस दिन भी कुछ न कुछ उपासना जरूर करनी चाहिये, यत्न जरूर करना चाहिये। पीछे पता लगता है कि एक दिन का भी यत्न व्यर्थ नहीं गया, एक दिन की उपासना ने हमें बढ़ाया है— हमारे शरीर, मन और आत्मा को उन्नत किया है।

कम से कम यह तो असन्दिग्ध है कि संसार की अन्य बातों में हम जितना समय देते हैं, सांसारिक बातों की जितनी स्तुति उपासना करते हैं और उससे जितना फल हमें मिलता है, उससे अनन्त गुना फल हमें प्रभु की (अपेक्षया बहुत ही थोड़ी सी) स्तुति उपासना से मिल सकता है और मिल जाता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि वह महान् है, ज्ञान का भण्डार है, सर्वशक्तिमान् है और ये सांसारिक बातें अल्प हैं, तुच्छ हैं, निस्सार हैं, ज्ञानशक्तिविहीन केवल विकार हैं।

(महे) महान् (प्रचेतसे) बड़े ज्ञानी (देवाय) इष्टदेव परमेश्वर के लिए (कत् उ) कुछ भी, थोड़ा सा भी (वचः शस्यते) वचन—स्तुति रूप में—कहा जाये (तत् इत् हि) वह निश्चय से (अस्य) इस वक्ता का (वर्धनं) बढ़ाने वाला है।

आ घा गमत् यदि श्रवत् सहस्रिणीभिः ऊतिभिः ।
वाजेभिः उप नो हवम् ।।

ऋ० 1.30.8, साम० उ० 1.2.11, अथर्व० 20.26.2

वह आ जाता है, निश्चय से आ जाता है, हमारे पास आ प्रकट हो जाता है यदि वह सुन लेवे । बस, उसके सुन लेने की देर है । उस तक अपनी सुनाई करना, अपनी रसाई करना बेशक कठिन है । उस तक हमारी पुकार पहुंच जाए, इसके लिए हममें कुछ योग्यता चाहिये, हममें कुछ सामर्थ्य चाहिये । पर इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि वह परमात्मदेव यदि पुकार सुन लेवे, यदि हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर लेवे तो वह निश्चय से आ जाता है—और तब वह आता है अपनी सहस्रों प्रकार की रक्षा-शक्तियों के साथ । हमारी रक्षा के लिए मानो वह अनन्त महाशक्तिनी सेना के साथ आ पहुंचता है । हमारी रक्षा के लिए तो उसकी जरासी शक्ति ही बहुत होती है पर तब यह पता लग जाता है कि उसकी रक्षा-शक्ति असीम है । वह हमारे 'हव' पर—पुकार पर—अपने 'वाज' के साथ (अपने ज्ञान-बल के साथ) आ पहुँचता है । हम पीड़ितों की रक्षा कर जाता है और हम अज्ञानान्धकार में ठोकरें खाते हुओं के लिए ज्ञान-प्रकाश चमका जाता है, पर यदि वह सुन लेवे । कौन कहता है कि वह सुनता नहीं ? बेशक, उसके हमारी तरह कान नहीं, पर वह परमात्मदेव बिना कान के सुनता है । यदि हमारी प्रार्थना कल्याण की प्रार्थना होती है और वह सच्चे हृदय से—सर्वात्मभाव से—की गई होती है तो उस प्रार्थना में यह शक्ति होती है कि वह प्रभु के दरबार में पहुंच सकती है । आह ! हमारी प्रार्थना भी प्रभु के दरबार में पहुंच सके; हममें इतनी स्वार्थशून्यता, आत्मत्याग और पवित्रता होए कि हमारी पुकार उसके यहाँ तक पहुँच सके । यदि हमारी प्रार्थना में इतनी शक्ति हो, हम अन्धकार में पड़े हुए, दुःख-पीड़ितों, दुर्बलों के हार्दिक करुण-क्रन्दनों में इतना बल हो कि इन्द्रदेव उसे सुन लेवे तो क्या है ? तब तो क्षण भर में वे करुणासिन्धु हम डूबतों को बचाने के लिए आ पहुंचते हैं । बस, हमारी प्रार्थना उन तक पहुंचे, हमारी पुकार में इतना बल हो, तो देखो, वे प्रभु अपने सब साज-सामान के साथ अपने ज्ञान, बल और ऐश्वर्य के भण्डार के साथ, अपनी दिव्य विभूतियों की फौज के साथ हम मरतों को बचाने के लिए, हम निर्बलों के बल संचार करने के लिए, हम अन्धों को अपनी ज्योति से चकाचौंध करने के लिए आ पहुंचते हैं ।

(यदि) यदि (नः हवं) हमारी पुकार (श्रवत्) वह इन्द्र सुन लेवे तो वह (सहस्रिणीभिः ऊतिभिः) अपनी सहस्रों बलशालिनी रक्षा-शक्तियों के साथ और (वाजेभिः) सहस्रों ज्ञानबलों के साथ (उपआगमत् घ) निश्चय से आ पहुँचता है ।

पवमानस्य ते वयं पवित्रं अभ्युन्दतः ।
सखित्वं आ वृणीमहे ।। ऋ० 9.61.4, साम० उ० 2.1.5

हे त्रिभुवन पावन ! तुम अपने स्पर्श से इस सब जगत् को पवित्रता दे रहे हो। यह सच है कि तुम्हारे बिना यह संसार बिल्कुल मलिन है। यह संसार तो स्वभावतः सदा मलिन ही होता रहता है, विकृत होता रहता है, गन्दगियाँ पैदा करता रहता है परन्तु तुम्हारी ही नाना प्रकार की पवित्र करने वाली धारायें नाना प्रकार से इस संसार के सब क्षेत्रों से इन मलिनताओं को निरन्तर दूर करती रहती हैं। हे पवमान ! हे सब जगत् को अपने अनवरत प्रवाह से पवित्र करने वाले ! जो मनुष्य तुम्हारे स्वरूप की इस पवित्रता को जानते हैं, वे अपने आपको भी (अपने हृदय को भी) पवित्र करने में लग जाते हैं, अपने अन्तःकरण से काम, क्रोध आदि विकारों को निकालकर इसे बड़े यत्न से निर्मल बनाते हैं। जब यह पवित्र हो जाता है तो इस पवित्र अन्तःकरण में तुम्हारी सात्त्विक धारायें जो आनन्द-रस पहुँचाती हैं, हृदय को सदा सरस बनाये रहती हैं, उसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। पवित्रान्तःकरण भक्त लोग ही उसका अनुभव करते हैं। जिनके हृदयों में द्वेष, क्रोध, जड़ता आदि का कूड़ा भरा हुआ है, उनके शुष्क हृदय, या जिन्होंने प्रेम शक्ति का दुरुपयोग कर विषैले रसों से हृदय को गन्दा कर रखा है उनके भी मलिन हृदय, इस पवित्र आनन्द-रस का आह्लाद क्या जानें ? जब मनोविकारों का यह सूखा या गीला मैल निकल जाता है, तभी मनुष्य के हृदय में तुम्हारे पवित्ररस का स्यन्दन होना प्रारम्भ होता है और उसमें फिर दिनों दिन सात्त्विकरस भरता जाता है। भक्तिभाव के बढ़ाने से जब भक्तों के हृदय-मानस आनन्द के हिलोरे लेने लगते हैं तो वे देखने योग्य होते हैं। हे सोम ! तब उनके पवित्र हृदय का तुम 'पवमान' के साथ सम्बन्ध जुड़ गया होता है। इस सम्बन्ध, इस सखित्व, इस एकता के कारण ही उनका हृदय सदा तुम्हारे भक्ति-रस के चुआने वाला झरना बन जाता है। हे प्रभो ! यही सम्बन्ध, अपना यही सखित्व हमें प्रदान करो। हे सोम ! हम तुझसे इसी सखित्व की भिक्षा माँगते हैं। हे जगत् को पवित्र करने वाले ! जिस सख्य के हो जाने से तुम्हारी पवित्रकारक धारा मनुष्य के हृदय को सदा भक्ति-रस से रसमय बनाये रखती है, उसी सखित्व की भिक्षा हमें प्रदान करो। हम अपने हृदय को पवित्र करते हुए तुमसे यही सखित्व, यही मैत्रीभाव, यही प्रेम-सम्बन्ध प्राप्त करना चाहते हैं, वरना चाहते हैं। यह वर हमें प्रदान करो।

(पवित्रं अभि उन्दतः) हमारे पवित्र हुए अन्तःकरण को भक्तिरस से आर्द्र करते हुए (पवमानस्य ते) तुझ परम पावन के (सखित्वं) सख्य को, मित्रभाव को (वयं) हम (आवृणीमहे) वरण करते हैं।

अभ्रातृव्यो अना त्वं अनापिः इन्द्र जनुषा सनादसि ।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥ ऋ० 8.21.13, अ० 20. 114.1

हे परमेश्वर ! तुम्हारे लिए न कोई शत्रु है और न कोई बन्धु है । तुम जिस उच्च स्वरूप में रहते हो, वहाँ शत्रुता और बन्धुता का कुछ अर्थ ही नहीं । और तुम्हारे लिए कोई नायक व नियन्ता कैसे हो सकता है ? तुम ही एक मात्र सब जगत् के नियन्ता हो, नेता हो । तुम जन्म से, स्वभाव से ही ऐसे हो । 'जनुषा' का यह मतलब नहीं कि तुम्हारा कभी जन्म होता है । तुम तो सनातन हो, सनातन रूप से ऐसे शत्रुरहित और बन्धुरहित हो । पर सनातन होते हुए भी तुम हमारे बन्धुत्व (आपित्व) को चाहते हो । और इस बन्धुत्व को तुम युद्ध द्वारा चाहते हो, युद्ध द्वारा ही चाहते हो । अहा ! कैसा सुन्दर आयोजन है ! तुम चाहते हो कि संसार के सब प्राणी सांसारिक युद्ध कर के ही एक दिन तुम्हारे बन्धु बन जायें, तुम्हारे बन्धुत्व का साक्षात्कार कर लें । सचमुच बिना लड़ाई के मिली सुलह, बिना संघर्ष के मिली प्रीति, बिना संग्राम के मिली मैत्री नीरस है, फीकी है, अवास्तविक है, उसका कुछ मूल्य नहीं है । बन्धुता तो अबन्धुता की, लड़ाई की सापेक्षता में ही अनुभूत की जा सकती है । इसलिये हे मेरे जगदीश्वर ! मुझे अब समझ में आता है कि तुमने कल्याणस्वरूप होते हुए भी इस अपने जगत् में दुःख, दर्द, दारिद्र्य, रोग, क्लेश, आपत्ति, उलझन आदि को क्यों उत्पन्न होने दिया है और अब समझ में आता है कि तुमने इन कठिनाइयों को खड़ा करके प्राणियों के जीवन को निरन्तर युद्धमय, संघर्षमय क्यों बनाया है । सचमुच, यह सब कुछ तुमने इसीलिये किया है कि हम इन बाधाओं को जीत कर, इन कठिनाइयों, उलझनों को पार करके तेरे बन्धुत्व के रसास्वादन के योग्य बन जायें । तू तो अब भी हमारा बन्धु है, हममें से जो तेरे द्रोही कहे जाते हैं—जो नास्तिक हैं—उनका भी तू अब भी एक समान बन्धु है (और असल में किसी का भी बन्धु या शत्रु नहीं है) तो भी तेरी उस बन्धुता का अनुभव—तुझे बन्धु रूप से पा लेने का परमानन्द—हमें तभी मिल सकता है, जब हम संसार के इस परम विकट युद्ध को विजय करके तेरे पास आ पहुँचें । तू चाहता है कि आज जो तुझसे बहुत दूर है, तेरा कट्टर द्वेषी है, वह युद्ध करके एक दिन तेरा उतना ही नजदीकी और उतना ही कट्टर बन्धु बन जाये । अतः अब मैं तेरे बन्धुत्व पाने के समर में ही कमर कसे खड़ा हुआ अपने को पाता हूँ । जितनी बार मरूँगा इसी समर की युद्धभूमि में मरूँगा और अन्त में तेरे बन्धुत्व को पाकर ही दम लूँगा । यही तेरी इच्छा है, यही तेरी मुझसे प्रेममय इच्छा है ।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वं) तुम (जनुषा) जन्म से ही, स्वभाव से ही (अभ्रातृव्यः) शत्रु रहित (अनापिः) बन्धु रहित (अना) नियन्तृरहित (असि) हो, (सनात्) तुम सनातन हो, सनातन से ही ऐसे हो । पर तुम (युधा) युद्ध द्वारा (इत्) ही (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छसे) चाहते हो ।

18 वैशाख

ये ते पवित्रमूर्मयो अभिक्षरन्ति धारया।
तेभिर्नः सोमः मृडय ॥

ऋ० 9.61.5, सा० उ० 2.1.5

मानसरोवर में कुछ न कुछ तरंगें सदा उठा ही करती हैं। चारों तरफ होने वाली घटनाओं से मनुष्य का मानससर नाना प्रकार से क्षुब्ध होता रहता है परन्तु हे सोम ! मैं अपने मानस को पवित्र बना रहा हूँ। इसलिये पवित्र बना रहा हूँ जिससे कि इसमें तेरी जगत्-व्यापक धारा से आई हुई तरंगें ही पैदा होएँ और किसी प्रकार की क्षुद्र तरंगें न पैदा हों। हे सोम ! अपनी शीतल सुखदायिनी और ज्ञाना-मृतवर्षिणी धाराओं से तुमने इस जगत् को व्याप्त कर रखा है। इन्हीं द्वारा यह जगत् धारित हुआ है, नहीं तो इस जगत् का सब जीवन-रस न जाने कब तक का सूख चुका होता। मैं देखता हूँ कि तुम्हारी इस जीवनरसदायिनी दिव्य धारा का मनुष्यों के पवित्र हुए अन्त:करणों के प्रति एक आकर्षण उत्पन्न हो जाया करता है। जैसे कि चन्द्रमा के (भौतिक सोम के) आकर्षण से समुद्र जल में ज्वारभाटा उत्पन्न होता रहता है, उसी तरह हे सच्चे सोम ! मनुष्य के पवित्र हुए मन:सरोवर में भी तेरी सोमधारा के महान् आकर्षण से उच्च तरंगें उठने लगती हैं, ऊँचे-ऊँचे व्यापक सना-तन भावावेश (Emotions) उठने लगते हैं। विश्वप्रेम, वीरता, अदम्य उत्साह, सर्वार्पण कर डालने की उमंग, दु:खित मात्र पर दया, इत्यादि ऐसे सनातन व्यापक भावावेश हैं जो कि तेरी जगत्-धारक महान् धारा के अनुकूल हैं। बस, पवित्र हुए अन्त:करणों में तेरी महाशक्तिमती धारा के अनुसार ये ही तेरी ऊर्मियाँ, तेरी तरंगें अभिक्षरित हुआ करती हैं। हे सोम ! मुझे अब इन्हीं सत्यमयी व्यापक तरंगों के मन में उठने से सुख मिलता है। वे राग द्वेष की हवा से उठने वाली क्षुद्र भावावेशों (Emotions) की तरंगें, वे मन को क्षुब्ध करने वाले एक पक्षीय ज्ञान से होने वाले छोटे-छोटे अनुराग, मोह, शंका, भय, उत्कंठा, कामना आदि की तरंगें मुझे सुख नहीं देतीं, किन्तु क्लेश रूप दिखाई देती हैं। इसलिये, हे मेरे सोम ! मेरे मानस में उन्हीं तरंगों को उठाकर मुझे सुखी करो जो तरंगें पवित्र हृदयों में तुम्हारी धारा से उठती हैं। बस ये ही उच्च भावावेश, ये ही व्यापक सनातन महान् भावावेश, मेरे मानस में उठा करें—ये ही तरंगें बार-बार उठें, खूब उठें; खूब ऊँची-ऊँची उठें—ऐसी ऊँची और महान् उठें कि इन आनन्ददायक भावावेशों में उठता हुआ मैं तन्मग्न होकर तेरी ऊँचाई के संस्पर्श का सुख अनुभव कर सकूँ।

(ते ये ऊर्मयः) तेरी जो तरंगें (धारया) जगत् के धारण करने वाली तेरी जगत् व्यापक ज्ञानधारा द्वारा (पवित्रं अधिक्षरन्ति) मनुष्य के पवित्र हुए अन्त:करण में प्रकट होती हैं, उठती हैं (सोम) हे सोम ! (तेभिः) उन तरंगों से (नः मृडय) हमें आनन्दित कर दो।

19 वैशाख

यद् वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम् ।
वसु स्पार्हं तदाभर ।।

ऋ० 8.45.41., साम० उ० 4.1.9, अ० 20.43 2

हे परम परमैश्वर्य वाले इन्द्र ! तुम्हारा नाना प्रकार का ऐश्वर्य इस संसार में भरा पड़ा है पर तुम्हारे इन ऐश्वर्यों में से जिस प्रकार के ऐश्वर्य की मुझे स्पृहा है, जिस प्रकार के ऐश्वर्य को मैं चाहता हूँ वह तो है वह जोकि संसार के वीर, दृढ़ (वीडु) पुरुषों में दिखाई देता है और जोकि स्थिर तथा विमर्शशील पुरुषों में रहता है । आम लोग रुपये पैसे को ऐश्वर्य समझते हैं पर असल में वह ऐश्वर्य नहीं है । रुपये, पैसे तथा अन्य संपत्ति के पदार्थों का ऐश्वर्य होना या न होना मनुष्य पर आश्रित है, मनुष्य की शक्ति पर आश्रित है अतः मनुष्य तथा मनुष्य का सामर्थ्य ही वास्तविक धन (ऐश्वर्य) है । गीता में जो 'अभय', 'सत्त्वसंशुद्धि' आदि सद्गुणों को दिव्यसंपत्ति कहा है वह सत्य है, वही सच्ची संपत् है । शम, दम, तितिक्षा आदि छह गुण इसीलिये 'षट् संपत्ति' नाम से जगत् में प्रसिद्ध हैं । हे इन्द्र ! मुझे तो यह ही सच्ची संपत् चाहिए : संसार के रुपये पैसे के धनियों को देख कर मुझे जरा भी उनकी सी अवस्था के प्रति आकर्षण नहीं होता परन्तु वीरों की वीरता, अदम्य उत्साह, तेज और दृढ़ता पर मैं मोहित हूँ । जो चिरकाल तक स्थिरता से श्रद्धापूर्वक साधना करते हुए अन्त में अवश्य विजयशील होते हैं, उनका यह स्थिरता का गुण मुझे उनका भक्त बना लेता है । और जब मैं उन पुरुषों को देखता हूँ जो कि विचारपूर्वक सब कार्य करते हैं, पेचीदा अवस्था आने पर भी जिन्हें अपने कर्तव्य का निर्णय करने में ज़रा देर नहीं लगती, तो मैं यही चाहता हूँ कि यह विमर्शक्षमता मुझ में भी आ जाय । जिनके पास ये तीन गुण नहीं होते उनके पास तो रुपया पैसा भी नहीं ठहरता, यदि ठहरता भी है तो या तो वह शक्तिरूप नहीं होता या बुरी शक्ति बन जाता है । क्या हम रोज नहीं देखते कि बुजदिली के कारण, अस्थिरता के कारण, नासमझी के कारण सब कमाया हुआ बड़ा भारी धन एक दिन में बरबाद हो जाता है या होता हुआ भी बेकार साबित होता है । इसलिए मेरे पास तो यदि भूमि, घर आदि कुछ सामान न हो, कपड़ा लत्ता भी न हो, एक कौड़ी तक न हो, पर यदि मुझमें वीरता, अजेय दृढ़ता हो और लगातार देर तक सतत काम करने की शक्ति एवं लग्न हो तथा मुझमें विचारशीलता हो, तो मैं हे प्रभो ! अपने को महाधनी समझूँगा और संसार में आत्माभिमान के साथ सिर ऊँचा करके फिरूँगा । इसलिये हे नाथ ! मुझे तो तुम दृढ़ता, स्थिरता और विमर्शशीलता प्रदान करना; मैं यही माँगता हूँ, आपसे यही ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ ।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यत्) जो धन तूने (वीडौ) दृढ़, न दबने वाले पुरुष में (यत् (स्थिरे) जो धन स्थिर रहने वाले में (यत् पर्शाने) और जो धन विचारशील पुरुष में (पराभृतं) रखा है (तत्) वह (स्पार्हं) स्पृहणीय, चाहने लायक (वसु) धन (आभर) मुझे प्राप्त करा ।

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम् ।

स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥ ऋ० 8.44.23

हे नारायण ! तुम्हारी मंगलकामना प्राणीमात्र के लिए अनवरत हो रही है; तुम्हारे आशीर्वाद प्रत्येक जीव के लिए—अपने प्रत्येक पुत्र के लिए—एक समान बरस रहे हैं। फिर भी जो ये आशीर्वाद हमें लगते नहीं हैं, हम पर अपना असर नहीं करते हैं, इसका कारण यह है कि हम ही अपने आपको इनसे वंचित रख रहे हैं। स्वार्थ, अहंकार, अस्मिता से हमने अपने आपको ऐसा बाँध लिया है, ऐसा लपेट लिया है कि हम तुम्हारे वास्तव में परम निकट होते हुए भी तुमसे दूर हो गये हैं कि हम पर तुम्हारी आशीर्वाद-वर्षा का कुछ भी असर नहीं होता। हे मेरे प्यारे ! प्रकाशमय देव ! हममें दूरी करने वाला, हमें जुदा रखने वाला, यह आवरण अब सहा नहीं जाता। अब तो यह पर्दा फट जाय, यह आवरण हट जाय और मैं तू हो जाऊँ या तू मैं हो जाये, तो मुझ पर बरसाये गये जीवन भर के तेरे सब आशीर्वाद एक क्षण में सफल हो जायें तथा जीवन भर में तुम्हारे प्रति की गई मेरी सब प्रार्थनाएँ एक पल में पूरी हो जायँ। हे प्रभु ! वह दिन कब आयेगा, जबकि मैं तेरे ध्यान में मग्न होकर अपने आपको खो दूँगा और दूसरी तरफ तुम अपने परम प्यारे पुत्र को अपनी गोद में आश्रय दे दोगे; जबकि मेरा आत्मा अपने परम आत्मा को पा जायगा और दूसरे शब्दों में तुम परमात्मा अपने एक चिरवियुक्त अंग को फिर अंगीकार कर लोगे, जबकि मेरी आत्मा-अग्नि तुम्हारी बृहत्-अग्नि में जाकर 'मैं' को नष्ट कर देगी अथवा जबकि तुम्हारे द्वारा मेरे स्वीकृत हो जाने से 'तुम' जाता रहेगा ? तब मेरी कोई प्रार्थना न रहेगी क्योंकि तब मेरा कोई स्वार्थ व कामना न रहेगी और इसलिये तब तुम्हारा कोई आशीर्वाद भी बाकी न रहेगा। उस मंगल मिलन में तुम्हारे सब आशीर्वाद मूर्तिमन्त, सत्य, सफल हो जायेंगे। जीवन भर में जो जो मैंने तुमसे भक्तिमय प्रार्थनायें की हैं और उनके उत्तर में, उनकी स्वीकृति में, तुमसे मैंने जो नाना आशीर्वाद पाये हैं, वे सबके सब आशीर्वाद आखिर इसी महान् मंगलमिलन के लिए थे। मेरी सब प्रार्थनाओं की एक इच्छा, और तुम्हारे सब मेरे प्रति आशीर्वचनों की एक इच्छा, यह मिलन ही थी। तुम्हारी मेरे कल्याण की सब की सब कामनायें, सब आशीर्वाद, इस आत्मप्राप्ति में एक दम पूरे हो जाते हैं, क्योंकि यही मेरा सबसे बड़ा कल्याण है, कल्याणों का कल्याण है, जिसमें सब कल्याण समा जाते हैं। अहो ! वह मंगल मिलन, वह महान् मिलन !

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (यत् अहं त्वं स्याम्) जब मैं तू हो जाऊँ (वा घ) या (त्वं अहं स्याः) तू मैं हो जाय तो (ते इह आशिषः) तेरे इस संसार के वे सब आशीर्वाद (सत्याःस्युः) सत्य सफल हो जायें।

अभि प्र गोपतिं गिरा, इन्द्रमर्च यथाविदे।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ।।

ऋ० 8.69.4, साम० पू० 2.2.8.4, अ० 20 92.1

हे मनुष्य ! यदि तू यथार्थ सत्यज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो तू इन्द्र की शरण में जा। ये इन्द्रियाँ – प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन समझी जाने वाली ये इन्द्रियाँ— तुझे परिमित ज्ञान ही देंगी तथा बहुत बार बड़ा भ्रामक ज्ञान उत्पन्न करेंगी, मन इन्द्रिय भी तुझे दूर तक नहीं पहुँचायेगी; और तेरे रागद्वेषपूर्ण मलिन मन की तर्कना शक्ति केवल कुतर्क में लगेगी। बाहिर से मिलने वाला ज्ञान अर्थात् विद्वानों के उपदेश और तत्त्वज्ञानियों के ग्रन्थ अपनी-अपनी दृष्टि से कहे व लिखे जाने के कारण तुझे अभी कुछ शान्ति न दे सकेंगे, बहुत सम्भव है कि ये तुझे और उलझन में डाल देंगे। अतः तुझे शान्ति दे सकने वाला सच्चा यथार्थ ज्ञान अपने अन्दर से, अपनी आत्मा से ही मिलेगा। इसे तू अपनी आत्मा में खोज; उस अपनी आत्मा में खोज जो कि इन सब इन्द्रियों का स्वामी है, जिसने अपनी शक्ति प्रदान करके मन आदि इन्द्रियों को अपना साधन बना रखा है, जोकि सत्य ज्ञानस्वरूप है, जो कि परम सत्यस्वरूप परमात्मा का पुत्र है और जो कि अतएव स्वभावतः सदा सत्य का पालक है। हे मनुष्य ! तू इस सत्यदेव की पूजा कर, आराधना कर, पूरे यत्न से इसे प्रसन्न कर तो तुझे सत्य मिल जायगा। वाणी शक्ति द्वारा तू इसकी अपरोक्ष पूजा कर। इस सत्यमय देव की आराधना करने के लिए तुझे सत्यमय वाणी की साधना करनी पड़ेगी। बोलने में, व्यवहार में, हर एक अभिव्यक्ति में पूरी तरह सत्य का पालन करना होगा; अन्दर की मनोमय वाणी में भी सर्वथा सत्य के ही चिन्तन, मनन की विकट तपस्या करनी होगी। अन्दर घुसने पर ही तुझे पता लगेगा कि परिपूर्ण वाणी द्वारा सत्य की आराधना करना कितना कठिन है। पर साथ ही यह भी सच है कि जब तू यह साधना पूरी कर लेगा तो तेरा 'सत्य सूनु' 'सत्पत्ति' आत्मा प्रकट हो जायगा और अपना अमूल्य भण्डार, सब सत्य ज्ञान के रत्नों का भण्डार तेरे लिए खोल देगा। तब तुझे कोई उलझन न रहेगी, तेरा निर्मल मन ठीक ही तर्क करेगा, तेरी इन्द्रियाँ भी अधिक स्पष्ट देखेंगी, पर सब से बड़ी बात तो यह है तब तुझे वह सत्यमयी, 'ऋतंभरा' बुद्धि मिल जायगी जिस द्वारा कि तू जब जिस विषय का यथार्थ ज्ञान पाना चाहेगा, वह सब तुझे प्रकाशित हो जाया करेगा। सत्य का पालन करने वाला सत्पति आत्मा स्वयमेव तेरे लिए सत्य की रक्षा करता रहेगा। वाणी द्वारा सत्य की साधना करने का यह स्वाभाविक फल है। हे मनुष्य ! तू इस सत्य इन्द्र की आराधना कर, अपरोक्ष रूप से पूरी तरह आराधना कर।

हे मनुष्य ! (यथाविदे) यथार्थ ज्ञान पाने के लिए तू (गोपतिं) इन्द्रियों के स्वामी (इन्द्रं) आत्मा का (गिरा) वाणी द्वारा (अभि प्र अर्च) अपरोक्ष और पूरी तरह पूजन कर, जो कि आत्मा (सत्यस्य सूनुं) सत्य का पुत्र है और (सत्पतिं) सदा सत् का पालक है।

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः ॥

ऋ० 8.102 22, साम० पू० 1.1.2.9

मैं जो प्रतिदिन आग जलाकर अग्निहोत्र करता हूँ उससे क्या हुआ, यदि इस अग्नि-दीपन से मेरे अन्दर की आत्म-ज्योति न जग सकी ? यदि मेरे प्रतिदिन अग्नि-होत्र करते रहने पर भी मेरे जीवन में कुछ भेद न आया, मेरा व्यवहार आचरण वैसा का वैसा रहा, न मुझमें सद्बुद्धि ही जागृत हुई और न मैं सत्कर्मों में प्रेरित हुआ तो मेरा यह सब अग्निचर्या करना व्यर्थ है । सचमुच हरेक बाह्य-यज्ञ अन्दर के यज्ञ के लिए है । बाहिर की अग्नि इसीलिए प्रदीप्त की जाती है कि उस द्वारा एक दिन अन्दर की आत्माग्नि प्रदीप्त हो जाय । यह आत्माग्नि मन द्वारा प्रदीप्त की जाती है । इसीलिये कहा गया है कि बाहिर के द्रव्यमय-यज्ञ की अपेक्षा अन्दर का मानसिक-यज्ञ हजार गुणा श्रेष्ठ होता है । अतः मनुष्य को चाहिये कि वह मन द्वारा अपनी आन्तर-अग्नि को जलाये, आत्माग्नि को प्रदीप्त करे और इस प्रकार 'धी' को, सद्बुद्धि को, प्राप्त कर ले तथा सत्कर्म में प्रेरित होता हुआ आत्मकल्याण को पा जावे । जो मनुष्य मनन करते हैं अर्थात् आत्मनिरीक्षण, आत्मचिन्तन, विचार और भावना करते हैं, जाप करते हैं तथा धारणा, ध्यान, समाधि करते हैं, वे इन सब मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा आत्म-ज्योति को जगा लेते हैं और उन्हें सत्यबुद्धि, ज्ञानप्रकाश, सदा ठीक कर्म में ही प्रवृत्त कराने वाली समझ मिल जाती है । अतः आज से मैं भी इस अग्नि को प्रदीप्त करूँगा, विवस्वतों द्वारा—तमोनिवारक ज्ञानकिरणों द्वारा—इस अग्नि को प्रज्वलित करना प्रारम्भ करूँगा । जैसे सूर्यकिरणों द्वारा ही संसार की सब प्रकार की ज्योतियाँ प्रदीप्त और प्रकाशित होती है, वैसे उस ज्ञान-सूर्य सविता परम आत्मा की किरणो द्वारा ही मैं अपनी आत्माग्नि को प्रदीप्त करूँगा । सत्यज्ञान देने वाले सब वेदादि ग्रन्थ, सत्य का उपदेश देने वाले सब गुरु, आचार्य, मेरे अन्दर मन की सब सात्त्विक वृत्तियाँ ये सब उसी ज्ञान-सूर्य की भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में फैली हुई किरणें हैं, विवस्वत् हैं । मैं इन द्वारा आज से अपनी आत्माग्नि को प्रतिदिन प्रदीप्त करता जाऊँगा । यही मेरे उद्धार का सीधा, साफ और चौड़ा मार्ग है ।

(मनसा) मन द्वारा (अग्नि) अग्नि को, आत्मा को (इन्धानः) प्रज्वलित करता हुआ (मर्त्यः) मनुष्य (धियं) सद्बुद्धि को और सत्कर्म को (सचेत) प्राप्त करे । मैं (विवस्वभिः) तम को हटाने वाली ज्ञान किरणों द्वारा (अग्नि) इस अग्नि को (ईधे) प्रदीप्त करता हूं ।

आ ते वत्सो मनो यमत्, परमात् चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वां कामया गिरा ॥

ऋ० 8.11.7, साम० पू० 1.1. 1.8.

हे परमात्मन् ! तुम्हारा स्थान बहुत ऊँचा है। तुम्हारे उत्कृष्ट पद को मैं कैसे पाऊँ ? तुम जिस दिव्य धाम में रहते हो, जिस सर्वशक्तिमय, सर्वज्ञानमय, परमानन्दमय लोक में तुम्हारा निवास है, उस परम स्थान तक मैं अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, तुच्छ जीव कैसे पहुँच सकता हूं ? परन्तु नहीं, मैं भी आखिरकार तुम्हारा पुत्र हूँ, वत्स हूँ, प्यारा अमृत आत्मज हूँ। मैं चाहे कैसा हीन व पतित होऊँ पर स्वरूपत: अमर चिन्मय आत्मा हूं। अत: तुम्हारा धाम मेरा भी धाम है, तुम्हारा ऊँचे से ऊँचा स्थान मेरा सहस्थान है, 'सधस्थ है। तुम्हारे दिव्य से दिव्य स्थान से तुम्हारे पुत्र का अधिकार कैसे हट सकता है ? मैं तुम्हें अपने प्रेम द्वारा तुम्हारे दूर से दूर, ऊँचे से ऊँचे पद से खींच लाऊँगा। हे पित: ! मुझे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ बनने की क्या जरूरत है ? मैं तो अपने अगाध प्रेम से, अपनी अनन्य भक्ति से तेरे मन को काबू कर लूँगा, तेरे मन को पा लूँगा। फिर मुझे और क्या चाहिये ? हे मेरे अग्ने ! हे मेरे जीवन ! मैं तुम्हें अपनी सर्वशक्ति से चाह रहा हूं, कामना कर रहा हूँ। आत्मा में तुमने जो वाणी नाम्नी आत्मशक्ति रखी है, मैं उसकी सम्पूर्ण शक्ति तुम्हें ही खींच रहा हूँ। मैं अपनी आन्तर और बाह्यवाणी की समस्त शक्ति को तुम्हारे मिलन के लिए ही खर्च कर रहा हूँ। मन में तेरी ही चाह है, मन में तेरा ही जाप है, तेरी ही रटन है; 'वैखरी' वाणी में भी तेरा ही नाम है, तेरा स्तोत्रपाठ है; शरीर की चेष्टाओं से भी जो कुछ अभिव्यक्त होता है, वह तेरी लगन है, तेरे पाने की तड़प है। क्या तू अब भी न मिलेगा ? मैं तेरा वत्स इस तरह से, हे पित: ! तेरे मन को हर ही लूँगा। तू चाहे कितने ऊँचे स्थान का वासी हो, पर तेरे मन को जीत के ही छोड़ूँगा। मेरा प्रेम, मेरी भक्ति तेरे मन को खींच लेगी और फिर तेरे मन को, तेरे प्रेम व वात्सल्य को, मुझे अपनाना होगा।

(वत्स:) मैं वत्स (ते मन:) तेरे मन को (परमात् चित्) अति-उत्कृष्ट भी (सधस्थात्) सहस्थान से (आ यमत्) वश करता हूँ, प्राप्त करता हूं (अग्ने) हे परमेश्वर ! मैं (त्वां) तुझे (गिरा) वाणी द्वारा (कामये) चाहता हूँ—मिलना चाहता हूँ।

इमं मे वरुण श्रु धी हवमद्या च मृडय।
त्वामवस्युराचके ।।

यजु० 21.1

हे वरुण देव ! मैं कितने दिनों से तुम्हें पुकार रहा हूँ। पुकारते पुकारते अब तो बहुत काल बीत गया है। मेरी पुकार की सुनवाई और कब होगी ? लोग मुझ पर हँसते हैं। मेरी तुम्हारे प्रति व्याकुलता को देखकर मेरा ठट्टा करते हैं और मुझे पागल समझते हैं। परन्तु मैं तो तुम्हारी शरण में आ चुका हूँ, एक मात्र तुमसे ही रक्षा पाने की आशा रखता हुआ निरन्तर प्रार्थना कर रहा हूँ और करता चला जाऊँगा। तुम ही को मेरी लाज बचानी होगी। क्या मैं ऐसे ही पुकार मचाता रहूँगा और तुम अनसुनी करते जाओगे ? नहीं, तुम्हें मेरी पुकार सुननी होगी। हे सर्वश्रेष्ठ ! हे पापनिवारक ! हे मेरी परम आत्मन् ! तुम्हें मेरी यह पुकार जरूर सुननी होगी। तो, अब तो बहुत काल बीत चुका है, मेरा मन अपनी इस कामना को तुम्हारे आगे कब से धरे बैठा है, क्या इसकी स्वीकृति का समय अब तक नहीं आया है ? अब तो हे नाथ ! इसे पूरा कर दो, आज का दिन खाली न जाय। बहुत बार आशा बंधते-बँधते टूट चुकी है पर आज तो निराश न होना पड़े, आज तो इस चिरकांक्षित अभिलाषा को पूरा कर दो, चिरकाल के व्यथित व्याकुल हृदय को सुखी कर दो। यह हृदय तुममें अटल श्रद्धा रखे, तुमसे कामना के अवश्यम्भावितया पूरा होने का विश्वास रखे, बड़े दिनों से तपस्या कर रहा है। बहुत सी निराशाओं के घावों से घायल हो चुका है, पर श्रद्धा नहीं छोड़ सकता। तो आज तो इसके दुर्दिनों का अंत कर दो, इसकी शुभाकांक्षा को मूर्तिमती कर दो जिससे इसकी घावों की सब व्यथा अब एक क्षण में मिट जाय। बस, आज जरूर, आज जरूर। पुकार मचाते-मचाते अब पर्याप्त दिन हो चुके, तुम्हारी शरण में पड़ा मैं बहुत चिल्ला चुका, अपने इस पागल का आज तो सुदिन कर ही दो और इसे अपनी गोद में उठा लो।

(वरुण) हे वरुण ! (मे) मेरी (इमं) इस (हवं) पुकार को (श्रु धी) सुन लो। (अद्य च) आज तो मुझे (मृडय) सुखी कर दो (त्वां अवस्युः) मैं तुम्हारी शरण में आया हुआ, तुमसे रक्षा चाहता हुआ (आचके) प्रार्थना कर रहा हूँ।

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥

ऋ० 8. 14.2, साम० उ० 9.1.9, अ० 20.27.2

हे शचीपते ! हे शक्ति के स्वामी ! तुम सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमयी शक्ति के स्वामी हो और परिपूर्ण होने के कारण अपनी इस शक्ति का जगत् के पालन पोषण में परिपूर्णतया ही सदुपयोग कर रहे हो । परन्तु मैं यद्यपि अपूर्ण जीव हूँ तो भी मुझे अपनी शक्ति का सदा पूरा सदुपयोग ही करने में यथाशक्ति तुम्हारा अनुकरण करना चाहिये । इसलिये मैं चाहता हूँ और संकल्प करता हूँ कि यदि मैं 'गोपति' होऊँ, सच्चा वैश्य बनकर भूमि, गौ, धन का (वैश्यशक्ति का) स्वामी होऊँ तो मैं इसका सदुपयोग ही करूँगा । हे सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ! तुम मुझे ऐसी बुद्धि देना, ऐसी समझ और योग्यता देना कि मैं यह धन केवल संसार के 'इस मनीषी पुरुष' के लिए ही देना चाहूँ और इसे ही दूँ; किसी को देने की मुझे कभी और इच्छा तक न हो, कभी प्रलोभन तक न होए । यह 'मनीषी' वह पुरुष होता है जोकि अपने मन का ईश है, जो कभी क्षण भर के लिए भी मन का गुलाम नहीं होता है, जो जितेन्द्रिय है, जिसे अपने पर पूरा काबू है । ऐसे ही पुरुष को दिया हुआ धन सदुपयुक्त होता है, हजारों गुणा फल लाता है, सर्वलोक का हित करता है । हमारे धन के एकमात्र अधिकारी, ये आत्मवशी पुरुष ही हैं । वास्तव में हमारा सब धन, इन संयमी महानुभावों का ही है। परन्तु हे प्रभो ! बहुत बार हम किन्हीं अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण या केवल रिवाज के वशीभूत होकर या अपनी कमजोरी के कारण, अजितेन्द्रिय 'लोगों'—भोगी विलासी 'सन्तों'—को दान दे देते हैं । ओह ! यह तो तुम्हारी दी हुई धन शक्ति का घोर दुरुपयोग है, यह पाप है । यह दान नहीं है, यह या तो रिश्वत है या आत्मघात करना है । नहीं, यह सम्पूर्ण मनुष्य समाज का व राष्ट्र का घात करना है, द्रोह करना है । जो मनीषी नहीं हैं, उन्हें धन देने का विचार भी हमारे मन में नहीं आना चाहिये, देने की इच्छा (दित्सा) ही नहीं होनी चाहिये । जिसे अपने पर काबू नहीं, उसके पास गया हुआ धन उस द्वारा सर्वनाश का कारण होता है । इसलिये, हे शचीपते ! मुझे इतनी शक्ति प्रदान करो कि मैं अनुचित दान के लिए स्पष्ट 'न' कर सकूँ । भोगियों को दिये जाने वाले दान में सम्मिलित न होने की हिम्मत कर सकूँ, हे प्रभो ! मैं तो उसी को दान दूँ जो कि अपने मन का ईश होने के कारण जनता के हृदयों का भी ईश हो और एतएव जिसके पास गया हुआ धन सर्व जनता के लिए हो—सर्व जनता के कल्याण में ही स्वभावतः ठीक-ठीक उपयुक्त हो जाता हो ।

(शचीपते) हे शक्ति के स्वामी ! (यत् अहं) यदि मैं (गोपतिः स्याम्) धन भूमि आदि का स्वामी होऊँ तो [मेरी मति ऐसी होए कि] मैं (अस्मै) मनीषिणे) इस मन के ईश, पूरे जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ही (दित्सेयं) इस धन शक्ति को देना चाहूँ और (शिक्षेयं) इसे ही दूँ ।

दृते दृंह मा, ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ।
ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ।। यजु० 36.19

हे जगदीश्वर ! मैं चाहता हूँ कि अब मैं तुम्हारी अध्यक्षता में ही जीऊँ— तुम्हारी देख में तुम्हारी आँखों के नीचे ही अपना जीवन व्यतीत करूँ । मुझे यह सदा स्मरण बना रहे कि तुम मुझे देख रहे हो । मेरा एक एक कार्य, मेरी एक एक चेष्टा, एक एक हरकत, तुम्हें साक्षी रखकर की गई हो और इस तरह तुम्हारे सम्यक् दर्शन में – तुम्हें देखता हुआ—मैं चिरकाल तक जीऊँ । सच तो यह है कि जब मैं तुम्हारी ठीक-ठीक अध्यक्षता में अपना जीवन व्यतीत करूँगा तो मेरा जीवन ऐसा स्वाभाविकतया चलेगा कि यह स्वयमेव दीर्घजीवी हो जाएगा । अतः मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से जुदा न हो जाऊँ । परन्तु तुम्हारे संदर्शन में जीना आसान काम नहीं है । मैं यह जानता हूँ कि तुम ही मेरे जीवन हो, मेरी शक्ति हो, मेरी आत्मा हो तो भी मैं निर्बलतावश तुम्हें सदा भूला रहता हूँ । सांसारिक वायु के झोंकों के थपेड़ों से मेरी सुधबुध ऐसी भूली रहती है कि मुझ में तुम्हारी स्मृति जागृत नहीं रह सकती । इसलिये हे जगदीश्वर ! मेरी तो तुमसे यह प्रार्थना है कि तुम मुझे पहिले दृढ़ बना दो, मजबूत बना दो, चट्टान बना दो । हे दृते ! हे सर्वशक्तिस्वरूप ! तुम मुझे ऐसा दृढ़ बना दो कि संसार की घटनायें मुझे चलायमान न कर सकें । मैं सदा तुम्हें देखते रहने का यत्न करता हूँ—तुम्हें देखते रहते हुए ही अपने कर्म करने का यत्न करता हूँ, पर यह बहुत थोड़ी देर चलता है । कोई भी सांसारिक खुशी या कोई दुःख, कोई चिन्ता आने पर वह मेरा सात्त्विक ध्यान जाता रहता है । कोई भी नई सी बात होने पर मेरा ध्यान उधर खिंच जाता है और मैं उस तेरे संदर्शन की सुखमय अवस्था से गिर जाता हूँ । इसलिये, हे दृते ! मैं दृढ़ता का भिखारी हुआ हूँ । मैं जानता हूँ कि जब मैं दृढ़ हो जाऊँगा तथा उस दृढ़ता द्वारा सुख में दुःख में, संपत् में विपत् में सदा तुम्हारा यह संदर्शन करते रहने का अभ्यासी हो जाऊँगा तो धीरे धीरे तुम्हारा यह सम्यक् दर्शन मुझमें ऐसा समा जायेगा कि यह फिर मुझसे जुदा न हो सकेगा । और तब मुझे तुम्हारा ध्यान करने की भी जरूरत न रहेगी । जैसे कि हम दिन भर सूर्य प्रकाश द्वारा ही सब काम करते हैं पर हमें यह याद रखने की आवश्यकता नहीं होती कि हम सूर्य प्रकाश में हैं, वैसे ही तब मैं बिना यत्न किये तुम्हारे संदर्शन के प्रकाश में चौबीसों घंटे रहने और जीवन व्यतीत करने वाला हो जाऊँगा । अतः हे दृते ! मुझे ऐसा दृढ़ बना दो कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से न हट सकूँ ।

(दृते) हे समर्थ परमदृढ़ परमेश्वर ! (मा) मुझे (दृंह) दृढ़ बनादे, जिससे कि मैं (ते संदृशि) तेरे संदर्शन में, तेरी ठीक दृष्टि में (ज्योक्) चिरकाल तक (जीव्यासं) जीता रहूँ (ते संदृशि ज्योक् जीव्यासं) तेरे सम्यक् दर्शन में दीर्घ आयु तक जीवित रहूँ ।

न घेम् अन्यत् आपपन वज्रिन् अपसो नविष्टौ।
तवेदु स्तोमं चिकेत ॥

ऋ० 8.2.17, साम० उ० 1.2.3, अ० 20.18.2

हे जगत् के ईश्वर ! परममंगलकारी ! मैं जो भी कोई नया कार्य शुरू करता हूँ, नया यज्ञकर्म, नया शुभकर्म प्रारम्भ करता हूँ तो वह सब तेरा ही नाम लेकर, तेरे ही भरोसे तेरे ही बल पर शुरू करता हूँ। अपने हरेक कार्य का मंगलाचरण मैं तेरे ही आगे झुककर, तेरी ही मानसिक वंदना करके, करता हूँ। हे वज्रवाले ! मैं तेरे सिवाय किसी भी अन्य के आगे झुककर मंगल नहीं मना सकता क्योंकि वह पाप से निवृत्त करने वाला वज्र तो तेरे ही हाथ में है – अनिष्टों, अमंगलों और विघ्नों का वास्तव में वर्जन कराने वाला वज्र तेरे ही हाथ में है। तो हे वज्रधारिन् ! मैं किसी अन्य की स्तुति करके क्या पाऊँगा ? जो कार्य सचमुच एकमात्र तुम्हारे ही आश्रय से किये जाते हैं और जो मनुष्य सचमुच अपना कर्म सर्वथा तुझे अर्पण करके करते हैं तो वहाँ पराजय, असफलता या असिद्धि नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। यह बात कइयों को जरा विचित्र सी लगेगी, किन्तु सर्वथा सत्य है। सचमुच तब सब मंगल ही मंगल हो जाता है। यह सब तेरे वज्र का प्रताप है। जो लोग केवल तेरा ही आश्रय लेकर कार्य शुरू करते हैं, सर्वथा त्वदर्पित होते हैं, उनके पास निरन्तर जागता हुआ तेरा वज्र उनकी रक्षा करता है। अतः हे परम मंगलकारी वज्रिन्! इस संसार में तू ही एकमात्र स्तुति करने योग्य है। मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूँ। यदि मैं किसी धनाढ्य पुरुष की स्तुति करूँ तो शायद वह मुझे मेरे कार्य के लिए धन दे देगा, किसी प्रभावशाली पुरुष की विनती करूँ तो शायद मेरे लिए उसका प्रभाव बड़ा सहायक हो जायगा; परन्तु हे जगत् के ईश्वर ! में जानता हूँ कि यह सब तभी होगा जबकि तेरी ऐसी इच्छा होगी। संसार के सब प्राणी, सब अमीर-गरीब, छोटे-बड़े सब तेरे ही बनाये हुए पुतले हैं। संसार के बड़े से बड़े पुरुष भी तेरे ही आश्रय पर, तेरी इच्छा पर, जीवित हैं; तो मैं उन पुरुषों का आश्रय लेकर क्या करूँगा ? जब तुझे अभीष्ट होता है कि किसी कार्य में धन, जन, बुद्धि आदि की सहायता मिले तो वह कहीं न कहीं से मिलती ही है। बल्कि हम देखते हैं कि धन जन, मान आदि पाने के लिए जिन पुरुषों का हम भरोसा करते हैं, निरर्थक खुशामद करते हैं, वहाँ से हमें कुछ भी नहीं मिलता; किन्तु किसी दूसरी ही आशातीत जगह से वैसी सब सहायता मिल जाती है। अतः मैं तो अपने कार्यों के प्रारम्भ में किसी भी अन्य का भरोसा नहीं करता, मैं तो केवल तेरा ही पल्ला पकड़ना जानता हूँ, मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूं।

(वज्रिन्) हे वज्रवाले ! मैं (अपसः) कर्म के (नविष्टौ) प्रारम्भ में (अन्यत् घ ईं) अन्य किसी को भी (न आपपन) नहीं स्तुति करता (तव इत् उ) तेरी ही (स्तोमं) स्तुति करना (चिकेत) जानता हूँ।

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥

ऋ० 8.45.23, साम० उ० 1.2.7, अ० 20.22.2

हे मेरे आत्मन् ! जब तू आत्मसुधार के लिए अग्रसर होता है तो संसार की कई विरोधिनी शक्तियाँ तेरा मुकाबिला करती हैं, तुझे आगे बढ़ने से रोकना चाहती हैं। जब तू अपनी उन्नति के लिए सुधार के मार्ग का अवलम्बन करेगा तो कई अज्ञानी मूढ़ भाई उसे न समझने के कारण तेरा विरोध करेंगे, तेरी निन्दा करेंगे। जिन भाइयों के स्वार्थ में उस सुधार द्वारा धक्का लगेगा या धक्का लगने का काल्पनिक भय होगा वे 'अविष्यु' (अपनी पालना चाहने वाले) स्वार्थ-पीड़ित पुरुष तेरे मार्ग में बेशक रोड़े अटकायेंगे, चुगली करेंगे, भ्रम फैलायेंगे और तुझे नाना प्रकार के कष्ट देंगे। पर हे मेरे आत्मन् ! तू इनसे मत घबराना; मत दबना, मत नष्ट होना। तू अन्त में इन सबको अवश्य जीत लेगा। तेरा तेज अदम्य है। इसी तरह तेरे निराले कार्यों को देखकर—जिन्हें आम जनता ने अभी तक नहीं अपनाया है, ऐसे नय सुधार के कार्यों को तुझे आचरण में लाते देखकर --कुछ लोग तेरी खिल्ली उड़ायेंगे, तेरा उपहास करेंगे, हँसी-हँसी में बड़े तीक्ष्ण व्यंग्य करेंगे। पर हे मेरे मन ! तू इनसे भी कभी हतोत्साह मत होना, इनसे प्रभावित मत होना; अनुद्विग्न और प्रसन्न चित्त से इन सब को सह लेना। एक समय आयेगा जब कि ये अज्ञानी मूढ़ पुरुष भी सचाई समझ जायेंगे और ये ठट्टा करने वाले लोग तेरे अनुयायी हो जायेंगे। यह ठट्टा उड़ाना तथा मूर्खों द्वारा पीड़ा पहुँचाया जाना इस संसार में सुधार के साथ, उन्नतिशीलता के साथ, सदा से होता आया है और होता रहेगा। कुतर्क, ठट्टा, पीड़ा आदि क्रमों में से हरेक सुधार को और हरेक सुधारशील आत्मा को गुजरना ही पड़ता है। अतः तू इनसे न दबता हुआ निर्भय होकर आगे ही बढ़ता जा, अपना काम करता जा। यदि तू इन्हें अभी पूरी तरह सहन नहीं कर सकता तो अच्छा है कि तू 'ब्रह्मद्विष्' लोगों का—उन लोगों का जो ब्रह्म से (ज्ञान से या परमेश्वर से) प्रीति नहीं रखते, जो तेरे मार्ग से विपरीत मार्ग को पकड़े हुए हैं—उनका सेवन मत कर, उनकी संगति में मत रह; उनकी उपेक्षा कर, उनसे यूँ ही बात मतकर, बिना प्रयोजन उनके संपर्क में मत आ। ऐसा करने से तू अनावश्यक संघर्ष से बचेगा और तुझे अपने को दृढ़ करने का निर्बाध अवसर मिलेगा। दृढ़ हो जाने पर तो तू इन सब के मध्य में रहने वाला गुरु हो जायेगा।

[हे मेरे आत्मन् ! हे मेरे मन !] (त्वा) तुझको (मूराः) मूढ़ (अविष्यवः) अपनी पालना चाहने वाले स्वार्थ-पीड़ित लोग (मा दभन्) मत नष्ठ करें, मत दबा दें। और (उपहस्वानः) उपहास करने वाले, ठट्टा उड़ाने वाले लोग भी (मा) मत दबा दें। तू (ब्रह्मद्विषः) ज्ञान व परमेश्वर से प्रीति न रखने वाले मनुष्यों का (माकीं वनः) मत सेवन कर, मत संगति कर।

इन्द्र इत् नो महोनां दाता वाजानां नृतुः ।
महाँ अभिज्ञु आयमत् ॥

सामः उ॰ 1.2.1, ऋ॰ 8.92.3

इस संसार के जो तेजस्वी महापुरुष हजारों लाखों लोगों के नेता होकर बड़े-बड़े काम कर रहे हैं, उनमें उस तेज और महाबल को उत्पन्न करने वाले इन्द्र परमेश्वर ही हैं । इस संसार में जो नाना आन्दोलन उठते और दबते रहते हैं, कभी कोई लहर चलती है कभी कोई तथा इन आन्दोलनों और लहरों में उस समय के सब मनुष्य बलात् खिचे चले जाते हैं, यह सब खेल खिलाने वाले और हमें नाच नचाने वाले भी इन्द्र ही हैं । ये इन्द्र हम सबको अपना थोड़ा या बहुत तेज और बल दे रहे हैं और उस द्वारा नाच नचा रहे हैं । आज जो हममें महातेजस्वी है, वह कभी कुछ दिनों में सर्वथा निस्तेज हो जाता है तथा एक तुच्छ पुरुष कुछ ही दिनों में यशस्विता के शिखर पर पहुँचा देखा जाता है । यह सब उसका खेल है । आओ, हम अपने तेज व बल का सब अभिमान त्यागकर, नम्र होकर, उस महान् इन्द्र की शरण में पड़ जायें । ज़रा देखो, वह इन्द्र कितना महान् है, जो कि अकेला हम अनन्त जीवों को कठपुतली की तरह नचा रहा है, स्थावर जंगम सभी असंख्य प्रकार की सृष्टि को हिला रहा है ! वह महान् इन्द्र इस ब्रह्माण्ड को नचा रहा है तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसकी इस सृष्टि में कुछ व्यवस्था नहीं है, मनमानी या अन्धाधुन्धी है । वह हमें नाच भी पूरी व्यवस्था के साथ, अटल सत्य-नियमों के साथ नचा रहा है । इसका कारण यह है कि वह 'अभिज्ञु' है, सब के अभिप्रायों को एक दम जानता है, सर्वान्तर्यामी है, इस सब ब्रह्माण्ड की वह आत्मा है । हम सब अनन्त प्राणियों के हृदयों में आत्मा की आत्मा होकर, अन्तर्यामी होकर, वह अकेला ही बैठा हुआ अनन्त-जीवरूप अनन्त चक्रों वाले इस महायन्त्र को चला रहा है । अहो, वह इन्द्र परमेश्वर कितना महान् है ! कितना महान् है !!

(इन्द्र इत्) इन्द्र ही (नः) हमें (महोनां, वाजानां दाता) तेजों और बलों का देने वाला तथा (नृतुः) नचाने वाला वह (महान्) महान् है और (अभिज्ञु) अभिप्राय को जानने वाला, अन्तर्यामी होता हुआ (आयमत्) इस जगत् को व्यवस्था में बाँधे हुए है ।

इन्द्रो अंग महद् भयम् अभीषत् अप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ।।

ऋ० 2.41.10

हे प्यारे ! तू क्यों घबराता है ? तेरे सामने जो भय उपस्थित है, उससे बहुत बड़े भय और बहुत भारी विपत्तियाँ मनुष्य पर आ सकती हैं और आती हैं परन्तु हमारे परमेश्वर उन सब को क्षण में टाल सकते हैं और टाल देते हैं । उसके सामने, उसके मुकाबिले में आये हुए महान् से महान् भय पल भर भी नहीं ठहर सकते हैं । हे प्यारे ! तू देख कि इस संसार में एक वह इन्द्र ही स्थिर वस्तु है, वही सत्य है, सनातन, अटल, अच्युत है, कभी नष्ट न होने वाला है । शेष सब कुछ—सभी कुछ क्षणभंगुर है, विनश्वर है, अशाश्वत है और चला जाने वाला है । यही एक महासत्य है जिसे कि सिखाने के लिए संसार में चौबीसों घंटों की घटनायें हो रही हैं । हे मनुष्य ! तू इस महासत्य पर विश्वास कर और निर्भय हो जा । वास्तव में संसार के सब दुःख, क्लेश, भय, संकट टल जाने वाले हैं, नश्वर हैं क्योंकि ये नश्वर वस्तुओं द्वारा और अज्ञान द्वारा बने हैं । संसार में जो अनश्वर है, अटल है, वह तो परमेश्वर ही है । इस समय चाहे तुझे यह भय ही भय चारों तरफ नजर आता हो, पर उस अटल इन्द्र की शरण पकड़ने पर यह सब अभी जाता रहेगा जैसे कि सदा रहने वाले अटल सूर्य (इन्द्र) के सामने से नष्ट हो जाने वाले बादलों का भारी से भारी समूह जाता रहता है, छिन्न भिन्न हो जाता है, वह सदा सूर्य को घेरे नहीं रह सकता । अतः हे प्यारे ! तू अब परमेश्वर की ही शरण पकड़, जोकि स्थिर है और 'विचर्षणि' है—जोकि सदा रहने वाला है और इस सब जगत् को ठीक ठीक देखने वाला सर्वज्ञ है । यह समझ लेते ही तेरे सब भय मिट जायेंगे । इन्द्र को स्थिर और विचर्षणि जान लेना ही उसकी शरण में आ जाना है । जिसने सचमुच उसे एक मात्र नित्य और सर्वज्ञ वस्तु करके देख लिया है वह उसे छोड़कर और कहाँ अपना आश्रय टिका सकता है और जिसने उसके इस रूप को देख लिया, उसके सामने कौनसा भय ठहर सकता है ? इसलिये, प्यारे ! तू घबरा मत, तू उसकी शरण को पकड़ । यह सामने आये हुए इस छोटे से भय को ही नहीं मिटा देगा, किन्तु एक दिन आएगा जब कि यह जगदीश्वर तुझसे संसार के सबसे भारी भय को, संसार-बंध के महान् भय को, बार बार जीने मरने के महाभय को भी छुड़ाकर तुझे सदा के लिए अजर, अमर और अभय कर देगा ।

(अंग) हे प्यारे ! (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर तो (अभीषत्) सामने आये हुए (महद् भयं) बड़े भय को भी (अप चुच्यवत्) विनष्ट कर देता है । (स हि) वह ही निश्चयपूर्वक (स्थिरः) स्थिर है, अचल है, शाश्वत है और (विचर्षणि) सब जगत् को ठीक ठीक देखने वाला है ।

31 वैशाख
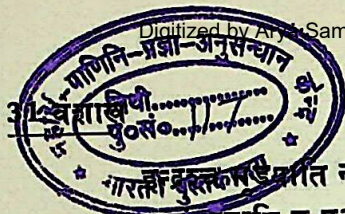
इन्द्रश्च मृडयाति नो, न नः पश्चात् अघं नशत् ।
भद्रं भवाति न पुरः ॥ ऋ० 2.41.11

भाइयो ! इसमें सन्देह नहीं है कि इन्द्र भगवान् तो हमें सदा सुख ही दे रहे हैं, निरन्तर हमारा कल्याण ही कर रहे हैं फिर भी जो असुख हमारे सामने आता है, हमें दुःख देखना पड़ता है; उसका कारण यह है कि हमने अपने पीछे पाप को लगा रखा है और पाप का परिणाम दुःख होना अटल है, अनिवार्य है। यदि हमारे पीछे पाप न लगा हो तो हमारे सामने भद्र ही भद्र आता जाये। जब हम कोई पाप करते हैं तो समझते हैं कि वह वहीं खतम हो गया। हम समझते हैं कि दो घंटे पहिले किया हुआ हमारा पाप तभी दो घंटे हुए उसके कर्म के साथ ही समाप्त हो चुका, अब उसका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं। इस तरह हम पाप करके आगे चलते जाते हैं और चाहते हैं तथा आशा करते हैं कि आगे हमारे लिए भद्र ही भद्र आता जाये पर हमें मालूम रहना चाहिये कि हमारा किया हुआ पाप चाहे हमारी आँखों के सामने नहीं आ खड़ा होता हो पर वह नष्ट भी नहीं होता है। वह तो हमारे पीछे लग जाता है और तब तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता है जब तक कि वह हमारे आगे अभद्र, अकल्याण व दुःख के रूप में आकर हमें फल नहीं भुगा लेता। अतः याद रखिये कि हमें न दिखाई देता हुआ, हमारे पीछे रहता हुआ ही हमारा पाप एक दिन हमारे आगे अभद्र व क्लेश के रूप में आता है और अवश्य आता है, जैसे कि हमारा हरेक पुण्य भी पीछे रहता हुआ, दिखाई न देता हुआ एक दिन हमारे आगे भद्र के रूप में आता है। यह हमारी कितनी मूर्खताभरी इच्छा है कि हम चाहते तो यह हैं कि हमारा सदा भला ही होये, हमारे सामने सदा सुख, स्वास्थ्य, समृद्धि आदि ही आते जायें, पर साथ ही हम पाप करना भी नहीं छोड़ना चाहते ! यह कैसे हो सकता है ? हमारे पीछे तो हमारा नाश करता हुआ हमारा पाप चल रहा होता है और हम मूर्खतापूर्ण आशा में यह प्रतीक्षा करते होते हैं कि हमारे सामने सुख आता होगा। यह असंभव है। अतः आओ, आज से हम कम से कम आगे के लिए पाप करना तो सर्वथा त्याग दें। यदि हम विशेष पुण्य नहीं कर सकते तो कम से कम इतना तो संकल्प करलें कि हम अब से एक भी पाप अपने से न होने देंगे। इतना करने से भी इन्द्र भगवान् की दया से हमारे शीघ्र ही सुदिन आ जायेंगे, पाप का पीछा छूट जाने से भद्र के लिए मार्ग साफ हो जायगा। पर यदि हम इतना भी न कर सकें तब तो इन्द्रदेव की सुख व कल्याण की वर्षा में रहते हुए भी हमारे भाग्य में तो दुःख ही दुःख रहेगा।

(इन्द्रः) परमेश्वर (च) निश्चय से (नः) हमें (मृडयाति) सुख ही देते हैं। (नः) हमारे (पश्चात्) पीछे (अघं) पाप (न नशत्) न लगे तो (नःपुरः) हमारे सामने (भद्रं) भद्र, कल्याण ही (भवाति) होये, होता रहे।

ग्रीष्म

ग्रीष्म की ऋतुचर्या

लक्षण—सर्दी और गर्मी को मिलाने वाली तथा गर्मी का प्रारम्भ करने वाली बसन्त ऋतु के समाप्त हो जाने पर जिन महीनों में गर्मी अपने पूरे रूप में पड़ने लगती है, उस ऋतु का नाम ग्रीष्म ऋतु है। साधारणतः ज्येष्ठ तथा आषाढ़ के महीने ग्रीष्म ऋतु के महीने कहलाते हैं। आषाढ़ में कुछ वर्षा का भी प्रारम्भ हो जाता है इसलिये कई वैशाख और ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म ऋतु के महीने कहते हैं।

महिमा—इन दिनों सूर्य अपनी पूरी शक्ति से संसार को तपाता है। सूर्य का ताप, प्रकाश और प्राण ग्रीष्म ऋतु में अधिक से अधिक प्राप्त होता है इसलिए सूर्य से मिलने वाली इन अमूल्य वस्तुओं का हमें इस ऋतु में अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये। सूर्य-रश्मियों के सहारे से अपने मलों और विकारों को निकाल कर निर्मलता और पवित्रता प्राप्त करनी चाहिये। यह काल आदानकाल कहलाता है। साधारणतः समझा जाता है कि इस समय हमारा बल शक्ति आदि क्षीण हो जाते हैं। यदि हम इस ऋतु का ठीक उपयोग करें तो इस द्वारा हमारा कोई भी वास्तविक बल क्षीण न होगा, किन्तु आदित्यदेव की पवित्रता कारक शोधक किरणों के उपयोग से केवल हमारे मल, दोष और विकार ही क्षीण होंगे। सूर्य भगवान् हमारे शरीरों में से केवल मलों और दोषों का आदान करके हमें पवित्र करेंगे।

गुण—यह ऋतु रुक्ष, पदार्थों में तीक्ष्णता उत्पन्न करने वाली, पित्तकारक तथा कफनाशक है। इसमें वात संचित होता है। इस ऋतु में मनुष्यों की जठराग्नि तथा बल क्षीण अवस्था में होते हैं। इस ऋतु में शरीर से पसीना आदि निकल करके शरीर की शुद्धि होती है।

पथ्यापथ्य—बसन्त ऋतु में बढ़ा हुआ कफ इस ऋतु में शान्त हो जाता है अतः इस ऋतु में स्निग्ध, शीतवीर्य, मधुर तथा सुगमता से हजम होने वाले हल्के पदार्थों का सेवन करना चाहिये। अर्थात् गेहूं, मूँग, जौ, दलिया, सत्तू, लस्सी, श्रीखंड दूध, सरदाई, रसीले फल आदि भोजनों का सेवन करना चाहिये। इसके विरुद्ध जो आर्द्रक मिर्च आदि कटु भोजन, क्षार लवण तथा खट्टे भोजन उष्ण-वीर्य होते हैं, उन्हें न्यून से न्यून मात्रा में ही उपयोग में लाना चाहिये।

इस ऋतु में शरीर और वनस्पतियों में रुक्षता और लघुता अधिक बढ़ जाने से वात बढ़ने लगता है पर काल के उष्ण होने से बहुत अधिक बढ़कर प्रकुपित नहीं होने पाता। यह आगे वर्षा ऋतु में जाकर प्रकुपित होता है। अतः इस ऋतु में अधिक

वातकारक भोजन खाना तथा गर्मी से तंग आकर बहुत शीतल पदार्थों का सेवन और शीत उपचार करना भी ठीक नहीं है। इससे वात संचित होता है जो कि वर्षा में वात-व्याधियों को उत्पन्न करेगा।

दिन में सोना यदि किसी ऋतु में लाभकर हो सकता है तो वह यह ऋतु है।

इस ऋतु में गर्मी की अत्यधिकता से नक्सीर फूटना, लू लगना आदि रोगों के हो जाने की सम्भावना रहती है, अतः रक्त-पित्त व पित्त प्रकृतिवाले पुरुषों को विशेष सावधानी रखनी चाहिये। धूप और गर्मी से अपने को बचाना चाहिये। यदि बाहिर जाना हो तो सिर और पैरों को ढककर जाना चाहिये। इस ऋतु में परिश्रम की व्यायामें न करनी चाहियें प्रत्युत हलकी व्यायामें या तैरना आदि करना ठीक होता है।

हिन्दी कहावत के अनुसार ज्येष्ठ में सफर करना तथा आषाढ़ में बेल (बिल्व) खाना निषिद्ध है।
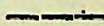
ज्येष्ठ (वृष) के लिए

प्राणदायक व्यायाम

(1)

पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खड़े हो जाइये। भुजायें फैला लीजिये। हथेलियाँ ऊपर की तरफ हों। मुट्ठी बाँधने के बाद मांसपेशियों को तान लीजिये। अब हाथों को कोहनी पर से मोड़ते हुए सिर की तरफ धीमे-धीमे लाइये जिससे कि अँगुलियों के जोड़ कंधों को छू जायें। दोनों हाथों को फिर धीमे-धीमे वापिस ले आइये। ध्यान रखिये कि इस बीच में सारे शरीर की माँसपेशियाँ तनी रहें। जब हाथ कंधे की तरफ ले जा रहे हों तो पूर्ण श्वास अन्दर भरिये और हाथों को वापिस सीधा करते समय श्वास को धीमे-धीमे बाहर निकालिये। अब शरीर को ढीला छोड़ दीजिये और इस तरह व्यायाम को कई बार कीजिये।

(2)

इस मास के लिये व्यायाम का दूसरा प्रकार निम्न है—

पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खड़े हो जाइये। दोनों हाथ नीचे की तरफ सीधे लटके हों। मांसपेशियों को तान लीजिये। अब दाहिना हाथ कोहनी से मोड़ते हुए ऊपर की तरफ ले जाइये। जब कोहनी कन्धे के साथ सम-रेखा में आ जाये तब ठहरिये। फिर हाथों को पूर्वस्थिति में वापिस ले आइये। इस बीच शरीर की मांस पेशियाँ तनी रहनी चाहियें। इसके बाद यही व्यायाम बांये हाथ से कीजिये। ऊपर की ओर हाथों को गति देते समय श्वास को अन्दर भरिये ताकि जब हाथ कंधे तक पहुंच जायें तब फेफड़े श्वास से पूरे भर चुके हों। हाथों को वापिस नीचे की ओर लाते समय श्वास को धीमे-धीमे बाहर निकालिये। अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिये और इस व्यायाम को कई बार कीजिये।

इस व्यायाम में अपना मन कंधों, भुजाओं और फेफड़ों पर एकाग्र कीजिये और उन्हें पूर्ण स्वस्थ रूप में अपने सामने चित्रित कीजिये।

ध्यान—इस व्यायाम से मेरे फेफड़ों की श्वासधारिणी शक्ति बढ़ रही है। मेरे फेफड़े दिनों दिन मजबूत हो रहे हैं। इस व्यायाम से मैं स्वस्थ हो रहा हूं और वास्तविक लाभ प्राप्त कर रहा हूं।

इन अंगों को गौणतया भाद्रपद, मार्गशीर्ष और फाल्गुन की व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुंचता है।

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः, सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितः, तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ।।

अथर्व० 19.53.1

कालरूपी महाबली घोड़ा चल रहा है । यह सब संसार को खींचे लिये जा रहा है । इस विश्व के सब प्रकार के जगतों में सात तत्व काम कर रहे हैं (सब जगतों में सात लोक, सात भूमियें हैं, सप्त प्रकार की सृष्टि हैं और प्रत्येक प्राणी में भी सात प्राण, सात ज्ञान, और सात धातु हैं) ये ही सात रस्सियां (रश्मियां) हैं जिनसे कि यह विश्व उस कालरूपी घोड़े से जुड़ा हुआ है । काल की महाशक्ति से जुड़कर इस ब्रह्माण्ड के सब भुवन, सब लोक, सब मनुष्य, सब प्राणी, सब उत्पन्न वस्तुएं चक्र की तरह घूम रही हैं । इन असंख्य भुवनों के उत्पन्न चर या अचर पदार्थों के, असंख्यात अक्षों को (व्यक्ति केन्द्रों को) गति देता हुआ, यह महाशक्ति काल अपने इन भुवन-चक्रों द्वारा इस समस्त विश्व को चला रहा है । इस तरह यह संसार न जाने कब से चलाया जा रहा है ! हम परम तुच्छ मनुष्यों का क्या कहना, असंख्यों वर्षों की आयुवाले बहुत से सौर-मंडल भी जीर्ण होकर सदा से इस अनन्त-काल में लीन होते गये हैं । परन्तु कभी जीर्ण न होता हुआ यह कालदेव आज भी अपनी उसी और उतनी ही शक्ति से इस विश्व ब्रह्माण्ड को खींचे लिये जा रहा है । इस कालदेव को मेरे कोटि कोटि प्रणाम हैं । भाइयो ! क्या तुम्हें यह कभी जीर्ण न होनेवाला, सब विश्व चलानेवाला महावीर्य अश्व दीख रहा है ? पर याद रखो कि इस महावेगवान् अश्व की असवारी वे ही ले सकते हैं जो कि ज्ञानी हैं—जो कि समय को पहचानते हैं, जिनकी दृष्टि इस सबको हिलानेवाले अनन्त कालदेव के दर्शन पाकर विशाल हो गई है, अतएव जो कि क्रान्तदर्शी हैं, जो कि विशाल भूत और भविष्य को दूर तक देख रहे हैं । जो अज्ञानी या अति चंचल मनुष्य, स्थिर ज्ञान-प्रकाश को न पाकर क्षुद्र दृष्टिवाले और काल के महत्त्व को न पहिचानने वाले हैं, वे तो कालरथ पर नहीं चढ़ सकते हैं और न चढ़ सकने के कारण वे या तो कुचले जाते हैं या कुछ दूर तक घिसटते जाकर कहीं इधर-उधर दूर जा पड़ते हैं और मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं या इसके नीचे यूं ही पड़े रहकर नष्ट हो जाते हैं । इसीलिये काल नाम मृत्यु का हो गया है परन्तु वास्तव में काल तो वह महाशक्तिवाला, महा-वेगवाला यान है, जिस पर कि सवार होकर हम बड़ी जल्दी अपना मार्ग तय करके लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं । अतः आओ, हम आज से काल के असवार बनें, अपने पल पल, क्षण क्षण का सदा सदुपयोग करें, इस महाशक्ति को कभी भी गँवायें नहीं और काल की इस विशालता को देखते हुए सदा ऊँची विशाल दृष्टि से ही समय के अनुसार अपना कर्त्तव्य निश्चय किया करें ।

(सप्तरश्मिः) सात रस्सियोंवाला (सहस्राक्षः) हजारों धुरों को चलाने वाला. (अजरः) कभी भी जीर्ण, बुड्ढा न होने वाला (भूरिरेताः) महाबली (कालः अश्वः) समय रूपी घोड़ा (वहति) चल रहा है—संसार-रथ को खींच रहा है (विश्वा भुवनानि) सब उत्पन्न वस्तुयें, सब भुवन (तस्य) उसके (चक्राः) चक्र हैं—उस द्वारा चक्रवत् घूम रहे हैं । (तं) उस घोड़े पर (विपश्चितः) ज्ञानी और (कवयः) क्रान्तदर्शी लोग ही (आरोहन्ति) असवार होते हैं ।

त्वां जना ममसत्येषु इन्द्र, सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते समीके।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्, ना सुन्वता सख्यं वष्टि शूरः ॥

ऋ० 10.42.4. अथर्व० 20.89.4

हे परमेश्वर ! केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में मनुष्य दो पक्षों में विभक्त हुए परस्पर संघर्ष कर रहे हैं और मजेदार बात यह है कि इन कलहों, युद्धों में दोनों पक्ष वाले तुम्हारे पवित्र नाम की दुहाई दे रहे हैं। प्रत्येक कहता है कि 'हमारा पक्ष सच्चा है अतः परमेश्वर हमारे साथ है, विजय हमारी निश्चित है।' परन्तु, हे मनुष्यो ! सत्य के साथ ऐसे खिलवाड़ मत करो। जरा अपने अन्दर घुसकर, अन्तर्मुख होकर अपनी सच्ची अवस्था को देखो। 'सत्य' 'परमेश्वर' आदि परम पवित्र शब्दों का यूं ही हलकेपन से उच्चारण करना ठीक नहीं है। यह पाप है। गहराई में घुसकर, गहरे पानी में पैठकर, सत्य वस्तु को तत्परता के साथ खोजो और देखो कि वह सत्य-स्वरूप इन्द्र सदा सच्चे (वास्तविक) सत्य का ही सहायक है। इस संसार में जो लोग हाथ में 'हविः' लिए खड़े हैं, आत्म-बलिदान चढ़ाने को उद्यत हैं, अपना सिर हथेली पर रखे फिरते हैं, उन त्यागी पुरुषों को ही वे परमेश्वर अपना साथी बनाते हैं, उन्हीं के वे सहायक होते हैं क्योंकि यह ही सच्चे होने की सच्ची पहिचान है। जिसको वास्तव में सत्य से प्रेम है, वह तो उस सत्य के लिए सिर पर कफन बाँध लेता है। सत्य का सच्चा पुजारी तो भंगुर शरीर की क्या, संसार भर की अन्य सब असत्य असार वस्तुओं की बलि चढ़ा करके भी सत्य की रक्षा करता है। अतः उसे ही उस शूर, महापराक्रमी, सर्वशक्तिमान् इन्द्र की मित्रता (सख्य) और सहायता प्राप्त होती है। यदि उस शूर की मित्रता चाहते हो तो 'हविष्मान्' होओ और सवन करने वाले होओ। जो 'असुन्वत्' है, जो कि यज्ञ के लिए उद्योग करता हुआ सोम का सवन नहीं करता—कठोर परिश्रम करता हुआ सारवस्तु का, सत्य का, तत्व का निष्पादन नहीं करता—ऐसे पुरुष के साथ वे इन्द्र कभी मित्रता नहीं करना चाहते। अतः हे भाइयो ! ढोंग करना छोड़ दो, बिना जाने और बिना तह में घुसे यूं ही 'सत्य', 'परमेश्वर' आदि का नाम का पुकारना छोड़ दो। सत्य कभी छिपेगा नहीं। जब तुम में सचाई होगी तो उसके लिए सब कुछ त्याग करने को अवश्य तैयार होंगे और तुम में आगे-आगे सत्य-रस को, तत्व-सार को, निकाल प्राप्त करने की उत्कट लगन भी होगी और तब तुम देखोगे कि तुम्हें वह परम सौभाग्य प्राप्त है कि तुम शूर सर्वशक्तिमान इन्द्र की मित्रता में हो, उसके 'युज्' साथी बने हुए हो।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मम सत्येषु) 'मेरा पक्ष सच्चा है, मेरा पक्ष सच्चा है' ऐसे अपने झगड़ों में, स्पर्द्धाओं में (जनाः) मनुष्य (त्वां:) तुझे (वि ह्वयन्ते) विविध प्रकार से पुकारते हैं। एवं (समीके) युद्ध में, संग्राम में (संतस्थानाः) स्थित हुए, अड़े हुए मनुष्य भी तुझे अपने-अपने पक्ष में पुकारते हैं। परन्तु (अत्र) इस संसार में, हे मनुष्यो ! (यो हविष्मान्) जो मनुष्य बलिदान के लिए तैयार है उसे ही वह इन्द्र (युजं कृणुते) अपना साथी बनाता है (शूरः) वह इन्द्र (असुन्वता) यज्ञ के लिए सवन न करने वाले अनुद्यमी पुरुष के साथ (सख्यं न वष्टि) कभी मित्रता नहीं चाहता है।

उरुं नो लोकं अनु नेषि विद्वान्, स्वर्वत् ज्योतिरभयं स्वस्ति ।
ऋष्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू, उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता ॥

ऋ॰ 6.47.8, अथर्व॰ 19. 15.4

हे परम ईश्वर ! हे सब कुछ जानने वाले ! तुम ज्ञान देकर कभी अपने विस्तीर्ण, खुले, अपार लोक में पहुंचा देते हो—उस लोक में जहाँ कि आनन्द ही आनन्द है और ऐसा आनन्द है कि उसकी प्रतिक्रिया में दुःख, संताप का जन्म नहीं हो सकता; उस ज्योतिर्मय लोक में, जहाँ प्रकाश का साम्राज्य है और जहाँ विस्तीर्ण शुभ्र प्रकाश-सागर में अज्ञान व अन्धकार की छाया तक नहीं पड़ सकती; उस लोक में जहाँ परिपूर्ण अखण्ड अभयता है, इन भय के भूतों का; जिनसे कि हम यहाँ हरदम सताये रहते हैं, जहाँ नामोनिशान नहीं है, और उस लोक में जहाँ कि कल्याण ही कल्याण बरसता है, अकल्याण की जहाँ कल्पना तक नहीं हो सकती है। हे इन्द्र ! तुम ऐसे लोक के वासी हो, हम मनुष्यों को—जीवों—को वहाँ ले जा सकते हो। हे मेरे स्वामी ! अपनी बाहुओं को फैला दो और अपनी महान् शरण में हमें ले लो। हे महान् देव ! तुम्हारे ये बाहू सब पाप ताप का ध्वंस करने वाले हैं, क्लेश कष्ट का नाश करने वाले हैं, विघ्न बाधाओं को हटाने वाले हैं। इनकी महान् शरण का आश्रय पाये हुए को दुःख, अज्ञान, भय व अकल्याण का स्पर्श भी कैसे हो सकता है ? अपने बाहू फैलाओ, करुणामय ! हमें उठाने के लिए अपने ये वात्सल्यमय बाहू बढ़ाओ जिससे कि हम तुम्हारी परम शरण में आ बैठें, वह गोद जिस में बैठ कर कोई क्लेश नहीं, भ्रम नहीं, आमय नहीं।

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वं विद्वान्) तू सर्वज्ञ (नः उरं लोकं अनुनेषि) हमें उस महान् विस्तृत लोक में पहुंचा देता है जहाँ (स्वर्वत) आनन्द (ज्योतिः) प्रकाश (अभयं) अभय और (स्वस्ति) कल्याण ही है। हे परमेश्वर ! (ते स्थविरस्य बाहू) तुझ महान् देव के बाहू (ऋष्वा) सब विघ्न बाधाओं को नाश करने वाले हैं (बृहन्ता शरण) हम उस तुम्हारी [बाहुओं की] अपार शरण में (उपस्थेयाम) बैठ जायें।

4 ज्येष्ठ

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिराततर्द, कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ।।

ऋ० 4.23.8

प्यारो ! सत्य के महात्म्य को देखो ! सत्य में वे सनातन ऐश्वर्य वा बल हैं, जिनसे शोक रुक जाता है । एक बार सत्य-ज्ञान होने पर संसार के सब शोक—घोर से घोर दुःख—खेल दीखने लगते हैं । अनादि काल से जो कोई शोक के पार हो गये हैं, उन सब को किसी न किसी तरह सत्यज्ञान की ही प्राप्ति हुई थी ।

किसी भी वर्जनीय वस्तु—से पाप से—छुटकारा चाहते हो तो सत्य का सहारा लो । सत्य को धारण करते ही मनुष्य में और कोई बुराई नहीं ठहर सकती । जितने हद तक हम में सच की कमी होती है, उतनी ही मात्रा में हमारे अन्दर बुराई को रहने की जगह होती है । जो पूरा सच्चा है, उस में बुराई ठहर ही नहीं सकती । अतः केवल इतना आग्रह रखो कि हम सत्य का ही पालन करेंगे तो इससे हमारे अन्दर की सब वर्जनीय वस्तुएं—आखिर ये वर्जनीय वस्तुएं पाप ही हैं और कुछ नहीं—स्वयं नष्ट हो जायेंगी ।

और यदि हम सच्चे हैं तो हमारी बात प्रतिद्वन्द्वी को भी जरूर सुननी पड़ती है । हमारी सच्चाई का उस पर जरूर असर होता है । यह हो ही नहीं सकता कि सचाई का असर न हो । सच्ची आवाज 'शुचमान' होती है, उसमें एक तेज होता है, अतएव यह जगाने वाली, 'बुधानः' होती है । इस तेज के सामने स्वार्थी मनुष्य को (जो कि अपनी स्वार्थ-हानि के डर से सचाई को अनसुनी करना चाहता है) अपने कानों के द्वारों को खोलना पड़ता है । सचाई ऐसी जगानेवाली शक्ति होती है कि जो अज्ञान के कारण अभी तक समझ नहीं रहा है, उसमें चेतना और जागृति पैदा कर देती है । सच्ची आवाज सीधी हृदय में जा पहुंचती हैं । जहाँ सत्य की सुनाई होना पहिले असम्भव पता लगता है, उसे भी अन्त में सत्य को मानना पड़ता है । सचमुच ही सचाई बहरे कानों को भी वेध कर घुस जाती है ।

(ऋतस्य हि) सत्य की (शुरुधः) शोकनिवारक सम्पत्तियाँ (पूर्वीः सन्ति) सनातन हैं । (ऋतस्य धीतिः) सत्य का धारण करना (वृजिनानि) पापों का, वर्जनीय वस्तुओं का (हन्ति) नाश कर देता है । (ऋतस्य) सत्य की (बुधानः) जगाने वाली और (शुचमानः) दीप्यमान (श्लोकः) आवाज (बधिरा) बहरे (आयोः) मनुष्य के (कर्णा) कानों में भी (आततर्द) जबरदस्ती पहुंच जाती है ।

5 ज्येष्ठ

पदं देवस्य नमसा व्यन्तः, श्रवस्यवः श्रवः आपन् अमृक्तम् ।
नामानि चित् दधिरे यज्ञियानि, भद्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टौ ॥

ऋ० 6.1.4.

हे देव ! हमने तुम्हारे पद के, तुम्हारे प्राप्तव्य-स्वरूप के, तुम्हारे चरणों के दर्शन पाये हैं। तुम्हें बार बार नमस्कार करते हुए, तुम्हारी स्तुति करते हुए, तुम्हार आगे झुकते हुए, भक्तिभाव से आत्म-समर्पण करते हुए ही हमें ये तुम्हारे दुर्लभ पद के दर्शन मिले हैं। यह सब तुम्हारी भक्ति की महिमा है। इसके साथ ही मेरी पुरानी यश पाने की इच्छा भी तृप्त हो गई है। तुम्हारी कृपा से ऐसा यश मिला है जो कि मृदित नहीं हो सकता है। बाहिर के मनुष्यों से मिलने वाला यश तो उनके अधीन होता है, वह मृदित होता रहता है पर तुम्हारे पद-दर्शन से जो मुझे अन्दर का यश मिला है, वह अक्षय है, उसे पाकर अब मुझे किसी बाह्य यश की आकांक्षा नहीं रही है। तेरे सेवकों को संसार में सज्जन पुरुषों द्वारा भी बहुत सा यश मिला करता है, पर वह भी तुझ द्वारा मिले इस आन्तर-यश की ही छाया होती है। हे अग्नि-देव ! तेरी भक्ति ने मुझे उबार दिया है। तेरी भक्ति का तो इतना प्रताप है कि यदि कोई तेरे यज्ञार्ह (यज्ञ में उच्चारणीय) पवित्र पुण्य नामों को ही केवल धारण करे, उन्हें वाणी से बोलता हुआ भक्ति से हृदय में गुंजाता रहे, तो इस नामजपन, नामधारण से ही उसका अन्तःकरण इतना शुद्ध हो जायगा कि उस पर तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि हो जायगी। तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि में रहता हुआ वह सुख से आगे बढ़ता जायगा, उसके व्याधि[1], स्त्यान आदि विघ्न हरण होते जायेंगे, वह निर्विघ्न सुख से उन्नत होता जायगा।

तो क्या, हे अग्ने ! क्या हम तेरे पवित्र नामों को भी धारण न कर सकेंगे? यह तो कम से कम है जो कि हमें तुम्हारी तरफ पहुंचने के लिए करना चाहिये। हमें तो तुम्हारे प्रेम के मार्ग में अन्त तक जाना है और एक दिन यह कह सकने योग्य होना है 'हमने तेरे पद के दर्शन पा लिये हैं और अनश्वर यश के भागी हो गये हैं।'

(श्रवस्यवः) यश की इच्छा वाले हमने (देवस्य) तुझ देव के (पदं) प्राप्तव्य स्वरूप को (नमसा व्यन्तः) नमस्कार द्वारा देखते हुए (अमृक्तम्) न मृदित होने वाले (श्रवः) यश को (आपन्) प्राप्त किया है जो लोग (यज्ञियानि) यज्ञार्ह (नामानि चित) नामों को ही (दधिरे) धारण करते हैं, वे भी (ते भद्रायां सन्दृष्टौ) तेरी कल्याणमयी दृष्टि में (रणयन्त) रहते हुए सुख पाते हैं।

1—प्रणवजप से व्याधि स्त्यान आदि 9 विघ्न हट जाते हैं। देखो योग-दर्शन 1—29, 30

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां, सुहस्तो गोधुक् उत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नः, अभीद्धो घर्मस्तदु षु प्रवोचम् ॥

ऋ० 1. 164. 26. अथर्व० 7. 73. 7

ग्रीष्म काल प्रचण्डता से तप रहा है। वर्षा के बिना सब वृक्ष वनस्पतियाँ भी सूखी जा रही हैं, इसलिए मैं इस मेघरूपी धेनु (माध्यमिक वाणी) को पुकार रहा हूं। यह आकाश मे फिरती हुई खूब उदक दे सकने वाली मेघ-धेनु (माध्यमिक वाणी) आये और अन्तरिक्षनिवासी मध्यमदेव (इन्द्र) एक कुशल दोहने वाले की तरह, इसे दुह लेवे। ओह ! यह सब परमात्मा की इच्छा के बिना कैसे हो सकता है ? भगवान् की प्रेरणा के बिना तो संसार में एक भी हरकत नहीं हो सकती है। अतः मैं उनकी करुणा का भिक्षुक हूं। उनकी करुणामय प्रेरणा से यह धेनु हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ रस को देवे, वर्षारूपी दूध पिला कर इस झुलसी हुई भूमि को तृप्त कर दे। अरे ! यह पृथिवी रूपी घर्म[1] तप रहा है, जला जा रहा है, इसीलिए मैं तुम्हें पुकार रहा हूं। परितप्त व्याकुल संसार वर्षा की माँग मचा रहा है।

मैं बहुत तप चुका हूं, बड़े बड़े क्लेश उठा चुका हूँ, अब ज्ञान-पिपासा ने मुझे बिल्कुल व्याकुल कर दिया है। इसलिए, हे खूब ज्ञानदुग्धामृत दे सकनेवाली सरस्वती देवीरूपी धेनु ! तुम आओ, हृदयान्तरिक्ष में रहनेवाला देव—जो कुशल दोहने वाला मनोदेव है—वह तुम्हें दुह देवे। सर्वान्तर्यामी प्रभु की ऐसी दया होए कि मेरे लिए यह सरस्वती-धेनु अब तो उस ज्ञान-दुग्ध को दुह देवे जो कि ससार में सर्वोत्तम रस है। मुझे तप करते हुए बहुत काल हो गया है, गर्मी के बाद वर्षा आया ही करती है; तो अब तो मेरे लिए ज्ञानामृतपान करने का समय आ गया होगा। मैं इसीलिए पुकार रहा हूं, क्योंकि मुझ में ज्ञान-पिपासा की अग्नि प्रचण्डता से धधक रही है। इस समय ज्ञानामृत न मिला तो मैं जल जाऊंगा, ज्ञानामृत मिल गया तो मैं इस सबको इस समय हजम कर सकता हूं। मेरी ज्ञान-पिपासा का घर्म तुम्हें पुकार रहा है।

(एतां सुदुघां धेनुं) इस अच्छी दुही जाने वाली धेनु को मैं (उपह्वये) बुलाता हूं (उत एनां सुहस्तः गोधुक् दोहत्) और अच्छा कुशल दोहनेवाला इस धेनु को दुहे। (सविता नः श्रेष्ठं सवं साविषत्) प्रेरक परमात्मा इस श्रेष्ठ रस को हमारे लिये प्रेरित करे। (घर्मः अभीद्धः तत् उ सु प्रवोचम्) घर्म खूब तप रहा है इसीलिये यह उचित विनती कर रहा हूं।

1—घर्म=यज्ञ का चूल्हा।

अप्रतीतो जयति सं धनानि, प्रतिजन्यानि उत या सजन्या ।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति, ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः ।।

ऋ० 5.50.9

पीछे कदम न हटाने वाला मनुष्य ही विजय को प्राप्त करता है। ऐसा ही मनुष्य विजयी होकर ऐश्वर्यों को पाता है। प्रतिजन से सम्बन्ध रखनेवाले वैयक्तिक ऐश्वर्य तथा जन समूह से सम्बन्ध रखनेवाले सामाजिक व राष्ट्रीय ऐश्वर्य उन्हीं जनों या जनसमूहों को प्राप्त होते हैं जिनमें कि चिरकाल तक लगातार उद्योग करते जाने की शक्ति होती है, जिनमें लगन, धैर्य होता है, जिनमें अड़े रहने, डटे रहने का गुण होता है, जो कि कभी कदम पीछे हटाना नहीं जानते। जिनमें यह गुण नहीं है, ऐसे व्यक्ति या राष्ट्र के लिए संसार में कोई ऐश्वर्य नहीं है। अतः हे व्यक्तियो! तुम धैर्य को सीखो; हे राष्ट्रो ! तुम मिलकर अन्त तक डटे रहना सीखो।

पर इसका दूसरा पार्श्व भी है। डटे रहना, अन्याय के विरुद्ध और न्याय के लिए ही चाहिये परन्तु प्रायः दुनिया के सब सत्ताधारी मनुष्य स्वार्थवश हो अन्याय के लिए भी डटे रहते हैं। ऐसे डटे रहने वालों का तो—वे चाहे कितने ही बड़े शक्तिशाली हों—विनाश ही होता है। जगत् के संचालक देव लोग तो उसी सत्ताधारी राजा की रक्षा करते हैं जो कि न्याय के लिए झुकने वाला होता है, जो कि सत्य उपदेश देने वाले की बात को नम्रता से सुनता है, अड़ता नहीं है, अतएव जो कि ऐसे संरक्षण चाहने वाले सच्चे ब्राह्मणों की सदा पूजा किया करता है। सत्ताधारी लोग यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो उन्हें चाहिये कि वे दुनियावी कोई सत्ता न रखने वाले, सबका भला और रक्षण चाहने वाले, नम्र, ज्ञानी पुरुष उन्हें आकर जो कुछ सुझावें, उसे वे सत्कार-पूर्वक सुनें और उनकी शुभ सलाह को वे तुरन्त पूरा करें।

जरूरत इस बात की है कि निर्बल और पद-दलित लोग सत्य पर अड़ना सीखें और सत्ताधारी लोग नमना सीखें। और उससे भी अधिक जरूरत यह है कि प्रत्येक मनुष्य सदा देखे कि वह कहीं बलवान्, अन्यायी के सामने झुक तो नहीं जाता है, कदम पीछे तो नहीं हटा लेता और असत्ताधारी सच्चे पुरुष के सामने अड़ा तो नहीं रहता।

(अ+प्रति+इतः) पीछे कदम न हटाने वाला ही (धनानि) ऐश्वर्यों को (सं जयति) जीतता है, वे ऐश्वर्य चाहे (प्रति-जन्यानि) वैयक्तिक होयें अथवा (या सजन्या) वे सामूहिक होयें। और (देवाः) देव (तं) उस सत्ताधारी राजा की (अवन्ति) रक्षा करते हैं (यः राजा, जो कि राजा (अवस्यवे) रक्षा चाहने वाले (ब्राह्मणे) सच्चे ब्राह्मणों की (वरिवः कृणोति) पूजा किया करता है, उनके आगे झुकता है।

8 ज्येष्ठ

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः ।।

ऋ० 10.18.2, अथर्व० 12.2.30

संसार के हरेक प्राणी पर मृत्यु ने पाँव रखा हुआ है। जिस दिन उसकी इच्छा होती है, उस दिन वह उस पांव को दबाकर प्राणी को कुचल डालता है, समाप्त कर देता है। पर, हे नरतनधारी मनुष्यो ! तुम में वह शक्ति है जिससे कि तुम मृत्यु के उस पैर को ढकेल कर अमर बन सकते हो। इस संसार में तुम मरे हुओं की तरह न रहकर, न सड़कर, अमर पुत्रों की तरह दृढ़ता से चलो; शुद्ध, पूत और यज्ञिय बन जाओ। ऐसे बनने से तुम में वह आत्म-शक्ति जग जायगी कि तुम उस मृत्यु के पैर को ढकेल फेंकोगे। ठीक आहार, व्यायाम, तप आदि द्वारा शरीर को शुद्ध रखो और अन्दर सत्वशुद्धि, सौमनस्य आदि लाकर अन्तःकरण को पवित्र रखो; और फिर इस शरीर और मन से यज्ञिय कर्म ही करते जाओ; इससे तुम निस्संदेह अमर निकल आओगे। यह सच है कि यज्ञिय जीवन से मृत्यु मारी जाती है, तब मनुष्य की आयु सौ वर्ष तक चलने वाला यज्ञ हो जाता है, तब वह मनुष्य पूर्ण सौ वर्ष की दीर्घ विस्तृत आयु को यज्ञरूप में धारण करता है। हम मरे हुए मनुष्य तो आयु को 'धारण' नहीं कर रहे हैं किन्तु आयु के एक बोझ को जैसे तैसे ढो रहे हैं। जब शरीर को आत्मा धारे हुए होता है तो आत्मा शरीर को पूर्ण सौ वर्ष तक स्वस्थ चलने की—जीवन-यज्ञ को सौ वर्ष तक अखंडित चलने की—आज्ञा देता है और इस जीवन में प्रजा को सृजने द्वारा तथा धन के बढ़ाने द्वारा अपनी विकास की इच्छा को परितृप्त करके यज्ञ को पूर्ण करता है। आत्मशक्ति का प्रकाश करने के लिए ही आत्मा शरीर को धारण करता है। अतः शरीर पाकर इस जगत् में कुछ न कुछ उपयोगी वस्तु को प्रजनन करना, सृजन (Create) करना तथा जगत् के सच्चे ऐश्वर्य को (धन को) बढ़ा जाना आवश्यक है। संसार में आयी सब महान् आत्मायें इस संसार में कुछ न कुछ जगत् हितकारी वस्तु को सृजन करके तथा जगत् में किसी उच्च से उच्च ऐश्वर्य को बढ़ाकर जाती हैं। हे मनुष्यो ! उठो, मृत्युमय जीवन छोड़ो, शुद्ध पूत और यज्ञिय बनो और मृत्यु के पैर को परे हटाकर अपने अमरत्व की घोषणा कर दो।

हे मनुष्य ! (यदा) जब तुम (मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्यु के पैर को ढकेलते हुए (ऐत) चलोगे, तो (द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः) तुम दीर्घ विस्तृत आयु को धारण करने वाले तथा (प्रजया धनेन आप्यायमानाः) प्रजा और धन से परितृप्त होओगे। इसके लिए (शुद्धाः) बाहिर से शुद्ध (पूताः) अन्दर से पवित्र और (यज्ञियासः) यज्ञिय जीवन वाले (भवत) हो जाओ।

9 ज्येष्ठ

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तत् विदुः त इमे समासते ॥

ऋ० 1.164.39, अथर्व० 9.10.18

हे मनुष्य ! तू वेद की ऋचायें पढ़कर क्या करेगा, यदि तूने सब ऋचाओं की एक आधारभूत वस्तु को नहीं जाना है ? उसके बिना जाने वेद पढ़ना निष्फल है, समय खोना है। वेद उसे ही पढ़ने चाहियें जिसे कि वेदमंत्रों के एक प्रतिपाद्य विषय उस अक्षरतत्व को जानने की इच्छा है जो कि 'परमव्योम' है, एक परम आकाश है। वह इस प्रसिद्ध आकाश से भी उत्कृष्ट है, वह इतना आकाश है कि यह सब विविध ब्रह्माण्ड उसमें ओतप्रोत हैं। इसीलिये वह 'परमव्योम' कहाता है। उसे ज्ञानी लोग 'ओं' इस अक्षर से भी पुकारते हैं। वह विविध प्रकार से सबकी रक्षा करने वाला (व्योम), अविनाशी (अक्षर) तत्व है। सब देवता, सब संसार, उस एक में समाया हुआ है। प्रत्येक वेदमंत्र किसी न किसी देवता की स्तुति करता है परन्तु ये वेद प्रतिपाद्य सबके सब देवता उस ही एक देव में ठहरे हुए हैं। इसलिये यदि उस एक देव को जानने की, उसे पाने की इच्छा है, तभी वेदमंत्रों को पढ़ो। वेदमंत्रों को इसलिये मत पढ़ो कि उनमें से किन्हीं अपने अभीष्ट विचारों को निकालेंगे या उनके ऐसे अर्थ करेंगे जिनसे कुछ भलाई सिद्ध होगी। वेद का ऐसा पढ़ना तो निष्फल ही नहीं, किन्तु पाप है। हमें वेद-मन्त्रों के पास इस पवित्र भाव से पहुंचना चाहिये कि ये हमें उस एक देव के पवित्र चरणों में पहुंचाने के साधन होंगे। प्रत्येक वेदमन्त्र में हमें उस अक्षर प्रभु का प्रतिबिम्ब दिखाई देना चाहिये। इसलिए वे पुरुष जो उस तत्व को जानते हैं और जो यह जानते हैं कि सब ऋचाएं उस अक्षर में हैं, ऐसे ज्ञानी लोग समासीन हो जाते हैं, ठीक तरह स्थित हो जाते हैं; और यह अवस्था केवल ऐसे ही ज्ञानी लोगों को प्राप्त होती है। ऐसे ही ज्ञानी लोगों को शान्ति-प्राप्ति होती है, सब संशयों से रहित स्वस्थता और आनन्द की एक अवस्था प्राप्त हो जाती है। वेदमन्त्रों के ध्यान से वे लोग समाहित (समाधिस्थ) हो जाते हैं, उस अक्षर में लीन होने का परमानन्द पाते हैं। वहाँ ऋचाओं का पढ़ना सफल हो जाता है।

(ऋचः) ऋचायें, वेदमन्त्र (अक्षरे) उस अक्षर अविनाशी (परमेव्योमन्) परम आकाश में आश्रित हैं (यस्मिन्) जिसमें (विश्वेदेवाः) सब के सब देव (अधि निषेदुः) ठहरे हुए हैं। इसलिये (यः) जो मनुष्य (तत्) उस अक्षर को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) ऋचायें, वेदमन्त्र पढ़ करके (किं करिष्यति) क्या करेगा और (ये) जो (तत् विदुः) उसे जानते हैं, (ते इत् इमे) वे ही ज्ञानी लोग (समासते) समासीन होते हैं—स्वस्थ, स्वरूपस्थ, आत्मानन्द में स्थित होते हैं।

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या, न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा ।
पाक्याचित् वसवो धीर्याचिद्, युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥

ऋ० 2.27.11

आजकल मैं एक अँधेरी रात्रि में घिरा हुआ हूं । मेरे मानसिक नेत्रों के सामने एक ऐसा दुर्भेद्य काला पर्दा आ गया है जिसने कि मेरा सम्पूर्ण प्रकाश रोक लिया है। अपनी वर्तमान अध्यात्मिक समस्या को हल करने में ही मैं दिन रात डूबा हुआ हूं, कहीं से भी कोई प्रकाश की किरण मिलती नहीं दीखती । चारों तरफ अँधेरा ही अँधेरा है—घोर गुप्प अँधेरा है । दाँये बाँयें कहीं कुछ नजर नहीं आता, आगे या पीछे कहीं भी इस अन्धकारमय उलझन मे वाहिर निकलने का रास्ता नहीं सूझता । क्या करूं ? यह भयंकर रात्रि कभी समाप्त भी होगी या नहीं ? इस अन्धे जीवन से तो मरना भला है । खाता पीता, चलता फिरता हुआ भी मैं आज मुर्दा हूं । चौबीसों घण्टे विचारने में ग्रस्त हूं, पागल हुआ हुआ हूं, प्रकाश पाने के लिए निरन्तर घोर युद्ध में लगा हुआ हूं, पर इस काली रात्रि का कहीं अन्त होता नहीं दिखाई देता है । हे देवो ! भगवान् के दिव्य प्रकाश का संदेश लाने वाले, हे उसके 'आदित्य' नामक दूतो ! मैं तुम्हें याद कर रहा हूं, तुम्हारी राह देख रहा हूं । तुम मुझे इस रात्रि से शीघ्र पार ले चलो, नहीं तो अब मेरा जीना कठिन हो रहा है । सुना है कि बुद्ध, ईसा, दयानन्द आदि अनेक महात्मा अपना दिव्य प्रकाश पाने से पहले ऐसी अंधेरी रात्रियों में से गुजरे थे । पर वे तो जन्म-जन्मान्तरों के पके हुए थे और बड़े धीर थे । मैं विल्कुल कच्चा, अपरिपक्व ज्ञान वाला और वड़ा दुर्बल, अधीर हूं । मुझे इससे पार कौन ले जायेगा ? किसी तरह होये, हे वासक आदित्यो ! तुम मुझे भी बचा लो, अन्धकार से निकाल मुझे मरने से बचा लो । मैं चाहे जितना अज्ञानी, कच्चा और धैर्यरहित होऊं, पर यदि तुम मुझे ले चलोगे—मेरे नायक बन जाओगे—तो मैं निस्संदेह अन्धकार को समाप्त कर प्रकाश को पा जाऊंगा और तब इस महाभय से पार हो जाऊंगा । मेरी यह भय की अवस्था उस ज्योति को पाकर ही मिटेगी, वह अभय ज्योति ! वह अभय ज्योति ! !

(न दक्षिणा विचिकिते) न दायीं तरफ कुछ दिखाई देता है (न सव्या) और न वायीं तरफ (न) तो (आदित्याः) हे आदित्य देवो ! (प्राचीनं) सामने ही कुछ दिखाई देता है (न उत पश्चा) और न कुछ पीछे । इसलिये (पाक्याचित्) मैं चाहे कितना अपरिपक्व कच्चा होऊं और (धीर्याचित्) चाहे कितना धैर्यरहित दीन होऊं (वसवः) हे वासक आदित्यो ! (युष्मानीतः) किसी तरह तुम्हारे द्वारा ले जाया गया मैं (अभयं ज्योतिः) भय-रहित प्रकाश को (अश्याम्) प्राप्त हो जाऊं ।

न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥

ऋ० 10.82.7, यजु० 17.31

हे मनुष्यो ! तुम उसे नहीं जानते जिसने कि ये सब भवन बनाये हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है ! तुम्हारा वह पिता है, पर तुम अपने पिता से जुदा (अन्यत्) हो गये हो, तुम्हारा उससे बहुत फर्क पड़ गया है। ओह ! कितना भारी अन्तर हो गया है ! मनुष्य का तो उसके प्रभु के साथ अन्तर नहीं होना चाहिये। वह प्रभु तो हम मनुष्यों की आत्मा की भी आत्मा है। उससे अधिक निकटतम वस्तु तो हमसे और कोई है ही नहीं, हो ही नहीं सकती। सचमुच वे परम-आत्मा हमारी आत्मा में भी व्यापक हैं। उनसे निकट हमारे और कोई नहीं है। फिर वे हमसे दूर क्यों हैं ? इसका कारण यह है कि हमारे और उनके बीच में प्रकृति का परदा आ गया है। हम दो प्रकार के परदों से ढके हुए हैं, जिससे कि वह इतना निकटस्थ भी हमसे इतना दूर हो गया है। एक प्रकार के (तमोगुण-बहुल) लोग तो 'नीहार' अज्ञान से ढके हुए हैं, जिसकी धुंध में इतने पास में भी उन्हें नहीं देख पाते; दूसरे (रजोगुण-बहुल) लोगों ने 'जल्पि' से, विद्या के शब्दाडम्बर से, पढ़ी लिखी मूर्खता से, निरर्थक जल्पना के परदे से अपने आप को ढक लिया है। ये दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी-अपनी दिशा में इतनी दूर बढ़ते गये हैं कि प्रभु से दिनों दिन दूर होते गये हैं। नीहारावृत लोग तो संसार में 'असुतृप्' होकर विचर रहे हैं। वे खाते पीते मौज करते हुए निरन्तर अपने प्राणों के तर्पण करने में ही लगे हुए हैं। कामनाओं, इच्छाओं का निवास मनुष्य के सूक्ष्म प्राण में ही है। ये ज्यों-ज्यों अपनी बढ़ती जाती हुई अनगिनत कामनाओं को तृप्त कर अपनी इन कामनाओं को पुष्ट करते जाते हैं, त्यों त्यों ये प्रभु से दूर होते जाते हैं। इसी तरह दूसरे जल्पावृत 'लोग' उक्थशास् होते हैं अर्थात् संसार में बड़े बड़े शास्त्र पढ़कर, वादविवाद वितण्डा में चतुर होकर, दूसरों को जोरदार व्याख्यान देते फिरते हैं, पर अपने आपको नहीं पहचानते। ये जितने भारी वक्ता, लेखक और शास्त्रार्थकर्त्ता होते जाते हैं, उतने ही ये बाह्य शब्द जाल में ऐसे उलझते जाते हैं कि अन्दर के देखने के अयोग्य होते जाते हैं, अतः अन्दर के आत्मस्थ प्रभु से दूर होते जाते हैं।

इसलिये आओ, हम लौटें। अपने अन्दर की तरफ लौटें और अपने उस आत्मा के आत्मा को पा लेवें जिसके साथ हमें निरन्तर जुड़ा रहना चाहिये।

हे मनुष्यो ! (तं न विदाथ) तुम उसे नहीं जानते (य इमा जजान) जिसने कि इन सब (भुवनों) को बनाया है। (अन्यत्) तुम अन्य प्रकार के हो गये हो और (युष्माकं अन्तरं बभूव) तुम्हारा उससे बहुत फर्क हो गया है (नीहारेण) अज्ञान के कोहरे से (प्रावृता) ढके हुए और (जल्प्या च) अनृत और निरर्थक शब्दजाल से ढके हुए हम मनुष्य (असतृपः) प्राणतृप्ति में लगे हुए होकर या (उक्थशासः) आडंबर वाले बहुभाषी होकर (चरन्ति) भटकते हैं।

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं, प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तम् णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्धि अस्मान्निधयेव बद्धान् ॥

ऋ० 10.73.11, सा० पू० 4.1.3.7

हमारे शरीर में पाँच इन्द्रियाँ रती हैं। ये पक्षियों की तरह बाहिर उड़ती फिरती हैं। ये ऋषि इन्द्रियाँ हैं, ज्ञान लाने वाली ज्ञानेद्रियाँ हैं। इन्हें अपने रूप रसादि विषयों से संगमन करना बड़ा प्रिय है। इनका उड़ना (पतन करना) बड़ा सुन्दर है। बाहिर से बड़े सुन्दर सुन्दर रूपों को, रसों को, गन्धों को ये कैसी विलक्षणता से ले आती हैं! इनमें क्या ही अद्भुत गुण हैं! आँख खोलो, तो सब विविध जगत् दीखने लगता है, आँख वन्द करने पर कुछ नहीं। आँख में क्या विलक्षण शक्ति है! इसी तरह कान को देखो, जीभ को देखो इनमें क्या विचित्र जादू है कि वे बड़े ही आनन्ददायक अनुभूतियों (Sensations) को पैदा करते हैं।

पर एक समय आता है जब ये इतनी अद्भुत इन्द्रियाँ हमारी ज्ञानपिपासा को तृप्त नहीं कर सकतीं। ये बाहिर से जो प्रकाश लाती हैं, वह सब तुच्छ लगने लगता है। यह तब होता है जबकि छठी इन्द्रिय (मन) द्वारा अन्दर के प्रकाश की तरफ हमारा ध्यान जाता है, प्रत्याहार शुरू होता है और इन्द्रियों का उड़ना वन्द हो जाता है। सब इन्द्रियाँ मन के प्रकाश के मुकाबिले में बैठकर अपने अन्धकार को और अपनी परिमितता के बन्धन को अनुभव करती हैं। ओह! इन्द्रियाँ कितना थोड़ा ज्ञान दे सकती हैं और वह ज्ञान भी कितना बंधा हुआ है? अन्दर बाहिर की थोड़ी सी बाधा अतिसूक्ष्म को नहीं देख सकती, ओट में पार नहीं देख सकती। यह अन्धेरा और यह बन्धन तब अनुभव होता है जबकि मनुष्य को अन्दर के महान्, सब कुछ जान सकने वाले प्रकाश का पता लगता है? यह इन्द्र का, आत्मा का प्रकाश है। इस प्रकाश-पिपासा से व्याकुल होकर इन्द्रियाँ आत्मा से प्रकाश पाने के लिए गिड़गिड़ाने लगती हैं, प्रार्थना करने लगती हैं कि "हमारे अन्धकार का पर्दा उठा दो; हमारी आँखें प्रकाश से भर दो; हम अन्धे हैं हमें आँखें दे दो, हम अपने अपने जरा में क्षेत्र में बंधी पड़ी हैं हमें देशकालाव्यवहित दर्शन की शक्ति दे दो, हमारे बन्धन काट दो, हम जिस देश और जिस काल में जिस वस्तु को देखना चाहें तुम्हारे इस प्रकाश में (प्रज्ञालोक[1] में) देख सकें।"

इन्द्रियाँ अपने शक्ति-स्रोत इन्द्र की शरण में न जायें तो और कहाँ जायें?

वे (सुपर्णाः) शोभनपतनशील (वयः) पक्षी (प्रियमेधाः) जिन्हें मेध [संगमन] प्रिय है और (ऋषयः) जो ज्ञान लाने वाले हैं (इन्द्र) इन्द्र के पास (नाधमानाः) यह प्रार्थना करते हुए (उपसेदुः) आ बैठे हैं कि "(ध्वान्त) हमारे अन्धकार को (अप ऊर्णुहि) निवारण कर दो; (चक्षुः पूर्धि) हमारी आँखें भर दो या हमें आँखें दे दो और हम जो (निधया इव) मानों पाशों से (बद्धान) वंधे पड़े हैं (अस्मान्) हमें (मुमुग्धि) छुड़ा दो।"

---

1 तजयात् प्रज्ञालोकः। योगदर्शन 3-5।

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैः अंगैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः ।।

ऋ० 1.89.8, यजु० 25.31, साम० उ० 9.3.9

मन, वाणी और इन्द्रियों के अगोचर भगवान् तो हमें दीखते नहीं हैं । देवो ! उनके हाथों के रूप में हम तुम्हें ही देख पाते हैं । वे भगवान् तुम्हारे द्वारा ही इस सब ब्रह्माण्ड को चला रहे हैं । इसलिये, हे देवो ! हम तुम्हें ही संबोधन करते हैं । इस संसार में जन्म पाकर जब होश आई है तो हम देखते हैं कि हम सबने एक दिन मरना है, एक निश्चित आयु तक ही हमने जीना है । तुमने मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष की रखी है । हे 'यजत्रा' ! हे यजनीय देवो ! हमें तुम्हारा यजन करते हुए ही 100, 116 या 120 वर्ष तक जीवित रहना चाहिये । इसके लिए, हे देवो ! हम अपने कानो से सदा भद्र का ही श्रवण करें; जो यजनीय है, जो उचित है, जो कल्याणकारी है, केवल उसे ही सुनें । आँखों से, जो कुछ यजनीय है केवल उसे ही देखें । अभद्रवस्तु, बुरी, अनुचित वस्तु है हमारे कान आँख कभी न जायें । हे देवो ! यही तुम्हारा यजन है, यही तुम द्वारा द्वारा उस भगवान् का यजन है । हे देवो ! तुम्हारे अंशों से हमारे शरीर की एक एक इन्द्रिय और एक एक अंग उत्पन्न हुए हैं । जिस जिस देव से हमारा जो जो इन्द्रिय व अंग बना है, उस उस अंग द्वारा सदा भद्र का सेवन करना ही उस उस देव का यजन करना है । हे देवो ! इसी तरह हम अपनी एक एक इन्द्रिय से तुम्हारा यजन करते रहगे । हमारे हाथ और पैर सदा भद्र का ही सेवन करने के कारण पूर्ण आयु तक चलने योग्य, दृढ़ और बलवान् होंगे। इन दृढ़ हाथों और पैरों से हम जो कुछ ग्रहण करते हैं, जो कुछ चलते हैं, वह सब तुम द्वारा प्रभु की स्तुति करना है । एवं हम अपने एक एक बलिष्ठ स्वस्थ अंग से जो भी कुछ भद्र चेष्टा व हरकत करते हैं, हे देवो ! वह सब प्रभु-यजन है । हम चाहते हैं कि इसी तरह हम अपने एक एक अंग से सदा भद्र ही करते हुए तुम्हारी दी हुई यज्ञिय आयु को पूर्ण कर दें ।

अहा ! अपने स्वस्थ, बलिष्ठ, पवित्र अंगों द्वारा सदा भद्र का ही सेवन करने वाले के लिए यह जीवन कैसा एक पवित्र यज्ञ बन जाता है ।

(देवाः) हे देवो ! हम (कर्णेभिः) कानों से (भद्रं) भद्र का ही (श्रृणुयाम) श्रवण करें । (यजत्राः) हे यजनीय देवो (अक्षभिः) हम आँखों से (भद्रं पश्येम) भद्र को ही देखें । (स्थिरैः अंगैः) अपने मजबूत अंगों से, (तनूभिः) शरीरों से (तुष्टुवांसः) सदा स्तुति पूजन करते हुए ही (यत् देवहितं आयुः) जो हमारी देवों द्वारा स्थापित आयु है, उसे (व्यशेम) प्राप्त कर लें ।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां, सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्य ॥

ऋ० 5.60.5

संसार भर के सब मनुष्य (मरुत) परस्पर भाई-भाई हैं। मनुष्यमात्र एक ही माता पिता के पुत्र हैं। संसार के किसी देश के एक कोने में रहने वाले मनुष्य के उसी तरह पिता 'रुद्र' परमेश्वर है और माता 'पृश्नि' प्रकृति है जैसे कि किसी दूसरे कोने के रहने वाले के। मनुष्य की दृष्टि से इनमें न कोई बड़ा है और न छोटा है। काले गोरे, हबशी और सभ्य, पूँजीपति और श्रमी, पौर्वात्य और पाश्चात्य, ब्राह्मण और अछूत, हिन्दू और मुसलमान, जापानी या अमेरिकन, अंग्रेज या हिन्दुस्तानी, नागरिक व देहाती सबके सब एक समान परस्पर मनुष्य भाई हैं। इनमें ऊँच नीच मानना अज्ञान है। मनुष्य की दृष्टि से छोटा बड़ा मानना अनुचित है। संसार भर के मनुष्यों को 'मरुत् देवों' की तरह, उत्तम कल्याण के लिए मिल करके यत्न करना चाहिये, मिल करके संसार में मनुष्यता की उन्नति करनी चाहिये। जब मनुष्य मनुष्य आपस में घृणा करते हैं, भिन्न भिन्न देश के वासी होने से या भिन्न भिन्न धर्माव-लम्बी होने से लड़ते हैं, एक दूसरे का तोपों, बन्दूकों और जहरीली गैसों से घात करते हैं, छोटे बड़े का अभिमान कर एक दूसरे पर अत्याचार करते हैं, तब वे अपने एक समान पिता माता को भूल जाते हैं। क्या अंग्रेज भाइयों को पैदा करने वाला प्रभु और है और भारतवासियों का और? वह एक ही रुद्र हम सब मरुतों का पिता है। वह कभी बुड्ढा न होने वाला, कभी न मरनेवाला पिता है। वह हम सबके लिए कल्याण-कर्म करने वाला पिता है। और हम सबकी माता यह प्रकृति है जोकि हमारे लिए उत्तम ऐश्वर्यों का दूध प्रदान कर रही है और हमें सब सुख पहुँचा रही है। आओ! हम इन सब झूठे भेदभावों को भूलकर—काला गोरा, पूँजीपति श्रमी, छूत अछूत, इस देशवासी और उस देशवासी इन सब भेदों को भूलकर—हम सब मनुष्य, सब के सब मनुष्य, मिलकर मनुष्यमात्र के हित का ध्यान करें, एक दूसरे के हित का ध्यान करें। अपने शोभन कर्म करने वाले अमर पिता के आशीर्वाद को पाते हुए और करुणामयी सुखदात्री माता द्वारा अपनी सब कामनायें पूरी करते हुए अपनी उन्नति का साधन करें और भाई भाई की तरह एक दूसरे की सहायता करते हुए मनुष्यता के उद्देश्य की पूर्ति में बढ़ते जायें।

(अज्येष्ठासः) जिनमें कोई बड़ा नहीं है और (अकनिष्ठासः) जिनमें कोई छोटा नहीं है ऐसे (एते) ये सब (भ्रातरः) परस्पर भाई (सौभगाय सं वावृधुः) उत्तम ऐश्वर्य के लिए मिलकर उन्नति करने वाले हैं। (एषां) इन सबका (युवा पिता) सदा युवा पिता (स्वपा रुद्रः) कल्याण-कर्म करने वाला रुद्र परमेश्वर है और (मरुद्भ्यः) इन मरुतों—मनुष्यों—के लिए (सुदिना)* सुख देने वाली (सुदुघा) उत्तम दूध देने वाली माता (पृश्निः) प्रकृति है।

* सुदिन इति सुखनामसु पठितम्।

का त उपेति मनसो वराय, भुवदग्ने शं तमा का मनीषा।
को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप, केन वा ते मनसा दाशेम॥

ऋ० 1.76.1

हे अनन्त देव ! हम परिमित मनुष्य किसी भी प्रकार से तेरे सम्पूर्ण रूप को ग्रहण नहीं कर सकते। हम अपने अपूर्ण साधनों द्वारा तेरे पास पहुँचने के लिए - तुझे वर लेने के लिए जीवन भर यत्न ही करते रहते हैं। हमारे मन में यह सामर्थ्य नहीं कि वह तेरे परिपूर्ण रूप को कभी मनन कर सके। तो तेरे पास पहुँचने का साधन, उपाय हमारे पास क्या है ? हम कभी समझते हैं कि शायद हम हार्दिक भक्ति करके तुझे सुख पहुँचा लेंगे। पर यह तो हमारा तेरे विषय में सांसारिक भाषा में बोलना मात्र है। भक्ति से हमें बेशक बड़ा लाभ मिलता है, पर हमारी हार्दिक प्रार्थनाओं या स्तुतियों का तुझ पर वास्तव में किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता। तू तो शुद्धस्वरूप में अलिप्त रहता है। मनुष्य समझते हैं कि यज्ञ तो बड़ी व्यापक वस्तु है अतः शायद यज्ञ तेरी परिपूर्ण वृद्धि और बल को ग्रहण करने में पर्याप्त हो सकेंगे। पर ऐसा नहीं होता। तू केवल अपने ही परिपूर्ण यज्ञ से अपने को पा सकता है। पर मनुष्य के किये यज्ञ तो कभी ऐसे परिपूर्ण नहीं हो सकते कि उन यज्ञों से तेरी अनन्त महत्ता का; तेरे अनन्त बल का, पार पाया जा सके। ये सब यज्ञ कुछ कुछ अंश में ही तुझे व्याप्त कर पाते हैं। हम तो बेशक तेरे उतने अंश की प्राप्ति से ही कृतकृत्य हो जाते हैं। 'प्यासे को तो एक लोटा भर पानी काफी है, उसे समुद्र की गहराई मापने की क्या जरूरत है ?'+ पर यह सत्य है कि हम तेरी गहराई को माप नहीं सकते, यज्ञ भी इस में असमर्थ हैं। यह क्यों न हो ? क्योंकि सब स्तुति, भक्ति और यज्ञ आदि हम अपने मन द्वारा ही तो करते हैं और इस हमारे मन में शक्ति ही कितनी है ? अतः यह कहना चाहिये कि हमारा मन ही तुम्हारे योग्य नहीं है। मनुष्य के क्षुद्र मन की तुम अगम तक पहुँच ही नहीं हैं। तो वह मन हम कहाँ से लायें जिस द्वारा हम अपनी यह भक्ति व यज्ञ व ज्ञान की आहुति तुझ तक पहुँचा सकें ? ओह ! सचमुच यह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में बँधा हुआ मनुष्य तेरी परिपूर्ण उपासना—तेरी परिपूर्ण आराधना—कभी नहीं कर सकता।

(अग्ने) हे अग्ने ! (तं मनसो वराय) तेरे मन को वरने के लिए (का उपेति भुवत्) कौनसा उपाय—तेरे पास पहुँचने का साधन—है ? (का मनीषा शं तमा) और हमारी कौनसी हार्दिक इच्छा या स्तुति तेरे लिए सुखकारी हो सकती है ? (को वा) अथवा कौन मनुष्य है जो (यज्ञैः तं दक्षं परि आप) यज्ञ कर्मों द्वारा तेरी वृद्धि या बल को व्याप्त कर सकता है, इसके लिए पर्याप्त होता है ? (केन वा मनसा ते दाशेम) या वह मन ही हमारे पास कौनसा है जिससे हम तुझे हवि दे सकें ?

+श्री रामकृष्ण परमहंस यह कहा करते थे।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः, तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

ऋ० 7.104.12, अथर्व० 8.4.12

मनुष्य जब ऊँचे वास्तविक ज्ञान को विवेकपूर्वक जानना चाहता है, जब वह सत्यज्ञान की खोज में होता है, तब उस विवेकशील पुरुष के सामने सत् और असत् दोनों स्पर्धा करते हुए आते हैं। दोनों उसके सामने अपनी अपनी श्रेष्ठता दिखाना चाहते हैं, दोनों उसके हृदय पर कब्जा करना चाहते हैं। कभी सत् प्रबल होता है, कभी असत् प्रबल होता है। इस तरह देर तक यह स्पर्धा, यह लड़ाई चलती रहती है। जब उस पर किन्हीं कुटिल और असत्य से काम निकालने वाले लोगों का प्रभाव पड़ता है, तब वह असत्यता को ही काम की चीज समझ लेता है और यदि वह सत्य-ग्रन्थों को पढ़ता है या सच्चे, निष्कपट, पवित्र लोगों के संग में आता है तो सत्य की महत्ता को समझने लगता है। फिर किसी जबरदस्त बलवान् नीतिनिपुण पुरुष का प्रभाव उसे यह सिखला देता है कि संसार में असत्य के बिना काम नहीं चलता है, पर फिर कोई महान् सत्यनिष्ठ पुरुष उसे सत्य का पुजारी, सत्य के पीछे पागल बना देता है। इस तरह सत् और असत् दोनों प्रकार के वचन (ज्ञान) उस पर प्रभाव जमाने के लिए स्पर्धा करते रहते हैं। पर मनुष्य को यह पता होना चाहिये (और विवेकी पुरुष को यह धीरे-धीरे पता हो जाता है) कि मनुष्य के हृदय में बैठा हुआ सोम परमेश्वर तो सदा सत् की, अकुटिलता की ही रक्षा कर रहा है और असत् का नाश कर रहा है। जो लोग इस सत्य से अभिज्ञ हो जाते हैं, वे तब सोम की शरण में जाना चाहते हैं और जो सचमुच सर्वोच्च सत्य ज्ञान की खोज में लगे हुए हैं, उन्हें इसी हृदयस्थ सोम देव की शरण जाना चाहिये, तभी उन्हें अपना अभीष्ट मिलेगा। क्योंकि सब भूतों के हृद्देश में बैठे हुए सोम ईश्वर के आश्रय को मनुष्य जितना ही अधिक सर्वतोभाव से ग्रहण करता है, उतना ही उसमें असत्य का नाश होकर सत्य और निष्कपटता बढ़ती जाती है और उसमें सुविज्ञान भरता जाता है। अतः इस सत् और असत् की लड़ाई में मनुष्य जितना ही सोम का आश्रय लेगा, उतनी ही जल्दी उसमें सत्य की विजय होगी और उसे शान्ति मिलेगी। हर एक जीव की इस सत् असत की स्पर्धा में जल्दी या कितनी ही देर में अन्ततः सोम परमेश्वर द्वारा विजय तो सत्य की ही होनी निश्चित है क्योंकि वे सोम सदा सत्य का, सत्यवचन का, सत्यव्यवहार का रक्षण कर रहे हैं और असत्य का, असत्यभाषण का, असत्य व्यवहार का हनन कर रहे हैं।

(सुविज्ञानं) उत्तम विशेषज्ञान को (चिकितुषे) जानना चाहने वाले विवेकी (जनाय) मनुष्य के लिए (सत् च असत् च) सत्य और असत्य (वचसी) वचन या ज्ञान (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्धा करते हैं। (तयोः) इन दोनों में से (यत्सत्यं) जो सत्य है (यतरत् ऋजीयः) जौनसा सरल, अकुटिल, छलरहित है (तत् इत्) उसे ही (सोम) सोम परमेश्वर (अवति; रक्षा करता है (असत् हन्ति) और असत् का नाश करता है।

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुः, वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः, किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये ।।

ऋ० 6.9.6.

हे प्रभो ! मैं चाहता हूँ कि मैं बिल्कुल एकाग्र होकर अपनी मानसिक वाणी द्वारा तेरा नाम जपूँ या तेरा मनन करूँ, तेरा ध्यान करूँ परन्तु जब मैं ऐसा करने के लिए बैठता हूँ तो कुछ भी शब्द सुनाई पड़ते ही मेरे कान वहाँ दौड़े जाते हैं, आँखों के सामने कुछ भी आते ही मैं वहाँ देखने लगता हूँ। कभी कान कुछ सुनने लगते हैं, कभी आँखें कुछ देखने लगती हैं। और यदि मैं किसी ऐसे स्थान पर जाकर बैठता हूँ जहाँ शब्द और रूप आ ही न सकें, तो भी मैं देखता हूँ कि मेरा मन ही अन्दर अन्दर सब कुछ देखता, सुनता रहता है। दिन रात की किसी बात का स्मरण आते ही मन वहाँ भाग जाता है और वहाँ की बात सोचने लगता है। तब पता लगता है कि मेरा मन कितनी दूर पहुँचा हुआ है। और यदि किसी दिन कोई मन पर चोट लगाने वाली बात हो चुकी होती है तब तो मन बार बार वहीं पहुँचता है— रोकने का बड़ा यत्न करने पर भी क्षण क्षण में वहीं जा पहुँचता है। मेरे हृदय में जगने वाली वह ज्योति भी जो वातरहित स्थान में रखे हुए दीपक की शिखा की तरह बिल्कुल अनिंगित, बिल्कुल ही न हिलती हुई, एक रस जलती हुई रहनी चाहिये - वह ज्योति, वह ज्ञान-ज्योति भी सदा इधर उधर हिलती रहती है, मनोवृत्तियों की हवा लगते रहने से हिलती रहती है। तो फिर मैं तेरा ध्यान कैसे कर सकता हूँ ? एकाग्रता से तेरा नाम कैसे जपूँ ? तेरा मनन कैसे करूँ ? और यदि प्रतिदिन तेरा इतना भी भजन न कर सकूँगा तो उस दिन जब कि मेरी यह जीवन-साधना समाप्त होगी, उस दिन तुम्हें क्या उत्तर दूँगा ? तुम्हारे सामने किस बात का अभिमान कर सकूँगा ? यह जीवन, ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, तुमने मुझे तुम्हारे समीप पहुंचने की साधना ही के लिए दी हैं। तो उस दिन जब कि तुम यह शरीर वापिस माँगोगे, तब मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँगा ? क्या मुँह दिखलाऊँगा ? हे प्रभो ! शक्ति दो कि मेरे मन की आज्ञा के बिना मेरे ये कान, आँख आदि कहीं न जा सकें और यह मन भी हृदय की ज्योति के साथ मिल जाया करे - ज्योति एक-रस जगती रहे। ऐसी अवस्था दिन में दो बार सन्ध्योपासना के समय तो हो जाया करे, नहीं तो मैं क्या मुँह दिखाने लायक रहूँगा ?

(मे कर्णा वि पतयतः) मेरे दोनों कान इधर उधर जा रहे हैं (चक्षुः वि) मेरी आँख इधर उधर विविध स्थानों पर पड़ रही है (हृदये आहितं यत् ज्योति [तत] इदं वि) हृदय में स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है वह भी विविध स्थानों पर दौड़ रही है (मे मनः दूरे आधीः विचरति) मेरा मन दूर दूर चिन्ता के विषयों में विचरण करता रहता है। ऐसी अवस्था में हे प्रभो ! (किं स्वित् वक्ष्यामि) मैं क्या बोलूंगा, या क्या उत्तर दूंगा ? (किम् उ नु मनिष्ये) और मैं क्या मनन करूंगा या क्या अभिमान कर सकूंगा ?

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षु, उपो एमि चिकितुषो वि पृच्छम् ।
समान मिन्मे कवयश्चिदाहुः, अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते ।।

ऋ० 7.86.3

हे प्रभो ! मैं तेरे दर्शन पाने के लिए व्याकुल हूँ । तुझ से साक्षात् मिलने के लिए दिन रात प्रतीक्षा में हूँ । इसके लिए यत्न करते हुए बहुत दिन हो गये । ऐसा एक भी साधन नहीं छोड़ा जो कि तुझ से मिलाने वाला प्रसिद्ध हो । कठोर से कठोर तप बड़े आनन्द से किये हैं । तो अब कौन सा पाप रह गया है जिससे तुम्हारे चरण-दर्शन नहीं हो पाते ? हे वरुण ! तुम से ही पूछता हूँ, मुझे मालूम नहीं । मुझे मालूम होता तो मैं कब का प्रतीकार कर चुका होता । हे पाप निवारक ! तुम ही मुझ दर्शनपिपासु को वह मेरा अपराध बतलाओ जिससे अप्रसन्न होकर तुम मुझे दर्शन नहीं देते । मनुष्यों में मैं जिन्हें ज्ञानी भक्त, विद्वान्, महात्मा देखता हूँ, उन सब के पास जाता हूँ और जाकर यही पूछता हूँ कि वरुण देव के मुझे दर्शन क्यों नहीं होते ? पर वे सब क्रान्तदर्शी महात्मागण भी मुझे एक स्वर से यही बतलाते हैं कि वह वरुण देव ही मुझ से नाराज हैं । वे सब सच्चे ज्ञानी मुझे यही एक उत्तर देते हैं । तो, हे देव ! मैं तुम्हारे बिना अब और किससे पूछूं ? सचमुच अब और किसी से पूछना वृथा है । हे देव ! या तो मेरा पाप मुझे दिखला दो, अपनी अप्रसन्नता का कारण बतला दो, नहीं तो मुझे दर्शन दे दो । हे मेरे स्वामी ! जब मुझे अपने पाप का पता न लगेगा तो मैं उसका प्रतीकार कैसे कर सकूंगा ? मैं तुम्हें प्रसन्न करके छोड़ूंगा । अपने पापों के प्रतिविधान के लिए मैं घोर से घोर प्रायश्चित करने को तैयार हूँ । अपने को पूरी तरह पवित्र कर डालने के लिए आज मैं क्या नहीं कर डालूंगा ? मैं अब तुझ से मिल जाने के लिए व्याकुल हो उठा हूँ । इसीलिए, हे अन्तर्यामी प्रभो ! मैं तुझसे अपने पापों को जानना चाहता हूँ । मेरे पापों के सिवाय इस संसार में और कोई वस्तु नहीं है जो कि अब मुझे तुमसे मिलने से रोक सके ।

(वरुण) हे पापनिवारक देव ! (तत् एनः पृच्छे) मैं उस पाप को तुझ से पूछता हूँ [जिसके कारण मुझे तुम्हारा दर्शन नहीं हो पाता] (दिदृक्षुः) मैं तुम्हारा दर्शनाभिलाषी हूँ । (वि पृच्छं) इस विषय में विविध प्रश्न पूछने के लिए मैं (चिकितुषः) विद्वानों के (उपो एमि) पास जाता हूँ परन्तु (कवयः चित) वे सब ज्ञानी पुरुष भी (समानं इत मे आहुः) मुझे एक ही उत्तर देते हैं—एक ही बात कहते हैं—कि "(अयं वरुणः ह) निश्चय से यह वरुणदेव ही (तुभ्यं हृणीते) तुझसे अप्रसन्न है; उसे प्रसन्न कर ।"

य आपि नित्यो वरुण प्रियः सन्, त्वां आगांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम, यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्॥

ऋ० 7.88.6.

हे जगदीश्वर ! यह जीव तुम्हारा सनातन बन्धु है, यह तुमसे जुदा नहीं हो सकता। जीव चाहे कितना पतित हो जाय पर असल में यह स्वरूपतः चेतन आत्मा ही है। इस जीवात्मा में तुम सदा स्वामी (संचालक) होकर व्याप्त हो और तुममें यह जीव-आत्मा सदा आश्रित है। एवं जीव सदा तुम्हें प्राप्त तुम्हारा 'आपिः' है और सदा तुमसे बंधा हुआ तुम्हारा बन्धु है, तुम्हारा सखा है। यह तुम्हारा साथी तुम्हें इतना प्रिय भी है कि तुमने स्वयं कुछ न भोगते हुए भी इस जीव के भोग के लिए ऐश्वर्यों से भरा यह सब संसार खोलकर रख दिया है। पर फिर भी यह जीव—यह तुम्हारा ऐसा प्यारा सखा जीव—इस संसार में तुम्हारे प्रति अपराध करता रहता है, तुम्हारे नियमों का भंग कर तुम्हें अप्रसन्न करता रहता है।

हे यजनीय देव ! हम जीवों को इस प्रकार तुम्हारे प्रति अपराधी होने पर क्या करना चाहिये ? हमें यह चाहिये कि हम पापी होने पर तुम्हारे दिये गये भोगों को त्याग दिया करें। हे यक्षिन् ! पाप करते ही हम द्वारा तुम्हारे यज्ञ का भग हो जाता है और मनुष्य को बिना यज्ञ किये भोग भोगने का अधिकार नहीं है। अतः पापी होकर हमें भोग त्याग कर देना चाहिये, किसी भोग के त्याग के रूप में उस पाप का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। पापी होने पर भोग कभी न करें। ऐसा करने से पाप का प्रतीकार हो जाता है—आगे के लिए पाप का निवारण हो जाता है। ऐसा करने से हमें तुम एक 'वरुथ' अर्थात् सुरक्षित घर या आश्रय दे देते हो। हे जगदीश्वर ! तुम सर्वज्ञ हो, मेरे हृदय को जानते हो, मुझ अपने उपासक के सब सच्चे भावों को जानते हो। अतः अब जब कभी मुझसे किसी तुम्हारे नियम का भंग होगा तो मैं किसी भोग के त्यागने के द्वारा तेरी शरण में आने के लिए अपने हाथ फैलाऊँगा। हे विप्र ! हे स्वामी ! तब मुझे अपना 'वरुथ' अवश्य प्रदान कीजियेगा, हाथ फैलाये हुए मुझे अपनी गोद में स्थान देकर सुरक्षित कीजियेगा, कुछ समय के लिए अपने घर में मुझे आश्रय दीजियेगा जिससे पवित्र होकर आगे के लिए मैं वैसा नियम भंग करने से अलग रहूँ।

(वरुण) हे वरुण ! (यः नित्यः आपिः) जो तेरा सनातन बन्धु है वह (ते सखा) तेरा साथी (प्रियः सन्) तेरा प्यारा होता हुआ भी (त्वां आगांसि कृण्वत्) तेरे प्रति पाप—अपराध—किया करता है। (यक्षिन्) हे यजनीय देव ! (एनस्वन्तः) पापी होते हुए हम (ते मा भुजेम) तेरे दिये भोग न भोगें (विप्रः स्तुवते वरुथं यन्धि स्म) इस प्रकार तुम सर्वज्ञ मुझ उपासक को अपनी शरण या घर दे दो।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति, न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तं, उभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ।।

ऋ० 7.104.13, अ० 8.4.13

जगदीश्वर सोम रूप से सब जगत् का पालन पोषण कर रहे हैं । सोम-प्रभु के जीवनदायी रस को पाकर ही सब संसार बढ़ रहा है, पुष्ट हो रहा है । पर ये भगवान् पाप को कभी नहीं बढ़ाते हैं, इनका यह सोमरस पाप को कभी नहीं पहुँचता है । और सब पापों का स्रोत—मूल—जो असत्यता है, उसे तो परमेश्वर का जीवन-रस मिलता ही नहीं है ।

जब मनुष्य सदा वर्तमान 'सत्' के विरुद्ध कुछ और असत् की अपने अन्दर रचना करके धारण करता है, इस तरह दुहरी बातों को अपने अन्दर धारण करता है, तो यह 'मिथुया धारयन्' मनुष्य अपने इस दूसरे असत् द्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है और एवं सत्य की सोम-धारा से अपने को वंचित कर लेता है । हरेक पाप का करना भी क्रिया द्वारा सत् से इंकार करना है । अतः ज्यूं ही मनुष्य असत् की अपने में रचना करता है या ज्यूं ही वह क्रिया से सत्य-विरुद्ध कर्म (पाप-वृजिन) करता है त्योंही उसका सत्यस्वरूप जीवनरसदायी सोम से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह ईश्वरीय जगत् से जुदा हो जाता है, मानों वह परमेश्वर के बंधनागार में पड़ जाता है, अपने असत् द्वारा ही वह ढक जाता है, वह बँध जाता है । जहाँ परमेश्वर सोमरूप से सब ठीक चलने वालों को जीवन देकर बढ़ा रहे हैं, वहाँ इन्द्र ('इदं दारयिता') रूप से ये ही परमेश्वर विपरीतगामी को जुदाकर बाँधने वाले भी हैं । इस तरह असत्य बोलने वाला या पाप करने वाला जीवन-रस से वंचित होकर, सूखकर नष्ट हो जाता है । इसीलिये वर्जनीय होने से पाप का नाम 'वृजिन' है तथा पाप ही 'रक्षः' कहलाता है, चूँकि इससे अपने आपको सदा रक्षित[1] रखना चाहिए । इस वृजिन को, 'रक्षः' को, वह परमेश्वर नाश ही कर देता है, कभी बढ़ाता नहीं है ।

मनुष्य यदि इस सत्य को समझें, इसमें उसे जरा भी संदेह न हो, तो वह पाप करते हुए घबराये और असत्य बोलते हुए उसका कलेजा कांपे । संसार में यद्यपि हमें दीखता है कि परमेश्वर भी पाप को ही मदद दे रहा है और झूठे को बढ़ा रहा है, परन्तु यह हम क्षुद्र बुद्धि वाले अल्पज्ञों का भ्रम है । हम अल्पज्ञ नहीं देख सकते कि किस पाप का फल कब और कैसे मिलता है ।

(सोमः) सोम रूप परमेश्वर (वै) निस्सन्देह (न उ) न तो (वृजिनं) वर्जनीय पाप को (हिनोति) बढ़ाता है, समर्थन करता है और (न) न ही (मिथुया धारयन्तम्) दुहरी बात को—झूठ को—धारण करने वाले (क्षत्रियं) बलवान् को ही बढ़ाता है, किन्तु वह तो (रक्षः) पाप-राक्षस का (हन्ति) हनन करता है, और (असद् वदन्त) असत्य बोलने वाले का (हन्ति) हनन करता है, ये (उभौ) दोनों ही (इन्द्रस्य) इस इन्द्र रूप परमेश्वर के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) पड़ते हैं ।

---

1 — रक्षितव्यं यस्मात्—निरुक्त 4.3.2 ।

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तः, बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥

ऋ० 1.164.32, अथर्व० 9.10.10

मनुष्य संसार-सागर में डूबता जाता है । मनुष्य ज्यों ज्यों 'बहुप्रजा' होता जाता है त्यों त्यों यह 'निर्ऋति' में—घोर कष्ट में—पड़ता जाता है । विषयग्रस्त हुआ मनुष्य इस संसार में अपने बच्चे पैदा करना यही कार्य समझता है, एवं प्रकृति में अपने विस्तार को नाना तरह बढ़ाता जाता है । इसीलिए वह बार-बार जन्म पाता है, बार-बार जन्म के घोर कष्टों को अनुभव करता है । ऋषि लोगों ने देखा है कि माता की योनि में आये हुए जीव को बार-बार बड़ा भारी मानसिक क्लेश भोगना पड़ता है । उस समय वह जीव केवल झिल्ली से ढका हुआ नहीं होता किन्तु घोर अज्ञान से भी ढका हुआ होता है। क्योंकि 'बहुप्रजाः' के मार्ग पर जाना अज्ञान से ढके जाने से ही होता है । मनुष्य 'ढका हुआ' (परिवीत) होने से ही इस संसार में पागल तथा अंधे की तरह रहता है । मनुष्य पागल इसलिए है, चूंकि वह जो दिन-रात अन्धाधुन्ध काम करता है उसे वह जानता नहीं, यूं ही करता जाता है । मनुष्य जो खाना पीना, चलना फिरना, प्रेम करना, द्वेष करना आदि जो कुछ करता है, उसे वह कुछ भी नहीं जानता कि मैं यह क्या कर रहा हूं, क्यों कर रहा हूं, इसका क्या प्रभाव होगा ? वह नहीं जानता कि इसका ही फल उसे भोगना होगा । वह नहीं जान पाता कि पहिले जन्मों में वह न जाने क्या-क्या कर चुका है । अन्धाधुन्ध वह करता जाता है । इसी तरह का उसका सब संसार को देखना है । संसार में वह मनुष्य स्त्री, पशु, पहाड़, नदी, आकाश, सभा, समाज, बड़े-बड़े आनन्ददायक दृश्य और बड़े-बड़े रुलाने वाले दृश्य, इन सब को सोते जागते देखता जाता है, पर असल में वह इन किन्हीं भी वस्तुओं को नहीं देखता । ये सब वस्तुएँ उससे वास्तव में छिपी ही रहती हैं, निःसन्देह छिपी ही रहती हैं । वह देखता हुआ भी किसी भी वस्तु का तत्व नहीं देख पाता । इसीलिए वह 'बहुप्रजाः' होने के—प्रकृति में ग्रस्त होने के—मार्ग को अवलम्बन करता है और 'निर्ऋति' में पड़ता जाता है । निर्ऋति[1] (पृथिवी) के इस अन्धकार में धंसते जाने की जगह, मनुष्य 'द्यौः' के प्रकाश की तरफ जाने लगे, यदि वह इस संसार में जो कुछ करे उसे जानने लगे और जो कुछ देखे, उसे साक्षात् करने लगे ।

(यः) यह मनुष्य (ईं) यह जो कुछ (चकार) करता है (अस्य) इस किये को (स न वेद) वह नहीं जानता है । (यः) वह मनुष्य (ईं ददर्श) यह जो कुछ देखता है वह (तस्मात्) उस देखने वाले मनुष्य से (नु हिरुक् इत्) निःसन्देह छिपा हुआ ही है। (स) ऐसा वह मनुष्य (मातुःयोना अन्तः) माता के गर्भाशय में (परिवीतः) [झिल्ली से और अज्ञान से] ढका हुआ (बहुप्रजाः) बार-बार जन्म लेता हुआ और बच्चे पैदा करता हुआ (निर्ऋति आविवेश) बड़े घोर कष्ट में प्रविष्ट होता जाता है ।

1—निर्ऋति = (1) घोर कष्ट, (2) पृथिवी । ये दोनों अर्थ निर्ऋति शब्द के होते हैं ।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्, अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तव, अनागसो अदितये स्याम॥

ऋ० 1 24.15, यजु० 12.12 साम० पू० 6.3.10.4, अ० 7.83.3

हे पापनिवारक देव ! तूने हमें तीन बन्धनों से बांध रखा है। उत्तम बन्धन हमारे सिर में हैं जिससे हमारा आनन्द और बुद्धि बँधे हुए हैं, ढके हुए हैं, रुके हुए हैं। यह सत्वगुण का (कारण शरीर का) बन्धन कहा जा सकता है। हृदयस्थ मध्यम बन्धन से हमारा मन और सूक्ष्म प्राण बँधे हुए हैं। यह रज और सूक्ष्म शरीर का बन्धन है। नाभि से नीचे तमोगुण और स्थूल शरीर का अधम बन्धन है जिससे हमारा स्थूल प्राण और स्थूल शरीर बँधा हुआ है। हे वरुण ! इनसे बँधे रहने के कारण हम से तेरे नियमों का भंग होता रहता है और हम पापी बनते रहते हैं। उत्तम बन्धन द्वारा, सच्चा ज्ञान न मिलने से; मध्यम द्वारा राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि के वशीभूत होने से; और अधम द्वारा, शारीरिकतया त्रुटियुक्त कार्य करने से हम पापी बनते हैं। हे देव ! तू मेरा उत्तम पाश ऊपर की तरफ खोल दे जिससे कि मेरी बुद्धि का द्युलोक के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाय और मुझ में सत्य-ज्ञान का प्रवेश होने लगे। मध्यमपाश को बीच से खोल दे जिससे अन्तरिक्ष लोक के समुद्र में मेरे मन के प्रविष्ट हो जाने से इसके रागद्वेषादि मल धुल जायें तथा मेरा मन सम हो जाय और अधम पाश को नीचे गिरा दे जिससे मेरे पार्थिव शरीर के सब कलुषित परमाणु पृथ्वीतत्व में लीन हो जायें और शरीर निरोग, स्वस्थ होकर प्रभु के कार्य निर्दोष होकर कर सके। हे प्रकाशमय बन्धनरहित देव ! इन बन्धनों के टूट जाने पर हम तेरे व्रत में रह सकेंगे, हमसे तेरे नियमों का भंग होना बन्द हो जायगा। तब हम स्वतन्त्र होकर या आत्मतन्त्र होकर विचरेंगे। अन्त में मैं 'अदिति' (मुक्ति) के ऐसा योग्य हो जाऊँगा कि एक दिन आयेगा जबकि मेरा आत्मा स्थूल शरीर रूपी बन्धन को नीचे पृथ्वी पर छोड़कर और मानसिक सूक्ष्मशरीर को अन्तरिक्ष में लीन करके अपने ऊपरी बन्धन के भी टूट जाने से ऊपर - द्युलोक—को प्राप्त हो जायगा। बिना इन तीन बन्धनों के ढीले हुए मैं मुक्ति की तरफ कैसे जा सकता हूँ ? इसलिये हे वरुण ! इन बन्धनों को एक बार खोल दो - जरा ढीला कर दो — जिससे कि मेरा मार्ग साफ हो जाय और मैं यत्न करता हुआ तेरे व्रत में रहने वाला निष्पाप मोक्षाधिकारी हो जाऊँ।

(वरुण) हे पापनिवारक देव ! तू (अस्मद्) हमारे (उत्तमं पाशं उत) उत्तम बन्धन को ऊपर की तरफ और (मध्यमं वि) मध्यम बन्धन को बीच में तथा (अधमं अव) अधम बन्धन को नीचे की तरफ (श्रथाय) ढीला कर दे (अथ; जिससे इन बन्धनों के टूटने से (आदित्य) हे प्रकाशमय बन्धन रहित देव ! (वयं तव व्रते) हम तेरे नियमों में रहते हुए (अनागसः) पापरहित होकर (अदितये) बन्धन-राहित्य, स्वतन्त्रता, मुक्ति के लिए योग्य (स्याम) हो जायें।

अनुत्तमा ते मघवन्न किर्नु, न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः ।
न जायमानो नशते न जातो, यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥

ऋ० 1. 165. 9

हे सर्वैश्वर्यशालिन् ! मैं आज देख रहा हूँ कि इस विश्व का सब कुछ—छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा—तेरे हिलाये हिल रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कि तेरी प्रेरणा से प्रेरित नहीं हो रही है। इस ब्रह्माण्ड-सागर की क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् सब लहरें तू ही पैदा कर रहा है। जगत् के अनन्तों परमाणुओं में का जो एक-एक परमाणु प्रतिक्षण गतिशील है, चींटी से कुंजर तक जो सब प्राणी चेष्टा कर रहे हैं, मनुष्य के वैयक्तिक जीवन और मनुष्य-संघ के समष्टि जीवन में जो नित्य छोटे-बड़े परिवर्तन हो रहे हैं, भूकम्प, वर्षा, वायु, अग्नि, ऋतु आदि रूप से जो आधिदैविक जगत् निरन्तर बदल रहा है—यह एक जगत् क्या, ऐसे-ऐसे जो कोटि-कोटि अनन्त जगत्, जो असंख्यात सूर्य और पृथिवियाँ, इस महाकाश में चक्कर लगा रहे हैं—ये सब के सब, तेरी ही दी हुई गति से, तेरी ही प्रेरणा से चल रहे हैं। तू अपनी पूर्ण ज्ञानमयी ठीक-ठीक गति देकर इस सब संसार को नचा रहा है। हम मनुष्य क्या, बड़े से बड़े ज्ञानी देव भी तेरे असीम ज्ञान का पार नहीं पा सकते हैं। ये सब तेरे ज्ञान को असीम, अनन्त कह-कह कर अपनी अज्ञानता को ही प्रकाशित करते हैं। ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों पता लगता जाता है कि तू कितना-कितना महान् है ! ह महान् ! हे परम महान् !! तेरी महत्ता के आकाश का भी अन्त हमारा कल्पना-पक्षी अपनी ऊँची से ऊँची उड़ान से नहीं पा सकता; वह हार मानकर, थक-थक कर, शान्त हो जाता है। तब हम तेरी महत्ता को अनन्त मानकर और तेरी लीला को अगम्य कह कर चुप हो जाते हैं। इतना ही कह सकते हैं कि इस जगत् में जो कुछ पैदा हुआ है, हो रहा है या होगा, उनमें से किसी में भी ऐसी शक्ति नहीं है जो तेरी लीला को समझ सके, जो तेरे द्वारा की जाने वाली या की जा रही लीला के किसी ओर-छोर को पा सके। जो तेरी लीला की अधिक से अधिक सच्ची, नजदीकी और पूरी खबर लाता है तो वह यही खबर लाता है कि तेरी लीला अगम्य है, तेरी लीला अगम्य है।

(आ) ओह, सच है कि (मघवन्) हे सर्वैश्वर्ययुक्त ! (नु ते अनुत्तम्[1] न किः) निस्सन्देह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कि तुझसे अप्रेरित है—जो कि तुझसे प्रेरित नहीं हैं, (त्वावान् विदानः देवता न अस्ति) तेरे समान ज्ञान वाला कोई देवता भी नहीं है, (प्रवृद्ध) हे परम महान् ! (न जायमानः न जातः) न तो कोई उत्पन्न होने वाली और न कोई उत्पन्न हुई वस्तु है ([तानि] नशते) जो तेरे उन कर्मों तक पहुँचती है (यानि करिष्या, कृणुहि) जिन कर्मों को तू करेगा या कर रहा है।

1—अनुत्तम + आ = अनुत्तमा

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो, यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव, यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥

ऋ० 2.12.9, अथर्व० 20.34.9

'ईश्वर' 'ईश्वर' नाम लोग लिया करते हैं परन्तु, हे मनुष्यों! क्या तुम उसे अनुभव करते हो? बेशक, वह इन्द्रियों से परे होने के कारण आँख आदि से ग्रहण किया जा सकता, तो भी हरेक मनुष्य उसे अनुभव कर सकता है। इस संसार में जो कुछ मनुष्य को विजय मिलती है, वह सब उसी से मिलती है। उसकी अनुकूलता के बिना बड़े से बड़े बली अभिमानी को विजय नहीं मिल सकती। सब विजय उसी की है। अतः जहाँ हरेक विजय में हम उसकी महत्ता को अनुभव करें, वहाँ अपनी हरेक हार में भी उसकी महत्ता को देखें जिसकी कि स्वीकृति न होने के कारण ही हमें हरेक हार मिलती है। इस युद्धमय संसार में मनुष्य जब अपनी सब प्रकार की शक्ति से निराश हो जाता है और हारता हुआ अपने को बिल्कुल बेबस जान कर जिस एक अज्ञात और अपने से ऊँची शक्ति को पुकारने लगता है, वही शक्ति परमेश्वर है। नास्तिक पुरुष के हृदय में भी उस चरम निःसहायता की अवस्था में किसी अन्य शक्ति से सहायता पाने की छिपी हुई आशा प्रकट हो जाती है। उस शक्ति को क्यों नहीं देखते? अपनी इस चरम निस्सहाय दशा में हार कर, बेबस होकर उस परमेश्वर शक्ति को अनुभव करो जिसके बिना संसार में कोई भी विजय नहीं मिलती। देखो, यह वह है जिसे कि रक्षा पाने के लिए युद्धों में सब मनुष्य पुकार रहे हैं। और यदि चाहो तो संसार की एक-एक वस्तु में उसे अनुभव करो। यह सब विश्व उसी को दिखा रहा है। यह संसार और किस में रखा हुआ है? इस विश्व को किस ने धारा हुआ है? यह ही वह है जो कि इस सब संसार का आधार, सार और आत्मा है और ऐसा होकर भी जो संसार की हरेक वस्तु में ऐसा तद्रूप (ऐसा तत्प्रतिम) हो बैठा है कि मनुष्य संसार की वस्तुओं को देखते है पर उसे नहीं देखते। पर यह न दीखने वाली ही सब कुछ है। इस संसार में जो असम्भव सम्भव हो रहे हैं, जिनके कभी मिटने की सम्भावना नहीं होती वे क्षण भर में मिट जाते हैं। ये सब काम वही न दीखने वाला कर रहा है। जिन्हें यह दुनिया अडिग समझती है, वह उन्हें भी चुपके से गिरा देता है। उस 'अच्युतच्युत्' को देखो। संसार की एक-एक चीज में रमे हुए उसे देखो। यह विश्वमय होकर हमारे सामने खड़ा है; उसे क्यों नहीं देखते? हे मनुष्यो! उसे देखो, वही इन्द्र है, वही परमेश्वर है।

(जनासः) हे मनुष्यो! (इन्द्रः स) परमेश्वर वह वस्तु है (यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते) जिसके बिना मनुष्यों को कभी विजय नहीं मिलती और (यं युध्यमानाः अवसे हवन्ते) जिसको कि युद्ध करते हुए सब मनुष्य रक्षा के लिए पुकारते हैं तथा (यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव) जो विश्व का प्रतिमान अर्थात् उसके प्रत्येक पदार्थ का निर्माता होकर, सब विश्व को अपने में रख कर, तद्रूप हुआ हुआ है (यः अच्युतच्युत्) और जो न डिगने वाले बड़े दृढ़ पदार्थों को भी डिगा देता है।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरं, उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति, श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥

ऋ० 2. 12 5, यर्थ० 20.34.5

मनुष्य जब गम्भीरतापूर्वक उस परमेश्वर की सत्ता पर विचार करने लगते हैं तो उनमें से कोई पूछते हैं 'वह ईश्वर कहाँ है' जिसने इस बड़े भोगदायक संसार में दुःख, दर्द, मृत्यु आदि पैदा करके लोगों का रसभंग कर रखा है, जो कि बड़ा दुष्टों का दलन करने वाला तथा अपने वज्र से पापों का संहार करने वाला कहा जाता है। उस घोर भयङ्कर ईश्वर के विषय में वे पूछते हैं कि 'वह कहाँ है ?' 'हमें बताओ वह कहाँ है ?' दूसरे कुछ भाई निश्चय ही कर लेते हैं कि 'ईश्वर फीश्वर कोई नहीं है।' 'ईश्वर तो अब 20वीं शताब्दी में मर गया है'—'ईश्वर केवल अज्ञानियों के लिए है।' परन्तु, हे मनुष्यो ! जरा सावधानी से देखो। सत्य को खोजो और इसे धारण करो। देखो कि वे पुरुष जो अपनी समझ में प्रकृतिमय ईश्वरविहीन संसार में रहते हैं, अतः जो इस जगत् में जिस किसी तरह सुखभोग करना ही अपना ध्येय समझते हैं और स्वभावतः विपरीतगामी होकर धर्म दया आदि के सत्यमार्ग को तिरस्कृत कर निरन्तर अपनी पुष्टि की ही धुन में लगे रहते हैं अर्थात् धनसंग्रह, स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि से अपने को समृद्ध और पुष्ट करते जाते हैं, उन 'अरि' नामक स्वार्थी लोगों के सामने भी एक समय आता है जब कि उनका यह सांसारिक-भोग का खड़ा किया हुआ सब महल एकदम न जाने कैसे गिर पड़ता है ! उनके जीवन में एक भूकम्प सा आता है, उन्हें एक जोर का धक्का लगता है। उनकी वह सब भौतिक-पुष्टि क्षण में मिट्टी हो जाती है, सब ठाठ गिर पड़ता है। उस समय बहुत बार उनका अभिमान नष्ट होता है और वे नम्र होते हैं। कल्याणकारी है वह धक्का, कल्याणकारी है उनका वह सर्वनाश, यदि वह उन्हें नम्र बनाता है और धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें यह कल्याणकारी धक्का लगता है। क्योंकि वहीं पर प्रभु के दर्शन हो जाया करते हैं। हे मनुष्यो ! वह ईश्वर आँख से दीखने की वस्तु नहीं है, उसे तो श्रद्धा की आँख से देखो। जो मनुष्यों की बड़ी-बड़ी योजनाओं को पलक मारते में बदल देता है, कुछ का कुछ कर देता है, जिसके आगे अल्पमनुष्य का कुछ बस नहीं चलता, जरा उसे देखो, नम्र होकर उसे देखो! वही परमेश्वर है।

(यं) जिस (घोरं) अद्भुत भयङ्कर वस्तु के विषय में (पृच्छन्ति स्म) लोग प्रश्न किया करते हैं कि (कुह स इति) 'वह कहाँ है' (उत ईं एनं) और जिस इसके विषय में (आहुः बहुत से कहा करते हैं कि (न एष अस्ति इति) 'वह है ही नहीं' (स) वही (अर्यः) अरि के, विपरीतगामी स्वार्थी पुरुष के (पुष्टीः) सब सांसारिक समृद्धि, पुष्टि को (विज इव) भूकम्प की तरह (आमिनाति) विनष्ट कर देता है (जनासः) हे मनुष्यो ! (अस्मै श्रत् धत्त) इस परमेश्वर पर श्रद्धा करो [स इन्द्रः] वही परमैश्वर्यवान् परमेश्वर है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः, अथो दिव्यः ससुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।।

ऋ० 1.164.46, अथर्व० 9.10.28

हे मनुष्यो ! इस संसार में एक ही परमात्मा है। हम सब मनुष्यों का एक ही प्रभु है। हम चाहे किसी सम्प्रदाय, किसी पन्थ, किसी मत के मानने वाले हों पर संसार भर के हम सब मनुष्यों का एक ही ईश्वर है। भिन्न-भिन्न देशों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वाले उसे भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं, पर वह तो एक ही है। जो जिस देश में व जिस सम्प्रदाय के वायुमण्डल में रहा है, वह वहाँ के प्रचलित प्रभुनाम से उसे पुकारता है। कोई 'राम' कहता है, कोई 'शिव' कहता है, कोई 'अल्लाह' कहता है, कोई 'लार्ड' कहता है। 'विप्रों' ने, ज्ञानी पुरुषों ने उस प्रभु को जिस रूप में देखा, उसके जिस गुणोत्कर्ष का उन्हें अनुभव हुआ, अपनी भाषा में उसी के वाचक शब्द से उसे वे पुकारने लगे। उन विप्रों द्वारा वही नाम उस समाज व सम्प्रदाय में फैल गया। कोई विप्र गुरु से ग्रहण करके उसे 'ओं' या 'नारायण' नाम से पुकारता है तो कोई अपने महात्माओं और सद्ग्रन्थों से पाकर उसे 'खुदा' या 'रहीम' कहता है, परन्तु वह प्रभु एक ही है।

हम सांप्रदायिक लोगों ने संसार में बड़े-बड़े उपद्रव किये हैं और आश्चर्य यह कि ये सब लड़ाई दंगे अपने प्रभु के नाम पर ! वैष्णवों और शैवों के झगड़े हुए हैं, हिन्दू और मुसलमानों में रक्तपात हुए हैं, यहूदियों और ईसाइयों के युद्ध हुए हैं। यह सब क्यों ? यह सब तभी होता है जब हम यह भूल जाते हैं कि "एकं सत्-विप्रा बहुधा वदन्ति"। वह एक ही है, पर ज्ञानी लोगों ने अपने-अपने अनुभवों के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न नाम दिया है। ईश्वर होने से वही 'इन्द्र' है, मृत्यु से त्राता होने से वही 'मित्र' है, पापनिवारक होने से वही 'वरुण' है, प्रकाशक होने से वही 'अग्नि' है। वेदमन्त्रों में इन नाना नामों से पुकारा जाता हुआ भी वह एक है। इसी तरह वेदमन्त्रों ने 'दिव्य', 'सुपर्ण' (शोभन पतन वाला) या 'गुरुत्मान्' (गुरु आत्मा), 'अग्नि' 'यम (नियन्ता)', और 'मातरिश्वा (अन्तरिक्ष में श्वसन करने वाला)' आदि भिन्न-भिन्न अनेक देव-नामों से उसी एक प्रभु की स्तुति की है। ज्ञानियों ने उस एक को ही भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा, पर अज्ञानियों ने उसे भिन्न-भिन्न नामों से जुदा जुदा समझ लिया और जुदा-जुदा कर दिया। अतः वेद की पुकार सुनो 'वह एक है' 'वह एक है' एकं सत्।

(विप्राः) ज्ञानी पुरुष (एकं सत्) एक ही होते हुए को (बहुधा वदन्ति) अनेक प्रकार से बोलते हैं। उस एक ही को (इन्द्रं, मित्रं, वरुणं, अग्निं आहुः) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, कहते हैं। (अथो सदिव्यः सुपर्णः गरुत्मान्) और वही दिव्य सुपर्ण गुरुत्मान् कहलाता है अग्नि, (यमं मातरिश्वानं आहुः) उस एक ही को अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।

यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति ।
यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ।।

ऋग्वेद 5.44.14, साम० उ० 9 2.5

संसार में परिपूर्ण जागृत तो एक ही है, वह अग्नि परमात्मा है। यह सर्वथा अनिद्र है, त्रिकाल में जागृत है। उसमें तमोगुण का (अज्ञान व आलस्य का) स्पर्श तक नहीं है। अतएव सब ऋचायें, संसार की सब स्तुतियाँ, उसी को चाह रही हैं—उसके प्रति हो रही हैं। सब सामों का, मनुष्यों के किये सब यशोगानों का, सब स्तुति-गीतियों का भाजन भी वही एक परम-जागृत देव हो रहा है। और देखो, यह समस्त भोग्य-संसार — भोग्य बना हुआ यह सोमरूप ब्रह्माण्ड—उसी जागरूक अग्निदेव के पैरों में पड़ा हुआ कह रहा है "मैं तेरा हूँ, तेरे ही आश्रय से मेरी सत्ता है, तेरी मित्रता में मेरा निवास हो रहा है, तुझसे हटकर मुझे और कहीं ठौर नहीं है।"

इसी तरह हम मनुष्य-जीव भी यदि अपनी शक्तिभर सदा जागृत रहेंगे, सदा सावधान और कटिबद्ध रहेंगे, तमोगुण को दूर हटाकर सदा चैतन्ययुक्त, अतन्द्र रहेंगे, आलस्य के कभी भी वशीभूत न होकर अपने कर्तव्य को तत्क्षण करने के लिए सदा तैयार, उद्यत रहेंगे, कभी प्रमाद न करते हुए—बिना भूलचूक के—अपने कर्तव्य को ठीक-ठीक करते जाने के अभ्यासी हो जायेंगे, तो हम भी उतने ही अंश में 'अग्नि' रूप हो जायेंगे।

परन्तु वास्तविक भोक्ता होना आसान नहीं। संसार के विषयी पुरुष तो भोगों के भोक्ता होने की जगह भोगों के भोग्य बने हुए हैं। परन्तु वही ऐश्वर्य, वही सुख, वही सुख-भोग—जिसके कि पीछे यह सब संसार दौड़ता फिरता है पर जो लोगों को मिलता नहीं, वही ऐश्वर्य (सोम)—जागृत पुरुष के सामने हाथ बाँधकर, सेवक होकर, शरण पाने के लिए आ खड़ा होता है। अग्नित्व को प्राप्त उस मनुष्य के लिए वास्तव में संसार के सब भोग्य-पदार्थ उसकी मित्रता में, उसके हितसाधन के निमित्त, सदा नियत स्थान पर उपस्थित रहते हैं, उसे उन पर ऐसा प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। अत, हे मनुष्यो ! जागो, जागो, सदा जागृत रहो, तामसिकता त्यागो और निरालस्य-जीवन का अभ्यास करो। जागरूकों के लिए ही यह संसार है, स्तुत्यता, लोक-मान्यता, यश, भोक्तृत्व यह सब जागते रहने वाले के ही लिए है।

(यः जागार) जो जागता है (तं) उसे (ऋचः) ऋचायें, स्तुतियाँ (कामयन्ते) चाहती हैं, (यः जागार) जो जागता है (तं उ) उसे ही (सामानि) साम, स्तुतिगान (यन्ति) प्राप्त होते हैं और (यः जागार) जो जागता है (तं) उसे, उसके सामने आकर (अयं) यह (सोमः) सोम, भोग्य-संसार (आह) कहता है कि "(तव अहं अस्मि) मैं तेरा हूं (सख्ये न्योकाः) तेरी मित्रता में ही मेरा निवास है, तेरे सख्य के लिए मैं सदा नियत स्थान पर उपस्थित हूं।"

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुः, यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः ।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं, न स्तां कृणवद् विश्वकर्मा ।।

अथर्व० 2.35.1

इस संसार में भोगों को भोगते हुए हम मनुष्यों का साथ ही यह भी कर्तव्य हो जाता है कि हम भोग से क्षीण हो जाने वाले ऐश्वर्य को अपने उत्पादक कर्म द्वारा सदा संसार में बढ़ाते भी जायें। हरेक अन्न खाने वाले का कर्तव्य है कि वह अन्न को उत्पन्न करने में कुछ न कुछ सहायता भी दे। यही यज्ञ-कर्म है। जो लोग यह यज्ञ-कर्म नहीं करते, उन्हें परमात्मा की अग्नियाँ जलाने लगती है, उन्हें दुःख से संतप्त होना पड़ता है। परमात्मा की वे जगत् में स्थापित अग्नियाँ जो कि हम मनुष्यों के लिए भोग्य-ऐश्वर्यों को उत्पन्न कर रही हैं, उन्हें यदि हम भोग भोगने के बाद अपने यज्ञ-कर्म द्वारा अगले भोगों के उत्पन्न करने के लिए सहायता न देंगे—उस दिशा में उद्दीप्त न करेंगे, तो वे अग्नियाँ हमें संतप्त करने लगेंगी। यही संसार में दुःखों के अस्तित्व का रहस्य है। भोग के साथ यज्ञ जुड़ा हुआ है। मनुष्य-समाज इसी तरह चल रहा है। मनुष्य परस्पर मिलकर अपने परिश्रमों से भोग्य-वस्तुओं को बढ़ा रहे हैं और फिर उन्हें भोग रहे हैं। परन्तु मनुष्य-समाज में जो मनुष्य स्वार्थी होकर भोग का सुख लेना चाहते हैं पर यज्ञ-कर्म (परिश्रम) नहीं करना चाहते, उनकी उस 'दुरिष्टि' द्वारा हमारे मनुष्य-समाज रूपी यज्ञ में भंग होता है। उनकी इस दुष्प्रवृत्ति से उनका पतन होता है, उनका आत्मतेज दबता जाता है। इस उलटे चक्र को चलाने का यत्न करने के कारण उनको संसार का ताप, दुःख भी मिलता है पर उनकी इस वैयक्तिक हानि से हमारे मनुष्य-समाज की भी क्षति होती है, मनुष्य-समाज को उनका बोझ सहना पड़ता है। उनको कष्ट व अनुताप इसलिये होता है, इसीलिये मिलता है कि वे यह समझ जायें कि उन्हें मनुष्य-समाज रूपी यज्ञ का भंग न करना चाहिये। उन्हें अपनी केवल भोग भोगने की 'दुरिष्टि' को बदल कर यज्ञ-कर्म करने की 'स्विष्टि' में ले जाना चाहिये। अहा ! सब मनुष्य-समाज के व्यक्ति इस सत्य को समझें और सभी स्वेच्छा से यज्ञ-कर्म द्वारा जगत् के ऐश्वर्य को बढ़ाने में सहायक होयें, तो कैसा सुख होये, किसी को अनुतप्त न होना पड़े, समाज की उन्नति होती जाये।

मनुष्य समाज में (ये) जो लोग (भक्षयन्तः) निरन्तर भोग करते हुए भी (वसूनि न आनृधुः) उन भोग्य-ऐश्वर्यों को बढ़ाते नहीं हैं और अतएव (यान्) जिन लोगों को (धिष्ण्याः अग्नयः, [परमात्मा द्वारा] जगत में स्थापित प्राणादि अग्नियाँ (अनु अतप्यन्त) भोग के अनन्तर संताप देती हैं, जलाती हैं (तेषां) उन लोगों की (या अवया दुरिष्टिः) जो नीचे गिराने वाली यह दुष्प्रवृत्ति या दुष्ट-यजन है (तां) उसे (नः) हमारे लिए (विश्वकर्मा) विश्वकर्ता परमेश्वर (स्विष्टिं) सुप्रवृति या ठीक यजन के रूप में (कृणवत्) कर दें।

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृति र्मुखं च, वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा, देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ।।

अथर्व० 2.35.5

मेरे जीवन-यज्ञ को भरण पोषण करने वाली मेरी दर्शनशक्ति है। इससे नित्य नया सत्यज्ञान पाता हुआ मेरा मनुष्य-जीवन उन्नत उन्नत होता जा रहा है। इस यज्ञ का साधनभूत जो मेरा स्थूल-शरीर है, उसका भरण पोषण मुँह द्वारा अन्न-ग्रहण करने से हो रहा है। पर मेरा यह सब मानसिक-पोषण और यह सब शारीरिक-पोषण यज्ञ के लिए ही है। मैं उन्नत हुए मन से, शरीर से, इन्द्रियों से जो कुछ करता हूँ, वह सब हवन ही करता हूँ। वाणी से जो बोलता हूँ, वह हवन ही करता हूँ, ऐसा कुछ नहीं बोलता जो कि प्रभु को साक्षी रख कर नहीं होता, जो कि अन्यों का हितकर नहीं होता। कानों से जो सुनता हूँ, वह प्रभु-अर्पण-बुद्धि से सुनता हूँ, वह श्रेष्ठ पवित्र ही श्रवण करता हूँ जो कि फलतः सर्वभूतहित के लिए हो। इसी तरह मन के भी एक एक मनन, चिन्तन को, ऐसा पवित्र, निर्विकार, हवनरूप करने का यत्न करता हूँ। मैं सदा स्मरण रखता हूँ कि यह मनुष्य-जीवन मुझे विश्वकर्मा प्रभु ने यज्ञरूप करके दिया है। मुझे यह ध्यान रहता है कि यह जीवन-यज्ञ उस प्रभु का आरम्भ किया हुआ, चलाया हुआ है। जिस यज्ञ-स्वरूप ने यह सब विश्व-ब्रह्माण्ड रचा है, उसी विश्वकर्मा ने अंपने इस विश्व में मेरा यह छोटा सा जीवन-यज्ञ भी शतवर्ष तक चलने के लिए प्रारम्भ किया है। यही विचार है जो कि मुझे अपने एक एक कर्म को संयमपूर्ण, पवित्र और त्यागमय बनाने को प्रेरित करता है। मैं सचिन्त और सावधान रहता हूँ कि कहीं यह विश्वकर्मा का विस्तृत किया हुआ पवित्र यज्ञ मेरे किसी कर्म से कभी भ्रष्ट न हो जाये। इसलिये, हे देवो ! प्रभु के संसार-यज्ञ को चलाने वाली दिव्य-शक्तियो ! तुम मेरे इस यज्ञ में भी प्रसन्नचित्त होकर आओ और इसे अधिक अधिक यज्ञिय, पवित्र बनाओ। तुम्हारा तो कार्य ही यज्ञ में आना है। अतः हे दिव्य गुणो ! तुम मुझमें आओ, प्रसन्नचित्त होकर आओ। मैं अपने जीवन को यज्ञ बनाता हुआ तुम्हें बुला रहा हूँ। अतः, हे यज्ञप्रिय दैवभावो ! तुम प्रसन्नता-पूर्वक मुझमें वास करो। देवों के सब गुण, सब देवभाव, सब देवत्व मुझमें आ जावें, स्वभावतः मुझमें आ जायें, मुझमें बस जायें।

(यज्ञस्य) मनुष्य-जीवन-यज्ञ के **(प्रभृतिः)** भरण पोषण का साधन **(चक्षुः)** दर्शनशक्ति है **(मुखं च)** और मुख भी है। **(वाचा श्रोत्रेण मनसा)** वाणी से, कान से, और मन से **(जुहोमि)** मैं हवन ही करता हूँ। **(इमं यज्ञं)** यह मेरा जीवन-यज्ञ **(विश्वकर्मणा)** जगत् रचयिता परमात्मा ने **(विततं)** विस्तृत किया है, इसमें **(देवाः)** सब देव, दिव्य भाव **(सुमनस्यमानाः)** प्रसन्न होते हुए **(आ यन्तु)** आयें।

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीया, उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्त्ति ॥

अथर्व० 11.5.4

यह संसार ब्रह्मचर्य से ही पालित, पोषित और पूरित हो रहा है। इस जगत् के आधार में यदि ब्रह्मचर्य का परमवीर्य न होता तो यह जगत् कब का खतम, खाली और छूछा हो चुका होता। अपने शारीरिक-वीर्य की, ब्रह्मतेज की और आत्मिक-वीर्य (आत्म-तेज) की रक्षा करने वाले संयमी ब्रह्मचारी लोग ही हैं जो कि इस त्रिलोकी को निरन्तर जीवन-तेज से पूरित कर रहे हैं। ब्रह्मचारी अपने शरीर को, अपने मन को, अपनी आत्मा (विज्ञानमय) को तीन समिधायें बना कर वृहत् अग्नि (आचार्याग्नि या परमात्माग्नि) में रखता है, उसके अर्पण कर देता है। इसका फल यह होता है कि उसकी ये तीनों समिधायें प्रदीप्त हो जाती हैं—उसके शरीर में वीर्य का तेज आ जाता है, उसका मन ब्रह्म-तेज से समिद्ध हो जाता है और उसका आत्मा आत्मतेज से सूर्यवत् जाज्वल्यमान, प्रकाशित हो जाता है। शरीर की समिधा से वह स्थूल पृथिवी लोक को तृप्त और परिपूर्ण करता है, मन की दीप्ति से अन्तरिक्ष-लोक को पूरित करता है और आत्मप्रकाश से द्युलोक को। इस तरह से संसार का प्रत्येक सच्चा ब्रह्मचारी अपने इस संचित, रक्षित, त्रिविध तेज (समिधा) द्वारा इन तीनों लोकों को पालित कर रहा है। मेखला का अर्थ है सदा कटिबद्ध, मुस्तैद, तैयार, सावधान रहना; आलस्य, खाली रहने की इच्छा, शिथिलता, प्रमाद ब्रह्मचारी के घोर शत्रु हैं। इसी तरह खूब श्रम करना, शरीर और मन से खूब काम लेकर इन्हें थका देने पर ही विश्राम ग्रहण करना, यह ब्रह्मचारी का धर्म है; आराम-पसन्द, कामचोर मनुष्य के भाग्य में ब्रह्मचर्य का सुख नहीं है। तप करना, सब द्वन्द्वों का सहना, गर्मी सर्दी, भूख प्यास, सुख दुःख आदि को प्रसन्नतापूर्वक सहना यह ब्रह्मचारी का तीसरा परमावश्यक व्रत है। कटिबद्धता, श्रम और तप के पालन द्वारा ही ब्रह्मचारी में त्रिविध तेज का (वीर्य का) रक्षण और संचय होता है और इन्हीं तीन के लगातार अनुष्ठान द्वारा ही ब्रह्मचारी अपने इस तेज का उपयोग करता हुआ लोकों का (त्रिविध संसार का, संसार के लोगों का) पालन पोषण और पूरण करता है। इन्हीं में ब्रह्मचर्य की अपार महिमा का रहस्य है।

(इयं समित्) यह पहिली समिधा (पृथिवी) पार्थिव-जगत् की; (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक की, आत्मिक जगत् की, (उत) और वह (समिधा) अपनी तीसरी समिधा द्वारा (अन्तरिक्षं) मध्य के मनोमय अन्तरिक्ष लोक को (पृणाति) पूर्ण करता है। इस प्रकार (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) समिधा से, त्रिविध दीप्ति से (मेखलया) मेखला से, कटिबद्धता से (श्रमेण) श्रम से और (तपसा) तप से (लोकान्) तीनों लोकों को, संसार के सब लोगों को (पिपर्ति) पालित, पोषित और पूरित करता है।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० 10.121.2, यजु० 25.32, अथर्व० 4.2.1

आओ, हम अपना सर्वार्पण करके भी उस सुखस्वरूप देव की पूजा करें जो हमें हमारे आत्मस्वरूप का देने वाला है। हम अपने आप (आत्म) को ही भूलकर भटक रहे हैं, वह हमें अपने इस आप को प्राप्त करा देता है। वही हमें बल भी देता है; अपने को खोकर आत्मशक्ति हीन हुए हम लोगों को वही अपनी करुणा से शक्ति भी प्रदान करता जाता है। और जब हम उस सब शक्ति के भंडार को कुछ अनुभव करने लगते हैं तो हम देखते हैं कि यह सब विश्व उसके आश्रित है, सब प्राणियों को सब कुछ देने वाला वही है, सब प्राणी उसी के प्रकृष्ट-शासन में रह रहे हैं। जाने या अनजाने सब उसी का आश्रय ग्रहण कर रहे हैं। उसके परिपूर्ण शासन को कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके नियम अटल हैं। संसार में जो बड़ी से बड़ी शक्तियाँ (देव) काम करती दिखाई दे रही हैं, वे सब उसी की आज्ञापालन कर रही हैं। उसी की प्रेरणा से प्रेरित पृथ्वी, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव अपने अपने महान् कार्य ठीक-ठीक चला रहे हैं। ऋषि देखते हैं कि मृत्यु भी उसी के भय से उसकी आज्ञा में दौड़ता फिर रहा है। अहो! इस मौत से तो यह सम्पूर्ण ही संसार डरता है। सचमुच इस जगत् में जहाँ सुख भोग हैं, वहाँ इन्हें क्षणिक बनाने वाला दुःख संताप भी जगत् में है और कोई भी ऐसा जन्म पाने वाला नहीं है जो कि मृत्यु का ग्रास न होता हो। देखो, यह 'राम की चक्की' संसार में ऐसी चल रही है कि उसमें सब पिसते जा रहे हैं, मरते जा रहे हैं। इस मृत्यु के विकराल कालचक्र को चलाने वाला इसका शासक भी वही है। सब संसार दुःख-पीड़ित और मौत का मारा हुआ पड़ा है। हे मनुष्यो! यदि तुम उस की इस विकराल भयरूपिणी मृत्युदेवी से घबरा चुके हो तो यह भी आश्चर्य देखो कि जब मनुष्य उस प्रभु की शरण में आ जाता है तो यही मृत्यु अमृत बन जाती है! उस प्रभु की मंगलमय छाया में कोई संताप नहीं रहता, 'मृत्यु' भी मृत्यु नहीं रहती! आत्मस्वरूप को देकर वह हमें क्षण में अमर कर देता है। आओ, हम उस आत्मस्वरूप को देने वाले की शरण में आकर अमर बन जायें, उसी से बल की याचना करें जिससे कि हम सदा उसकी छाया में ही सुख से रहने में कृतकार्य हो जायें।

(यः आत्मदाः) जो आत्मस्वरूप को देने वाला और (बलदाः) शक्ति को देने वाला है। (यस्य विश्व उपासते) सब जिसकी उपासना करते हैं और (यस्य देवाः प्रशिषं [उपासते]) देव भी जिसके प्रशासन के आश्रित हैं—जिसकी सर्वोच्च आज्ञा में चलते हैं। (यस्य छाया अमृतं) जिसकी शरण या आश्रय पाना अमर होना है और (यस्य मृत्युः) जिसकी [जिससे दूर होना ही] मृत्यु है (कस्मै देवाय) उस "क" [सुखस्वरूप] देव का हम (हविषा विधेम) आत्मत्याग द्वारा पूजन करते हैं।

आषाढ़ (मिथुन) के लिए

प्राणदायक व्यायाम

1—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति में खड़े हो जाइये। भुजाएँ छाती के सामने कन्धों के साथ समकोण बनाती हुई समरेखा में फैला लीजिये। हथेलियाँ नीचे की तरफ हों। मुट्ठियाँ कस लीजिये और सारे शरीर को जहाँ तक हो सके, वहाँ तक कसा हुआ रखिये।

अब पेट तक पहुँचने वाला एक गहरा श्वास अन्दर लीजिये और साथ ही हाथों को धीरे-धीरे इतना मोड़िये कि मुट्ठियाँ ऊपर की तरफ आ जायें, पेट को अन्दर सिकोड़ते हुए श्वास को धीमे-धीमे बाहिर निकालिये। ऐसा करते हुए हाथों को पहिली स्थिति में अर्थात् मुट्ठियों को नीचे की ओर ले आइये। इस सारे समय में शरीर की सारी मांसपेशियाँ पूरी तरह तनी रहनी चाहियें। अब शरीर को ढीला छोड़िये और इस व्यायाम को फिर फिर कीजिये।

इस मास के लिए दूसरी व्यायाम निम्न है—

2—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति में खड़े होकर कटि प्रदेश से ऊपर के भाग को इतना झुकाइये कि ऊपर का भाग टाँगों के साथ समकोण बना ले। हाथ नीचे लटके रहें। अब कटि के निचले भाग की स्थिति को बिल्कुल न बदलने देते हुए दोनों हाथों को इस तरह ऊपर की तरफ ले जाइये कि उन दोनों हाथों की पीठ (पृष्ठ भाग) कंधे के ऊपर मिल जायें। इस अवस्था में हाथों की मुट्ठियाँ कसी रहनी चाहिये। शरीर की अन्य मांसपेशियाँ ढीली रखी जा सकती हैं। हाथों को जब ऊपर की ओर ले जा रहे हों तब अन्दर श्वास लीजिये और जब नीचे की ओर ला रहे हों तब श्वास बाहिर निकालिये।

शरीर को ढीला छोड़िये और इस व्यायाम को फिर फिर कीजिये।

इन दोनों व्यायामों में मन को छाती, आमाशय और पेट पर एकाग्र करना चाहिये और मन में इनको पूर्ण स्वस्थ रूप में चित्रित करना चाहिये।

ध्यान—मेरी छाती, आमाशय और पेट बिल्कुल ठीक काम कर रहे हैं और स्वस्थ हैं—इत्यादि प्रकार के शब्द बनाकर ध्यान कीजिये।

इन अंगों को गौणतया चैत्र, आश्विन और पौष मास की प्राणदायक व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँचता है।

अश्मन्वती रीयते संरभध्वं, उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीमो अशिवा ये असन्, शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान्॥

यजु० 15.10, ऋ० 10.53.8, अथर्व० 12.2.26

भाइयो ! सांसारिकता की नदी बड़े वेग से बह रही है। अपने अभीष्ट सुखों को, सच्चे भोगों को, बलों को हम इस नदी के पार पहुंचकर ही पा सकते हैं। पर हमें बहाये लिए जाने वाले विषयों के इस भारी प्रवाह को तर जाना भी आसान कार्य नहीं है। यह नदी बड़ी विकट है। इस में पड़े हुए भोग्य-पदार्थों के बड़े-बड़े और फिसलाने वाले चिकने पत्थर हमारे पैरों को जमने नहीं देते हैं। इन शिलाओं की ठोकर खाकर कदम-कदम पर गिर पड़ने का डर है, उधर नदी का वेग हमें बहाये लिए जाता है। परन्तु पार बिना पहुँचे हमें सुख, शान्ति भी नहीं मिल सकती। अतः भाइयो ! उठो, मिलकर एक दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढ़ो। हिम्मत करके उठ खड़े होओ और दृढ़ता के साथ प्रबल यत्न करते हुए इस नदी के पार उतर जाओ। पर सबसे बड़ी विपत्ति तो यह है कि पहिले ही पत्थरों वाली और वेगवती इस नदी के पार उतरना इतना मुश्किल हो रहा है, ऊपर से हमने अपने बहुत से 'अशिव' संग्रहों का बोझ भी सिर पर लाद रखा है। भोगेच्छा, कुसंस्कार, अधर्म की वासना तथा पापों के भारी बोझ से हमने अपने को बोझिल बना रखा है। इसके कारण हमारा पार उतरना असंभव हो रहा है। आओ साथियो ! भाइयो ! पहिले हम इन सब 'अशिव' वस्तुओं को यहीं फेंक दें। इन्हें छोड़कर हलके हो जायें जिससे कि हम नदी उतरने के लिए आसानी से अपनी पूरी शक्ति लगा सकें। जितने शुभ, कल्याणकारी 'वाज' हैं, सच्चे भोग हैं, बल हैं, ज्ञान हैं, वे तो हमारे लिए बहुतायत में नदी के पार विद्यमान हैं, हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तो हम मूर्ख लोग इन 'अशिव' वस्तुओं को किस लिए उठाये हुए हैं ? यह बोझ तो हमें डुबा देने में ही सहायक होगा। यदि इस बोझ के साथ हम स्वयं डूब मरना या नदी-प्रवाह हो जाना नहीं चाहते तो हमें इन सब बुराइयों का तो यहीं नदी-प्रवाह कर देना चाहिये। इन 'अशिव' संग्रहों के बोझ से छुटकारा पाकर हमें एक दूसरे को सहारा देते हुए आगे बढ़ना चाहिये। विषयों के प्रबल प्रवाह से बचने के लिए हम सबको परस्पर एक दूसरे के 'संरम्भ' (आश्रय) की जरूरत है। हे कल्याण चाहने वालो ! यह नदी चाहे कितनी विकट हो, पर इसे बिना पार किये और कुछ चारा नहीं है।

(अश्मन्वती) पत्थरों, शिलाओं वाली नदी **(रीयते)** वेग से बह रही है। **(सखायः)** हे साथियो, मित्रो ! **(उत्तिष्ठत)** उठो **(संरभध्वं)** मिलकर एक दूसरे को सहारा दो और **प्र तरत**) इस नदी को प्रबलता से तर जाओ। आओ, **(ये अशिवाः असन्)** जो हमारे अकल्याणकर संग्रह हैं उन्हें हम **(अत्र जहीमः)** यहीं छोड़ दें और **(शिवान् वाजान् अभि)** कल्याणकारी सुखों, बलों और ज्ञानों को पाने के लिए **(वयं)** **(उत्तरेम)** इस नदी के पार हो जायें।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति यः प्रतंकम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मंत्रयेते, राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥

अथर्व० 4.16.2

पाप से वास्तव में डरने वाले मनुष्य संसार में विरले ही होते हैं। आमतौर से तो लोग पाप करने से नहीं डरते किन्तु पापी समझे जाने से डरते हैं। जहाँ कोई देखने वाला न हो, वहाँ अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाना, कोई पाप कर लेना, साधारण बात है। पाप व अपराध कर्म से बचने की कोई कोशिश नहीं करता; कोशिश तो इस बात की होती है कि हम वैसा करते हुए कहीं पकड़े न जायें। यही कारण है कि मनुष्य अपने बहुत से कार्य छिप कर अकेले में करने को प्रवृत्त होता है। परन्तु यदि उसे इस संसार के सच्चे एकमात्र राजा वरुणदेव की खबर हो तो वह ऐसे घोर अज्ञान में न रहे। यदि उसे मालूम हो कि वे जगत् के ईश्वर वरुण भगवान् सर्वव्यापक और सर्वद्रष्टा हैं तो वह पाप के आचरण करने से डरने लगे; वह एकान्त में भी कभी पाप में प्रवृत्त न हो सके। सचमुच हम बड़े धोखे में हैं, यदि हम समझते हैं कि हम कोई काम गुप्त तौर पर कर सकते हैं। उस सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक वरुण से तो कुछ भी छिपा कर करना असंभव है। जब हम दो आदमी कोई गुप्त मंत्रणा करने के लिए किसी अँधेरी से अँधेरी कोठरी में जाकर बैठते हैं और सलाहें करने लगते हैं तो यद्यपि हम समझ रहे होते हैं कि हम दोनों के सिवाय संसार में और कोई इन बातों को नहीं जानता तथापि इन सब बातों को वह वरुणदेव वहीं तीसरा होकर बैठा हुआ सुन रहा होता है। यदि हम वहाँ से उठकर किसी किले में जा बैठें या किसी सर्वथा निर्जन वन में पहुँच जायें तो वहाँ पर भी वह वरुणदेव तो तीसरा साक्षी होकर पहिले से बैठा हुआ होता है। उससे छिपाकर हम कुछ नहीं कर सकते हैं। यदि हम दूसरे किसी आदमी को भी कुछ नहीं बताते, केवल अपने ही मन में कुछ सोचते हैं तो वह वरुण तो उसे भी जानता है, सब सुनता है। हमारे चलने या ठहरने को, हमारी छोटी से छोटी हरकत को, वह जानता है। हम दूसरों को धोखा देते हैं, ठग लेते हैं और समझते हैं कि इसका किसी को पता नहीं लगा, तब हम खुद कितने भारी धोखे में आये होते हैं क्योंकि उस वरुण को तो सब कुछ पता होता है और हमें उसका फल भोगना पड़ता है।

(यः तिष्ठति, चरति) जो मनुष्य खड़ा है, या चलता है, (यः च वञ्चति) जो दूसरों को ठगता है (यः निलायं चरति) जो छिपकर कुछ करतूत करता है (यः [प्रतंक चरति]) जो दूसरों को भारी कष्ट आदि देकर अत्याचार करता है और (द्वौ सन्निषद्य) जब दो आदमी मिल कर, एक साथ बैठकर, (यत् मंत्रयेते) जो कुछ गुप्त मंत्रणायें करते हैं (तत्) उसे भी (तृतीयः) तीसरा होकर (वरुणः राजा) सर्वश्रेष्ठ सच्चा राजा परमेश्वर (वेद) जानता है।

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात्, न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः ।
दिवःस्पशः प्र चरन्तीदमस्य, सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥

अथर्व० 4.16.2

एक राष्ट्र (रियासत) के राजद्रोह का अपराधी भी उस के दण्ड से किसी दूसरे राष्ट्र में भाग जाकर बच सकता है परन्तु इस संसार के परिपूर्ण राजा—पाप-निवारक सच्चे राजा—वरुण का अपराध करके, इस संसार के अटल नियमों का भंग करके अर्थात् झूठ, द्रोह, हिंसा आदि करके, यदि कोई चाहे कि हम कहीं भाग जाकर इनके प्राप्तव्य प्रतिफलों से बच जायें तो यह असम्भव है। वरुण राजा के राज्य के बाहिर मनुष्य कभी भी नहीं जा सकता। इस विस्तृत, दुर्गम, विशाल भूतल के किसी भी प्रदेश में ही नहीं, किन्तु वह हो सके तो चाहे मंगल, शुक्र आदि किसी अन्य लोक में भी चला जाए और यदि सम्भव हो तो चाहे वह इस सौर-मण्डल (दिवः) से भी परे कहीं जा पहुँचे, तो भी वह वरुण राजा के राज्य के पार नहीं जा सकता। वह चाहे कहीं चला जाए, अपना प्राप्तव्य दण्ड उसे जरूर भोगना पड़ेगा, अपने किये हुए कर्म के बन्धन से वह कहीं भी जाकर नहीं छूट सकता। ये दुनियावी राजाओं (राजा कहलाने वालों) के गुप्तचर तो हमारे जैसे अज्ञानी मनुष्य भी होते हैं, उन्हें बहुत धोखे दिये जा सकते हैं और वे असंख्यों भ्रमों के भाजन होते हैं परन्तु उस वरुण राजा के दिव्य गुप्तचरों से मनुष्य कभी बच नहीं सकता। वे सब कुछ जान लेने में समर्थ होते हैं। वे इस ब्रह्माण्ड भर में सर्वत्र व्यापक हुए हुए हैं। वे उस स्वयं-प्रकाश वरुणदेवरूपी सूर्य की अनन्त किरणें बनकर सब ब्रह्माण्ड में फैले हुए हैं। वे उस की ज्ञानशक्तियों के रूप में हैं। अतः हम मनुष्य जब किन्हीं ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करते हैं (शरीर से, वाणी या मन के मनन से भी मन में कोई भी अनिष्ट आचरण करते हैं) तो उसी क्षण, उसी स्थान पर ये दिव्य वरुण-दूत हमें जान लेते हैं, बल्कि हमें अपने अदृश्य पाशों से तत्काल बाँध भी लेते हैं, पर हमें कुछ मालूम नहीं होता। वरुण के 'स्पशों' (चरों) का यह कमाल देखो! यह परम गुप्तचरता देखो! वे हजारों आँखों वाले, असंख्यों प्रकार से देखने वाले 'स्पश', देश काल आदि के सब व्यवधानों का अतिक्रमण करके सब ठीक-ठीक देखते हुए ब्रह्माण्ड भर में विचर रहे हैं।

(यः उत) जो भी कोई जीव (द्यां अति) द्युलोक को पार करके (परस्तात्) उससे भी परे (सर्पात्) चला जाय (स) वह भी (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा से (न मुच्यातै) मुक्त नहीं हो सकता, बच नहीं सकता। (दिवः अस्य) प्रकाशस्वरूप इस वरुण के (स्पशः) गुप्तचर (इदं) इस सब ब्रह्माण्ड में (प्र चरन्ति) अच्छी तरह घूम रहे हैं जो (सहस्राक्षाः) हजारों आँखों वाले होकर (भूमिं) इस भूमि को (अति पश्यन्ति) अतिक्रमण करके देख रहे हैं—जिसे अन्य नहीं देख सकते उसे भी देख रहे हैं।

**शिवास्त एका अशिवास्त एकाः, सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्, तासामेका वि पपाताभु घोषम्॥**
अथर्व० 7.43.1

हे मनुष्य ! जो तू वाणियाँ बोला करता है, उनमें कुछ तेरा कल्याण करने-वाली होती हैं और कुछ अकल्याण करने वाली। जो वाणियाँ सच्ची और प्यारी होती हैं, जो दूसरे के हित के लिए, लाभ पहुँचाने के लिए, सत्य फैलाने के लिए बोली जाती हैं वे कल्याणकारिणी होती हैं और जिन वाणियों को तू छल कपटपूर्वक, द्वेष व क्रोध के साथ, दूसरे की हानि पहुँचाने के लिए बोलता है, उनसे तेरा भारी अकल्याण होता है। पर तू वाणियों के इस महान् भेद को न समझता हुआ इन सब प्रकार की वाणियों को बोलता जाता है—अच्छी बुरी दोनों वाणियों को एक ही प्रकार प्रसन्नतापूर्वक बेखटके बोलता जाता है। तू शायद समझता है कि तेरे बोले हुए शब्दों का जो कि उसी समय नष्ट होते दीखते हैं, तुझ पर कुछ असर नहीं होता या नहीं हो सकता। पर तुझे पता नहीं कि तू वाणी को केवल बोलता नहीं है किन्तु उसे धारण भी करता है। तू जो शब्द रूप में बोलता है, वह तो वाणी का एक भाग (एक चौथाई भाग) है; उस वाणी के शेष तीन भाग तो तेरे अन्दर छिपे पड़े हुए होते हैं, तुझमें रखे हुए होते हैं। जो अभिप्राय तू शब्दों में (इस चौथी वैखरी वाणी में) बोलता है, वह अभिप्राय तेरे मन में (तीसरी मध्यमा वाणी के रूप में) समाया रहता है और मन में बोले जाने से भी पूर्व वह अभिप्राय तेरे अन्दर साकार व निराकार ज्ञान के रूप में रहता है (जिन्हें कि क्रमशः दूसरी और पहली, पश्यन्ती और परा वाणी कहते हैं)। एवं तेरी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वाणी तेरे अन्दर अपने तीन पाद रखे रहती है और चौथे पाद में वह बाहिर शब्दरूप में दीखती है। यह शब्दरूप चौथाई वाणी चाहे तुझे अपने पर कुछ असर कर सकने वाली न दीखती हो, पर वाणी के इस समूचे रूप पर—वाणी के अन्दर के इन तीनों रूपों पर—भी जब तू ध्यान देगा तो तुझे दीखेगा कि सच्ची कल्याणकारिणी वाणी तुझमें परा, पश्यन्ती और मध्यमारूप में ठहरी हुई तुझ पर कितना कल्याणकारी प्रभाव कर रही है और बुरे अभिप्राय से परा, पश्यन्ती और मध्यमारूप में धारण की हुई अकल्याणकारी वाणी अन्दर-अन्दर से तेरा कितना भारी अकल्याण कर रही है।

हे मनुष्य ! (ते) तेरी (एकाः) एक (शिवाः) कल्याणकारिणी वाणियाँ हैं (ते एकाः अशिवाः) और एक अकल्याणकारिणी हैं, पर तू (सर्वाः) उन सब को (सुमनस्यमानः) प्रसन्न चित्त से (बिभर्षि) धारण करता है। वाणी के (तिस्रः वाचः) तीन भाग (अस्मिन् अन्तः निहिता) तेरे इस देह के अन्दर छिपे रखे हैं (तासां एका) उनका एक हिस्सा ही (घोषं अनु) शब्द व आवाज के रूप में (विपपात) बाहर निकलता है।

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्, तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः, सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम ।।

अथर्व० 6 1।7.3

मनुष्य तो जन्म से ही कुछ ऊँचे ऋणों से बँधा हुआ है। मनुष्य उत्पन्न होते ही ऋणी है और उन वास्तविक ऋणों से मुक्त होना ही मनुष्य-जीवन की इति-कर्त्तव्यता है। मनुष्य ने संसार के तीनों लोकों को भोगने के लिए जो तीन शरीर पाये हैं, उसी से वह तीन प्रकार से ऋणी है। हे प्रभो! हम चाहें पितृयाण मार्ग के यात्री हों या देवयान के, हम इन तीन लोकों की अनृणता करते हुए ही रहें। हम अपनी सब शक्ति और सब यत्न इन ऋणों को उतारने में ही व्यय करते हुए जीवन बितायें। इस स्थूल भूलोक का ऋण अन्यों को भौतिक सुख देने से तथा समाज को कोई अपने से श्रेष्ठतर भौतिक सन्तान दे जाने से उतरता है। इसी तरह मनुष्यों को जगत् की प्राकृतिक अग्नि आदि शक्तियों से तथा साथी मनुष्यों की निस्स्वार्थ सेवाओं से जो सुख निरन्तर मिल रहा है उसके ऋण को उतारने के लिए, इन यज्ञ-चक्रों को जारी रखने के निमित्त उसे यज्ञकर्म करना भी आवश्यक है। और तीसरे ज्ञान के लोक से मनुष्य को जो ज्ञान का परम लाभ हो रहा है, उसकी संतति भी जारी रखने के लिए स्वयं विद्या का स्वाध्याय और प्रवचन करके उससे उसे उऋण होना चाहिये। जो त्यागी लोग सांसारिक-भोग की कामना नहीं करते अतएव जिन्हें ये तीन ऋण इस तरह नहीं बाँधते, उन ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा के मार्ग से चलने वाले देवयान के यात्रियों को भी अपने तीनों शरीरों के उपयोग लेने का ऋण चुकता करना चाहिये अर्थात् अपने भौतिक शरीर से वे बेशक सन्तान उत्पन्न करना आदि न करेंगे पर उस द्वारा सेवा के अन्य स्थूल कर्म उन्हें करने ही चाहियें और अपने प्राण व मन के दूसरे शरीर से प्रेम दया आदि की धारायें बहानी चाहियें तथा द्युलोक सम्बन्धी तीसरे विज्ञानमय शरीर द्वारा ज्ञान-सूर्य बनकर ज्ञान की किरणें प्रसारित करते हुए तीसरे लोक में भी अनृण होना चाहिये।

ओह! मनुष्य तो सर्वदा ऋणों से लदा हुआ है! जो जीव इस त्रिविध शरीर को पाकर भी अपने को ऋणबद्ध नहीं अनुभव करता वह कितना अज्ञानी है! हमें तो, हे स्वामी! ऐसी बुद्धि और शक्ति दो कि हम चाहे देवयानी हों या पितृयानी, हम सब लोकों में रहते हुए, सब मार्गों पर चलते हुए, लगातार अनृण होते जायें। अगले लोक में पहुँचने से पहले पूर्वलोक के ऋण हम अवश्य पूरे कर दें और अगले मार्ग पर जाते हुए पिछले मार्ग के ऋण उतार चुके हों। इस तरह लगातार घोर यत्न करते हुए हम सदा, सब लोकों में अनृण होकर ही रहें।

(अस्मिन् अनृणाः) इस लोक में हम अनृण होयें, (परस्मिन् अनृणाः) पहले लोक में अनृण हों और (तृतीये लोके अनृणाः स्याम) तीसरे लोक में भी अनृण होयें (ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः) जो देवयान या पितृयान मार्गों के लोक हैं उनमें (सर्वान् पथः) सब मार्ग चलते हुए हम (अनृणाः आ क्षियेम) ऋणमुक्त होकर रहें, बसें।

6 आषाढ़

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षात्, अपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन ।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने, छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥

अथर्व० 6.124.1

हे महान् प्रभु ! हम स्वल्प मनुष्य अपनी तुच्छ कामनाओं को यूं ही इतना भारी समझा करते हैं। हम मनुष्यों को जिस समय जो कामना होती है, उसे हम इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि हम समझते हैं यदि हमारी वह इच्छा पूरी न हुई तो हम मर जायेंगे और यदि पूरी हो गई तो सदा के लिए उससे निहाल हो जायेंगे— मानो फिर हमें कुछ कामना ही न रहेगी। परन्तु हम अपनी इच्छाओं को इतना महत्त्व इसीलिए देते हैं क्योंकि हम तुम्हारे अनन्त महत्त्व को अनुभव नहीं करते। हम यह अनुभव नहीं करते कि तुम तो जल के अपार समुद्र हो और हमारी प्रवल से प्रबल प्यास को (जिसके मारे हम मरे जाते हों) एक लुटिया भर पानी से बुझा सकते हो। नहीं, तुम तो कामनाओं के बरसाने वाले, सब तरफ फैले हुए असीम अन्तरिक्ष हो, और तुम हमें अपनी इस अनन्त वृष्टि में से केवल एक बूंद ही देकर तृप्त कर सकते हो—छका सकते हो। तुम्हारे दिव्यज्ञानमय बृहत् आकाश से बरसने वाले ज्ञान-बिन्दुओं में से एक बूंद में ही वह रस है, वह शक्ति है कि हम उन ज्ञान-बिन्दुओं को ही पाकर परितृप्त हो जाते हैं। हे प्रभु ! मुझे न जाने कितनी कामनायें थीं, मुझे अपने में न्यूनतायें ही न्यूनतायें दिखलायी देती थीं और मैं समझता था कि मेरी ये न्यूनतायें पूरा यत्न करते हुए भी कई जन्मों में भी पूर्ण न होंगी। पर, हे पिता ! मैं क्या बताऊँ, तेरे ज्ञानप्रकाशमय दिव्य अन्तरिक्ष से मुझ पर तेरी एक ही बूंद गिरी, पर उस में वह रस था कि उस तेरे शक्तिकण द्वारा मुझ में इन्द्रिय (इन्द्रवीर्य=आत्म-शक्ति) जाग गयी, मुझको स्थिर पोषक रस मिल गया, मुझ में छन्दोबद्ध दिव्यज्ञान प्रकट होने लगा, मुझे यज्ञों का दर्शन होने लगा (अर्थात् मुझे किस समय किस प्रकार से आत्मत्यागमय शुभ कर्म करना चाहिये, यह भासित होने लगा) और पुण्यों द्वारा जिस सुख का अर्जन संसार करना चाहता है, वह सुख भी मेरा साथी हो गया। इतनी सब वस्तुएँ मुझे इकट्ठी मिल गईं।...लोगों को इस पर सहज ही विश्वास न होगा, पर यह सच है। सचमुच तेरे ज्ञान-भण्डार का एक ज्ञानकण, तेरी बलराशि का एक अणु, इस तुच्छ मनुष्य को सर्वथा भरपूर कर देता है।

(दिवः) तेरे ज्ञानप्रकाशमय द्युलोक रूपी (बृहतः अन्तरिक्षात् नु) महान् अन्तरिक्ष से ही (अपां स्तोकः) तेरे ज्ञान कर्म शक्तिरूप जलों का एक स्वल्पकण (रसेन) अपने तृप्तिदायक रस से युक्त (मां अभि) मुझ पर (अपप्तत्) गिरा; और (अहं) मैं (अग्ने) हे परमेश्वर ! तेरे इस स्वल्प जलकण द्वारा (इन्द्रियेण) इन्द्रवीर्य= आत्मबल से (पयसा) पोषक ज्ञान से (छन्दोभिः) वेदमन्त्रों से (यज्ञैः) यज्ञों से, शुभ कर्मों से और (सुकृतां कृतेन) पुण्य कर्मों के फल अर्थात् सुख से (सं) संयुक्त हो गया हूँ।

सहस्राह्ण्यं वियतौ अस्य पक्षौ, हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य, संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ।।

अथर्व० 10.8.18

मनुष्य प्रतिक्षण चेष्टायमान है। जीव को दिनरात किसी न किसी अभीष्ट के पाने की चाह या किसी के दुःख को हटाने की चाह लगी रहती है और उसके लिए वह सदा कुछ न कुछ करता रहता है। जीव को तब तक चैन नहीं मिल सकता जब तक कि वह उस अवस्था में न पहुँच जाय जहाँ उसे कुछ कमी न रहेगी, जहाँ उसकी सब कामनायें प्राप्त हो जायेंगी, सब दुःख समाप्त हो जायेंगे। उस स्वर्गलोक को पाने के लिए यह 'हरि' (इधर उधर फिरने वाला) हंस न जाने कब से उड़ रहा है। यह अपने अभीष्ट लोक को कब पहुँचेगा? यह लगातार ज्ञान और कर्म के सहारे से उस स्वर्ग को न जाने कब से ढूँढ़ रहा है? सुख-प्राप्ति के विषय में उसे जो ज्ञान मिलता है उसके अनुसार वह कर्म करता है, कर्म करने के बाद उसे कुछ अन्य नया अनुभव (ज्ञान) मिलता है, तो वह फिर उसके अनुसार कर्म करता है। इस तरह यह हंस अपने ज्ञान और कर्म (अन्दर से बाहर की तरफ चेष्टा और बाहर से अन्दर की तरफ चेष्टा, प्राण और अपान) के पंखों को हिलाता हुआ उड़ा चला जा रहा है। हजारों दिन बीत गये हैं पर उसके पंख फैले ही हुए हैं। न उसे अभीष्ट स्वर्ग मिलता है और न वह अपनी उड़ान बन्द करता है। पर मजेदार बात यह है कि स्वर्ग के सब देवों को, सब देव-गुणों को अजरत्व, अमरत्व, निष्कामत्व, पूर्णत्व आदि सब देवत्वों को—अपने हृदय में लिये हुए फिर रहा है। वह लाखों योनियों में, लोकों में, नाना देशों में, उड़ रहा है। इस जगत् की सब उत्पन्न वस्तुओं, सब भुवनों को देखता हुआ जा रहा है पर सब देश उसके हृदय में ही स्थित हैं। अतः उसे जब कभी स्वर्ग की प्राप्ति होगी, तब उसे अपने हृदय में ही होगी पर तब तक वह असंख्यातों स्थानों में, प्रभु की इस अगम्य सृष्टि के करोड़ों भुवनों को देखता हुआ विचर रहा है, चौबीस घंटे ज्ञान और कर्म की कुछ न कुछ चेष्टा करता हुआ स्वर्ग को ढूँढ रहा है, अपने इन पंखों को फड़फड़ाता हुआ निरन्तर गति ही कर रहा है। ओह! यह कब अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा? किस दिन अपने पंखों को समेट कर बैठेगा? इसके पंख तो हजारों हजारों दिनों से खुले हुए हैं!!

(स्वर्गं पततः) स्वर्ग को जाते हुए (अस्य) इस (हरेः हंसस्य) ह्रियमाण या हरणशील, जीवात्मा हंस के (पक्षौ) पंख (सहस्राह्ण्यं) सहस्रों दिनों से (वियतौ) खुले हुए हैं, फैले हुए हैं (सः) वह हंस (सर्वान् देवान्) सब देवों को (उरसि) अपने हृदय में (उपदद्य) लिये हुए (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (संपश्यन्) देखता हुआ (याति) जा रहा है।

1—हरय इति मनुष्य नामसु पठितम्।
हरिः=भोगों को हरण करने वाला या इधर उधर ह्रियमाण।

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा, अभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धाः, हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥

अथर्व० 7.115.2

हे जगदीश्वर ! मेरे पास जो ऐसी लक्ष्मी पड़ी हुई है जो कि 'अजुष्टा' है, जो कि सेवित नहीं होती, जो कि किसी की प्रीतिमय सेवा में नहीं आती, वह किस काम की है ? वह लक्ष्मी 'लक्ष्मी' नहीं है। वह लक्ष्मी दुराचार बढ़ाने का कारण होती है। 'अजुष्टा' लक्ष्मी पतन का भारी प्रलोभन होती है। ऐसा धन बुरे कार्यों में ही बरबाद हुआ करता है और मनुष्य को नीचे गिरा देता है। ऐसी लक्ष्मी को मैं मोह के मारे त्यागता (परहित में दे देता) भी नहीं हूँ और उस सब का स्वयं उपयोग भी नहीं कर सकता हूं। इसलिए वह या तो बुरे काम में पतित हो जाती है या यूं ही सड़कर नष्ट हो जाती है। पर सब से बुरी बात तो यह है कि यह मेरी ऐसी 'लक्ष्मी' मुझे चिमटी हुई हर तरह से मुझे ही बरबाद करती है, मेरे जीवन-रस को चूसती है। अतः हे मेरे प्रेरक प्रभो ! मुझ में ऐसी हिम्मत दो कि मैं उस लक्ष्मी को इससे पहिले कि वह पतित होने लगे और मुझे विनष्ट करने लगे—मैं उसे कहीं अन्यत्र धारित कर दूं—किसी अच्छे कार्य में लगा दूं, उसे अपने पर लादे न रखूं। हे सवितः ! तुम ही उस दुर्लक्ष्मी को यहाँ से तो हटा दो। यह 'लक्ष्मी' नहीं है, किन्तु वह मेरे लिए विनाशक शापरूप है। वह मुझ पर मोह द्वारा चिमटी हुई केवल मेरे जीवन-रस को सुखा रही है, जैसे वन्दना बेल जिस वृक्ष पर लगती है, उस वृक्ष को बिल्कुल सुखा देती है, वैसे ही यह अजुष्टा लक्ष्मी मुझे घेरे हुए है, मेरा विनाश कर डालने के लिए मुझे आच्छादित किये हुए है। हे प्रभो ! तुम मुझ से इसे छुड़ाओ। मेरे मोह का भंग करके इसे यहाँ से हटाने का मुझे सामर्थ्य दो, नहीं तो यह 'अजुष्टा' लक्ष्मी मुझे चूस कर खतम कर रही है—मेरी उन्नति को रोक रही है, मेरे आत्म-तेज को हरती जा रही है।

हे प्रेरक ! मेरी प्रार्थना है कि आगे से ऐसा धन तो मेरे पास आने ही न पाये। मुझे तुम बेशक थोड़ा सा धन देना, पर वह धन चमकता हुआ, तेजस्वी, निष्कलङ्क हो, हिरण्य हो, हितरमण हो। वह धन सर्वांश में उपयोगी हो, उसका एक एक अंश मेरे तेज, मेरे आत्मवीर्य को बढ़ाने वाला हो। तुम्हारे 'हिरण्यहस्त से ही अब मैं धन चाहता हूँ। तेरे चमकते हुए 'हिरण्यहस्त' से अब मुझे सदा ऐसा तेजस्वी धन मिलता रहे जिसका कि एक-एक कण मेरे आत्म-तेज को बढ़ाने में व्यय हो तथा वह अन्यत्र भी जहाँ जाये, वहाँ मनुष्यों के तेज के बढ़ाने में ही उपयुक्त होये।

(अजुष्टा) असेविता, काम में न आने वाली (पतयालूः) अतएव दुराचार में गिरने वाली, मुझे गिराने वाली (या) जो (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (मा) मुझे (अभिचस्कन्द) चिमटी हुई है (वृक्षं वन्दना इव) जैसे कि सुखा देने वाली वन्दना बेल वृक्ष को चिमट जाती है (तां) उस ऐसी लक्ष्मी को (सवितः) हे प्रेरक परमेश्वर ! (अस्मत् इतः अन्यत्र) तू हम से, यहाँ से, जुदा (धाः) रख दे—कर दे (हिरण्यहस्त) हिरण्यहस्त से—तेजस्वी चमकते हाथ से तू—(नः) हमें (वसु) ऐश्वर्य (रराणः) देता हुआ हो।

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः, आत्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

अथर्व० 10.8.44

हे मृत्यु-भय से तर जाना चाहने वाले मुमुक्षु ! तू उस एक सर्वव्यापक तत्त्व को देख जो कि सर्वथा 'अकाम' है, जिसमें किसी प्रकार की भी कोई कामना नहीं; अतएव जो कभी भी चलायमान नहीं होता, सदा सर्वथा धीर है; जो कि कभी न मरेगा और न कभी पैदा हुआ है; जो स्वयं ही अपने आधार से सदा विद्यमान है, जिसे कि कभी किसी अन्य ने जन्म नहीं दिया, जिस सनातन की सत्ता किसी अन्य के आश्रित नहीं अतएव जिसकी अमृत सत्ता कभी खण्डित भी नहीं हो सकती, विनाश को नहीं प्राप्त हो सकती; जो कि आनन्दरस से सर्वथा परिपूर्ण है, हम लोग आनन्द-दायक भोजन को यथेष्ट खाकर जैसे कुछ देर के लिए छके हुए, परितृप्ति की अवस्था में रहते हैं वैसी ही आप्यायित अवस्था में जो सदा, त्रिकाल में रहता है, जो कि आप्तकाम है; जिसमें कोई किसी प्रकार की कमी, न्यूनता, अपेक्षा व आवश्यकता नहीं है, जो सर्वथा परिपूर्ण है, अखण्ड है, अतएव जो अकाम हुआ है उसे देख, उस एक तत्त्व को देख, उसे पहिचान। उस तत्त्व को अपने अन्दर खोज, अपने अन्दर पहिचान। वह दीखता है कि नहीं ? क्या तू अपने आप को वैसा अजर, अमर तत्त्व नहीं देखता ? जब तू अपने आपको अचलायमान, कभी बुड्ढा न होने वाला, एकरस, नित्य, हमेशा एक समान युवा (जवान) देख लेगा तभी — केवल तभी — तू मृत्युभय से पार होयेगा। उस सच्चे आत्म-स्वरूप को देख लेने के बाद तू शरीर नहीं रहेगा। तब तू वही धीर, अजर, अमर तत्त्व हो जायगा। तब मृत्यु कहाँ रहेगी ? तब तो जीने मरने में कोई भेद नहीं रहता, जीवन मरण दोनों ही जीवन हो जाते हैं, एक नये प्रकार का नित्य जीवन हो जाते हैं। हजारों मृत्युओं के बीच में भी आत्मा अपनी अमरता को घोषित करता है परन्तु जब तक इस आत्म-स्वरूप का साक्षात् न हो जाय, मनुष्य अपने देह से बिल्कुल जुदा अपने आपको अजर अमर न देख ले, तब तक मृत्युभय नहीं जा सकता। मृत्यु से निर्भय होने का संसार में अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं। जब तक मनुष्य ने यह आत्म-स्वरूप न पा लिया हो तब तक वह चाहे जितना विद्वान्, हजारों ग्रन्थों को पढ़ने पढ़ाने और बनाने वाला हो जाय, उपदेष्टा हो जाय पर वह उसी तरह मृत्यु का मारा हुआ फिरता है जैसे कि एक चींटी या एक खटमल मरण-त्रास से डरकर भागती है। देखो वह अखंड, एकरस, सर्वथा अकाम, अचल, अमर, अभय नित्यतत्त्व। यदि मृत्यु को जीतना है तो देखो यह धीर, अजर, अमृत, अपना आत्मा।

जो (अकामः) सर्वथा कामना रहित (धीरः) धीर (अमृतः) कभी न मरने वाला (स्वयंभूः) स्वयं अपने आधार से सदा विद्यमान (रसेन तृप्तः) आनन्द-रस से परितृप्त (कुतश्चन न ऊनः) तथा किसी प्रकार की कोई भी न्यूनता न रखने वाला है। (तं) उस (धीरं, अजरं, युवानं, आत्मानं एव विद्वान्), धीर, अजर, सदा तरुण को आत्मस्वरूप जानकर ही मनुष्य (मृत्योः न बिभाय) मृत्यु से नहीं डरता—मृत्यु से निर्भय हो जाता है।

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः, याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्व, अन्यत्र पापीरपवेशया धियः॥

अथर्व॰ 9·2 25

हे काम ! हे संकल्पमय देव ! भगवान् तुम द्वारा ही अपनी कामनाक्रिया करते हुए सब जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं। जगत् व्यापक संकल्प ! हम मनुष्यों में जो असंख्यात इच्छायें, कामनायें, संकल्प उठा करते हैं, वे भी सब असल में तुम्हारी ही तरंगें हैं, तुम्हारे ही असंख्यात रूप हैं। पर जो तुम हममें अनगिनत रूप धारण करके प्रकट होते हो, जो हम में अनगिनत इच्छायें प्रकट होती हैं, उनमें से हम देखते हैं कि कुछ तो पूर्ण हो जाती हैं, सच हो जाती हैं और बहुत सी अपूर्ण रहकर केवल हमें दुःखी हो करने का कारण होती हैं। अतः मैं अब चाहता हूँ कि मुझ में इच्छाएँ संकल्प उत्पन्न ही वह हों जो कि जरूर सत्य होनी हों। जो व्यर्थ रहनी हों, पूर्ण न होनी हों, ऐसी इच्छाएँ मुझ में प्रकट ही न हों, उत्पन्न ही न हों। मेरी चाहना है कि मैं 'सत्य संकल्प' हो जाऊँ—ऐसा हो जाऊँ जिस में संकल्प सत्य ही हों पर यह तब होगा—यह मैं जानता हूँ कि यह तब होगा—जब कि मुझ में तुम्हारे मंगलरूप ही (मंगल संकल्प ही) उत्पन्न होयेंगे। सब ऋषियों का अनुभव है कि जिन मनुष्यों के हृदय सर्वथा सत्यमय, पूर्णतः सत्यनिष्ठ अतएव पवित्र होते हैं उनमें जो संकल्प उठता है, अपने संकल्प से वे जो कुछ चाहते हैं, जो कुछ वरते हैं वह अवश्य पूर्ण हो जाता है। चूँकि ऐसे सत्यनिष्ठ हृदय उस सत्यस्वरूप भगवान् से समरेखा में हो जाते हैं और अतः उनमें वे ही संकल्प उठते हैं जो कि सर्वथा मंगल होते हैं और सब जगत् के कल्याण के लिए होते हैं। यों कहना चाहिये, उनमें ईश्वरीय संकल्प ही प्रतिध्वनित होते हैं। इस संसार में जो कुछ हो रहा है, सफल हो रहा है, वह सब ईश्वरीय संकल्प ही है और मंगलमय भगवान् का हरेक संकल्प (हम चाहे उसे समझ सकें या न समझ सकें) सर्व-कल्याण के लिए ही है। अतः अब मुझ में ऐसे ईश्वरीय, सत्य हो जाने वाले, भद्र-संकल्प ही उठें। अभी तक तो मेरे हृदय में अच्छी बुरी दोनों तरह की कामनायें उठती हैं, परन्तु हे संकल्पदेव ! अब सब पापी बुद्धियाँ मुझ से निकाल दो; जिस संकल्प में जरा भी अहित की कालिमा हो, मैल हो, वह अब मुझमें न रह सके। मैं सत्य द्वारा अपने हृदय को शुद्ध करता हुआ यत्न करता हूँ कि अपने ज्ञान के अनुसार कोई भी अशिव, अभद्र संकल्प मुझमें न आयें।

(काम) हे संकल्पदेव ! (याः ते शिवाः) जो तेरे मंगलमय और (भद्राः) कल्याणकारी (तन्वः) स्वरूप हैं, (याभिः) जिन स्वरूपों से तू (यद् वृणीषे) जो कुछ वरता है वह (सत्यं भवति) सत्य हो जाता है। (ताभिः) उन अपने स्वरूपों के साथ (त्वं) तू (अस्मान्) हम में (अभि संविशस्व) सब तरफ से प्रविष्ट हो और जो (पापीः धियः) पापी बुद्धियाँ व संकल्प हैं, उनको (अन्यत्र अपवेशय) हम से जुदा करके दूर कर दे।

11 आषाढ़

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं, नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान्, स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः ॥

अथर्व० 11.4 14

क्या तुम देवत्व पाना चाहते हो ? उस प्रसिद्ध बड़ी महिमा वाले 'देवयान' मार्ग के पथिक बनना चाहते हो ? परन्तु शायद तुम उस देवों के चलने के मार्ग को अभी समझ ही न सकोगे। बात यह है कि संसार में दो मार्ग चल रहे हैं। एक मार्ग से संसार के लोग भोग में, प्रकृति में प्रवृत्त हो रहे हैं—विश्व के एक से एक ऊँचे सुख भोग पाने के लिए दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रहे हैं। दूसरे मार्ग वाले लोग भोगों से निवृत्त होकर अपवर्ग की तरफ, आत्मा की तरफ जा रहे हैं ये क्रमशः पितृयाण और देवयान हैं। इन दोनों मार्गों द्वारा प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक दोनों अर्थों को पूरा कर रही है। परन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ कैसे हो सकती हैं? इसलिये जो लोग भोग में विश्वास रखते हुए मुँह उठाये उधर जा रहे हैं, उन्हें लाख समझाने पर भी वे आत्मा की बात नहीं सुनेंगे। देवयान मार्ग तो उन्हें ही भासता है जो भोगों की निस्सारता इतनी अच्छी तरह से समझ गये हैं, परम लुभावने बड़े-बड़े दिव्य भोगों को (जिनका कि हमें अभी कुछ पता भी नहीं है) देखकर जो उनसे भी ऐसे विरक्त हो चुके हैं कि वे अब संसार के सर्वश्रेष्ठ सुख भोग के इन्द्रासनों को छोड़-कर ज्ञानस्वरूप तत्त्व की शरण पाने के लिए व्याकुल हो गये हैं – भोगों में अन्धकार ही अन्धकार पाकर अब जो ज्ञानमय लोक में चढ़ना चाहते हैं। यही मार्ग 'स्वः' को, आत्म-सुख को, आत्म-ज्योति को प्राप्त कराने वाला है। यदि तुम में अभी भोगलिप्सा बाकी है तो तुम्हें अभी वह जगमगाता हुआ ज्योतिषीमान मार्ग भी दिखाई नहीं दे सकता। जबकि संसार के लिए आकर्षक और प्रार्थनीय बड़े-बड़े स्वर्गीय भोगों और दिव्य विभूतियों के भोग भी आत्महीनता के कारण तुम्हें बिल्कुल बेकार, निःसत्त्व जँचेंगे और यह आत्मप्रकाश शून्य भोगदायक लोक अन्धकारमय दीखने लगेगा तब उसी अँधेरे के बीच में सुवर्ण-रेखा की तरह और फिर विद्युत्-लता की तरह अन्त में चका-चौंध करने वाले, अनन्त सूर्यों के प्रकाश को भी मात करने वाली, ज्योति की तरह वह देवयान का दिव्य प्रकाश तुम्हारे लिए उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा। तब भोगवादियों के लाख समझाने पर भी तुम्हें इन भोगों में राग नहीं पैदा होगा।

जो मनुष्य (नाकस्यपृष्ठात्) सुखभोग के लोक से (दिवं) प्रकाशमय 'द्यौ' लोक के प्रति (उत्पतिष्यन्) ऊपर उठना चाहता हुआ और इस प्रयोजन से (ईजानः) वास्तविक यजन करता हुआ (चितंअग्निं) पुण्यकर्मों द्वारा चिनी हुई अग्नि का, आन्तर अग्नि का (आ-अरुक्षत्) आश्रय ग्रहण करता है (तस्मै) उस ही (सुकृते) शोभनकर्म करने वाले मनुष्य के लिए (ज्योतिषीमान्) ज्योतिर्मय (स्वर्गः) आत्मसुख को प्राप्त करने वाला (देवयानः पन्थाः) 'देवयान' मार्ग (नभसः) इस प्रकाशरहित संसार-आकाश के बीच में (प्रभति प्रकाशित हो जाता है।

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञः, उतासौ द्यौर्बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः॥

अथर्व० 4.16.3

इस सब संसार का एकमात्र राजा वरुण है, पापनिवारक परम श्रेष्ठ परमेश्वर है। इसके सिवा अन्य कोई इस विश्व में प्रभु (सर्वसमर्थक शासक) नहीं है। अन्य किसी दूसरे का आधिपत्य, शासन इस संसार पर चल नहीं रहा है उसके सिवा और कोई संसार पर वास्तविक शासन कर भी नहीं सकता है क्योंकि वही ऐसा अद्भुत परिपूर्ण है कि वह महान् से भी महान् होता हुआ सूक्ष्म से सूक्ष्म भी है। हमारी बुद्धि चाहे ऐसे अलखस्वरूप को न मान सके परन्तु वरुण ईश्वर का स्वरूप ऐसा ही है। वह महान तो इतना है कि यह विस्तृत विशाल भूमि ही नहीं किन्तु इससे भी लाखों गुना बड़ा द्युलोक भी उस वरुण राजा के हाथ में है। यह बड़ा भारी स्थूल दृश्य जगत् ही नहीं किन्तु इसकी अपेक्षा बहुत बड़ा जो प्रकाशमय 'मनोमय, विज्ञानमय आदि सूक्ष्म संसार है, वह भी सर्वथा वरुण राजा के आधिपत्य में ही है। इस भूलोक को तो हम कुछ जानते भी हैं परन्तु वरुण राजा के अनन्त साम्राज्य के उस प्रकाशमय बड़े भारी विभाग को हम अभी नाम-मात्र को ही समझते हैं। और वह द्युलोक भी इतना विलक्षण है कि वह 'दूरे अन्ता' है, वह दूर भी है और समीप भी है। अधिभौतिक रूप से वह दूर होता हुआ भी आध्यात्मिक रूप से यही हमारे अन्दर मौजूद है। तो आध्यात्मिक रूप से उस 'द्यौ' का अधिष्ठाता होता हुआ वह वरुण हमारे अन्दर भी सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर घुसा हुआ है अर्थात् यों वह वरुण गहराई में भी अनन्त है जहाँ कि वह विस्तार में भी अनन्त है। एवं संसार के ये दो प्रसिद्ध बड़े भारी समुद्र,— एक पार्थिव समुद्र, भूमि का तीन पंचमांश भाग जलराशिमय पारावार तथा दूसरा इससे भी बहुत बड़ा अन्तरिक्ष समुद्र, जलवाष्पमय पारावार — ये दोनों समुद्र उस वरुण की कोख के समान हैं परन्तु वरुण देव आकार में जहाँ इतने विशाल हैं, इतने विराट्, शरीरवाले हैं कि ये बड़े जल-समुद्र उनके कोख में रहनेवाले ज़रा से पानी के समान है; तो साथ ही वे इतने सूक्ष्म भी हैं कि वे इतने विराट् शरीरधारी होकर भी इस जल के एक कण में (एक बिन्दु) में भी छिपे पड़े हैं, समाये हुए हैं, व्याप्त हैं। वरुण राजा ऐसे हैं। अहो। वरुण प्रभु के इस महान् से महान् होने के साथ ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के स्वरूप की भी यदि हम उपासना करें, विस्तार के साथ गहराई में भी बढ़े हुए होने का हम यत्न करें, तो इस साधन से भी हम इतने शक्तिशाली हो जायें और इतने सम हो जायें कि हमारे सब पाप स्वयमेव निवारण हो जायें, हमसे पापाचरण होना अस्वाभाविक हो जाय।

(इयं भूमिः) यह भूमि (उत) भी (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा की है तथा (असौ) वह (बृहती) बड़ा तथा (दूरे अन्ता) दूरता और समीपता वाला (द्यौः) द्युलोक (उत) भी वरुण राजा का है। (उत उ) तथा (समुद्रौ) ये दोनों समुद्र (वरुणस्य) वरुण देव की (कुक्षी) कोखें हैं (उत) और साथ ही वह (अस्मिन्) इस (अल्पे उदके) पानी की क्षुद्र बूंद में भी (निलीनः) छिपा हुआ है, व्याप्त है।

इदमुच्छ्रेयो अवसानमागां, शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् ।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ।।

अथर्व० 19.14.1

ऐ मेरे भाई ! मैंने अब तक तुमसे बहुत द्वेष किया, खूब दुश्मनी की। तुमने मुझे नुकसान पहुँचाया तो बदले में मैंने तुम्हें पहुँचाया, तुमने फिर उसका बदला लिया तो मैंने उसका प्रत्युत्तर दिया, इस तरह हमारी द्वेषाग्नि दिनोदिन बढ़ती ही गयी है, भयंकर रूप धारण करती गयी है। इस द्वेष से हम दोनों ही का बहुत नुकसान हो चुका है, हम शीर्ण हो चुके हैं। मैं देखता हूँ कि क्रोध में आकर दांत पीसते हुए उत्तर का प्रत्युत्तर देते जाने का, ईंट का जवाब पत्थर से देते जाने का, कहीं अन्त नहीं है सिवा इसके कि हम दोनों का शीघ्र ही पूरा विनाश हो जाय। इसलिये कल्याण इसी में है कि अब हम इसे खतम करें। हम में से कोई एक अब उत्तर का प्रत्युत्तर न देकर, क्रोध का जवाब क्रोध में न देते हुए शान्ति में देकर, इसमें विराम लगा दे। इसी में कल्याण है, निश्चय से इसी में कल्याण है। इसी तरह यह बढ़ती जाती हुई, हमारा नाश करने वाली क्रोधाग्नि शान्त होगी। द्वेष कभी प्रतिद्वेष से शान्त नहीं होता है। अतः तुम तो चाहे अब भी मुझ से द्वेष करो, मुझे चाहे कितनी हानि पहुँचाओ, पर मैं अब उसका जवाब नहीं दूँगा। मैं आज इस द्वेष-परम्परा का अवसान करता हूँ। आज से तुम मेरे शत्रु नहीं हो, तुम तो मेरे भाई हो। मेरे हृदय के किसी कोने में भी अब तुम्हारे प्रति द्वेष का लेश नहीं है। देखें, अब तुम मुझसे कब तक द्वेष करते रहोगे, कर सकोगे ? मैं तो अब तुम्हारे क्रोध को, तुम्हारे क्रोध-प्रेरित सब नुकसान को प्रेमपूर्वक सहता ही जाऊँगा; प्रेम ही करता जाऊँगा। मैं आज अपने द्वेष के सब अस्त्र फेंक कर इस दिशा में पूरी हार मानकर निश्चिन्त हो गया हूँ। द्वेष खतम करते ही मैं तो आज बड़ा विश्राम अनुभव कर रहा हूँ। अब जबकि मैंने इस कल्याण के मार्ग का अवलम्बन किया है तो, हे द्यौ और पृथिवि ! अब तुम भी मेरे लिए कल्याणकारी हो जाओ। मेरे अन्तःद्वेष के कारण अब तक यह संसार भी मुझे तपता अनुभव हुआ करता था। पर अब तो यह सब आकाश और भूमि, आसमान और जमीन, यह सब संसार मेरे लिए कल्याणमय हो जाय। हे भाई ! केवल तुम्हारे प्रति ही नहीं, किन्तु किसी भी व्यक्ति के प्रति आज से मेरा द्वेष नहीं रहा है। अतः ये सब विस्तृत दिशायें मेरे लिए आज से बिल्कुल असपत्न हो गई हैं, शान्त और सुखदायिनी हो गई हैं।

(इदं उत् श्रेयः) अब यह ही कल्याणकर है कि (अवसानं आ अगां) मैं अब समाप्ति पर आ जाऊँ, द्वेष-परम्परा का विराम कर दूँ। अतः हे शत्रु ! (त्वां) तेरे साथ (न वै द्विष्मः) मैं तो द्वेष करना छोड़ ही देता हूं। (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी भी (मे) मेरे लिए (शिवे अभूताम्) अब कल्याणकारी हो जायें, (प्रदिशः मे असपत्नाः भवन्तु) सभी दिशायें मेरे लिए शत्रुरहित हो जायें (नः अभयं अस्तु) मेरे लिए अब अभय ही अभय हो जाय।

14 आषाढ़

अभयं मित्रादभयममित्रात्, अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः, सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

अथर्व 19.15.6

हे जगदीश्वर ! इस तेरे जगत् में, इस तेरे न्यायपूर्ण सच्चे शासन में रहते हुए मुझे कोई भी भय क्यों होना चाहिये ? तू सब जगत् में सदा कल्याण ही कल्याण कर रहा है तो फिर मुझे कभी डर क्यों होये ? भय करना नास्तिक होना है, तुझ पर अविश्वास करना है, तुझे भुलाना है, तेरा द्रोही होना है। अतः हे मेरे परम प्यारे, कल्याणस्वरूप स्वामी ! आज से मैं मन की दुर्बलता छोड़कर अभय रहने का व्रत लेता हूं। मैं अपनी शक्तिभर किसी भी भय के अधीन न होऊँगा। हे मेरे जगदीश्वर ! इसमें मेरी सहायता करो। भय न छोड़कर तो मैं संसार में कुछ भी नहीं कर सकता, सत्यपथ पर नहीं चल सकता, कभी भी तेरे दर्शन नहीं पा सकता। अतः, हे प्रभो ! मुझे ऐसा बल दो कि संसार में किसी भी मनुष्य से मुझे भय न हो; न मित्र से भय हो, न अमित्र से। सत्यपथ पर चलते हुए मुझे न मित्रों की नाराजगी आदि का भय हो और न अमित्रों द्वारा क्लेश पाने का। तेरे सामने मित्र अमित्र सब एक हैं। तेरे सामने मित्रों के अमित्र हो जाने से क्या डरना और अमित्रों द्वारा जो तू ही मुझ पर विपत् लाता है, उससे क्या घबराना ? अनिष्ट तो तू मित्र और अमित्र दोनों द्वारा ला सकता है और लाता है। अतः इन दोनों ही द्वारा मुझे इस भय से बचा। जो कुछ है और जो कुछ होगा, वह सब निस्सन्देह शुभ ही है। मेरा निर्बल मन बहुत सी घटित, ज्ञात, परिचित बातों को अनिष्टकर मानकर उनसे तो भयत्रस्त होता ही है, पर वह आगे आने वाली बातों में सदा अनिष्ट की आशंका करके भी यूँ ही भयपीड़ित बना रहता है 'आगे न-जाने क्या होगा', 'मेरे इस कर्म की सिद्धि होगी कि नहीं', 'कहीं इसका फल, परिणाम बुरा न निकले', इस प्रकार का जो मुझ में भय रहता है, वह तो बड़ा ही आत्मघातक है। अतः, हे मेरे अन्तर्यामी ! मुझ में अब ऐसा ज्ञान प्रदीप्त कर दो कि मेरे सब मोह हट जायँ और मैं तेरे कल्याणस्वरूप को सदा देदीप्यान देखता हुआ दिन में या रात में, सदा सब कालों में, सब अवस्थाओं में अभय रहूँ। ऐसा बल दो कि अन्धकार हो या प्रकाश, विपत् हो या सम्पत्, अनुकूलतायें हों या प्रतिकूलतायें, मैं इन सब दिशाओं में सदा निर्भय रह सकूँ।

(मित्रात् अभयं, अमित्रात् अभयं) मुझे मित्र से भय न हो, अमित्र से भी भय न रहे (ज्ञातात् अभयं) जो मालूम हो गया है उससे भय न हो, और (यः पुरः अभयं) जो आगे है; आने वाला है उससे भी भय न हो। (नः नक्तं अभयं, दिवा अभयं) हमें रात में भी अभय हो, दिन में भी अभय हो (सर्वा आशाः) सब दिशायें सब दिशाओं के वासी प्राणी (मम मित्रं भवन्तु) मेरे मित्र हो जायें, मेरे मित्र रूप रहें।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तदस्मै देवा उपसंनमन्तु ।।

अथर्व० 19.41.1

हे राष्ट्रीय भाइयो ! क्या तुम जानते हो कि यह राष्ट्र कैसे उत्पन्न हुआ है ? हम वैयक्तिक पुरुषों के समूहात्मक इस राष्ट्र-पुरुष का कैसे जन्म हुआ ? यह हमारे पूर्व ऋषियों के 'तप' (पिता) और 'दीक्षा' (माता) का पुत्र है। प्रारम्भ में उन सत्यदर्शी ऋषियों ने, जिन्हें स्वयं आत्मसुख प्राप्त था, जो आप्तकाम थे अतएव जिन्हें अपना कुछ भी स्वार्थ न था और इसलिए जो केवल लोक-कल्याण के लिए जी रहे थे, भद्र के लिए (लोक-कल्याण के लिए) तप का अनुष्ठान किया। उन्होंने देखा कि सर्वलोकहित के लिए यह आवश्यक है कि वैयक्तिक शक्ति (बल व ओज) से ऊपर एक ऊँची बड़ी उत्कृष्ट शक्ति (बल और ओज) व्यक्तियों के सामने होये। अतः उन्होंने अपनी इस भद्र-कामना का विस्तार किया, सब मनुष्य एक दूसरे का भला चाहें, मनुष्यों में एक सामुदायिक भले की भावना उत्पन्न हो, इसका उन्होंने घोर यत्न किया। चूँकि मनुष्यों के क्षुद्रस्वार्थ इस उच्च भावना के विरोधी हैं, अतएव उन ऋषियों को मनुष्यों में इस भावना के जमाने में बड़े कष्ट सहने पड़े, बड़ी बड़ी तपस्यायें करनी पड़ीं। परन्तु वे दृढ़-संकल्प ऋषि तो व्रत ग्रहण किये हुए थे, दीक्षित थे, इसी प्रयोजन के लिए ही मानों जन्मे थे, अतः उन्होंने अपना व्रत पूर्ण किया और इस भावना को उत्पन्न कर दिया। सब व्यक्तियों में उत्पन्न हुई इस भावना की मूर्ति हीं राष्ट्र है। इस प्रकार, हे राष्ट्रीय भाइयो ! यह हमारा राष्ट्र उत्पन्न हुआ है और इस राष्ट्र-पुरुष का वह अभीष्ट बल और ओज भी प्रकट हो गया है जिससे कि सब राष्ट्र का कार्य चलता है। अतः हे देवो ! ऋषियों की तपस्याओं से उत्पन्न हुए इस बलवान् तेजस्वी राष्ट्र देव के सामने तुम भी झुको। यह राष्ट्रात्मा महादेवता देवों का भी वन्दनीय है। राष्ट्र का एक व्यक्ति बड़े से बड़ा, विद्वान् से विद्वान्, महात्मा से महात्मा, देव से देव होता हुआ भी राष्ट्र का एक व्यक्ति—उस संघात्मक राष्ट्र के सामने तुच्छ है। हे राष्ट्र के व्यक्ति देवो ! तुम इस राष्ट्र-देव की वन्दना करो। अपनी सन्मतियों को, अपने तुच्छ लाभों को, अपने शारीरिक मानसिक या रुपये पैसे के स्वार्थों को तथा अपनी बड़ी से बड़ी, प्यारी से प्यारी, कामनाओं को भी राष्ट्रीय हित के सामने तुरन्त झुका देने के लिए तैयार रहो। यही राष्ट्र-देव की वंदना है।

(स्वर्विदः) आत्मसुख प्राप्त किये हुए (ऋषयः) ऋषियों ने (भद्रं इच्छन्तः) लोक कल्याण की इच्छा करते हुए (अग्रे) प्रारम्भ में (तप उपनिषेदुः) तप का अनुष्ठान किया और (दीक्षां उपनिषेदुः) दीक्षा को ग्रहण किया। (ततः) उस तप और दीक्षा से (राष्ट्रं जातं) राष्ट्र उत्पन्न हुआ (बलं ओजश्च जातं) तथा राष्ट्रीय बल और ओज भी उत्पन्न हुआ (तत्) इसलिये (अस्मै) इस राष्ट्र के सामने (देवाः) देव भी (उपसंनमन्तु) ठीक प्रकार झुकें, सत्कार करें।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः, अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमानाः, वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥

अथर्व० 12.1.62

हे भूमिमातः ! हम तेरे पुत्र हैं, तुझसे उत्पन्न हुए हैं। यह पार्थिवदेह हमें तेरे रजःकणों से मिली है । हे मातः ! हमें अपनी गोद में बिठलाओ । तेरी आनन्दमयी गोद में बैठ कर हम सम्पूर्ण मातृसुख को प्राप्त करें, तेरे दुग्धामृत का पान भी करें । तू हमें केवल सुखमय आश्रय-स्थानों को ही नहीं प्रदान करती किन्तु अपने उन सर्व स्थानों में तू हमें हमारे उपयोगी भोग्य-पदार्थों को भी देती है । तेरी ऐसी गोद में हमारा आश्रय पाना, हमारे लिए रोगरहित, निरन्तर निर्बाध पुष्टि (उन्नति) का देने वाला हो । हे विस्तृत मातृभूमे ! तेरे आश्रय में रहते हुए हमें जो तेरे अन्न, फल, औषध, जल, वायु, धन, पशु, मान, रक्षा, विद्या, सुख आदि मिलते हैं, वे हमें ऐसे शुद्ध और उचित रूप में मिलते रहें कि ये हमारे रोगों, भयों और दुःखों को हटा कर हमारी स्वास्थ्यकर पुष्टि को ही करते जायें; हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति ही साधते जायें । यह तेरा सब भोग्य-पदार्थरूपी पुष्टिकारक दूध हे मातः ! हम तेरे बच्चों के लिए ही है—हम बच्चों की रोग भय रहित पुष्टि के लिए ही है । हमारी शारीरिक उन्नति ऐसी अक्षुण्ण होये कि हम पूर्ण दीर्घ आयु को भोगें । हमारी मानसिक व आत्मिक उन्नति भी ऐसी अक्षुण्ण होये कि हम क्रमशः 'प्रतिबुध्यमान' होते जायें, उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान और बोध से (आत्म-जागृति से) युक्त होते जायें, एवं हम अबोध बालकों का ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ेगा, हम सब प्रकार के ज्ञानों में उन्नत होंगे, त्यों-त्यों, हे मातः ! हम तेरे अपने पर किये गये अपार उपकारों को भी – तेरे मातृत्व को भी—हम अधिक अनुभव करने लगेंगे तथा तेरे प्रति अपने कर्त्तव्यों के लिए भी जागृत हो जायेंगे । अतः तब हम राष्ट्र-कर के इस तुच्छ धन की बलि, किसी भय से नहीं किन्तु 'प्रतिबुध्यमान' होते हुए, जानते हुए, इसे कर्त्तव्य समझते हुए—प्रेम से तुम्हारे प्रति दिया करेंगे । केवल यह तुच्छ, साधारण, नित्यप्रति की बलि ही नहीं, किन्तु हे मातः ! हममें तेरे प्रति कर्त्तव्य का बोध ऐसा जागृत हो जाय कि हम तेरे लिए सब कुछ बलिदान करने को सदा उद्यत रहें । तुझ से मिला हुआ यह शरीर, यह आयु, यह प्राण, यह पुष्टि, यह धन, यह सब कुछ और किस काम के लिए है ? यदि ये तेरी वस्तुएँ आवश्यकता पड़ने पर तेरे लिए समर्पित न हो सकें तेरे दूध को चुकाने का समय आने पर भी यदि हम इन्हें भेंट चढ़ाने से हिचकें–तो ऐसे धन, ज्ञान और जीवन को धिक्कार है, इन पापमय वस्तुओं का भूमि पर रहना व्यर्थ है । नहीं, हम सर्वस्व तुझ पर बलि चढ़ा देने को सदा उद्यत रहेंगे ।

(पृथिवि) हे भूमे ! हम (ते प्रसूताः, तुझसे उत्पन्न, तेरे पुत्र हैं, अतएव (उपस्थाः) तेरी गोद, तेरे आश्रय-स्थानों के सब पदार्थ (अस्मभ्यं) हमारे लिए हों और (अनमीवाः अयक्ष्माः सन्तु) आरोग्यवर्धक व रोगनाशक होये (नः दीर्घं आयुः) हमारी आयु दीर्घ होये (वयं) हम (प्रतिबुध्यमानाः) जागते हुए ज्ञानसम्पन्न होते हुए (तुभ्यं) तेरे लिए (बलिहृतः) अपनी बलि देने वाले (स्याम) होयें ।

यदचरस्तन्वा वावृधानो, बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से ॥

ऋ० 10.54.2

हे इन्द्र परमेश्वर ! जो हम वेदों में भी युद्ध वर्णन पाते हैं कि इन्द्र ने वृत्र को मारा, इन्द्र ने अपने वज्र से अमुक अमुक असुरों का संहार किया, इन्द्र सोम को पीकर मस्त होकर बड़े पराक्रम के कार्य करता है, इन्द्र हवि को खाता है और हवि देने वाले को धन देता है; तो ये सब वर्णन आलंकारिक हैं। स्थूल जगत् में रहने वाले, स्थूल बुद्धि वाले हम मनुष्यों के हृदयों पर उसी वर्णन का प्रभाव होता है जो कि हमारे जैसा वर्णन हो, अतएव तुम्हारे शरीर का वर्णन किया जाता है, तुम्हारे युद्धों का वर्णन किया जाता है। हम माया में रहने वालों को माया रूप से ही किया गया तुम्हारा वर्णन समझने योग्य होता है। असल में न तुम्हारा कोई शरीर है, न कोई भौतिक वज्र है। तुम्हारा शत्रु त्रिकाल में भी कौन हो सकता है? तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारी माया, सब कुछ अपने अटल नियमों से चल रही है। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख स्वभावतः हो रहा है। तुम न किसी के शत्रु हो और न मित्र हो। तुम्हारी असली शक्ति की हम कल्पना तक नहीं कर सकते, वह तो अविज्ञेय है। हम तो इतना ही देख सकते हैं कि जगत् में जो कुछ हरकत हो रही है, जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे सब नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं जो कि तुम्हारी ही एक-मात्र शक्ति के एक अंश हैं। स्थूल रूप में सब शक्ति सफलता व विजय के रूप में दीखती है अतः संसार की भाषा में तेरी अनन्त शक्ति का टूटा-फूटा वर्णन हम लोग इसी युद्ध के ढंग से किया करते हैं। तेरी अवर्णनीय शक्तियों का, बलों का ख्यापन हम मनुष्यों द्वारा और दूसरे किस तरह किया जाय?

पर साथ ही यह भी ठीक है कि हमारे ये सब वर्णन माया हैं, अधूरे हैं, यह अवर्णनीयों का वर्णन है; यह अज्ञेय का काम-चलाऊ ज्ञान कराना है।

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत् तन्वा वावृधानः) जो तू शरीर के साथ बढ़ता हुआ (अचरः) विचरा है (जनेषु बलानि प्रब्रुवाणः) मानो मनुष्यों में अपने बलों को ख्यापित करता हुआ विचरता है (यानि युद्धानि आहुः) या जो यह वर्णन है कि तूने युद्ध किये हैं, (सा ते माया इत्) यह सब तेरी माया ही है। (न अद्य शत्रुं) असल में तो न तेरा कोई आज शत्रु है (न पुरा विवित्से) और न कभी पहिले तूने अपना कोई शत्रु जाना है।

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्यानाः, दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमंगिरसो दधानाः, यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ।।
ऋ० 10 67.2, अथर्व० 20.91.2

'यज्ञ यज्ञ' सब कहते हैं, पर यज्ञ के मूलतत्त्व को जानने वाले कोई विरले ही होते हैं। हम तो इतना जानते हैं कि जगत्-हित के लिए स्वार्थत्याग के कार्य करना यज्ञ है। इतना ठीक भी है पर यज्ञ के प्रथम रूप से हम बहुत दूर हैं। यदि हमें कहीं वह रूप दीख जाय तब तो हम देख लें कि यज्ञ ही हमारा प्राण है, हमारा जीवन है; यज्ञ तो हमारे एक एक श्वास में होना चाहिये। इस यज्ञ के 'प्रथम धाम' (मुख्य-स्थान) को जो साक्षात् देख लेते हैं, वे 'अंगिरस्' कहाते हैं; क्योंकि ऐसे लोग इस जगत्-शरीर के अंगों के रस होते हैं। ये वे महात्मा पुरुष होते हैं जो कि संसार को ठीक रास्ते पर ले जाते हुए संसार के प्राणरूप होते हैं। संसार में जो पाप, अधर्म, स्वार्थ की शक्तियाँ प्रवृत्त हो रही हैं, उनसे संसार का जीवन-रस सूख जाय यदि ये 'अंगिरस्' उसमें निरन्तर धर्मधारा न बहाते रहें। इन अंगिरसों को बार बार प्रणाम है।

पर हमें तो यह जानना चाहिये कि ये 'अंगिरस्' महात्मा कैसे बनते हैं? इनके लक्षण क्या हैं? इनके चार लक्षण हैं। (1) ये सत्य ही बोलते हैं, ये सत्य का ही वर्णन करते हैं। (2) केवल वाणी में ही सत्य नहीं होता किन्तु इनके ध्यान व विचार में भी कुटिलता नहीं आने पाती; इनके विचार में—मन में—भी असत्यता नहीं आती (अतएव) इनकी बुद्धि इतनी सच्ची और प्रकाशपूर्ण होती है कि इन्हें समष्टि-बुद्धिरूप जो 'द्यौ' है, उसके पुत्र कहना चाहिये और (3) ये वीर-पुत्र होते हैं क्योंकि संसार में सदा अज्ञान-शत्रु पर विजय पाने के लिए अग्रसर रहते हैं (4) और ये 'द्यौ के पुत्र' अपने में 'विप्रपद' को ज्ञानमय व्यापक पद को धारण किये होते हैं—भगवान् को, भगवान् के एक ज्ञानमय व्यापक रूप को, अपने में धारण किये फिरते हैं।

हे यज्ञकर्मों द्वारा ऊँचे चढ़ने की इच्छा रखने वाले और यत्न करने वाले भाइयो! अंगिरसों के इन चार लक्षणों को अपने में रमाते चलो, रमाते हुए चढ़ते चलो।

(ऋतं शंसन्तः) सत्य ही कहने वाले, (ऋजु दीध्यानाः) अकुटिल ध्यान करने वाले, (असुरस्य) प्रज्ञावाले (दिवः) दिव के, 'द्यौ' के (वीराः पुत्रासः) वीर पुत्र, (विप्रं पदं दधानाः) और जो ज्ञानमय या व्यापक पद को धारण किये हुए हैं ऐसे (अंगिरसः) अंगिरस लोग (यज्ञस्य प्रथमं धाम) यज्ञ के परम मुख्य स्थान को (मनन्त) जानते हैं।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं, हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं, स्वस्तिनो मघवा धात्विन्द्रः॥

ऋ० 6.47.11, य० 20.50, सा० पू० 4.1.5.2, अ० 7.86.1

यह संसार एक रणस्थली है। इसमें हरेक मनुष्य अपनी समझ के अनुसार किसी न किसी विजय पाने में लगा रहता है और उसके लिए दिन-रात संघर्ष में लग जाता है। यद्यपि इन संघर्षों में विजय पाने के लिए मनुष्य प्रायः अपने शरीरबल, बुद्धि-बल, संगठन-बल, विज्ञान-बल, मित्र-बल, सैन्य-बल आदि बलों का प्रयोग करता हुआ अभिमान से समझता है कि मैं इन बलों द्वारा ये सब लड़ाइयां जीत लूंगा, परन्तु एक समय आता है जब कि मनुष्य इन सब बाह्य-बलों से हारकर, निराश होकर, संसार की किसी अज्ञात शक्ति को ढूंढने व पुकारने लगता है। 'हे राम', 'या अल्लाह' या 'O my God' आदि कहकर किसी न किसी नाम से, हे इन्द्र ! असल में वह तुझे पुकार उठता है। तब पता लगता है कि, हे संसार की अज्ञात अदृश्य शक्ति ! तू ही एकमात्र शक्ति है। संसार के शेष सब बल तेरे ही आधार से बल हैं। जब तू चाहता है तब वे बल होते हैं, तेरी जब इच्छा नहीं होती तब किसी भी बल में शक्ति नहीं रहती। इसलिये, हे इन्द्र ! तू ही मेरा सच्चा पालक है और तू ही एकमात्र सब आपत्तियों से मेरा रक्षक है। तुझ ही महापराक्रमी को हर संग्राम में पुकारना चाहिये। तेरा ही पुकारना शोभन है, सुफलदायक है। और किसी को पुकारना निष्फल है, बेकार है। पुकारा हुआ तू भक्तजनों के संकट एक क्षण में दूर कर देता है। तू सर्वशक्तिमान् है। अतएव तू 'पुरुहूत' है, सदा से, जब से सृष्टि चली है सन्त लोग तुझे आड़े समय में पुकारते रहे हैं, याद करते रहे हैं। हे शक्र ! तुझे छोड़कर मनुष्य और किसे पुकारे ? इसलिये, हे इन्द्र ! मैं भी तेरी पुकार मचा रहा हूं। मघवन् ! तू मेरे लिए कल्याणकारी होता हुआ मेरी पुकार सुन। मैं निश्चय से जानता हूँ कि मैं तेरा पवित्र नाम लेता हुआ अपने इस जीवन की सब लड़ाइयों में विजय पाता चला जाऊँगा। मुझे किसी युद्ध में किसी भी अन्य हथियार की जरूरत नहीं। बस, तू मेरी वाणी पर रहे, यही चाहिये। तेरा नाम पुकारना मुझे सब विपत्तियों से पार कर देगा।

(त्रातारं इन्द्रं) पालन करने वाले इन्द्र को, (अवितारं इन्द्रं) रक्षा करनेवाले इन्द्र को (हवे हवे सुहवं) एक-एक संग्राम में सुख से पुकारने योग्य (शूरं इन्द्रं) पराक्रमी इन्द्र को और (शक्रं इन्द्रं) उस सर्वशक्तिमान् इन्द्र को (पुरुहूतं इन्द्रं) जिसे कि असंख्यों सत् पुरुषों ने समय समय पर पुकारा है—उस इन्द्र को मैं भी (ह्वयामि) पुकारता हूं, बुलाता हूँ। (मघवा इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् इन्द्र (नः स्वस्तिः धातु) हमारा कल्याण करे।

न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदामागन्प्रथमजा ऋतस्य आदित् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥
ऋ० 1.164.37, अथर्व० 9.10.15

मैं क्या कहूँ ? क्या मैं यह शरीर हूँ ? इसमें चेतना कहाँ से आई है ? मैं क्या वास्तव में अमर हूं ? यह कुछ समझ में नहीं आता। या क्या मैं बिल्कुल परिस्थितियों का गुलाम हूँ ? इन परिमितता के बन्धनों से क्या मैं कभी छूट सकता हूँ ? यह संसार किसलिये है ? किधर जा रहा है ? मेरा इससे क्या सम्बन्ध है ? कुछ नहीं समझ पाता। हमारे दर्शनों में कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। उधर पश्चिम के दार्शनिक कुछ और वैज्ञानिक कुछ कहते हैं। मैं सब तरफ से बँधा हुआ अपने को अनुभव करता हूँ, संशयों से दबा हुआ इधर उधर भटकता फिरता हूँ; पर ज्ञान-तृप्ति कहीं नहीं होती है। कहते हैं कि जब 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का उदय हो जाता है, तब कोई संशय नहीं रहता। उसके प्रकाश में प्रत्येक वस्तु बिल्कुल यथावत् दिखाई देती है, वहाँ संशय और भ्रम हो ही नहीं सकता। वह यौगिक प्रत्यक्ष है,[1] उससे हरेक तत्त्व का साक्षात्कार, प्रत्यक्ष हो जाता है। ओह ! यदि वह 'ऋतंभरा प्रज्ञा' मुझे प्राप्त हो जाय तो संसार की वाणियाँ, वेद-शास्त्र, दर्शन (Philosophies) और विज्ञान (Science) जो कुछ कहते हैं, उस सब का मतलब हल हो जाय। ये भिन्न भिन्न वाणियाँ सब नव्य और पुरातन ग्रन्थ जो कुछ कहते हैं, उनकी प्रतिपादित वस्तु मिल जाय। फिर ये परस्पर विरुद्ध दीखने वाले शास्त्रवचन मुझे बहका न सकेंगे। बस यह ऋतंभरा प्रज्ञा ही चाहिये और कुछ नहीं चाहिये। वही मेरे इस भयंकर संनिपात रोग का एकमात्र इलाज है। मुझे उसके बिना अब किसी सांसारिक ज्ञान से चैन नहीं मिल सकता। आह ! ऋतंभरा प्रज्ञा ! ऋतंभरा प्रज्ञा ! ! उसी के लिए मेरे सारे यत्न।

(यदि वा इदमस्मि) मैं यह हूं या नहीं, क्या हूँ, (न विजानामि) यह कुछ जान नहीं पाता, (निण्यः) दबा हुआ, (सन्नद्धः) पूरी तरह बँधा हुआ (मनसा चरामि) संशयित मन से फिरता हूँ। (यदा) यदि (मा) मुझे (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यस्वरूप की प्रथमोत्पन्ना बुद्धि (आगन्) प्राप्त हो जाय (आत् इत्) तो मैं (अस्याः वाचः भागं) वाणी मात्र के प्रतिपाद्य विषय को (अश्नुवे) पा जाऊँ।

1—"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" "श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्" योग-दर्शन 1-47-48।

2—ऋतं सत्यमेव बिभर्तीति ऋतम्भरा।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममममृतं सुखं रथं, अथ जिर्वि विदथमावदासि ॥

अथर्व० 8.1.6

हे पुरुष ! तू इस सृष्टि में मुरझाया हुआ, गिरी हुई तबीअत से क्यों रहता है ? तू उठ। तुझे तो दिनों दिन उन्नत होना चाहिये। तू अपने आप को विकसित करने के लिए ही संसार में आया है। तुझे जीवन द्वारा आत्मा की शक्तियों का प्रकाश करना है। तेरे जीवन को, प्राण को, बल से संयुक्त करता हूँ। तेरे प्राण में महाबल भरा हुआ है, इस बल को पाकर लगातार तेरा उत्थान, उन्नति होती जाय। अपने आपको पतित करने का या हिम्मत हारने का क्या काम है ? इस बल को तू जगाता जायेगा तो तेरा 'जीवातु' (जीवन) एक उत्तरोत्तर आनन्ददायक यात्रा हो जायगी। अतः तू इस 'दक्ष' से युक्त होकर अब इस शरीररूपी रथ पर सवार हो जा। अभी तक तू इस पर सवार नहीं था किन्तु शायद यह शरीर तुझ पर सवार रहा है। उठ, इस शरीर का तू अधिष्ठाता है, यह रथ तेरा है। इसे अपने अधीन रख कर चला तो पता लगेगा कि यह रथ कितना सुख से चलनेवाला है। तब शरीर के क्लेश, रोग आदि का तुझ पर प्रभाव न हो सकेगा बल्कि तेरे प्रभाव से यह शरीर रोगादि से रहित स्वस्थ हो जायगा। यही नहीं, किन्तु यदि तू इस रथ का पूरा सवार, रथी, अधिष्ठाता हो जायगा तो तू चाहे तो तेरा अमर आत्मा उस प्राण-बल द्वारा इस रथ को अमृत भी बना सकता है; सब अणिमादि सिद्धियाँ और 'काय-संपत्' इसमें प्रकट हो सकती हैं। इसीलिये कहता हूँ कि तू उठ ! इस सुखमय अमृत रथ पर चढ़ जा और इस द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-विकास को करता हुआ उन्नत उन्नत होता जा। इस बल को पा लेने के बाद, इस रथ पर चढ़ जाने के बाद, कभी 'क्रमिक ह्रास' का नियम नहीं लग सकता है। वह प्राण-बल तुझमें दिनोंदिन बढ़ता ही जायेगा। स्वभावतः वृद्धावस्था के आने पर भी तेरी शक्ति में ह्रास नहीं आना चाहिये। उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्राण-बल तो वृद्धावस्था में पूर्ण विकसित हो जाता है, 'वसु' और 'रुद्र' अवस्था से उठकर उस समय प्राण 'आदित्य' रूप हो जाते हैं। जैसे प्राण-भंडार आदित्य सब जगह अपनी किरणों को फैलाता है, उसी तरह वृद्धावस्था में तू अक्षीण शक्ति होकर अपने विशाल अनुभव-ज्ञान को सब मनुष्य-समाज के लिए प्रदान करता रह।

(पुरुष) हे जीव ! (ते उद् यानं) तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो; (न अवयानं) नीचे पतन कभी नहीं। (ते जीवातुं) तेरे जीवन को (दक्षतातिं) बल से युक्त (कृणोमि) करता हूं। (इमं) इस विद्यमान (अमृतं) अमृत युक्त (सुखं) सुखकारी (रथं) रथ पर (हि) निश्चय से (आरोह) तू चढ़ जा। (अथ) फिर (जिर्विः) जीर्ण होकर, बुढ़ापे में भी (विदथं) ज्ञान का (आवदासि) प्रचार करता रह।

नोट—'जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि' ये शब्द मुझे परमात्मा कह रहे हैं और उन्होंने मेरे शरीर में दक्ष (बल) का संचार कर दिया है, ऐसा अनुभव कीजिये।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी, उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

अथर्व० 12.1.1

हे प्रभो ! जिस भूमि पर हम रहते हैं वह भूमि हमें उन्नत करे, हमें विशाल बनाये। हम इसे धारण करने का पूरा यत्न कर रहे हैं। जब कभी हम मोहवश यह समझ लेते हैं कि कूटनीति अर्थात् झूठ, कपट, चालाकी आदि से अपने देश, राष्ट्र व मातृभूमि की धारणा होगी तब हम भूले होते हैं। पृथिवी को धारण करने वाले जो आवश्यक गुण हैं, उनमें तो सब से पहिला सत्य है। वह महान् सत्य जिससे विश्व ब्रह्माण्ड स्थित है, हमारी भूमि को भी वह ही धारण किये हुए है। और केवल सत्य-ज्ञान ही नहीं, किन्तु उसका आचरण राष्ट्र को स्थिर रखता है। हमें कठोरता के साथ, तेजस्विता के साथ, पूरा पूरा सत्याचरण करना चाहिये। हममें जितना सत्य होगा, जितनी उग्र सत्यचर्या होगी, जितना हम दृढ़ संकल्प होकर ग्रहण किये व्रतों को निबाहने वाले होंगे, जितने हम राष्ट्र के लिए कष्ट सह सकेंगे, जितना हमें अनुभूत ज्ञान होगा और जितना हम निस्वार्थ होकर परोपकार वृत्ति वाले होंगे, उतना ही यह हमारा देश अचलतया स्थित रहेगा। भूमि को कोई राजा, शासन या प्रजा नहीं धारण करते, किन्तु यहां के वासियों में स्थित ये छह गुण ही एकमात्र भूमि के धारण करने वाले होते हैं। यह जानकर इन गुणों को हम अपने में लाने का पूरा यत्न करते हुए ही यह प्रार्थना करते हैं कि हमारी प्यारी मातृभूमि हमें विस्तृत और विशाल बनाये। हम इन गुणों की साधना द्वारा अपनी मातृभूमि को धारण करें और यह भूमि हमारे भूत और भव्य की रक्षा करने वाली होकर हमें उन्नत करे। हम अपने भूत के आधार पर ही भविष्य में उन्नत हो सकते हैं और जितना ही हम अपने राष्ट्र के साथ एक होंगे, तादात्म्य करेंगे, उतना दूर तक हम अपने राष्ट्र के भूत में प्रविष्ट होंगे और उतना ही अपने भविष्य को उज्ज्वल और महान् बना सकेंगे। इस तरह मातृभूमि की हमारी उपासना हमें सुविशाल कर दे। राष्ट्र का व्यक्ति मातृभूमि के जीवन और मरण के साथ ही जीता या मरता है। मातृभूमि की अनन्यभाव से उपासना मनुष्य को इतनी विस्तृत आयु (जीवन) प्रदान कर देती है ! तब मनुष्य क्षुद्र बातों से कितना ऊँचा हो जाता है ! आओ, हम आज से उन सत्य आदि महान् [बृहत्] गुणों को अपने में धारण करते हुए अपनी मातृभूमि की सच्ची पूजा किया करें जिससे यह भगवती मातृभूमि हमारे भूत के दृढ़ चट्टान पर हमारे उज्ज्वल भव्य की रचना को सुरक्षित करती हुई हमारे लिए उतने विशाल क्षेत्र को खोल देवे—उस भूत और भव्य को व्याप्त कर लेने वाले विस्तृत लोक को हमारा बना देवे।

(बृहत् सत्यं) महान् सत्य (उग्रं ऋतं) कठोर सत्याचरण (दीक्षा) व्रतग्रहण (तपः) कष्टसहन (ब्रह्म) अनुभव-ज्ञान (यज्ञः) निस्वार्थ कर्म ये (पृथिवीं धारयन्ति) पृथिवी को धारण कर रहे हैं। (भूतस्य भव्यस्य पत्नी) भूत और भव्य की रक्षा करने वाली (सा: नः पृथिवी) वह हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिए (उरुं लोकं) विस्तृत लोक को, विशाल क्षेत्र को (कृणोतु) करे।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्, प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० 34.5

हे प्रभो ! मेरे चित्त का मैल अभी तक नहीं निकला । स्वार्थ-कामना, राग द्वेष, मोह आदि मलिनता इससे सूक्ष्मता से ऐसी चिमटी हुई हैं कि इस सूक्ष्म मैल के कारण मेरे बिना जाने भी इसमें अशुभ संकल्प पैदा हो जाते हैं । हे नाथ ! मेरे मन को इतना मजबूत कर दो कि कम से कम इसमें अशुभ राग-द्वेषात्मक संकल्प तो न उठें, 'उदार' रूप में न आयें । मुझे तो इस मन से परम पुरुषार्थ साधना है, सत्यज्ञान को प्राप्त कर लेना है पर यह मन अभी इतना भी शुद्ध और बलवान् नहीं हुआ है कि सदा शिवसंकल्प बना रहे । मन में तो सब वेदज्ञान भी मौजूद है । ऋक्, यजु, साम तीनों प्रकार का वेदज्ञान मन के ही आश्रित है । मैं देख रहा हूँ कि जैसे कि रथनाभि में अरे लगे रहते हैं वैसे सब वेद मन में रखे हुए हैं । हे परमेश्वर ! यह प्रलय में भी नष्ट न होने वाला तुम्हारा अनन्त नित्य वेदज्ञान तुम्हारे सर्वव्यापक परम शुद्ध मन में ही तो—'प्रकृष्ट चित्तसत्त्व' में ही तो – रहता है । और वहीं से यह वेद-ज्ञान ऋषियों ने अपने शुद्ध मनों में पाया है और वे मंत्रद्रष्टा ऋषि बने हैं । सचमुच वेद-ज्ञान पुस्तकों में नहीं है, यह मन में है । मैं जानता हूं कि सम्पूर्ण वेदराशि, तीनों प्रकार का वेद-ज्ञान, मेरे भी मन में रखा हुआ है । मेरे भी मन के उच्च, पवित्र होने पर वे तीन अवस्थायें आ सकती हैं जिनमें कि ऋक्-ज्ञान, यजु-ज्ञान, और साम-ज्ञान स्वभावतः मुझ में प्रकाशित हो सकेंगे । सभी प्रजाओं के सभी मनुष्यों के मनस्तत्त्व में जहाँ उनका सब प्रकार का चित्त, उनके संस्कारों का महाकोष, उनका अनन्त वासनाजाल, सब योनियों की सब प्रकार की असंख्यात वासनायें मौजूद हैं, वहीं मन में सब सत्य-ज्ञान भी मौजूद है । पर यह सब जानते हुए भी मैं लाचार हूँ । बल्कि मैं इस अनन्त भण्डार को जानता हूँ इसीलिये छटपटा रहा हूँ । मुझे तो अपने मन वेदज्ञान को प्रकाशित करना है, पर यह अभी कुसंस्कारों से भरा पड़ा है । मेरे मन में तो सत्य-संकल्प बनना है, पर यह अभी शिव-संकल्प भी नहीं बना है । हे हृदय वामी ! कृपा करके मेरे मन को ऐसा दृढ़ कर दो कि मुझमें चाहे कितने संकल्प उठें और जब जो संकल्प चाहे वही उठे. पर वे सब संकल्प शुभ ही शुभ हों; उनमें कोई अशिव न हों । मुझ में अकल्याणकारी संकल्प उठने तो अब बन्द ही हो जायें । मन की इतनी शुद्धि, इतनी प्रबलता तो प्रदान कर ही दो ।

(यस्मिन्) जिस मनस्तत्त्व में (ऋचः साम) ऋक्-ज्ञान और साम-ज्ञान तथा (यस्मिन् यजूंषि) जिस में सब यजु-ज्ञान भी (प्रतिष्ठिताः) इस तरह स्थापित हैं (इव) जैसे कि (रथनाभौ अराः) रथनाभि में अरे लगे रहते हैं, जड़े रहते हैं और (यस्मिन्) जिस मनस्तत्त्व में (प्रजानां सर्वं चित्तं) प्रजामात्र का संपूर्ण चित्त, सब संस्कारों से चित्रित और सर्व वासना-जाल से युक्त चित्त (ओतं) ओत-प्रोत हुआ हुआ, पिरोया हुआ है (तत् मे मनः) वह मेरे अन्दर स्थित मन (शिवसंकल्पं अस्तु) सर्वथा शुभ ही संकल्प करने वाला हो जाय ।

वृत्रस्य त्वां श्वसथात् ईषमाणाः, विश्वे देवाः अजहुः ये सखायः ।
मरुद्भिः इन्द्र सख्यं ते अस्तु, अथेमा विश्वाः पृतना जयासि ।।

ऋ० 8.96.7

हे मेरे आत्मा ! तेरे असली साथी तो प्राण ही हैं। जब तक प्राण तेरे साथी नहीं हो जाते, तब तक अन्य देवों का साथ वेकार है बल्कि समय पर धोखा देनेवाला है। मैं जब उत्तम ग्रन्थ पढ़ता हूँ सन्तों की वाणी सुनता हूँ, पवित्र उपदेश श्रवण करता हूँ तब मन में बड़े दिव्य, उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं; आन्तरिक मनन और भावन से मन की अवस्था ऐसी ऊँची हो जाती है कि हृदय में मानो देवसमाज लग जाता है। मैं अपने को बिल्कुल निर्विकार, निष्काम, और पवित्र समझने लगता हूँ। परन्तु पाप-प्रलोभन के आते ही यह सव का सव उलट जाता है, वृत्रासुर के सम्मुख आने पर इस सब देव-समाज में भग्गी पड़ जाती है, उसकी फुंकार से सब दिव्यविचार क्षण में उड़ जाते हैं, जरा सी देर में हृदय में महाबली वृत्रासुर का राज्य जम जाता है। उस समय मैं यह जानता हुआ भी कि मैं बुरा कर रहा हूँ, पाप कर रहा हूँ. पाप की तरफ खिंचा चला जाता हूँ। मनुष्य इस अवस्था से कैसे पार होए ? इसका एक ही इलाज है कि मनुष्य प्राणों की समता प्राप्त करे। प्राणों का सम होना ही प्राणों का (मरुतों का) आत्मा के साथ मैत्री होना है। आत्मा के साथ जुड़ने पर, आत्मा के समीप होने पर प्राण सम और शान्त हो जाते हैं। ये सम हुए प्राण कार्य करने के बड़े प्रबल साधन बन जाते हैं। प्राण की सम अवस्था में जो विचार होते हैं, वे स्थिर और दृढ़ होते हैं, इस अवस्था में किये गये संकल्प बड़ा विस्तृत प्रभाव रखते हैं। आत्म-शक्ति जब प्राणों को आत्मगृहीत करके उन द्वारा प्रकट होती है तो उसके सामने कोई नहीं ठहर सकता, सब वासनायें दब जाती हैं, कोई भी पाप-विचार सिर ऊपर नहीं उठा सकता। बड़े-बड़े प्रलोभन, पाप की बड़ी-बड़ी फौजें आत्मा के एक संकल्प के द्वारा दब जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं; आत्माग्नि की एक लपट में भस्म हो जाती हैं, जब कि वह आत्म-संकल्प सम हुए, सखा बने हुए प्राणों द्वारा प्रकट होता है और जब कि आत्माग्नि प्राणमाध्यम द्वारा सहस्र गुणित होकर जल उठती है। प्राणों की इस मैत्री को, दोस्ती को पाकर आत्मा क्या नहीं कर सकता ? प्राण महाबली है। वह जब तक असम रहता है तब तक उसका बल वृत्रासुर के काम आता है, पर जब वह सम हो जाता है तो वह आत्मा का हो जाता है। आत्मा का सखा प्राण अजेय है।

(इन्द्र) हे आत्मन् ! **(विश्वे देवाः)** सब देव, सब दिव्यभाव **(ये सखायः)** जो कि तेरे साथी बनते हैं **(वृत्रासुर श्वसथात्)** पापासुर के साँस से, फुंकार से, बल-प्रदर्शन से **(ईषमाणः)** डरकर भाग जाते हुए **(त्वां)** तुझे **(अजहुः)** छोड़ देते हैं। हे इन्द्र ! **(ते सख्यं)** तेरी मैत्री, तेरा साथ **(मरुद्भिः)** प्राणों के साथ **(अस्तु)** यदि होता है या होए **(अथ)** तो तू **(इमाः विश्वाः पृतनाः)** पाप की इस सब बड़ी फौज को **(जयासि)** जीत लेता है।

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी ।।

ऋ० 10.117.6

संसार में धनी दीखने वाले दुर्बुद्धि (पापबुद्धि) मनुष्यों के पास जो अन्न-भण्डार और नाना भोग-सामग्री दिखाई देती है, क्या वह भोग्य सामग्री है ? अरे, वह सब भोग-विलास का सामान तो उनकी 'मौत' है। वह भोग्य वस्तुएँ नहीं हैं किन्तु उनको खा जाने वाले ये इतने उनके भोक्ता हैं, भक्षक हैं। भोग्य सामग्री का मनोहर रूप धरके आया हुआ उनका काल है, उन्हें खा जाने के लिए आया हुआ काल है। मनुष्यो ! तुम्हें इस विचित्र बात पर विश्वास नहीं होता होगा, किन्तु मैं सच कहता हूँ, सच कहता हूँ और फिर सच कहता हूँ कि पापी दुर्बुद्धि पुरुष के पास एकत्रित हुआ सब सांसारिक-भोग का सामान उसकी मृत्यु का सामान है, केवल मृत्यु का ही सामान है; इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। क्योंकि वह पुरुष अपने इस धन, ऐश्वर्य द्वारा केवल अपने देह को ही पोषित करता है। न तो वह उस द्वारा अपने अन्य मनुष्य-भाइयों को पोषित करके अपने स्वाभाविक यज्ञ-धर्म को पालता है, न ही वह अर्यमादि देवों के लिए आहुति देकर आधिदैविक जगत् के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित रखता है। यदि वह आधिदैविक आदि जगत् को पोषित करता हुआ इसके यज्ञ-शेष से अपने को पोषित करे तब जो भोग-सामग्री उसके लिए अमृत हो सकती थी, वही भोग-सामग्री उसकी 'मौत' बन जाती है। मनुष्यो ! याद रखो कि अकेला भोगने वाला, औरों को बिना खिलाये स्वयमेव अकेला भोगने वाला मनुष्य, केवल पाप को ही भोगता है। जबकि चारों तरफ असंख्यों पुरुष एक समय भी भरपेट भोजन न पा सकने वाले, भूखे-नगे, झोंपड़ों में पड़े हों तो उनके बीच में जो हलुवा पूरी खाने वाला, महल में रहने वाला, पलंग पर सोने वाला 'अप्रचेताः' पुरुष है, उससे तुम क्या ईर्ष्या करते हो ? तुम्हें बेशक वह मजे में हलुवा पूरी खाता हुआ नजर आता है, पर जरा सूक्ष्मता से देखो तो वह बिचारा तो केवल अपने पाप को भोग रहा होता है, वह केवल शुद्ध पाप का भागी होता है और इस अयज्ञ के भारी पाप-बोझ को वह अकेला ही उठाता है; इसमें उसका कोई और साक्षी नहीं होता। 'केवलाघो भवति केवलादी' यह संसार का परम सत्य है। इसे कभी मत भूलो। (शरीर, मन और आत्मा तीनों को पुष्टि करने-वाले) सच्चे भोजन में और (शीघ्र ही विनाश को पहुँचा देने वाले) पापमय भोजन में भेद करो। पाप से सना हुआ हलुवा पूरी खाने की अपेक्षा रुखा-सूखा खाना या भूखा रहना हजारों गुणा श्रेष्ठ है। पहिले तरह का भोजन मौत है; दूसरा अमृत है।

(अप्रचेताः) दुर्बुद्धि मनुष्य (मोघं) व्यर्थ ही (अन्न) भोग-सामग्री को (विन्दते) पाता है। (सत्यं ब्रवीमि) सच कहता हूँ कि (स) वह भोग-सामग्री (तस्य) उस मनुप्य के लिए (वध इत्) मृत्यु रूप ही होती है—उसका नाश करने वाली ही होती है ! ऐसा दुर्बुद्धि (न अर्यमण पुष्यति) न तो यज्ञ द्वारा अर्यमादि देवों की पुष्टि करता है (नो सखायं) और न ही मनुष्य-साथियों की पुष्टि करता है। सचमुच वह (केवलादी) अकेला खाने—भोग करने—वाला मनुष्य (केवलाघो भवति) केवल पाप को ही भोगने वाला होता है।

26 आषाढ़

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्, द्राघीयांसं अनुपश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा, अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ।।

ऋ० 10 117.5

धन को जाते हुए कितनी देर लगती है ? व्यापार में घाटा हो जाता है, चोर लुटेरे धन लूट ले जाते हैं, बैंक टूट जाते हैं, घर जल जाता है आदि सैंकड़ों प्रकारों से लक्ष्मी मनुष्य को क्षणभर में छोड़कर चली जाती है । वास्तव में लक्ष्मीदेवी बड़ी चंचल है । वह मनुष्य कितना मूर्ख है जो यह समझता है कि बस, यदि मैं दूसरों को धन दान नहीं करूँगा तो और किसी तरह मेरा धन मुझसे जुदा नहीं हो सकेगा । अरे, धन तो जब समय आयेगा तो एक पलभर में तुझे कंगाल बनाकर कहीं चला जायगा । इसलिए, हे धनी पुरुष ! यदि इस समय तेरे शुभ कर्मों के भोग से तेरे पास धन संपत्ति आई हुई है तो तू इसे यथोचित दान में देने में कभी संकोच मत कर । जीवन मार्ग को जरा विस्तृत दृष्टि से देख और सत्पात्र को दान देने में अपना कल्याण समझ, अपनी कमाई समझ । सच्चा दान करना सचमुच जगत्पति भगवान् को उधार देना है जो कि बड़े भारी दिव्य सूद के साथ फिर वापिस मिलता है । जो जितना त्याग करता है वह उससे न जाने कितना गुणा अधिक प्रतिफल पाता है, यह ईश्वरीय नियम है । दान तो संसार का महान् सिद्धान्त है । पर इस इतनी साफ बात को यदि लोग नहीं समझते हैं, तो इसका कारण यह है कि वे मार्ग को दूर तक नहीं देखते हैं । जीवन-मार्ग कितना लम्बा है, यह संसार कितना विस्तृत है और इस संसार में जीवों को उनके शुभ, अशुभ कर्मों का फल उन्हें कब का कब मिलता है, यह सब कुछ नहीं दिखाई देता । इसीलिये हमें संसार में चलते हुए वे अटल नियम भी दिखाई नहीं देते जिनके अनुसार सब मनुष्यों को उनके शुभ, अशुभ कर्मों का फल अवश्यम्भावितया भोगना पड़ता है । यदि इस संसार की गति को हम जरा भी ध्यान के साथ देखें तो पता लगेगा कि धन सम्पत्ति इतनी अस्थिर है कि यह रथचक्र की तरह घूमती फिरती है, आज इसके पास है तो कल दूसरे के पास है पर हम इतनी क्षुद्र दृष्टिवाले हैं और इसी लिये इस 'आज' में ही इतने ग्रस्त हैं कि हम 'कल' को देखते हुए भी देखते नहीं हैं ! संसार में लोगों का नित्य धननाश होता हुआ देखते हुए भी अपने धननाश के समय से एक पल पहिले तक भी हम इस घटना के लिए कभी तैयार नहीं होते और इसीलिये जरा से धननाश होने पर इतने रोते चीखते भी हैं । यदि हम मार्ग को विस्तृत देखें तो इन धनागमों और धननाशों को अत्यन्त तुच्छ बात समझें । यदि संसार में प्रतिक्षण चलायमान, घूमते हुए, इस धन-चक्र को देखें, इस बहते हुए धनप्रवाह को देखें, तो हमें धन जमा करने का जरा भी मोह न रहे ।

(तव्यान्) धन से बढ़े हुए समृद्ध पुरुष को चाहिये कि वह (नाधमानाय) माँगने वाले सत्पात्र को (पृणीयात् इत्) दान देवे ही, (पन्थां) कुकृत मार्ग को (द्राघीयांसं) दीर्घतम (अनुपश्येत) देखे । इस लम्बे मार्ग में (रायः) धन सम्पत्तियाँ (उ हि) निश्चय ये (रथ्या चक्रा इव) रथ-चक्रों की तरह (आ वर्तन्ते) ऊपर नीचे घूमती रहती हैं, बदलती रहती हैं और (अन्यं अन्यं उपतिष्ठन्ते) एक को छोड़ कर दूसरे के पास जाती रहती हैं ।

अपाम सोमं अमृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः, किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

ऋ० 8.48.3

मैंने अमर करने वाले ज्ञानामृत का पान कर लिया है, मैं तृप्त हो गया हूँ, अमर हो गया हूँ। अब मैं मृत्यु से पार हो गया हूँ क्योंकि मैंने देख लिया है कि मैं अजर अमर हूँ, नित्य हूँ, सनातन हूँ, न कभी पैदा हुआ हूँ और न कभी मर सकता हूं। यह सब मैं ज्ञान के प्रकाश में साफ देख रहा हूँ। मैं प्रकाश के राज्य में पहुँचा हुआ हूँ, किसी भ्रम व संशय को स्थान नहीं है। मैं अब मरने वाला मनुष्य नहीं रहा हूँ, देव हो गया हूँ, मैंने देवलोक पा लिया है। अब मेरा न कोई मित्र है और न शत्रु है। मेरे लिए संसार में विघ्न बाधा कोई वस्तु नहीं रही है। जो बिचारे अज्ञानी मुझे अपना शत्रु समझते हैं, मुझे सहायता देना रोक कर हानि पहुँचाना चाहते हैं—वे जानते नहीं। उनके किये से भला मेरा क्या बिगड़ सकता है? मुझ परितृप्त निष्काम पुरुष को वे क्या हानि पहुँचा सकते हैं? मुझ अमर को मरणशील मनुष्य की कौन सी हिंसा, कौन सा वध मार सकता है? हे मेरे अमृत परमेश्वर! वे अमृतपान को कुछ भी नहीं जानते। तू उन्हें भी अमृत का जरा मजा चखा दे, तो वे जान जायें कि मरणशील मनुष्य कितना तुच्छ है और उसके हाथ में पकड़ा हुआ और भी अधिक क्षणभंगुर हिंसा का हथियार कितना अधिक तुच्छ है! मनुष्य अपने मर्त्यपन की अवहेलना को अनुभव करने लगे तो वह अमर बनने के लिए, देव बनने के लिए व्याकुल हो उठे! तब मार-काट, हिंसा, द्वेष कहाँ रहें? तब किसी को बिगाड़ने की जरूरत न रहे, सब को बनाना ही काम हो जाय; किसी को मारने, नाश करने की जरूरत न रहे, सबको जीवित करने का ही काम रह जाय! अहो, अमर को मारने की इच्छा करने वाले कितना व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं? परितृप्त ज्ञानी देव को नुकसान पहुँचाना चाहने वाले कितने भ्रम में हैं? अपनी शक्ति का कितना दुरुपयोग कर रहे हैं? हे परमेश्वर! तू उन पर दया कर।

(सोमं अपाम) मैंने सोम का पान किया है, (अमृताः अभूम) अमर हो गया हूँ। (ज्योतिः अगन्म) प्रकाश पा लिया है! (देवान् अविदाम) देवों को प्राप्त हो गया हूँ, देव हो गया हूं, मैंने दिव्यता पा ली है, सो अब (नूनं) निश्चय से (अराति) शत्रु, दान का अभाव (अस्मान् किं कृणवत्) हमारा क्या करेगा और (मर्त्यस्य धूर्तिः) मरणशील मनुष्य की हिंसा से (अमृत) हे अमृत देव! (किं) मेरा क्या बिगड़ेगा?

त्रातारो देवा अधिवोचता नो, मा नः निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः, सुवीरासो विदथमावदेम ।।

ऋ० 8. 48.14

हे प्राकृतिक देवो ! तुम हम से बात करो । तुम हमारे से इतने स्वाभाविक और नजदीकी सम्बन्ध में हो जाओ कि हम तुम्हारे अभिप्राय को सदा समझते रहें । हे रक्षक देवो ! तुम तो हमारे इतने आत्मीय हो कि यद्यपि हम अप्राकृतिक जीवन बिताते हुए अपनी हानि करने में कभी कुछ कसर नहीं छोड़ते हैं तो भी तुम्हारी प्रवृत्ति सदा अन्त तक हमारी रक्षा करने की ही रहती है । हमें हानि तभी पहुँचती है जबकि हम तुम्हारी बात अन्त तक नहीं सुनते, तुम्हारे बार बार सावधान करने पर भी हम तुम्हारी चेतावनी को नहीं सुनते । और तुम्हारी जोरदार आवाज भी हमें सुनाई इसीलिये नहीं देती चूँकि हम तुमसे समस्वर (In tune) नहीं रहते, तुम्हारे यन्त्र से अपना यन्त्र मिलाये नहीं रखते । पर इस समता में ही सब कुछ है । हम या तो तमोगुण में पड़े रहते हैं या उस से उठते हैं तो रजोगुण हमें अपने चक्र पर चढ़ा लेता है । इन दोनों की समता (सत्त्व गुण) में हम टिक नहीं सकते । हममें यह सामर्थ्य नहीं है कि हम अपनी निद्रा को या अपनी बोलने आदि की क्रिया को अपने काबू में रख सकें । जब 'तम' का वेग आता है तो हम आलस्य में दब जाते हैं और जब 'रज' का वेग आता है तो हम बोलते चले जाते हैं । इस असमता को, हे देवो ! अब हमसे हटा दो । अब 'निद्रा' और 'जल्पि' हम पर अपना प्रभुत्व न कर सकें, हम अब जब चाहें तभी आराम करें, अपनी निद्रा लेवें और अपने भाषण आदि कर्म पर अपना पूरा संयम रख सकें । इस समता, संयम रख सकने में ही श्रेष्ठ वीरता है, सुवीरता है । यदि हम ऐसे हो जायेंगे तो, हे देवो ! तुम सब देवों के देव उस सोम देव के भी हम प्यारे हो जायेंगे । अब हमारी यही इच्छा है कि उस सोम प्रभु के प्यारे होते हुए और समता में रहने वाले ऐसे 'सुवीर' होते हुए ही हम अपना जीवन बितायें । ऐसे तुम्हारे भाई बनकर तुमसे जो कुछ ज्ञान पायें, उसे अपने जीवन द्वारा फैलाते रहें—तुमसे जो कुछ सुनें उसे औरों को भी सुनाते रहें । इसलिये, हे देवो ! तुम अब हमें सुनाओ, हमसे बात करो ।

(त्रातारः देवाः) हे रक्षक देवो ! **(नः अधिवोचत)** हमसे बात करो, हमें बताओ । **(नः निद्रा मा ईशत)** हम कभी निद्रा, आलस्य के वशीभूत न होयें और **(मा उत जल्पिः)** और न ही बकवास, व्यर्थ बोलने की इच्छा हमें दबाये । **(वयं विश्वह सोमस्य प्रियासः)** हम सदा सोम के प्यारे होते हुए और **(सुवीरासः)** श्रेष्ठ वीर होते हुए **(विदथं आवदेम)** ज्ञान को फैलाते रहें ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिं इत् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया, तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः॥

ऋ० 10.34.13

बिना परिश्रम किये फल चाहने वाले भाइयो ! बिना पसीना बहाये सुख संपत्ति के उम्मीदवारो ! तुम बड़े भारी भ्रम में हो। तुम्हारी यह इच्छा इस जगत् के महान् सिद्धान्त के विपरीत है। इस जगत् के स्वामी, सर्वान्तर्यामी प्रेरक प्रभु ने यह बात आज मुझे साफ-साफ दिखला दी है, मेरे अन्तःकरण में इसका प्रकाश हो गया है। पहिले मैंने भी सुख पा लेने के बहुत से छोटे रास्ते (Short cuts) ढूँढे पर आज प्रभु-कृपा से मुझे साक्षात् हो गया है कि बिना स्वयं परिश्रम किये कोई सच्चा सुख नहीं मिल सकता है। यह अटल नियम है। इसलिये आज मैं ऊँचे पर खड़ा होकर सब संसार को कहना चाहता हूँ, मनुष्यमात्र को सुना देता हूँ—'हे मनुष्य ! तू जुआ मत खेल, तू खेती कर।' आज संसार के मनुष्य नाना तरह से जुआ खेल रहे हैं, भिन्न-भिन्न जातियों ने अपने-अपने ढंग—सभ्य या असभ्य ढंग – निकाल रखे हैं। पर इन सब ढंगों में दो मूलभूत बात रहती हैं अर्थात् (1) बिना श्रम किये समृद्धि पाने का लोभ और (2) इसके लिए अपने आपको भाग्य की अनिश्चित, संशयित सम्भावना पर छोड़ देना। इस लोभ और आलस्य में फँसकर मनुष्य जुए के पाप में पड़ता है। पर लोभ और आलस्य के कारण वैयक्तिक ही नहीं, किन्तु सामाजिक सम्पत्ति का भी ह्रास होता है तथा कौटुम्बिक जीवन (जो कि मनुष्य के विकास का साधन है) का नाश होता है। मनुष्यो ! तुम्हें सम्पत्ति का सुख (जिसका कि उपलक्षण 'गावः' है) और कौटुम्बिक सुख (जिसका कि उपलक्षण 'जाया' है) इस कृषि से ही मिलेगा, जुए से नहीं, खुद श्रम करके कमाने से मिलेगा, दूसरे को ठगने द्वारा मिली प्राप्ति से नहीं। इसलिये ऐसी थोड़ी कमाई को ही तू बहुत समझ। ईमानदारी और परिश्रम से ही कमाया हुआ थोड़ा सा धन भी बहुत है, वह वास्तव में बहुत अधिक है। किसी प्रकार के भी जुए (द्यूत) से रहित सच्ची कमाई का एक-एक पैसा एक-एक हीरे के बराबर है, उतना ही सुख देने वाला है। इसलिये, हे प्यारे ! तू अपनी शुद्ध कमाई की रूखी-सूखी में अमृत खाने का आनन्द ले और अपनी शुद्ध कमाई के दो पैसों पर ही बादशाह को मात करने वाले गर्व के साथ सच्चा आनन्द लूट।

(अक्षैः मा दीव्यः) तू कभी जुआ मत खेल किन्तु (कृषिं इत् कृषस्व) खेती ही का काम परिश्रम पूर्वक कर (वित्ते बहु मन्यमानः) परिश्रम से मिले धन को ही बहुत मानता हुआ उसी में (रमस्व) आनन्दित, प्रसन्न और सन्तुष्ट रह। (कितव) हे जुआ खेलने वाले ! (तत्र) इसी परिश्रम की कमाई में ही (गावः) गौ आदि सब सच्ची सम्पत्ति हैं और (तत्र जाया) इसी में सब गृहस्थ-सुख हैं। (तत्) यह बात (अर्यः अयं सविता) मेरे स्वामी इस प्रेरक प्रभु ने (मे) मुझे (वि चष्टे) अच्छी तरह दिखला दी है।

30 आषाढ़

विधुं दद्राणं समने बहूनां, युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा, अद्या ममार स ह्यः समान ॥

ऋ० 10.55.5, साम० उ० 9 1.7, अथर्व० 9.10.9

हे मनुष्यो ! यह आश्चर्य देखो कि जवान को बुड्ढा निगल जाता है ! उस पराक्रमी जवान को जो कि रणस्थली में बहुतों को मार भगाने वाला है और जो कि बड़े-बड़े विविध कर्म करने वाला है, ऐसे जवान को एक न-जाने कब का बुड्ढा, सफेद बालों वाला बुड्ढा, निगल जाता है। मनुष्यो ! तुमने बेशक बहुत से मनुष्यकृत किताबी और काल्पनिक काव्य पढ़े होंगे, पर आज जरा इस जीते-जागते सामने होते हुए देव के महान् काव्य को भी देखो, जरा इस महाकाव्य के भी पन्ने पलटो और पढ़ो जिसमें लिखा है कि 'जो अभी कल जी रहा था वह आज मरा पड़ा है।' बस, इस दिव्य महाकाव्य में यही लिखा हुआ है।

भाई ! क्या तुमने उस जवान के निगलने वाले बुड्ढे को पहिचाना ? क्या तुम अपनी आँखों के सामने इस दिव्यकाव्य को नहीं देख रहे ? क्या देखते हो कि दुनियाँ में रोज जो हजारों (एक क्षण पहिले तक दूसरों को मार भगाने की शक्ति का गर्व रखते हुए) आदमी मर रहे हैं, उन्हें कौन निगल रहा है ? यदि नहीं देखते, तो वेद की किताब में यह पढ़ लेने पर कि आत्मा अपने में प्राणों और इन्द्रियों को रोज निगलता है, आदित्य शक्ति 'चन्द्रमस्' को निगलती है और परम बुड्ढा कालरूप परमेश्वर एक दिन इस सब बड़े वेग से क्रियाशील, अगम, महान्, ब्रह्माण्ड को (इस चलते फिरते नौजवान संसार को) भी निगल लेता है। तो यह पढ़ लेने पर भी नहीं देखोगे ? यदि तुम्हें यह सहस्रों चतुर्युगियोंवाला कल्पान्त संसार ब्रह्मा का केवल एक दिन नजर आता जो कि उसके अगले ही दिन—उसके 'कल' में ही – मरा पड़ा है, और यदि तुम्हें इस जगत् की एक-एक घटना इसकी क्षणभंगुरता को नहीं दिखाती, तो तुम्हें वह देव ही एक दिन अपना महत्त्वशाली काव्य पढ़ायेगा और तुम्हें पदार्थ पाठ देगा—'कल जो जीता था, वह आज मरा पड़ा है।'

भाई ! देव के इस संसार में आकर यदि हम केवल इस 'अनित्यता' को ही सचमुच जान जायें, केवल यह पाठ पढ़ लेवें, और अतएव कम से कम अपने बल का, नौजवानी का, कर्मशक्ति का और दूसरों को मार भगा सकने का घमण्ड छोड़ दें तो बस, यह पर्याप्त है। तो हमने सब काव्य पढ़ लिये और पढ़ाई का फल पा लिया।

(युवानं सन्तं) एक ऐसे नौजवान को (विधुं) जो कि विविध काम करने वाला है और (समने) रण में (बहूनां) बहुतों को (दद्राणं) मार भगाने वाला है उसे (पलितः) एक बुड्ढा (जगार) निगल जाता है (देवस्य) देव के (महित्वा) इस बड़े महत्व वाले (काव्यं) काव्य को (पश्य) देख कि (ह्यः सम्—आन) कल जो जी रहा था, साँस ले रहा था, (सः) वही (अद्य) आज (ममार) मरा पड़ा है।

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानां अमृतस्य नाभिः ।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय, मा गां अनागां अदितिं वधिष्ट ।।

ऋ० 8,10.1.15

हे मनुष्य ! तू गौ को कभी मत मार । इस निरपराध बिचारी गौ को कभी मत मार । तू चेतना वाला है, तुझे परमात्मा ने कुछ समझ, अक्ल, बुद्धि दी है । इसलिये तुझे कहता हूं तू गो-घात कभी मत करना । तू जरा सा अपनी समझ का उपयोग करेगा तो मुझे पता लग जायगा कि यह गौ यद्यपि बड़ी भोली, बिचारी, बिल्कुल निर्दोष है इसलिये इसे कोई भी कभी मार सकता है, मारने से यह मर जायगी, कोई प्रतिरोध न करेगी, पर साथ ही यह इतनी महत्त्वशालिनी है, सब देवों की सम्बन्धिनी और अमरपन का एक केन्द्र है कि इसका मारना अपना नाश करना है, इसका घात करना आत्मघात है । यह गौ कहीं और नहीं, हमारे ही अन्दर है । यह 'अदिति' आत्म-शक्ति है, वाणी है, अन्तरात्मा की वाणी है, अन्दर की आवाज है । इसे तुम दबाओगे तो बेशक यह चुपचाप दब तो जायगी, पर इससे तुम्हारा आत्मा नष्ट हो जायगा । यह 'अदिति' वाणी (यह आदित्यों की बहिन) वसुओं—आत्मा की वासक अग्नियों—से प्रकट होती है (इनकी पुत्री है) और मनुष्य के सब रुद्रों—प्राणों—की और सब चेष्टाओं की माता है । यह ऐसी अमृत वस्तु है कि इसे मारने का यत्न करने वाला खुद मर जाता है और इसकी रक्षा करने वाला ही सुरक्षित रहता है । इसी अन्दर की 'गौ' की प्रतिनिधि आधिदैविक में भूमि है, आधिभौतिक में राष्ट्र-देवी है और पशुओं में गौ माता है । हे चेतना वाले मनुष्य ! तू समझ कि इन गौओं का भी घात कितना भयङ्कर परिणाम लाने वाला है । भूमि, राष्ट्र और गौओं की रक्षा करते में ही मनुष्यों की, मनुष्य-जाति की रक्षा है । देखना, इस भूमि-गौ की, इस राष्ट्र-गौ की तथा इस गौ-पशु की जरा भी हिंसा करने वाला कर्म्म तुझसे न होये । जब कभी इन सर्वथा अप्रतिरोधिनी गौओं की हिंसा करने का प्रलोभन आये तो याद कर लेना कि ये सब अमृत की नाभियाँ हैं और अपने अपने क्षेत्र के आदित्यों, वसुओं और रुद्रों से सम्बन्धित दिव्य शक्तियां हैं । इनको मार कर तू कभी फल-फूल नहीं सकता । पर अन्त में सब बाह्य गौओं की गौ तो अन्तरात्मा की वाणी है । इस गौ को तो कभी मत छेड़ना, इसे सदा पालना, पोसना और इसकी आज्ञा को सदा मानना । अपना सर्वस्व स्वाहा करके भी इस गौ की रक्षा करना । इसे जरा भी नहीं दबाना । यदि इस अमृतनाभि 'अदिति' गौ का रक्षण, पोषण और वृद्धि होती गई तो तू भी एक दिन अमृत हो जायगा, देवों का राज्य पा जायगा । देखना, इस सर्वथा अप्रतिरोधिनी परम शान्त गौ का तेरे यहाँ जरा भी तिरस्कार न होने पाये, इसे जरा भी क्षति न पहुँचने पाये ।

मैं (चिकितुषे जनाय) प्रत्येक चेतना वाले मनुष्य को (नु प्रवोचं) कहे देता हूं कि (अनागां) निरपराध (अदितिं, अहन्तव्या (गां) गौ को (मा वधिष्ट) कभी मत मार, क्योंकि यह (रुद्राणां माता) रुद्र देवों की माता है, (वसूनां दुहिता) वसु देवों की कन्या है और (आदित्यानां स्वसा) आदित्य देवों की बहिन है तथा (अमृतस्य नाभिः) अमरपन का केन्द्र है ।

32 आषाढ़

अजीतये अहतये पवस्व, स्वस्तये सर्वतातये बृहते ।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायः, तदहं वश्मि पवमान सोम ।।

ऋ० 9.96.4

हम चाहते हैं कि हम अजित रहें, कभी हार न खायें, हम अहत रहें, कभी मारे न जायें, हमारा कल्याण ही होये, कभी हमारा कोई अकल्याण न होये । परन्तु इस सब के लिए, हे सोम ! हम तुम्हारे रस के भिक्षुक हैं । तुम्हारा रस मिल जाये तो यह और सब कुछ हमें स्वयमेव मिल जाय । जैसे कि ग्रीष्म के बाद मेघवृष्टि उद्यान व खेत की सब वृक्ष वनस्पतियों को जिस समय सजीव करती है तो उनमें सर-सता, उनमें हरियाली, उनमें नवपल्लवों का फूटना, उनमें पुष्प और फल का आना आदि सब कुछ उस एक वर्षारस के पा जाने से हो जाता है, उसी तरह यह संसार रूपी महा उद्यान भी, हे बरसने वाले सोम ! तुम्हारा रस पाकर ही नाना तरह से फलता फूलता और जीवित रहा करता है । इस संसारोद्यान का प्रत्येक जीवरूपी वृक्ष तुम से जीवन पाकर ही नाना प्रकार से आत्म-विकास पा रहा है । हम किसी भी प्रकार की उन्नति चाहें, किसी भी दिशा में आत्म-विकास पाना चाहें, सदा हमें जिस एक वस्तु की जरूरत है, वह है तुम से मिलने वाला जीवन-रस, सोम-रस । इसलिये, हे पवमान सोम ! संसार के ये सब मेरे मनुष्य-साथी तुमसे यह जीवन-रस माँग रहे हैं—तुमसे यही चाह रहे हैं । मैं तुमसे इसी की माँग मचा रहा हूँ । तो हे सोम ! अब तुम मेरे लिए क्षरित होओ—मेरे इन सब मनुष्य सखाओं के लिए क्षरित होओ, हमारी अजीति, अहति, स्वस्ति आदि सब कामनाओं को पूरा कर डालने के लिए क्षरित होओ । नहीं नहीं, तुम तो हे अमृत बरसाने वाले ! इस सब चर, अचर, बृहत् संसार के लिए ही अपनी अमृत-वर्षा का दान करो । ऐसा बरसो कि तुम्हारे अमृत से सींचे जाते हुए इस विशाल ब्रह्माण्ड में सब जीवों, सब प्राणियों की सदा ठीक तरह से सर्वविध सर्वोन्नति व सर्वोदय ही होता जाये । और इस तरह सब जगत् और प्राणीमात्र का अमृत-सिंचन करते हुए ही तुम मुझ इस अपने एक तुच्छ प्राणी को भी अपना यह अमृत-रस प्रदान करो । जरा देखो, यह सब संसार इस अमृत-रस पाने के लिए कैसा व्याकुल हो रहा है, मैं इसके लिये कैसा तड़प रहा हूँ !

(पवमान सोम) हे क्षरित होने वाले सोम ! **(अजीतये)** हमारे अजित होने के लिए **(अहतये)** हमारे अहत रहने के लिए **(स्वस्तये)** हमारे कल्याण के लिए तथा **(बृहते सर्वतातये)** इस महान् संसार के सर्वविध सर्वोन्नति व सर्वोदय के लिए **(पवस्व)** तुम क्षरित होओ । **(तत्)** इसे ही **(इमे विश्वे सखायः)** ये सब मनुष्य-साथी **(उशन्ति)** चाह रहे हैं, माँग रहे हैं और **(तत्)** इसे ही **(अहं)** मैं **(वश्मि)** चाह रहा हूँ—इसके लिए व्याकुल हो रहा हूँ ।

वर्षा

वर्षा की ऋतुचर्या

लक्षण—जब ग्रीष्म की कठोर गर्मी से वाष्प बनकर ऊपर गये हुए पृथ्वी के रस (जल) सूर्य के दक्षिणायन में हो जाने से फिर पृथ्वी पर जल बनकर बरसते हैं, उस काल को वर्षा ऋतु कहते हैं।

साधारणत: वर्षा के चार मास (चातुर्मास) प्रसिद्ध हैं—आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, और आश्विन। इन में से वर्षाऋतु के मुख्य मास श्रावण और भाद्रपद ही समझने चाहियें।

महिमा—ग्रीष्म काल में मानो भूलोक तपस्या करता है, हमारी इस तपस्या को सफल करते हुए मानो ऊपर से इन्द्रदेव वर्षा के रूप में हम पर अमृत बरसा कर हमें कृत-कृत्य करते हैं। वर्षामृत पाकर गर्मी से झुलसे हुए सब स्थावर और जंगम प्राणी, सब वनस्पतियाँ, पशु और मनुष्य नवीन प्राण से युक्त हो जाते हैं। वर्षा द्वारा भूलोक को दूसरी प्रकार का प्राण मिलता है। इसे रयिस्थ प्राण या अपान प्राण कहा जा सकता है। अन्न जल ग्रहण करने से हमें जो प्राण मिलता है, वह वर्षा द्वारा ही आता है। अथर्ववेद के प्राण सूक्त में इस प्राण वर्षा का सुन्दर वर्णन है। अथर्व, 11-4-2, 3, 4, 5, 6. । नवीन प्राण पाकर सब वृक्ष वनस्पतियाँ हरी भरी हो जाती हैं, पशुपक्षी हरियावल देखकर प्रसन्नचित होते हैं, मेंढक जैसे मिट्टी में दबे जीव पुनर्जीवित हो जाते हैं, मयूर नाचने लगते हैं, मनुष्य तरावट पाकर हृष्ट होते हैं। जीवों का भोजन तैयार होता है। नदी जलाशय भर जाते हैं। प्राचीन काल में संन्यासी लोग इस ऋतु में भ्रमण करना छोड़कर एक स्थान पर ठहरकर स्वाध्याय किया करते थे। आश्रमों में वेद पाठ शुरू हो जाते थे।

गुण—यह ऋतु शीतल, दाहकारक, (जठर) अग्नि को मन्द करने वाली तथा वातकारक है। इस ऋतु में सब प्राणियों के बल तथा जठराग्नि न्यून अवस्था में होते हैं।

पथ्यापथ्य—चूँकि ग्रीष्मकाल की लघुता और रुक्षता के कारण संचित वात इस ऋतु में गर्मी और ठंडक पाकर सहसा प्रकुपित हो जाता है अत: इस ऋतु में वात नाशक अर्थात् मधुर, खट्टे, और नमकीन रसों का सेवन करना उचित है। इस ऋतु में शरीर भींजा हुआ रहता है अत: उसकी शान्ति के लिए तीक्ष्ण, कसैले और कड़वे रसों का सेवन भी करना चाहिये। चावल, जौ, गेहूँ, घृत, दूध, उड़द, गरम तथा स्निग्ध (वातनाशक) पदार्थों का उपयोग करना अच्छा रहता है। इसके विरुद्ध

अति परिश्रम, रुक्ष तथा अति शीत पदार्थों का सेवन वातकारक होने के कारण न करना चाहिये। नदी तालाबों के (मलिन हुए) जल का भी पान नहीं करना चाहिये।

पर इस ऋतु में गर्म तथा स्निग्ध चीजों का बहुत अधिक प्रयोग भी नहीं करना चाहिये। इस ऋतु में अम्लविपाकी (खट्टे) जल तथा ऐसी अन्य औषधि सेवन करने से पित्त का संचय होता है और यद्यपि वह वर्षा की नमी के कारण इस समय प्रकुपित नहीं हो पाता तथापि चूंकि वह शरद् में प्रकुपित होता है अतः यदि इस ऋतु में गर्म तथा स्निग्ध पदार्थों का बहुत अधिक सेवन किया जायगा तो शरद् के प्रारंभ में पित्त का बहुत अधिक प्रकोप होगा।

इस ऋतु में आकाश के मेघाच्छन्न रहने से मनुष्य का जिगर (यकृत्) अच्छी प्रकार काम नहीं करता है अतः ऐसे गरिष्ठ भोजन न खाने चाहियें जिनसे जिगर को अधिक काम करना पड़े।

श्रावण (कर्क) के लिए

प्राणदायक व्यायाम

प्रारंभिक स्थिति में खड़े हो जाइये, हाथ नीचे लटके हों और छाती आगे उभरी हुई हो। हथेलियाँ शरीर के साथ लगी हों। अब कटि प्रदेश को चूल बनाकर ऊपर के शरीर को क्रमशः दायें और बायें को झुकाइये। दायीं तरफ झुकाते समय बायें हाथ को यहाँ तक ऊपर उठाइये कि उसकी अंगुलियाँ बगल तक पहुंच जायें और बायीं तरफ झुकाते हुए दायें हाथ को इसी तरह ऊपर उठाइये। इस व्यायाम के लिए माँसपेशियाँ ढीली छोड़ दी जा सकती हैं। जब शरीर सीधा किया जा रहा हो तब श्वास अन्दर लीजिये और जब किसी तरफ झुकाया जा रहा हो तो श्वास बाहर निकालिये। इस व्यायाम को 10-12 बार कीजिये।

इस मास के लिए दूसरा व्यायाम निम्न प्रकार किया जा सकता है—

पीठ के बल भूमि पर सीधा लेट जाइये, दोनों हाथ सिर के नीचे लगे हों। सारे शरीर कि माँसपेशियाँ पूरी तरह तान लीजिये। एक ऐसा पूर्णश्वास धीरे-धीरे अन्दर भरिये कि पेट और फेफड़े सब भर जाएँ और अधिक से अधिक फूल जायें। उसके बाद अन्दर रोके श्वास को धीरे-धीरे ऐसे बाहर निकालिये कि छाती और पेट बिलकुल खाली हो जायें। अब मांसपेशियों को ढीला छोड़ दीजिये और यह व्यायाम फिर कीजिये।

इन व्यायामों को करते हुए हृदय और रीढ़ (मेरुदण्ड) को सर्वथा स्वस्थ, नीरोग अवस्था में ध्यान कीजिये।

ध्यान—मेरा हृदय दृढ़ता और पूर्णता से काम कर रहा है। यह मेरा एक एक गहरा श्वास हृदय को ऐसा चैतन्य युक्त कर रहा है कि उससे मेरे शरीर का एक एक घटक उत्तम पुष्टि पाये बिना नहीं रह सकता।

इसी तरह रीढ़ के विषय में ध्यान कीजिये।

इन अंगों को गौणतया वैशाख कार्त्तिक और माघ की व्यायामों से भी लाभ पहुंचता है।

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥

ऋ० 10.44.6, अथर्व० 20.94.6

भाइयो ! इस संसार-सागर से हमें तरा सकने वाली नौका यज्ञमयी ही है। हम यदि यज्ञकर्म नहीं करेंगे तो हम न केवल मनुष्यत्व से ऊपर नहीं उठ सकेंगे किन्तु अपने मनुष्यत्व को कायम भी नहीं रख सकेंगे, तब हमें नीचे पशुत्व में अधःपतित होना पड़ेगा। देखो, बहुत से 'देव हूति' पुरुष उन देवलोक, पितृलोक, ब्रह्मलोक, आदि दुष्प्राप्य यशोमय उच्च लोकों को पहुंच गये हैं, बड़े भारी यत्न से इस मनुष्यावस्था को तर कर देव हो गये हैं। ये लोग यज्ञिय नाव पर चढ़कर ही वहाँ पहुचे हैं। इन्होंने अपने में देवों का, दिव्यताओं का, आह्वान किया है और 'प्रथम' बने हैं। दूसरी तरफ देखो, वे दुर्भागे मनुष्य हैं जो कि थोड़ा सा स्वार्थत्याग न कर सकने के कारण, अयज्ञिय हो ऋणवद्ध रहने के कारण उस नाव का आश्रय नहीं पा सके हैं, अतः यहीं बँधे पड़े रह गये हैं। ये विचारे 'केपि' कुत्सिताचरणी लोग यहाँ भी नीचे धँसते जा रहे हैं, पशुत्व में गिर रहे हैं। इनका फिर पवित्र बनना अब अत्यन्त कठिन हो गया है। अतः आओ, मनुष्य योनि पा कर हम कुछ न कुछ तो स्वार्थत्याग करें, इतना यज्ञ कर्म तो करें कि ऋणवद्ध न बने रहें। हम पर जो माता, पिता, गुरु, समाज, राष्ट्र, मनुष्यता, प्रकृतिमाता और परमेश्वर आदि के ऋण हैं, उन्हें उतारने के लिए तो अपने स्वार्थों का नित्य हवन किया करें। हम यदि इतना करेंगे, केवल परमावश्यक पंचयज्ञों को यथाशक्ति करते रहेंगे, तो भी हम इस यज्ञिय नौका पर चढ़ सकेंगे और देवयान लोकों को नहीं तो कम से कम पितृयाण लोकों को तो जा पहुँचेंगे, अपने मनुष्यत्व को तो नहीं खो देवेंगे। भाइयो ! यज्ञमयी नौका खड़ी है। हम चाहें तो देवहूति होकर, दिव्यस्वभाव धर्मशील होकर, इस नौका द्वारा इस दुस्तर सागर को तर कर ज्ञानैश्वर्यमय उच्च से उच्च लोकों तक पहुँच सकते हैं, नहीं तो, फिर यदि हम इस नौका में स्थान न पा सके तो हम ऐसी खराब परिस्थिति में आ पड़ेंगे, और वहाँ ऐसे निर्लज्ज बन जायेंगे कि हम कुत्सित अपवित्र कर्मों के करने में ही सुख पावेंगे और नीचे ही नीचे गिरते जायेंगे, फिर हमारे उद्धार का दूसरा अवसर कितने काल बाद आवेगा, यह कौन जानता है ?

(प्रथमाः) जो प्रथम प्रकार के या विस्तृत ज्ञानी (देवहूतयः) देवों अर्थात् दिव्य गुणों का आह्वान करने वाले मनुष्य होते हैं वे (पृथक्) जुदा ही (प्रायन्) प्रकृष्ट मार्ग से [अपने अपने लोकों को] पहुँचते हैं। वे (दुष्टरा) बड़े दुस्तर (श्रवस्यानि) ज्ञानैश्वर्यों को, श्रवणीय यशों को (अकृण्वत) प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु (ये) जो (यज्ञियां नावं) इस यज्ञमयी नाव पर (आरुहं) चढ़ने में (न शेकुः) समर्थ नहीं होते (ते) वे (केपयः) कुत्सित, अपवित्र आचरण वाले होकर (ईर्मा एव) यहीं इसी लोक में (न्यविशन्त) नीचे-नीचे जाते हैं।

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद् धनं, न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु, न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥

ऋ० 10.48.5

मैं इन्द्र आत्मा हूँ। मैं कभी भी हराया नहीं जा सकता हूँ। मेरा ऐश्वर्य कभी भी छीना नहीं जा सकता है। प्रकृति के साथ मेरी लड़ाई ठनी है। प्रकृति मेरे ऐश्वर्य छीनना चाहती है पर मैं प्रकृति के साथ लड़ी गयी अपनी प्रत्येक लड़ाई में विजयी होता हूँ और जितना जितना विजयी होता जाता हूँ, उतना-उतना मुझ में मेरा नया-नया ऐश्वर्य प्रकट होता जाता है। मैं कभी भी प्रकृति से हार नहीं खा सकता हूँ। ऐसा क्यों न हो ? मैं तो मौत को भी खा जाने वाला हूँ। सब दुनिया को खाने वाली मौत भी मेरे सामने नहीं ठहर सकती है। मैं अमर आत्मा हुँ। मृत्यु से बढ़कर और किस हथियार से प्रकृति मुझे जीतेगी ? हे मनुष्यो ! तुम मेरे पास खड़े होकर देखो और बोलो—'मैं अमर हूँ', 'मैं अमर हूँ'। तुम कहाँ प्रकृति की मोहिनी मूर्ति के सामने ऐश्वर्यों के लिए गिड़गिड़ाते फिरते हो ? यह माया तुम्हें धोखा ही दे सकती है। ऐश्वर्य नहीं दे सकती। इससे जो कुछ ऐश्वर्य मिलते तुम्हें दीखते हैं, वे सब वास्तव में मेरी शक्ति से ही मिलते हैं। इसलिए आओ, मनुष्यो ! तुम मुझ से ऐश्वर्य मांगो। मैं तुम्हें सब कुछ दूंगा। पर एक शर्त है। सोम का सेवन करते हुए—यथार्थ कर्म करते हुए—ही तुम मुझसे ऐश्वर्य माँगो। संसार में सच्चा सोम का रस आत्म-ज्ञान ही है—सच्चा ज्ञान, भक्तिभरा आत्मज्ञान ही है। इस ज्ञान के निष्पादन करने में सहायक तुम्हारे जितने कर्म हैं वे सब सोम-सेवन ही हैं। ये यज्ञार्थ कर्म हैं। ये यज्ञ-कर्म तुम्हें अमर बनाते हैं, तुम्हें मुझ आत्मा के पास लाते हैं, ये 'आत्म-विशुद्धये'[1] होते हैं। अतः खूब यत्न उद्योग के साथ इस सोम का सेवन करते हुए तुम मुझसे जो कुछ मांगोगे, वह मैं तुम्हें जरूर दूंगा ! अरे ! तुम्हें एक के बाद एक अनमोल ऐश्वर्य मिलता जायगा। तुम कहाँ इस माया के पीछे पड़े हुए ठीकरियाँ बटोर रहे हो ? मुझसे तुम अन्दर का खजाना क्यों नहीं माँगते ? हे मनुष्यो ! तुम मुझ आत्मा से मैत्री करो तो तुम विनाश से पार हो जाओगे। इन प्रकृति के गुणों से बहुत दिन दोस्ती कर ली। मेरे से मैत्री करके देखो। यह दावा है कि मेरे मित्र का इस संसार में कोई नाश नहीं कर सकता।

हे नर तन पाने वालो ! सुनो। तुम्हारे ही आत्मा का यह सिंहनाद है। तुम्हारा आत्मा गरज रहा है, सुनो !!

(अहं इन्द्रः) मैं आत्मा हूँ (धनं न पराजिग्ये इत्) मैं ऐश्वर्य से कभी हार नहीं सकता हूँ। (मृत्यवे न कदाचन अवतस्थे) मृत्यु कभी भी मुझे नहीं आ सकती है। (हे पूरवः) हे मनुष्यो ! (सोमं सुवन्तः इत् मा वसु याचत) यज्ञार्थ कर्म करते हुए ही मुझसे ऐश्वर्यों को माँगो। (मे सख्ये न रिषाथन) मेरी मैत्री [सख्य] में रहते हुए तुम कभी नष्ट नहीं होवोगे।

---

1. गीता 5.11

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ॥

ऋ० 1.89.1, यजु० 25.14

मनुष्य क्रतुमय (संकल्पमय) है, अतः मनुष्य को क्रतु अर्थात् संकल्प व अध्यवसाय करना चाहिये पर यह संकल्प हम किस प्रकार से करें ?

पहिले तो हमारे क्रतु (संकल्प) 'भद्राः' होने चाहियें। हम श्रेष्ठ संकल्प ही करें—कल्याणकारी संकल्प ही करें। जो अभद्र संकल्प हैं, उन्हें देवता स्वीकृत नहीं करते हैं, अतएव उनसे कुछ बनता नहीं। इसलिये हमारा यह आग्रह हुआ है कि हमारे पास शुभ ही संकल्प आवें, जिससे देवता अर्थात् संसार को चलाने वाली ईश्वरीय शक्तियाँ हमें उन्नत करती रहें। परन्तु संकल्पों के केवल शुभ होने से भी काम नहीं चलेगा, ये हमारे शुभ संकल्प बलवान् होने चाहियें। ये 'अदब्ध' होवें, किसी विरोधी शक्ति से दबने वाले न होवें। और फिर ये संकल्प उद्भेदन करने वाले हों अर्थात् मार्ग की सब विघ्न बाधाओं को उद्भेदन करते हुए, सब गुत्थियों को सुलझाते हुए और सब बन्द किवाड़ों को खोलते हुए सफलता तक पहुँचाने वाले हों। हमारे शुभ संकल्पों में ऐसा बल भी चाहिए। और ये संकल्प (परीत) पहिले से घिरे हुए भी अर्थात् किसी बड़ी अच्छाई के विरोधी भी नहीं होने चाहियें, हमारे संकल्प किसी भी महान् सिद्धान्त में दस्तन्दाजी करने वाले भी न होने चाहियें। यदि ऐसा होगा तो भी हमारे संकल्प जगत् के देवों द्वारा प्रतिहत हो जाएंगे, मारे जाएंगे। इसलिये आज से हममें शुभ और ऐसे बलवान् संकल्प ही आवें जिससे कि (इन संकल्पों के ईश्वरीय नियमों के अनुकूल होने के कारण) देवता हमारी सदा उन्नति कराते जाये और दिन-रात अप्रमाद होकर हमारे रक्षक बने रहें। प्रभु के ये देव तो हमारी उन्नति के लिए ही हैं और निरन्तर बिना भूल-चूक के हमारी रक्षा करने को तैयार हैं। पर हम ही बड़े-बड़े अभद्र संकल्प करके या यूँही निर्बल से बहुत से संकल्प करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि इन देवों की बड़ी भारी सहायता पाने से अपने आपको वंचित कर लेते हैं। इसलिये आज से केवल भद्र निश्चय ही हम में आवें, तथा न दबने वाले, उद्भेदन करते हुए चले जाने वाले और अपरीत, महान् भद्र निश्चय ही हम में आवें और चारों ओर से आवें; जिससे कि हम जगत् शासक के देवताओं की अनुकूलता में ही सदा बढ़ते हुए जीवन मार्ग पर चलते जायें।

(नः भद्रा क्रतवः विश्वतः आयन्तु) हमारे पास श्रेष्ठ ही संकल्प सब तरफ से आवें। (अदब्धासः) जो कि कभी न दबने वाले हों (अपरीतासः) जो कि किसी से घिरे हुए न हों (उद्भिदः) और जो उद्भेदन करने वाले हों (यथा देवाः न सदमिद् वृधे असन्) जिससे कि देवता हमारे लिए सदा उन्नति के लिए होवें (दिवे दिवे अप्रायुवो रक्षितारश्च असन्) और प्रतिदिन प्रमादरहित होकर हमारे रक्षक होवें।

देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश्च दावने।
यो विश्वस्य द्विपदो यश्चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः ॥
ऋ० 6.71.2

सब जगत् की स्थिति करने वाले और सब जगत् की उत्पत्ति करने वाले तुम ही हो। ये जो जगत् में असंख्य चेतन प्राणी दिखाई देते हैं—जो दो पैर वाले मनुष्य विचरते हैं या जो चार पैर पर ये 'पशु' नामक प्राणी फिरते हैं – इन सब की स्थिति व पालन करने वाले तुम हो, तुम ही इन सब के पैदा करने वाले भी हो। यह अखिल ब्रह्माण्ड तुम से शुरू हुआ है और तुम्हारे ही अखण्ड शासन में चल रहा है। इस अपरिमेय संसार में जो हिलना-जुलना हो रहा है, जो इसमें एक-एक चेष्टा, एक-एक क्रिया हो रही है, उसके आदि प्रवर्तक तुम हो। हवा द्वारा जो एक तिनका भी हिलता है, वह तुम्हारी आज्ञा से हिलता है। इसलिए हे सर्वप्रेरक देव ! हे सवितः ! हमारी तुमसे एक प्रार्थना है। हम चाहते हैं कि हम सदा तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा में होवें और तुम्हारे ऐश्वर्यों के श्रेष्ठ दान में होवें। इस जगत् में जो कुछ श्रेष्ठ व अश्रेष्ठ हो रहा है, वह सब कुछ तुम्हारी ही दी हुई शक्ति से हो रहा है। पर हम चाहते हैं कि हमारे शरीरों से, मनों से, वाणियों से जो कुछ भी हरकत होवे, वह सब श्रेष्ठ ही होवे। हमारे शरीरों, मनों द्वारा तुम्हारी श्रेष्ठ प्रेरणा का ही प्रवाह बहे। अच्छा बुरा सब प्रकार का सब ऐश्वर्य बेशक तुम द्वारा ही संसार में बरस रहा है, पर हमें तुम्हारे ऐश्वर्य का श्रेष्ठ दान ही मिले। संसार में बुरी कमाई से पैदा हुआ और बुरे काम में उपयुक्त होने वाला ऐश्वर्य भी होता है तथा अच्छी कमाई का और सदुपयुक्त होने वाला श्रेष्ठ ऐश्वर्य भी होता है। हमारे पास यह दूसरा ऐश्वर्य ही होवे। यह ऊंचा-नीचा, अच्छा-बुरा, उत्तम-अधम जो यह नाना प्रकार का संसार है, यह समग्र ही विश्व तुम्हारी विभूति है। हम चाहते हैं हम तुम्हारी ऊँची विभूति के अंश बनें। अपने को उच्च बनाने के लिए जिन-जिन साधनों को जानते हैं, उन्हें हम बड़े यत्न से कर रहे हैं, अपने को अधिकारी बना रहे हैं; इसलिये हमें तुम श्रेष्ठ प्रेरणा का पात्र बनाओ और हमें श्रेष्ठ प्रेरणा प्रदान करो; हमें श्रेष्ठ ऐश्वर्य का पात्र बनाओ और श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करो।

(यः विश्वस्य द्विपदः) जो तू सब दो पैर वालों तथा (चतुष्पदः) जो तू चार पैर वाले जीवों का (निवेशने असि) आश्रय देने वाला है (भूमनः प्रसवे च [असि]) और बड़े भारी संसार को प्रेरणा देने वाला है (सवितुः देवस्य) उस तुझ प्रेरक देव के (श्रेष्ठे सवीमनि) श्रेष्ठ प्रेरणा में (वयं स्याम) हम होवें (वसुनश्च) तथा तेरे ऐश्वर्य के ([श्रेष्ठे] दावने) श्रेष्ठ दान में हम होवें।

5 श्रावण

यो अस्मै घ्रंस उत वा य ऊधनि सोमं सुनोति भवति द्युमाँ अह ।
अपाप शक्रस्ततनुष्टि मूहति तनूशुभ्रं मघवा यः कवासखः ॥
ऋ० 5.34.3

मैं इन दो प्रकार के आदमियों में से कौन सा हूँ ? क्या मुझे दिन रात भगवान् के भजन में मस्त रहने में मजा आता है ? क्या मैं उसके भजन में चौबीस घण्टे रहता हूँ ? चौबीस घण्टे न सही, क्या मैं दिन रात में से एक घण्टा भी भगवान् के प्रति अपना हार्दिक प्रेमरस पहुँचाने में बिताता हूँ ? अथवा मैं 'ततनुष्टि' हूँ ? दिन रात विषयों में फंसा रहता हूँ ? न खतम होने वाले विषयों की तृप्ति में लगा रहता हूँ ? स्वार्थ के लिए धन कमाने की फिक्र में और धन के लिए दूसरों के क्लेशों की कुछ परवाह न करके और धोखा फरेब भी करके उनके चूसने की नाना नयी-नयी तरकीबें सोचने और करने की फिक्र में तो कहीं मेरे दिन-रात नहीं बीतते हैं ? क्या अपने शरीर की शोभा बढ़ाने, संवारने, सिंगार करने में ही जीवन के अमूल्य समय के प्रतिदिन कई घंटे मैं नहीं खो रहा हूँ ? क्या मैंने अपने अन्दर के मानसिक शरीर को भी बलवान्, स्वच्छ और सुन्दर (पवित्र) करने का भी कभी यत्न किया है ? इसके लिए समय दिया है ? मेरे साथी संगी कैसे लोग हैं ? कहीं मेरे इर्द-गिर्द बुरे आचरण वाले लोग तो नहीं इकट्ठे हो गये हैं ? कहीं मैं कुत्सित कर्म करने वाले दुष्ट मनुष्य से (जो ऊपर से आकर्षक होते हैं) मिलने जुलने में आनन्द तो नहीं पाता हूँ ? ओह, उस सर्वशक्तिमान् इन्द्र के नियम अटल हैं, मैं जैसा करूंगा, वैसा ही मुझे भरना पड़ेगा। मैं तेजस्वी बनूंगा या मेरा विनाश होगा ? भगवान् तो दिन-रात सोम सेवन करने वालों को तेजस्वी बना रहा है और विषय-ग्रस्त पुरुषों का नाश कर रहा है।

(यः) जो (घ्रंस उत वा यः ऊधनि) दिन होवे या रात सदैव ही जो (अस्मै) इस परमेश्वर के लिए (सोमं सुनोति) ज्ञानपूर्वक भक्ति में रहता है; यजन करता है (अह द्युमान् भवति) वह निश्चय से तेजस्वी, [प्रकाशवान्] हो जाता है और इसके विपरीत (ततनुष्टि) विषयों में दिनों दिन फँसते जाने वाले को, स्वार्थरत, अयजनशील को, (तनूशुभ्रं) शरीर की सजावट बनावट में लगे रहने वाले को (यः कवासखः) और जो बुरी संगत में रहने वाला है जिसके कि यार दोस्त कुत्सितकर्मा लोग हैं, उस पुरुष को भी (शक्रः मघवा) सर्वशक्तिमान् ऐश्वर्य वाला इन्द्रदेव (अप अप ऊहति) मिटा देता है, विनाश कर देता है।

ये देवा देवेष्वधि देवत्वमायन् ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य ।
येभ्यो न ऋते पवते धाम किञ्चन, न ते दिवो न पृथिव्या अधि स्नुषु ॥

यजु० 17.14

क्या तुम उन पूर्ण देवों को भी जानते हो जो कि देवों में भी और ऊँचे देव होते हैं और जिनके कि हाथ में इस महान् संसार की वागडोर रहती है? ये वे मुक्तात्मा हैं जो कि मुक्त होकर भी जगत् के कल्याण में रत होते हैं। ये देवत्व का भी बन्धन छोड़कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हो जाते हैं, ब्रह्माण्ड की आत्मा से अपनी आत्मा को मिलाकर देवों से भी ऊपर 'पूरे देव' हो जाते हैं। यह सब संसार जो अपनी परम आत्मा की तरफ धीरे धीरे जा रहा है, उसमें ये ही अग्रणी हैं। उस परम आत्मा के सबसे निकटस्थ साधन बनकर ये ही इस संसार का संचालन कर रहे हैं। संसार में जो ईश्वरीय शक्तियाँ जीवों को असत् से सत् की तरफ, तम से ज्योति की तरफ और मृत्यु से अमृत की तरफ ले जा रही हैं, एक शब्द में जो शक्तियां हरदम इस संसार को पवित्र कर रही हैं, वे शक्तियाँ इन्हीं पूर्ण देवों के आनन्दमय व विज्ञानमय आदि केन्द्रों से प्रवाहित हो रही हैं। इसका मतलब यह नहीं कि ये देव किसी खास स्थान पर रहते हैं, जैसे कि साधारण देव लोग द्युलोक (प्रकाशमय लोक) में रहते हैं। ये किसी जगह भी नहीं रहते, पर शक्तिप्रवाह करने के लिए किसी भी जगह अपना केन्द्र बना सकते हैं। इनके विना कोई भी स्थान (धाम) पवित्र नहीं हो सकता, पर ये किसी स्थान पर भी रहते नहीं हैं। ये तो ब्रह्म में रहते हैं। सब ब्रह्माण्ड में रहते हैं। अपने शक्ति प्रवाह से सब ब्रह्माण्ड को पवित्र कर रहे हैं। ये न तो द्युलोक के किन्हीं प्रान्तों में मिलेंगे, न पृथिवी के किन्हीं कोनों में मिलेंगे। पर इस संसार का कोई भी धाम, कोई भी क्षेत्र, कोई भी लोक ऐसा नहीं है जिसकी कि पवित्रता इन द्वारा न हो रही हो।

इन परम देवों को हम बद्ध जीवों का बार-बार नमस्कार हो, अवनतशिरा होकर वार-वार नमस्कार हो।

(ये देवाः) जो देव (देवेषु अधि) देवों के बीच में भी (देवत्वं) और ऊँचे देवत्व को (आयन्) प्राप्त हुवे हैं, (ये) जो (अस्य ब्रह्मणः) इस बृहत् संसार के (पुरः एतारः) आगे चलने वाले व चलाने वाले हैं, (येभ्यः ऋते) और जिनके बिना (किंचन धाम) कोई भी धाम, कोई भी स्थान (न पवते) पवित्र नहीं होता (ते) वे पूर्ण देव (न दिवो स्नुषु अधि) न तो द्युलोक के किन्हीं प्रान्तों में रहते हैं (न पृथिव्याः) और न पृथिवी के।

देवो देवनामसि मित्रो अद्‌भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे।
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥

अथर्व० 1.94.13

हे प्रभो ! हम चाहते हैं कि हम तेरी विस्तीर्णतम शरण में रहने लगें। तेरी शरण इतनी फैली हुई है कि उसमें आकर मनुष्य किसी भी देश में व किसी भी काल में दुःख नहीं पा सकता। संसार की और किसी भी वस्तु का आश्रय ऐसा नहीं है। और सब सुख, और सब आश्रय और सब शरणें इसके सामने अत्यन्त तुच्छ हैं क्योंकि संसार के सब देवों के भी देव तुम हो। सब देवों में देवत्व तुम्हारे द्वारा ही आया है। तुम्हारे आश्रय विना इन अग्नि आदि महान् दीखने वाले देवों में कुछ नहीं है। इन सब वसाने वालों के वसाने वाले तुम हो। सब धनों के धन तुम हो। तुम्हें पाकर और सब धन वेकार हो जाते हैं। सब पुण्य यज्ञों के अन्दर तुम ही शोभायमान होते हो। यज्ञों का सौन्दर्य तुम हो। तुम्हारे बिना कोई यज्ञ यज्ञ नहीं रह सकता। तुम अद्‌भुत मित्र हो। ओह ! ऐसा मित्र और कौन हो सकता है ? यदि सर्वशक्तिमान् और तीनों कालों का जानने वाला मित्र किसी को मिल सके तो उसे और क्या चाहिये ? इसीलिये अव हम तेरे सख्य में (मैत्री में) आना चाहते हैं। हमने तुझे देवों का देव, वसुओं का वसु समझ लिया है। अतः हमें अब किसी अन्य देव व वसु की प्राप्ति की चाहना नहीं रही है; हमने तुझे 'सब यज्ञों का सौन्दर्य' रूप में देख लिया है, अतः हमें अव किन्हीं कर्मकाण्ड-मय यज्ञों के करने में आकर्षण नहीं रहा है, तेरे निरन्तर ध्यान का यज्ञ ही सर्व-श्रेष्ठ लगता है। हमने तुझे अद्‌भुत मित्र देखा है—ओह ऐसा अद्‌भुत ! ऐसा विलक्षण !! तुझ सर्वज्ञ सर्वसमर्थ मित्र की अद्‌भुतता दूसरे न जानने वाले को कैसे समझायी जावे, ओह तुम कैसी विलक्षणता से हम सब के साथ आठों पहर, हर घड़ी, हर पल परम मित्रता निभा रहे हो—तुम ऐसे अद्‌भुत मित्र को देखकर अब हमें और किसी की मैत्री की जरूरत नहीं है। अरे, वे अनजान लोग हैं जो संसार में और किसी की मैत्री पाने के लिए टक्कर मारते फिरते हैं। तेरी विस्तृत शरण में तो और सब शरणें समा जाती हैं। अतः हे स्वामी ! हमें तू अपनी मैत्री प्रदान कर, तब हमें कोई खतरा न रह सकेगा। हे प्रभो ! तू हमें अपनी अनन्त अपार शरण में जगह दे दे, तब हमें किसी विनाश का भय न रह सकेगा।

(अग्ने) हे परमेश्वर ! **(देवानां देवः असि)** तू देवों का देव है **(अद्‌भुतः मित्रः)** तू अद्‌भुत मित्र है ! **(वसूनां वसुः असि)** तू सब वसुओं का वसु, धनों का धन है ! **(अध्वरे चारुः)** यज्ञ में तू शोभायमान है। अतः हम चाहते हैं कि **(वयं)** हम **(तव)** तेरी **(सप्रथस्तमे शर्मन्)** विस्तीर्णतम शरण में **(स्याम)** होवें, और **(तव सख्ये)** तेरेसंख्या में **(मा रिषाम)** हम नष्ट न होवें।

8 श्रावण

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ चदेवौ ॥

य० 34.55

यह शरीर भगवान् ने तुझे यज्ञ करने के लिए दिया है। यह देह पवित्र यज्ञ-शाला है। इसमें बैठे हुए सात ऋषि उस भगवान् का यजन कर रहे हैं। आँख देख रही है, कान सुन रहा है, नासिका सूँघ रही है, त्वचा स्पर्श कर रही हैं, जिह्वा रस ले रही है, मन मनन कर रहा है और बुद्धि निश्चय कर रही है। ये सातों ऋषि शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श का ज्ञान करते हुए, मनन और अवधारण करते हुए अपनी इन ज्ञान क्रियाओं द्वारा भगवान् का यजन कर रहे हैं। ये ज्ञानशक्तियाँ हमारे अन्दर भगवद्यजन के लिए ही रखी गई हैं। हमारी प्रत्येक ज्ञान-प्राप्ति भगवत्प्राप्ति के लक्ष्य से ही होनी चाहिये और इन सातों ज्ञानेन्द्रियों (बाह्य और अन्दर के करणों) के साथ एक-एक प्राण शक्ति भी काम कर रही है, जिन्हें सात शीर्ष प्राण कहते हैं। ये सात प्राण इस 'सद' की—इस यज्ञशाला की—रक्षा पूरी सावधानता के साथ, बिना प्रमाद किये, कर रहे हैं। इस तरह इस यज्ञशाला में निरन्तर यह यज्ञ चल रहा है। हम हमेशा कुछ न कुछ ज्ञान (अनुभव) करते रहते हैं, देखते, सुनते या मनन आदि करते रहते हैं। स्वप्नावस्था में भी यह देखना सुनना बंद नहीं होता। पर हाँ, सुषुप्ति अवस्था में जबकि इन सात ऋषियों के 'आपः' (ज्ञान प्रवाह) सुषुप्ति के लोक में लीन हो जाते हैं, हमें कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा होता। तब क्या यह यज्ञ भंग हो जाता है ? नहीं, तब भी दो देव जागते हैं। ये दोनों देव कभी भी सोने वाले नहीं, इन्हें कभी नींद दबा नहीं सकती। अतः ये 'सत्रसदौ' तब भी यज्ञ में बैठे हुए जागते रहते हैं। यह हैं (1) आत्म-चैतन्य और (2) प्राण। इत सात ऋषियों को दर्शन शक्ति देने वाला देव एक है और इन रक्षक प्राणों को प्राण शक्ति देने वाला दूसरा है। ये दोनों देव—ज्ञानशक्ति और कर्मशक्ति के देव—तब भी जागते रहते हैं और ज्ञान और कर्म द्वारा चलने वाले इस यज्ञ की इन दोनों शक्तियों को निरन्तर कायम रखते हैं, बल्कि पुष्ट करते रहते हैं। इस तरह यह यज्ञ चौबीसों घंटे निरन्तर चलता है, सौ वर्ष तक चलता रहता है, जब तक जीवन है तब तक चलता रहता है।

पर क्या हम इस शरीर-यज्ञशाला को यज्ञशाला की तरह पवित्र रखते हैं ? कहीं यज्ञ करने वाले ये सात ऋषि ज्ञानक्रिया द्वारा भगवद्यजन करना छोड़कर अपने ऋषित्व से भ्रष्ट तो नहीं हो जाते ?

(शरीरे सप्त ऋषयः प्रतिहिताः) शरीर में सात ऋषि स्थापित हुए हुए हैं **(सप्त सदं अप्रमादं रक्षन्ति)** सात हैं जो कि इस सद [स्थान, यज्ञशाला] को प्रमाद-रहित होकर रक्षा करते रहते हैं। **(स्वपतः सप्त आपः लोकं ईयुः)** सुषुप्तावस्था में ये सात ज्ञानप्रवाह अपने लोक में लीन हो जाते हैं, **(तत्र च)** तो वहाँ भी **(सत्रसदौ)** यज्ञ में बैठे रहने वाले **(अस्वप्नजौ)** कभी न सोने वाले **(देवौ)** दो देव **(जागृतः)** जागते रहते हैं।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश ।।

ऋ० 1.164.21, अ० 9.9.22

मनुष्य एक कच्चे घड़े के समान है जब तक कि वह आत्म-ज्ञान की अग्नि में पक नहीं जाता। मैं कच्चा घड़ा इस संसार-सागर में पड़ा हुआ घुल रहा हूँ, नष्ट होता जा रहा हूँ। हे जगदीश्वर ! यदि तुम्हारे ज्ञान की अग्नि की आँच मुझे शीघ्र पका न देगी तो मैं जल्दी ही खतम हो जाऊँगा। मैं अभी तक 'पाक' हूँ, पक्तव्य हूँ, कच्चा हूँ। तुम पक्व हो, विपक्वप्रज्ञ हो। तुम शीघ्र मुझमें प्रवेश करो। तुम अमृत हो, मैं अभी तक मर्त्य हूँ। तुम इस भुवन के ईश्वर हो, मैं अनीश हूँ। जिस दिन मुझे आत्मा का ज्ञान हो जायगा, अपनी अमरता का भान हो जायगा तो मैं भी पक जाऊँगा। आत्मज्ञानी, अमर, परिपक्व होकर मैं तो संसार में पड़ा हुआ भी गल नहीं सकूंगा। मुझमें प्रविष्ट होकर मुझे अमर कर दो, पका दो। इस कच्चे घड़े में (शरीर में) यद्यपि इन्द्रियाँ लगातार कुछ न कुछ ज्ञान लाती हुई चल रही हैं पर उनके लाये हुए ज्ञान में—जुगनू के से तुच्छ प्रकाश में—वह अग्नि नहीं है जो मुझे पका सके। सच तो यह है कि वे इन्द्रियाँ जिस पूर्ण अमर ज्ञान के एक अंश को अपने वेदन में लाती हैं, उसी की अभिलाषा अब मुझे लग गई है। उन्हीं द्वारा पता लगा है कि कोई अमृत ज्ञान भी है जिसके द्वारा मैं पूरा पक सकता हूँ। इन्द्रियों में जो वेदन है, वह तुम्हारे ही अपार ज्ञान, अनन्त चैतन्य से आता है। यह समझ आ जाने पर आज ये इन्द्रियाँ मेरे लिए जो कुछ ज्ञान लाती हैं उसमें मुझे अमरता का ही संदेश सुनाई देता है, ये जो भी कुछ वेदन करती हैं उसमें मुझे वे यही बोल रही हैं 'तू अमर बन, अमर बन; अपने को पकाले, पकाले' अतः हे सब ब्रह्माण्ड के स्वामी ! मुझे पक्का करने के लिए तुम मेरे इस शरीर के भी स्वामी हो जाओ, हे त्रिभुवन के रक्षक ! इस शरीर की भी रक्षा करो। हे धीर ! ज्ञानमय ! तुम्हारे प्रविष्ट हुए बिना यह कच्चा घड़ा कब तक रक्षित रह सकता है ?

(यत्र) जहाँ इस शरीर में (सुपर्णाः) सुपतनशील इन्द्रियाँ (अनिमेषं) निरन्तर (अमृतस्य) अमृत ज्ञान के (भागं) अपने भाग को लाकर (विदथा) वेदन के साथ (अभिस्वरन्ति) चल रही हैं, मानों बोल रही हैं (अत्र) उस इस मेरे शरीर में (विश्वस्य भुवनस्य) सब ब्रह्माण्ड का (इनः) ईश्वर (गोपाः) और सब भुवन का रक्षक (सः धीरः) वह धीमान् ज्ञानमय (पाकं मा) मुझ पक्तव्य [अपरिपक्व में] (आविवेश) प्रविष्ट होवे।

10 श्रावण

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां, देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं, देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥

ऋ० 1.89.2, यजु० 25.15

दो प्रकार का संसार कहा जा सकता है । एक देवों का संसार, दूसरा असुरों का संसार । देवों की मुख्य पहिचान यह है कि ये ऋजुगामी होते हैं । इनका गमन, इनका व्यवहार सरल, सीधा और सच्चा होता है । इसके विपरीत असुर वे लोग होते हैं जिनका व्यवहार कुटिल, टेढ़ा और असत्यमय होता है । हमें ऋजुता प्रिय है अतः हम देवों के संसार में रहना चाहते हैं । अपने चारों तरफ ऊपर नीचे, अन्दर बाहिर, हमें देव ही देव दिखाई देते हैं । अपने सत्य नियमों के अनुसार चलने वाले, अपने सत्य धर्मों से कभी न डिगने वाले ये सूर्य, पृथिवी, अग्नि, वायु, जल आदि बाहिर के देव हैं; सत्यनिष्ठ, सत्यज्ञानी मनुष्य भी देव है; अन्दर प्राण, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब देव हैं । इन देवों के बीच में रहने वाले हम चाहते हैं कि चूंकि हमें ऋजुता प्रिय है अतः ऋजुता चाहने वाले इन देवों की कल्याणी मति हम पर सदा रहे — इससे हमें सदा सच्ची ज्ञान-प्रेरणा मिलती रहे । ये देव जो हमें सदा रक्षा, शान्ति, तेज, स्वास्थ्य, शक्ति, अन्न, पान, नाना प्रकार के सुखों का दान कर रहे हैं, ये शुभ दान हम ऋजु गामियों पर सदा बरसते रहें । हमारा इन देवों से सख्य सम्बन्ध ही स्थापित हो जाय । हम इन देवों के साथी हो जायँ । बल्कि अपने अन्दर देवों को बसा कर पूरे ऋजु होकर हम ही देव बन जायँ । और जब हमारे अन्दर देव बस जायँगे, हमारे सब कार्य ठीक-ठीक सत्य नियमों से हुआ करेंगे तो इन देवों के द्वारा हम अपनी पूर्ण ठीक आयु तक जीवन को भी प्राप्त करेंगे और यह जीवन सच्चा जीवन होगा ।

आओ, हम सब इस भूमि पर रहते हुए ही देवों के संसार के वासी हो जायँ, दिव्य सुमति और दिव्य दान पाते हुए देव बनकर देवों की तरह परिपूर्ण आयु भर इस भूमि पर बसें ।

(ऋजूयतां देवानां) ऋजुगामी या ऋजु लोगों को चाहने वाले देवों की (भद्रा सुमतिः) कल्याणी सुमति (नः) हम पर रहे (देवानां रातिः) ऐसे देवों का दान (नः) हम पर (अभि निवर्ततां) सब तरफ से निरन्तर बरसता रहे । (वयं देवानां) हम इन देवों की (सख्यं उपसेदिम) मैत्री प्राप्त करें, इनकी समानता में बैठें (देवाः) ये देव (जीवसे) जीवित जीवन के लिये (नः आयुः) हमारी आयु (प्रतिरन्तु) बढ़ावें ।

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वं अवसे हूमहे वयम् ।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ।।

ऋ० 1.89.5, यजु 25.18

इस विषम संसार में हम जब किसी क्लेश में होते हैं तो रक्षा के लिए जगदीश्वर को ही पुकारते हैं । वह जगदीश्वर इस सब ब्रह्माण्ड का ईश्वर है । स्थिर, अस्थिर, चर, अचर जो भी कुछ संसार है, उस सब का वही पति है, वही स्वामी है । उसके सिवाय संसार में और दूसरा कौन रक्षा कर सकता है ? और वह 'धियं-जिन्व' ईश्वर रक्षा के लिए आता भी है । वह कोई हमारे जैसा हाथ पैर वाला साकार तो है नहीं जिसे कि चलकर हमारे पास पहुँचना हो और अपने हाथों से हमारी रक्षा करनी हो । वह सर्वगत हमारी बुद्धि या कर्म के प्रीणन करने द्वारा हमारी रक्षा कर देता है । वह प्रभु जो कि सर्वभूतों के हृद्देश में बैठा हुआ सब को घुमा रहा है, हमारी बुद्धि को ठीक ज्ञान देकर, हमसे ठीक काम करा कर हमारी रक्षा कर देता है । बुद्धि व कर्म के अधूरे रहने से ही मनुष्य सदा कष्ट में पड़ता है । जगदीश्वर उसे किसी न किसी ढंग से तृप्त करके पूरा कर देता है । अपनी या अपने किसी साथी की समझ बदल जाती है या उससे ऐसा कर्म हो जाता है कि विपत्ति कल्याण के रूप में परिणत हो जाती है । प्रभु हमें बचा लेता है ।

यदि वह न बचायेगा तो और कौन बचायेगा ? वह पूषा है तो वही हमारा 'रक्षिता पायु' भी होगा । उसने जैसे हमारे लिए इस जगत् में ये इतने ऐश्वर्य बढ़ाये हैं, यह शरीर मन बुद्धि आदि देकर इस ऐश्वर्य जगत् को हमारे सामने रख दिया है; वैसे ही जब कभी इस संसार में हम संकट में पड़ जायेंगे और हमारे प्राप्त ऐश्वर्यों में से कोई नष्ट हो रहा होगा तो वही (यदि इनकी रक्षा में हमारी स्वस्ति देखेगा) इनकी पूर्ण रक्षा भी करेगा । उसके दिए हुए धनों की रक्षा भी वही करेगा । हमें क्या चिन्ता ? और जब वह हमारी स्वस्ति (कल्याण) लिए हमारे प्राप्त ऐश्वर्य (धन शरीर आदि) की रक्षा करने की आवश्यकता समझता है अर्थात् इनकी रक्षा में ही हमारा वास्तविक कल्याण देखता है तो वह रक्षा करता है, जरूर रक्षा करता है और उसकी यह रक्षा पूर्ण 'अदब्ध' होती है, उसकी रक्षाओं को संसार में कौन रोक सकता है ?

अतएव हम सदा उस 'धियंजिन्व' को उस 'अदब्ध रक्षिता' को रक्षा के लिए पुकारते हैं ।

(तं) उस (जगतः तस्थुषः पतिं) जंगम और स्थावर संसार के पति (धियंजिन्वं) बुद्धि व कर्म के प्रीणन करने वाले (ईशानं) ईश्वर को (वयं) हम (अवसे हूमहे) रक्षा के लिए पुकारते हैं । (पूषा) वह पोषक (यथा) जहां (नः) हमारे (वेदसां) धनों की (वृधे) वृद्धि के लिए (असत्) हुआ है वहां वही (स्वस्तये) हमारे [क]ल्याण के लिए (अदब्धः रक्षिता पायुः) [हमारे धनों का] अहिंसित रक्षक और [पा]लक भी होवे ।

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।
न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥

ऋ० 1.57. 4, अथर्व० 20.15.4

हे महान् ऐश्वर्य वाले प्रभु ! हमने तेरा अवलम्वन ग्रहण कर लिया है । हम ने देखा कि सब ज्ञानी तेरी ही स्तुति करते हैं । अतः हमने भी अब और सब सहारे छोड़ कर एक तेरा ही सहारा ले लिया है । हम इस जगत् में अपना एक एक व्यवहार, एक एक काम काज तेरे ही भरोसे करते हैं । और कोई हमें क्या कहेगा, क्या समझेगा हमें इस कार्य के करने से क्या दुःख आयेंगे, संसार हमारी कितनी निन्दा करेगा, यह हम कुछ नहीं देखते । बस तेरी इच्छा (आज्ञा) क्या है, इसे यथाशक्ति जानकर इसे ही तेरे भरोसे करते जाते हैं । अतः हे इन्द्र प्रभो ! अब हम तेरे हैं । तू हमारा है और हम तेरे हैं । संसार में अब कोई और हमारा नहीं है । हमारे सब सम्बन्धी, हमारे घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्र, हमारा धन, हमारी बुद्धि, शरीर आदि किसी का भी हमें सहारा नहीं है । इनका जितना सहारा है, वह सब तेरे द्वारा ही है । इसलिये हे हमारे स्वामी ! हे हमारे ! हमारी प्रार्थनाएँ तेरे सिवाय और किसके पास पहुँच सकती हैं ? ऐसा संसार में और कौन है जिसके आगे अब हम विनती करेंगे ? विनती करने की हीनता करेंगे ? और किसी के आगे अब हम दीन नहीं बन सकते । इसलिए हे प्रार्थनाओं के सुनने वाले ! हे वाणियों की पूजा ग्रहण करने वाले ! हम जो प्रार्थनाएँ तुम्हारे चरणों में पहुँचा रहे हैं, उन्हें तुम भी चाहो । तुम भी उन्हें अपनी तरफ इस तरह खींचो जैसे यह विशाल भूमि अपनी आकर्षण शक्ति से सब पार्थिव वस्तुओं को अपनी तरफ खींचती रहती है । हम कोई वस्तु ऊपर या इधर उधर किसी विरुद्ध दिशा में फैंकें तो भी वह वस्तु अन्त में खिचकर पृथिवी के ही पास पहुंच जाती है । इसी तरह हे हमारे देव ! हमारी प्रार्थनाओं में यदि कोई त्रुटि होवे, इनमें आत्मसमर्पण की कमी होने के कारण ये प्रार्थनाएँ ठीक तुम्हारी तरफ जाने योग्य न हों तो भी हे देव ! इन्हें तुम अपनी तरफ खींच लो । जब हम तुम्हारी कामना करते हैं तो तुम हमारी नहीं कर रहे हो, यह कैसे हो सकता है ? नहीं, तुम भी पृथिवी की तरह हमें खींच रहे हो । हम तो तुम्हारी तरफ आ ही रहे हैं अतः हमारी कामनाओं के पाने की तुम भी प्रतिकामना करो । हमारी प्रार्थनाओं को प्रतिग्रहण करो । तुम्हारे सिवाय अब हमारा और कोई नहीं रहा ।

(प्रभूवसो) हे महान् ऐश्वर्य वाले ! (पुरुष्टुत) हे बहुतों से स्तुति किये जाने वाले ! (ये) जो हम (त्वा) तेरा ही (आरभ्य) अवलम्वन करके (चरामसि) चलते हैं (ते इमे वयं) वे ये हम (इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते) तेरे हैं । (गिर्वणः) हे वाणियों से पूजनीय इन्द्र ! (गिरः) हमारी वाणियों को, प्रार्थनाओं को (त्वदन्यः) तेरे सिवाय और कोई (न हि सघत्) नहीं प्राप्त करता, नहीं सुनता (नः तद् वचः) अत. हमारी इन प्रार्थनाओं को (क्षोणीः इव) पृथिवी की तरह (प्रतिहर्य) प्रतिकामना करो, आकर्षण करो ।

यत्किंचेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि ।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा न स्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥

ऋ० 7.89.5, अथर्व० 6.51.3

हे वरुण ! तुम जन हो तो दैव्य जन हो — पर हम गिरते पड़ते उठने का यत्न करने वाले मनुष्य जन हैं। हे देव ! हम मनुष्यों पर दया करो, हम तुम्हारी दया के पात्र हैं। हम वेशक तुम्हारा द्रोह करने वाले बड़े भारी अपराधी होते रहते हैं। तुम्हारे धर्मों का लोप करना सचमुच बड़ा द्रोह है। जो कुछ हमें मिल रहा है, वह सब कुछ तुम्हीं से मिल रहा है और वह सब इसीलिये मिल रहा है क्योंकि तुम्हारे धर्म सत्य हैं, अखण्ड हैं। यदि तुम्हारे धर्म कभी खण्डित हो सकें तो तुम तुम न रहो। पर इन्हीं तुम्हारे सत्यधर्मों को (जिनके कारण हमें यह सब कुछ मिल रहा है) हम लोग अपने व्यवहार में लोप कर देते हैं। यह कितना द्रोह है ? ये तुम्हारे सनातनधर्म हमारे व्यवहार में धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय आदि रूपों में प्रकट होते हैं पर हम इनका परिपालन न कर तुम सर्वदाता प्रभु के द्रोही होते रहते हैं। पर फिर भी हे देव ! हमारी तुमसे प्रार्थना है कि हमें क्षमा करो, हमें कठोर दण्ड देकर हमारा नाश मत करो क्योंकि यह सब धर्मभंग हम जानबूझ कर नहीं करते। जो कुछ हमसे धर्म-लोप होता है वह अज्ञान से, प्रमाद से, असावधानी से होता है। अब हम कभी जानबूझ कर अधर्माचरण में नहीं प्रवृत्त होते। पर ये अज्ञान की, बेखबरी की भूलें होते रहना तो हम मनुष्यों के लिए अस्वाभाविक नहीं है। इसलिये हम तुम्हारी दया के पात्र हैं। वरुण राजन् ! हम जानते हैं कि राजद्रोह बड़ा भारी अपराध है। तुम्हारे सच्चे पूर्ण कल्याणमय राज्य का द्रोह करना आत्मघात करना है। अतएव अब हम अपनी शक्ति भर और जानबूझ कर तुम परम प्यारे का द्रोह कैसे कर सकते हैं ? पर तुम भी हमारे अज्ञान से किये अपराधों को क्षमा करो। अथवा नहीं, तुमसे हम क्षमा के लिये क्यों कहें ? तुम तो हमारा विनाश कर ही नहीं सकते, तुम जो भी कुछ करोगे, हमारा कल्याण ही करोगे। यह निश्चित है। फिर तुमसे प्रार्थना तो इसलिये है कि इस द्वारा हम तुम्हारे कुछ और अधिक नजदीक हो जायें। हमारा हृदय शुद्ध हो जाय। क्योंकि तुम्हारे आगे रो लेने से हृदय की शुद्धि हो जाती है और भविष्य के लिए धर्म-भंग होने की सम्भावना और कम होती जाती है।

(वरुण) हे वरुण (मनुष्याः) हम मनुष्य (दैव्ये जने) तुझ दिव्य जन में (इदं यत् किंच अभिद्रोह) यह जो कुछ द्रोह (चरामसि) किया करते हैं और (अचित्तीः) अज्ञान और असावधानता से (यत् तव धर्मा युयोपिम) जो तेरे धर्मों का लोप किया करते हैं (देव) हे देव (तस्मात् एनसः) उस पाप के कारण (नः मा रीरिषः) हमारा नाश मत करो।

युंजते मन उत युंजते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

ऋ० 5.81.1, यजु० 5.14

विप्र लोग उस महान् विप्र के साथ अपना मन जोड़ते हैं। इसी का नाम योग है। ये योगी, ज्ञानी, महात्मा लोग केवल अपने मन को ही उस चिन्मय प्रभु के साथ नहीं जोड़ते किन्तु बुद्धि को भी जोड़ते हैं। अपने क्षुद्र मन को उसके विभु मन में जोड़ने से हमारा मन एकाग्र हो जाता है, रुक जाता है; परन्तु अपनी बुद्धि के उसमें जुड़ने से हमें उसके आत्मज्ञान में से हमारे लिए उपयोगी सत्यज्ञान भी मिलने लगता है। इस प्रकार योगी सन्त पुरुष उस सर्व-प्रेरक देव की प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने सब कर्म किया करते हैं। उनके ये सब शारीरिक या मानसिक कर्म फिर उस परमदेव में आहुतिरूप होते हैं। प्रभु उन सब के उन होत्रों को स्वीकार करते जाते हैं और प्रतिदान में उन्हें उनके अनुकूल अपने ज्ञान को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार उस एक महान् आत्मा में संसार के सब विप्र (सब साधु महात्मा योगी) हवन कर रहे हैं और अपना-अपना अभीष्ट पा रहे हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है कि उस अकेले ही देवता ने अपने आपको इन सब जीवात्माओं के साथ ठीक-ठीक न्याययुक्त सम्बन्ध से जोड़ रक्खा है और सम्बन्ध जुड़ने पर उस सम्बन्ध को परिपूर्णता के साथ निभा रहा है। वह कैसा वयुनावित् है, वह अकेला ही इन सब प्राणियों के एक-एक ज्ञान व कर्म को अलग-अलग कैसे जान रहा है? जरा देखो कि ये ज्ञानी पुरुष ही नहीं, किन्तु न जानते हुए अनिच्छा से तो संसार के प्राणीमात्र ही उस एक यज्ञ पुरुष के साथ जुड़े हुए हैं और वह अकेला ही उन सब अनगिनत जीवों के साथ न जाने कैसे परिपूर्ण न्याय कर रहा है। ऐसे अद्भुत देव की, उस अकेले सर्व-प्रेरक देव की हम जितनी स्तुति करें वह थोड़ी है, हम जितनी स्तुति करें वह थोड़ी है।

(विपश्चितः) उस चित् स्वरूप (बृहतः विप्रस्य) महान् ज्ञानी के (मनसा) मन के साथ (विप्राः) संसार के ज्ञानी लोग (मनः युजते) अपने मन को जोड़ते हैं। (उत धियः युंजते) और अपनी बुद्धियों को भी संयुक्त करते हैं। (वयुनावित्) सब के ज्ञानों व कर्मों को जानने वाला (एक इत्) वह अकेला ही (होत्रा) इन सब के सत्य-कर्मों को यज्ञकर्मों को (वि दधे) विविध प्रकार से धारण करता है यह (सवितुः देवस्य) इस सर्व-प्रेरक देव की (मही परिष्टुतिः) महान् स्तुति, अद्भुत प्रशंसा की बात देखो।

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे ।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम् ॥

ऋ० 1.57.1, अ० 20.15.1

हे परमदानी ! मैं तेरे सामने झुकता हूँ । मेरा मन और बुद्धि तेरे सामने झुकती हैं। तेरे अपरिमित ऐश्वर्य्यों की जो हम पर अनवरत वर्षा हो रही है, उसे देख कर मैं अवाक् स्तब्ध रह गया हूँ। मेरी बुद्धि तेरी महत्ता, तेरी अनन्तैश्वर्य्यता को समझ सकने से भी हार मान रही है। तू गुणों में अनन्त है, तू आकार में अनन्त है, तेरा धन अनन्त है और तेरा बल कभी झूठा नहीं हो सकता। तेरा बल जहाँ प्रयुक्त होता है, वह जरूर सफल होता है। तू सच्चे बल वाला है। और फिर तू परमदानी है। अपने अनन्त ऐश्वर्य की हम पर इसलिये वर्षा कर रहा है कि उसे पाकर हम में भी बल बढ़े, आत्म-शक्ति बढ़े, हम भी सच्चे बल वाले हो जायें। तेरा यह ऐश्वर्य हमारे लिए खुला पड़ा है और यह विश्व भर के लिए खुला पड़ा है, सबके लिए खुला पड़ा है। जो चाहे इसे यथेच्छ लेकर अपना बल बढ़ा लेवे। जरा देखो, इस ब्रह्माण्ड का स्थूल ऐश्वर्य, मानसिक अद्भुत ऐश्वर्य और अलौकिक अपार शक्ति वाला आत्मिक ऐश्वर्य; ये सब एक से एक ऊँचे, एक से एक अधिक शक्ति देने वाले ऐश्वर्य हम पर बरस रहे हैं। ऐश्वर्य की कमी नहीं है, हमारी ग्रहण शक्ति ही की कमी है। ऐश्वर्य को लूटो और इससे अपनी शक्ति बढ़ाओ। अरे, यह तो बेरोक-टोक हमारी तरफ बह रहा है। जैसे कि नदी का जल नीची भूमि पर स्वभावतः जाता है, उसे रोका नहीं जा सकता, वैसे ही परम प्रभु का ऐश्वर्य उनकी सर्वशक्तिमत्ता और उनकी बृहत् की ऊँचाई से हम नीचे खड़े अल्पशक्ति वालों की तरफ स्वभावतः आ रहा है। यह तो आ ही इसलिये रहा है कि हमारी कमी, हमारी निर्बलतायें भर जायें। प्रभु का ऐश्वर्य-जल हमें भरपूर करने के लिए, हमें पूर्ण कर देने के लिए नीचे अनवरत खुला बह रहा है। ओह ! यह अनन्त काल से बह रहा है और इस ऐश्वर्य का कहीं अन्त नहीं है। इसे देखकर हे परम दानी ! मैं तेरे चरणों में गिर पड़ा हूँ — सर्वभाव से तेरे चरणों में गिर पड़ा हूं। बुद्धि तक मेरा सब कुछ तेरे समर्पित है। हे महादानी !!

(यस्य राधः) जिस प्रभु का ऐश्वर्य (प्रवणे अपामिव) नीची भूमि पर बहते पानी की तरह (दुर्धरं) दुर्धर है, रोका नहीं जा सकता और जिसका ऐश्वर्य (विश्वायु) सब के लिए (शवसे) सब का बल बढ़ाने के लिए (अपावृतं) खुला पड़ा है उस (बृहते बृहद्रये) अनन्त गुण वाले और अनन्त धन वाले (सत्यशुष्माय) सत्य बल युक्त (मंहिष्ठाय) महादानी (तवसे) महान् प्रभु के लिए (मतिं प्रभरे) मैं अपनी बुद्धि समर्पण करता हूँ।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ।।

ऋ० 9 83.1, साम० पू० 6.27.12 साम० उ० 2.2.16

हे ब्रह्माण्डपति ! मैंने जाना कि मेरा शरीर अपवित्र क्यों है ? यद्यपि तुम्हारा पवित्रताकारक सामर्थ्य जगत् में सब कहीं फैला हुआ है, तुम ही उस पवित्र के साथ मेरे शरीर के रोम रोम में रम रहे हो तो भी यह शरीर पवित्र नहीं है, इसका कारण मैंने जाना। इसका कारण यह है कि मैंने तप की अग्नि से अपने शरीर को पकाया नहीं है। बिना आग में तपाये मिट्टी के घड़े में पवित्रताकारक जल कैसे ठहर सकता हैं ? इसी तरह तपोरहित मेरे शरीर में तुम्हारी पावनी शक्ति नहीं ठहर सकती। बिना इसे शरीर में धारण किये इससे लाभ कैसे उठाऊँ ? और इसे धारण करने के लिए तो पका हुआ शरीर चाहिये। एवं इसे धारण न कर सकने के कारण मैं अभी तक इसके सब आनन्द से, सब रस से वञ्चित हूँ। सचमुच तपोहीन पुरुष के लिए इस जगत् में कुछ भी रस नहीं है, कुछ भी सुख नहीं है। मैंने जाना कि यदि मैं अपने अन्नमय शरीर को ब्रह्मचर्य्य, व्यायाम, आसन, प्राणायाम आदि तप से तपा कर इसे पका लूँगा, तभी मेरा यह शरीर तेरी पावनी शक्ति को धारण करके शारीरिक सौख्य को पा सकेगा। मैंने जाना है कि यदि मैं वृत्तिनिग्रह, योग, एकाग्रता आदि तपों की अग्नि से अपने मानसिक शरीर को पका लूँगा तभी यह शरीर तुम्हारे पावन ज्ञान-रस को धारण कर सकेगा। तप की अग्नि से जब स्थूल व सूक्ष्म शरीर के स्थूल सूक्ष्म मैल निकलते हैं तो तेरी सर्वव्यापक शक्ति इनमें आने लगती है, भरने लगती है। इस तरह तप से पवित्रता और शक्ति आती है। शरीर परिपक्व होते जाते हैं। आहा, पवित्र होने से कैसा अद्‌भुत आह्लाद मिलता है, शक्ति भरने पर कैसा सुख अनुभव होता है ! तप न करने वाले लोग इसे क्या जानें ? अतपस्वी लोगों का काम न दे सकने वाला मलिन रोगग्रस्त (स्थूल) शरीर और अतपस्वियों का इधर-उधर भटकने वाला, असंयत भय, चिन्ता, क्रोध, इच्छादि से पीड़ित मन (मानसिक शरीर) किस काम का होता है ? यदि प्रभु के पवित्रताकारक सामर्थ्य के समुद्र में बैठे हुए भी उससे वञ्चित नहीं रहना है तो जल्दी करो; तप करो, तप करो। तप से अपने देहों को परिपक्व बनाते रहो। तप से पके शरीरों से ही यह प्राप्त किया जाता है।

(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्माण्ड के पति (ते पवित्रं) तेरा पवित्रताकारक पवित्र ज्ञान सामर्थ्य (विततं) सब कहीं फैला हुआ है। (प्रभुः) [इस पवित्र के साथ] तुम प्रभु (गात्राणि) मेरे शरीरों, अवयवों में भी (विश्वतः पर्येषि) सब तरफ से प्राप्त हुए हुए हो। परन्तु (अतप्ततनुः) जिसने अपने शरीर को तप से तपाया नहीं है अतएव (आम.) जो कच्चा है वह (तत्) उस पवित्र को (न अश्नुते) नहीं पाता। (शृतासः इत्) जो पके हुए हैं वे ही (वहन्तः) उसे धारण करते हुए (तत् समाशत) उसे अच्छी तरह प्राप्त करते हैं।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्या मनेहसं सुशर्माण मदितिं सुप्रणीतिम् ।
दैवीं नावं स्वरित्रा मनागसो अस्रवन्ती मारुहेमा स्वस्तये ॥

अथ० 7.6.3, ऋ० 10.63.10, यजु० 21.5

आओ, अब हम विकृत जीवन को छोड़ प्रकृति की तरफ आयें, खण्डित अवस्थाओं से निकल अखण्डित की तरफ आयें, दिति के संसार को त्याग कर अदिति का अवलम्बन ग्रहण करें। अप्राकृतिक बनावटी विकारमय जीवन बिता-बिता कर हमने बहुत कष्ट पाये हैं, इस भवसागर में बहुत से गोते खाये हैं, अब तो आओ, हम अपनी प्राणरक्षा के लिए इस प्राकृतिक जीवन रूपी दैवी नाव का आश्रय लेवें। यह दैवी नाव हमें भवसागर में डूबने से बचा लेगी। हमारी ठीक प्रकार रक्षा करेगी। जरा देखो कि इसका आश्रय बड़ा विस्तृत है; प्राकृतिक जीवन बिताने वाले को इस महान् प्रकृति का सम्पूर्ण अवलम्बन मिल जाता है और उसे एक खुलेपन का आनन्ददायक अनुभव होता है तथा ज्यों ज्यों हमारा जीवन नैसर्गिक होता है, प्राकृतिक देवों के अनुकूल होता है त्यों-त्यों हममें ज्ञान प्रकाश भी बढ़ता जाता है। और यह प्राकृतिक जीवन हमें कभी हानि कैसे पहुंचा सकता है? यही तो हमारा स्वाभाविक असली जीवन है अतः यह तो हमें बड़े प्रेम से अपनी शरण देता है, बड़े उत्तम प्रकार का सुख हमें देता है। हम लोग सुख भोग के ही लिए तो विकृत जीवन को पसन्द करते हैं, पर हमें मालूम नहीं कि प्राकृतिक जीवन में जो एक ऊँचा सात्त्विक उत्तम प्रकार का सच्चा सुख है, उसके सामने ये बनावटी सुख तो दुःख हो जाते हैं। ओह, देखो कि यह प्रकृति अपने में इतनी अखण्डित परिपूर्ण है कि यदि हम केवल श्रद्धा-पूर्वक अपने आपको इस प्रकृति के हवाले कर दें, अपने जीवन को प्राकृतिक सीधे-सादे नियमों में एक बार ढाल दें, तो फिर हमें और कुछ चिन्ता करने की जरूरत नहीं रहती। प्रकृति माता अपनी उत्तम प्रणीतियों (मार्गों, तरीकों) से शेष सब कुछ अपने आप कर लेती है। देव परमेश्वर की अपने प्राकृतिक देवों द्वारा बनायी इस दैवी नाव पर चढ़ने की केवल एक ही शर्त है, वह यह कि हम 'अनागस्' अर्थात् निष्पाप हों, प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन न करने वाले हों। बस हम केवल इतना करें तो हम इस नाव के सौभाग्यशाली यात्री हो जायेंगे। इतना करके हम निश्चिन्त हो जायें कि यह कभी न चू सकने वाली और सद्गुणों के उत्तम पतवारों वाली नौका हमें बैठे ही बैठे सर्वथा कुशलपूर्वक पार लगा देगी।

(सुत्रामाणं) ठीक प्रकार रक्षा करने वाली (पृथिवीं) विस्तृत आश्रय देने वाली (द्यां) ज्ञान-प्रकाश वाली (अनेहसं) कभी हानि न पहुंचने वाली (सुशर्माणं) उत्तम प्रकार के सुख वाली (सुप्रणीतिं) श्रेष्ठ मार्ग से ले चलने वाली (स्वरित्रां) उत्तम पतवारों वाली (अस्रवन्तीं) कभी न चूने वाली, अछिद्रा (अदितिं) परिपूर्णा अखण्डिता प्रकृति रूपिणी (दैवीं नावं) दैवी [देव ईश्वर की या उसके प्राकृतिक देवों की] नाव पर हम (अनागसः) निष्पाप होते हुए (स्वस्तये) कल्याण के (आरुहेम) चढ़ें।

त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्तं दधासि श्रवसे दिवे दिवे।
यस्ततृषाण: उभयाय जन्मने मय: कृणोषि प्रय आ च सूरये॥

ऋ० 1.31.7

हे प्रभो ! संसार में ऐसे भी मर्त्य हैं जिन्हें कि तुम्हारी कृपा से नित्य अमरपद मिलता है, जिन्हें कि तुम प्रतिदिन अमृत का आनन्द चखाते हो। वे कौन हैं ? वे वे हैं जिन्हें कि प्राणिमात्र का हित करने की प्यास लगी हुई है—जिन्हें और कोई इच्छा नहीं है, कोई कामना नहीं है सिवाय इसके कि उनके द्वारा सदा प्राणिमात्र का (मनुष्यों का ही नहीं, किन्तु पशु जाति का भी) भला होता रहे, जो कहते हैं 'नाहं कामये राज्यं, न स्वर्गं, नापुनर्भवं, कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्', जिन्हें दु:खितों की पीड़ा शमन किये बिना चैन नहीं मिलता, जिन्हें परदु:ख शमन की उत्कट प्यास लगी हुई है। उन प्यासों को तुम नित्य अमृत पिलाकर तृप्त किया करते हो। यद्यपि वे मर्त्य हैं तो भी उन्हें तुम नित्य अमर पद देते हो क्योंकि परसेवा कर लेते ही उनकी अमृताभिलाषा तृप्त हो जाती है, उन्हें अपने अमर आत्मा से मेल हो जाता है। हम मर्त्य इसीलिये रहते हैं क्योंकि हम अपने में ही आत्मा को देखते हैं, स्वार्थी हैं। जब मनुष्य एक-एक प्राणी में अपना सा आत्मा देखने लगता है तो उसे आत्मा की अमरता दीखने लगती है—सब भूतों में व्याप्त एक अमर आत्मा दीखने लगती है। तब मनुष्य सूरि (ज्ञानी) हो जाता है। तब उस ज्ञानी को सब पर-प्राणियों का क्लेश अपना क्लेश लगता है, उस पर-पीड़ा (जो कि उसकी आत्मपीड़ा हो जाती है) को बिना हटाये उसे अपनी आत्मा की अमृतता भंग हुई दीखती है। अतएव वह परसेवा के लिए प्यासा होता है। परसेवा कर लेने पर उसे उस पीड़ित प्राणी की आत्मा से एकता मिल जाने से फिर अमृतत्व मिल जाता है। हे प्रभो ! एवं तुम उस धन्य पुरुष को प्रतिदिन श्रेष्ठ अमृतत्व देते हो। संसार द्वारा उसे 'श्रवस्' (यश) तो मिलता ही है, पर इस परसेवा से मिलने वाला जो अलौकिक अवर्णनीय 'मय' (सुख) है, वह भी तुम उसे देते हो। हम मरे रहने वाले स्वार्थियों को उस स्वार्थत्याग के परम सुख का कुछ पता नहीं है। हम 'मर्त्य' तो डरते रहते हैं कि यदि हम परसेवा में, सर्वभूतात्मा में, अपने आप को स्वाहा कर देंगे तो हम मर ही जायेंगे, हमें खाने को भी न मिलेगा। पर ऐसे अमृतत्व को पाने वाले मनुष्य अपने शरीर की चिन्ता छोड़ चुके होते हैं, वे अपने शरीर का धारण केवल परसेवा के लिए ही किये होते हैं, अत: हे प्रभो ! उस अमृत भोगने वाले महात्मा के मर्त्य शरीर के लिए अन्न भी तुम दिया करते हो।

(अग्ने) हे प्रकाशक देव (य:) जो (उभयाय जन्मने) द्विपद् चतुष्पद् या मनुष्य मनुष्येतर दोनों प्रकार के जीवों के भले के लिए (ततृषाण:) अत्यन्त तृषित है, प्यासा है (तं मर्त्यं) उस मनुष्य को (त्वं) तू (श्रवसे) यश के लिए (दिवे दिवे) प्रतिदिन (उत्तमे अमृतत्वे) श्रेष्ठ अमृत पद में (दधासि) पहुँचाता है (सूरये) और उस ज्ञानी पुरुष के लिए तू (मय:) सुख (आकृणोषि) करता है (प्रय: च) और अन्न भी।

दितेः पुत्राणामदिते रकारिषमव देवानां बृहतामनर्वणाम् ।
तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रिय नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥

अथर्व० 7.8.1

दिति और अदिति दोनों मुझमें हैं । खण्डित होने वाली विकृति (माया) दिति है और खण्डित न होने वाली प्रकृति (मूलशक्ति) अदिति है । दैत्यों और आदित्यों (देवों) की ये दोनों मातायें अपने पुत्रों द्वारा मेरे हृदय में संघर्ष किया करती हैं । दिति मेरे हृदय में स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, भय, काम, लोभ आदि असनातन विकारी भावों को जनित करती है और अदिति से परोपकार, करुणा, प्रेम, निर्भयता, वैराग्य, निष्कामता आदि सनातन भावों के पुत्र पैदा हो रहे हैं पर मेरे इस हृदय के संघर्ष में मैं इन दिति के पुत्रों को, इन दैत्य भावों को, अदिति के बना देता हूँ । उन महान् सनातन देवों द्वारा इन दैत्यों को दवा देता हूँ, नीचा कर देता हूँ । वे देव बृहत् हैं और अपराश्रित हैं, ये दैत्य (आसुरभाव) तो इन देवों के ही आश्रित हैं । संसार में ये देवभाव न हों तो ये आसुरी भाव चल ही न सकें । संसार में सत्य के आश्रय से ही झूठ चल रहा है । अतएव मैं उन सत्य सनातन दैवी भावों (अक्लिष्ट वृत्तियों) द्वारा इन आसुरी विचारों (क्लिष्ट वृत्तियों) को सदा दबा देता हूँ । यह क्यों न हो जबकि उन देवों का तेज अति गम्भीर है । वे दैवभाव अपना तेज उस अखण्ड प्रकृति (परमात्मा) के अक्षय समुद्र द्वारा ग्रहण करते हैं । अतएव मेरे क्षुद्र दुर्भाव इन दैव-भावों के धाम (तेज) का पार नहीं पा सकते । इन दुर्भावों में अपनी कुछ शक्ति नहीं होती, इनका अपना कोई आधार नहीं होता; अतः ये कुछ समय तक उछल कूद करके अपनी उत्तेजना और अशान्ति सहित स्वयमेव विनष्ट हो जाते हैं । दैव भावों की अगाध नम्रता ही इन्हें हरा देती है । दैवभावों में यह राजसिक उछल कूद व अशान्ति नहीं होती, उनकी सात्त्विक नमस् (नम्रता) में ही सबको नमा देने की अक्षय शक्ति होती है । देवों की इस नम्रता की अगाध शक्ति को हरा सकने वाली और कोई शक्ति संसार में नहीं है । अतः सचमुच इन नम्र, गम्भीर, अचलप्रतिष्ठ दैवभावों की ही सदा विजय होती एवं मेरी इस हृदयभूमि में देव-दैत्यों के संग्राम में दिति से उत्पन्न होने वाले पुत्र अदिति (नित्यशक्ति) की अखण्डित शक्ति के आधीन हो जाते हैं, उनके दैवी तेज के सामने ये दब जाते हैं, वहीं विलीन हो जाते हैं ।

(दितेः पुत्राणां) दिति के पुत्रों [दैत्यों] को (अदितेः अकारिषम्) मैंने अदिति का कर लिया है, (बृहतां अनर्वणां देवानां) इन्हें मैंने उन महान् अपराश्रित, देवों के (अव [अकारिषम्]) आधीन [नीचे] कर लिया है । (तेषां हि) उन देवों का (धाम) तेज (गभिषक्) बड़ा गम्भीर है क्योंकि वह (समुद्रियं) नित्य शक्ति के तेजः समुद्र से उत्पन्न हुआ हुआ है, (नमसा) नम्रता की शक्ति से युक्त (एनान्) इन देवों से (परः कश्चन न अस्ति) परे, बढ़कर और कोई नहीं है ।

अनुव्रताय रन्धयन्नपव्रतात् आभूभिरिन्द्रः श्नथयन्ननाभुवः ।
वृद्धस्य चिद्वर्धतो द्यामिनक्षतः स्तवानो वम्रो विजघान सदिहः ।।

ऋ॰ । 51.9

परमेश्वर इस संसार को सदा नवजीवन देते हुए जीवित रख रहे हैं। वे संसार के सच्चे व्रतपालक मनुष्यों को स्थान देने के लिए व्रतभंग करने वालों का विनाश कर रहे हैं और संकुचित लोगों को जल्दी खतम करके व्यापक विचार वालों को स्थिरता दे रहे हैं। इस तरह संसार जीवन पा रहा है और विकसित हो रहा है। देखने वाले देखते हैं कि इस विश्व में उच्च आदर्श वालों, व्यापक भावनाओं से प्रेरित होकर कर्म करने वालों का ही प्रभुत्व है, इस विश्व में संसार के सत्य नियमों का अवलम्बन करने वालों के पास ही सच्ची विजय दायिनी शक्ति है, इस विश्व में काल सब संकुचित दृष्टि वालों को मारता हुआ चल रहा है, उसकी मार से वे ही उतनी देर तक बचते हैं जो जितने ऊँचे और व्यापक दृष्टि वाले होते हैं। पर साधारण लोगों को इस ईश्वरीय सत्य नियम में सन्देह रहता है, उन्हें तो प्रायः संसार में नियम भंग करने वाले और संकुचित लोग ही विजय पाते दीखते हैं। ऐसे संदेह होना स्वाभाविक है। ये संदेह तो तब विनष्ट होते हैं जब द्युलोक तक व्यापक इस अद्भुत विशाल इन्द्र के दर्शन पाकर मनुष्य उस का सच्चा स्तोता 'वम्र' बन जाता है, जब इस दिव्यदर्शन में मस्त हो उसकी वाणी से स्वभावतः स्तोत्र उदिगरण होने लगते हैं। तब उसके सामने कोई विघ्न बाधा नहीं ठहर सकती। उस समय वह अपने उस द्युलोकवासी ('द्यां इनक्षतः') तक पहुँचने की अपनी उड़ान में बाधक देखकर अपने सब बड़े से बड़े पार्थिव उपचयों को—उन भौतिक बड़े-बड़े संग्रहों को जिनको कि हम लोग जी जान से रक्षा करने में लगे रहते हैं—बन्धन की तरह तोड़ डालता है, उन्हें लात मार जाता है, त्याग जाता है। क्योंकि वह देखता है कि उसके इन्द्र इस भूलोक में नहीं हैं किन्तु द्यु लोक तक व्यापे हुए हैं और वह द्युलोक के इस रहस्य को देखता है कि वृद्ध पुरुष की यद्यपि शारीरिक उन्नति पूरी हो चुकी होती है तो भी उसकी दैवी [आध्यात्मिक] उन्नति के लिए असीम क्षेत्र खुला होता है, उसमें वह और जितना चाहे उतना बढ़ सकता है, अर्थात् वह अध्यात्म की इस महिमा को देख लेता है कि इस विश्व में यद्यपि भौतिक [भूलोक की] उन्नति की एक सीमा है जिससे अधिक उसमें मनुष्य वृद्ध [उन्नत] नहीं हो सकता तथापि विश्व में एक ऐसा द्यु लोक [ज्ञान का लोक] भी है जिसमें कि ऐसी कोई सीमा नहीं, जिसमें मनुष्य अनन्तरूप से बढ़ता जा सकता है।

(अनुव्रताय अपव्रतान् रन्धयन्) नियमपालकों के लिए नियम भंग करने वालों का नाश करते हुए और (आभूभिः अनाभुवः श्नथयन्) असंकुचित मनुष्यों द्वारा संकुचित मनुष्यों का नाश करते हुए (इन्द्रः) परमेश्वर हैं। उस (वृद्धस्य चित् वर्धतः) वृद्ध के भी बढ़ाने वाले और (द्यां इनक्षतः) द्युलोक तक व्यापे हुए परमेश्वर की (स्तवानः) स्तुति करने वाला (वम्रः) स्तोता, स्तोत्र उद्गिरण करने वाला (संदिहः) अपने संदेहों को या पार्थिव उपचयों को (विजघान) नष्ट कर देता है, समाप्त कर देता है।

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कं ।
भूमिरिति त्वाभि प्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सर्वतः ॥
अथर्व० 6.84, य० 12 64

हे निर्ऋते ! हे स्थूल जगत् के देवते ! तुझमें स्थूल भोग भोगने में मनुष्य बड़ा सुख मानते हैं। वे तेरी इस भूमि पर इस स्थूल जगत् में, खाने पीने, सन्तान उत्पन्न करने तथा इन्द्रियों के अन्य भोग प्राप्त करने में बड़ा आनन्द पाते हैं और वे इसीलिए जीते हैं। तुझको, तुझ रूप इस भूमि (स्थूल जगत) को, वे सब सुखों की भूमि, सब भोगों का आश्रय, सब आनन्दों को पैदा करने वाली मानते हैं। परन्तु मैं तो तुझे निर्ऋति ही समझता हूँ, कृच्छ्रापत्ति ही देखता हूँ। इस स्थूल जगत् में पड़ा हुआ मैं अपने आपको एक महान् गहन आपत्ति में फँसा हुआ पाता हूँ। सब तरफ से मैं एक भारी विपत्ति में फँसा हुआ हूँ, यह स्पष्ट देखता हूँ। स्थूल जगत् के भोग मुझे सुखदायक नहीं लगते; ये मुझे परिणाम, ताप, संस्कार, आदि सब तरह से क्लेश रूप लगते हैं; ये मुझे फँसाने वाले, बाँधने वाले, गला घोंटने वाले लगते हैं। आत्मा स्थूल भोग भोगने के लिए स्थूल देहों को धारण करता है, परन्तु ज्यों-ज्यों वह स्थूलता की तरफ जाता है त्यों-त्यों वह परिमित, बद्ध, निरुद्ध, सीमित शक्ति वाला होता जाता है। इस स्थूलतम 'पार्थिव' शरीर को पाकर तो आत्मा बिल्कुल ही बँध गया है। स्थूल शरीर में वह आत्मा इन्द्रियों की प्रणालिका से बाहिर कोई ज्ञान नहीं पा सकता और हाथ पैर आदि से जितना परिचित कर्म किया जा सकता है, उससे अधिक कर्म नहीं कर सकता। केवल वह पशुसुलभ भोग जरूर भोगता है। ओह ! हे निर्ऋते ! मैं तो ज्ञान और शक्ति के रोकने वाले इस स्थूल बन्धन से घबरा गया हूँ। मनुष्य-योनि पाकर मुझे तो अपने आत्मा की बंधनरहित अवस्था की कुछ स्मृति सी आ गयी है, झलक दीखने लगी है। मुझमें उच्च, विस्तृत, शान्त सुखों की चाह पैदा हो गयी है। अतएव मैं तो इन स्थूल बन्धनों को तोड़कर उड़ना सा चाहता हूँ, पर ये बंधे हुए बन्धन यूँ टूटने वाले भी नहीं हैं। इन्हें इन्हीं के सहारे धैर्य से तोड़ना होगा। अतएव मैं तेरे स्थूल भोगों को त्यागपूर्वक, हवनपूर्वक भोग रहा हूँ। खाना, पीना, देखना, सुनना आदि स्थूल भोगों को समर्पण बुद्धि से करता हुआ मैं अनुभव करता हूँ कि मैं इन कर्मों को तेरे घोर भयंकर मुख में हवन कर रहा हूँ। ये भोग मुझे रमणीय नहीं लगते, किन्तु घोर नरक रूप लगते हैं।

(यस्याः ते। जिस तेरे (घोरे आसनि) घोर मुख में (जुहोमि) मैं हवन करता हूँ कि (एषां बद्धानां) इन स्थूलता के बंधे हुए बन्धनों से (अवसर्जनाय कं) छुटकारा पा सकूँ, (त्वा) उस तुझको (जनाः) मनुष्य तो (भूमिः)[1] तू भोगों की भूमि है इति अभिप्रमन्वते) ऐसा मानते हैं परन्तु (अहं) मैं (त्वा) तुझे (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति, भारी विपत् (इति) ऐसा (सर्वतः) सब तरफ से (परिवेद) ठीक-ठीक जानता हूँ।

नोट [1] वेद में 'निर्ऋति' शब्द का अर्थ भूमि भी है निरमति इति]; [2] और इसका अर्थ कृच्छ्रापत्ति, बड़ी भारी विपत्ति या पाप भी है।

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु ।
यदात्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तद् आपृणद् घृतेन ॥

अथर्व० 7.57.1

सार्वजनिक जीवन बिताना बड़ा कठिन है। बिलकुल निःस्वार्थ भाव से लोकसेवा करते हुए भी बहुत बार जो कुछ सुनना पड़ता है और जो कुछ व्यवहार सहना पड़ता है, उससे मन प्रायः विक्षुब्ध हो जाता है, हृदय को भारी चोट पहुँचती है। कई बार तो इनसे इतना मन खिन्न हो जाता है कि लोकसेवा छोड़ देना ही ठीक लगता है परन्तु हृदयवासिनी सरस्वती देवी का ध्यान करके मैं रुक जाता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि यदि मैं सचमुच सर्वथा निःस्वार्थ हूं, सच्चा सेवक हूँ तो ऐसा भारी से भारी विक्षोभ और चोटें भी मेरे लिए क्षणिक हैं और ये मेरी आत्मविशुद्धि करने वाली और मुझे बलवान् बनाने वाली ही हैं। ऐसी चोटें लगने पर ज्यों ही मैं कुछ देर के लिए अपने हृदयमन्दिर में बैठ कर आत्मचिन्तन कर लूँगा तो अन्दर की ज्ञानमयी स्नेहरूपिणी सरस्वती देवी की कृपा से मेरी ये चोटें क्षण में ठीक हो जायेंगी और मैं तब अपने को पहिले से अधिक पवित्र तथा अधिक बलवान् भी पाऊँगा। सरस्वती देवी के पास वह घृत है, ज्ञान और स्नेह का वह अद्भुत मरहम है, शान्ति और प्रफुल्लता देने वाला वह स्निग्ध ज्ञान है जिससे कि सच्चे पुरुष के सब घाव आत्मचिन्तन करने से जादू की तरह जरा सी देर में बिलकुल ठीक हो जाते हैं। मनुष्य आत्मस्वरूप को सदा स्मरण न रख सकने के कारण ही विक्षुब्ध व व्याकुल हो जाता है। अतएव विचार व आत्मचिन्तन कर लेने से देखा जाता है कि मनन करने वाले के भारी से भारी मानसिक आघातों की भी पीड़ा बहुत कुछ उसी समय चली जाती है। यद्यपि नाना प्रकार की सद् आशाओं के भंग हो जाने से या भलाई के बदले घोर अपमान व आपत्ति मिलने से मेरा आन्तरिक मानसिक शरीर चूर चूर हो जाता है, क्षत विक्षत हो जाता है; तथापि हे सरस्वती देवी! मेरी प्रार्थना है कि तुम सदा उन सब मेरे घावों को अपनी इस स्नेह रसमयी चैतन्यकारिणी शान्तिदायिनीं दिव्य मरहम से जादू की तरह भर कर ठीक करती रहो।

(जनान् अनुचरतः) मनुष्यों की सेवा करते हुए (आशसा वदतः) उनके साथ आशा से बोलते हुए, भाषण करते हुए, (मे) मेरा (यत्) जो कभी-कभी (विचुक्षुभे) मन विक्षोभ को प्राप्त होता है और (याचमानस्य) लोगों के हित के लिए उनसे प्रार्थना करते हुए या भिक्षा करते हुए (यत्) जो मेरा मन विक्षोभ को प्राप्त होता है तथा (आत्मनि तन्वः) अपने अन्दर अन्तःशरीर पर, अन्तःकरण पर (मे यत् विरिष्टम्) मुझे जो चोट पहुँचती है, घाव होते हैं (तत्) उस सब को (सरस्वती) विद्या देवी (घृतेन) अपने ज्ञानपूर्ण और स्नेहमय मरहम से (आपृणात्) भर दें, पूर दे।

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम, तवेत् इदमभितश्चेकिते वसु ।
अतः संगृभ्याभिभूत आभर, मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः ।।

ऋ॰ 1.53. 3, अथर्व॰ 20 3.21

हे परमैश्वर्य वाले इन्द्र ! इस संसार में चारों तरफ दिखाई देने वाला और नाना तरह भोगा जाता हुआ जो ऐश्वर्य है, वह सब तेरा हैं । पहिले मैं इन ऐश्वर्यों को मनुष्य का ऐश्वर्य समझता था, पर अब खूब अच्छी तरह जान गया हूँ कि यह सब तेरा है—एक मात्र तेरा ही है । तेरे हीं दिये अनन्त ऐश्वर्य को संसार भोग रहा है । ये भौतिक सुख देने वाली सब वस्तुएँ; प्रतिष्ठा, यौवन, प्रभुत्व आदि ऐश्वर्य; अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि दैवी संपत् और बड़ी-बड़ी आत्मिक सिद्धियाँ और विभूतियाँ इन सब प्रकार के एक से एक ऊँचे ऐश्वर्य को यह संसार तुझसे ही पाकर भोग रहा है । हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य के स्वामी ! हे अतिशय ज्योति वाले ! हे सर्वशक्तिमन् ! मैं तुझे एक बार देखकर तेरा हो चुका हूँ, अपना सर्वस्व तुझे सौंपकर तेरा हो चुका हूँ । अब तू ही मेरा अपना है । इस विश्व में मेरा अब और कोई नहीं है । तो फिर मैं अपनी प्रार्थना किस और के सामने करूँ ? अपनी अभिलाषा की पूर्ति के लिए किस अन्य की तरफ देखूँ ? तुझे अपनाकर, हे सर्वैश्वर्य वाले ! हे सर्वशक्तिमय ! तुझे अपनाकर मेरी शुभ अभिलाषा कैसे अपूर्ण रह सकती है ? तू पुरुकृत् है । तूने बहुत से भक्तों के लिए बहुत कुछ किया है, इस संसार का सब कुछ तूने ही बनाया है । तू एक क्षण में अभिलषित ऐश्वर्य की रचना करके दे सकता है । हे अभिभूते ! सब विघ्नों और आवरणों के हटा देने वाले ! तुम अपने अपरिमित ऐश्वर्य में से उठा कर मेरी इच्छा भर जरा सा ऐश्वर्य मुझे दे दो । मेरी अभिलाषा, कितनी ही कठिन, कितनी ही असम्भव सी दीखती हो, पर तुम सब विघ्न बाधाओं को अभिभव कर सकते हो । हे सब विघ्नों का नाश कर सकने वाले ! तेरे जैसे स्वामी को अपनाने वाले भक्त की प्रार्थना कैसे अधूरी रह सकती है ? हे प्रभो ! बाधा हटाकर इसे पूर्ण कर दो, पूर्ण कर दो । अपने अनन्त ऐश्वर्य में से उठा कर यह एक मुट्ठी भर ऐश्वर्य मुझे दे दो । यह मेरी इतनी बड़ी भारी अभिलाषा तुम्हारे लिए सचमुच मुट्ठी भर ही है ।

(शचीव) हे सर्वशक्तिमन् ! (पुरुकृत्) बहुत कुछ करने वाले ! (द्युमत्तम) अतिशय दीप्ति वाले ! (इन्द्र) परमेश्वर (अभितः) सब तरफ जो (इदं) यह (वसु) ऐश्वर्य है वह (तव) तेरा (इत्) ही है ऐसा मैं (चेकिते) खूब अच्छी तरह जानता हूँ । (अतः) इसलिए इसमें से (अभिभूते) हे विघ्नविनाशक ! (संगृभ्य) मेरे योग्य धन उठाकर (आभर) मुझे दीजिए (त्वायतः) तुझे अपनाने वाले (जरितुः) मुझ स्तोता की (कामं) इच्छा प्रार्थना को (मा ऊनयीः) अपूर्ण मत रखिये ।

स इन्महानि समिथानि मज्मना कृणोति युध्म ओजसा जनेभ्यः ।
अधाचन श्रद्दधति त्विषीमत इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम् ।।

ऋ० 1.55 5

किसी लड़ाई में, किसी जीवनसंघर्ष में, जब मनुष्य को विजय मिलती है तो वह फूला नहीं समाता है। वह समझता है मेरे शास्त्र बल की, बुद्धि बल की या तपोबल की विजय हुई परन्तु संसार के सब महासंग्रामों के विषय में जो सच्चा रहस्य है, उसे विरले ही मनुष्य समझते हैं। सच तो यह है कि संसार की सब सच्ची अन्तिम विजयें परमात्मा की ही विजय हैं। हम अधिक ज्ञान प्रकाश में होकर देखें तो हमें दीखेगा कि वह परमेश्वर ही महायोद्धा होकर हम मनुष्यों के लिए सब संग्रामों को लड़ रहा है। मनुष्य की स्वार्थमयी आसुरी प्रवृत्ति के कारण ससार में सब लड़ाइयों के प्रसंग उपस्थित हो रहे हैं और जगदीश्वर की दैवी शक्ति उसे अन्त में विजित करके उसे शान्त कर रही है। मनुष्य की न्यूनता पर परमेश्वर की पूर्णता विजय पा रही है। हमें जो यह दीखता है कि बहुत से मनुष्य सत्य के पक्ष में महा-संग्राम लड़ रहे हैं, वह असल में सत्यप्रेमी मनुष्यों के लिए स्वयं भगवान् वह युद्ध कर रहे होते हैं और अतएव ही उसमें विजय अवश्यम्भावी होती है। परमात्मा का पवित्रताकारक ओज ही लड़कर जगत में सदा विजयी हो रहा है। सत्य के लिए युद्ध करने वालों को तो सदा समझना चाहिये, स्पष्ट देखना चाहिये कि उनका योद्धा स्वयं जगदीश्वर है, जगदीश्वर ही है, (स इत्) अहंकार से विमूढ़ात्मा हुए मनुष्य यूँ ही अपने को योद्धा और विजयी समझते हैं। अन्त में जब उनका अहंकार का पर्दा हटता है और जगत् व्यापक ज्योति मिलती है, तब ही उन्हें इस असली सत्य में श्रद्धा जमती है। तब उन्हें पाप के विजयी होने का भी भ्रम नहीं होता क्योंकि उन्हें तब इन युद्धों का महान्पन (महानि समिथानि) स्पष्ट दिखाई देता है। अत: अधूरे युद्ध में पाप की क्षणिक विजयों से वे भ्रम में नहीं आते, उनकी श्रद्धा में जरा भी धक्का नहीं लगता। अपने उस निर्बाध व्यापक प्रकाश में उन्हें सब संग्रामों का यह सच्चा रूप दृष्टिगोचर हो रहा होता है कि एक तरफ मनुष्यों के स्वार्थ दूसरों के नाना प्रकार से हिंसन (वध) करने के रूप में उठ रहे हैं पर जहाँ तक उनको स्वाधीनता है, वहाँ तक उठकर वे सब दूसरी तरफ महातेजस्वी इन्द्र के ओज के सामने नष्ट होते जा रहे होते हैं— इन्द्र का पापवर्जक, कर्मफल देने वाला वज्र उनके वध का ही वध करता हुआ सदा समता स्थापित कर रहा है।

(स इत्) वह इन्द्र ही (युध्मः) योद्धा होकर (मज्मना ओजसा) अपने पवित्रकारक ओज से (महानि समिथानि) बड़े-बड़े संग्रामों को (जनेभ्यः) मनुष्यों के लिए (कृणोति) करता है। परन्तु लोग (अधा चन) अनन्तर ही, पीछे से ही (त्विषीमते इन्द्राय) उस महातेजस्वी इन्द्र में (श्रद्दधति) श्रद्धा करते हैं जो कि (वधं) संसार के सब वध को, सब हिंसा को (वज्रं निघनिघ्नते) वज्र मारता है, अपने वज्र से हनन किया करता है।

ब्रह्मचारीष्णन् चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥

ऋ० 11.5.1

ब्रह्मचारी वह है जो कि ब्रह्म के लिए (महान् सत्यज्ञान के लिए या परमेश्वर-प्राप्ति के लिए) सब आचरण करता है, तपश्चरण करता है। वह उस सत्य की खोज के लिए कुछ उठा नहीं रखता है। इस स्थूल बाह्य जगत् अर्थात् पृथ्वी में तथा सूक्ष्म अन्दर के ज्ञान जगत् अर्थात् द्यौ में वह उस परम सत्य को खोजता हुआ फिरता है। उसे जहाँ भी कोई ब्रह्म अर्थात् सत्य-ज्ञान मिलता है तो वह फिर उसी (ब्रह्म) के अनुसार अपना आचरण करने लगता है। घोर से घोर तपस्या करके भी वह उस ब्रह्म सत्य ज्ञान से विपरीत चलने से अपने को बचाता है। ऐसे सच्चे ब्रह्मचारी में क्रमशः सब देवता, सब ईश्वरीय शक्तियाँ अनुकूल हो जाती हैं। जबकि वह अपना सर्वार्पण करता हुआ भी देवों के सत्य नियमों का पूर्णतः पालन करता है तो वे देव उससे एक मन वाले क्यों न हो जायेंगे ? बाहिर के अग्नि, वायु, आदित्य आदि देव उसके वाणी, प्राण, दर्शनेन्द्रिय आदि अन्दर के देवों के साथ समस्वर हो जाते हैं। इस प्रकार बाहिर का पृथ्वी और द्युलोक ही उसके अन्दर ठीक प्रकार धारित हो जाता है। सचमुच जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सभी वास्तव में पिण्ड में भी है। ब्रह्मचारी अपने शारीरिक वीर्य की रक्षा द्वारा जहाँ स्थूल पृथ्वी लोक को अपने में धारण करता है, वहाँ अपने आत्मवीर्य (तेज) की रक्षा द्वारा सब द्युलोक को भी अपने में समाये होता है। धन्य हैं वे ब्रह्मचारी, जो अपने आत्म वीर्य को अपने में अक्षुण्ण स्थापित रखते हुए इसे अधिक-अधिक जागृत करते जाते हैं। ऐसे ही लोगों के प्रताप से यह संसार—यह स्थूल (दृश्य) और सूक्ष्म (ज्ञानमय) संसार, यह पृथ्वी और यह द्यौ—स्थित हैं। परम ब्रह्मचारी भगवान् जो कि वास्तव में सब जगत् के धर्ता हैं, इन्हीं वसु, रुद्र और आदित्य ब्रह्मचारियों को साधन बनाकर जगत् का धारण कर रहे हैं। उस सर्वथा 'अनश्नन्', त्रिकाल में भोगवासना रहित, परमेश्वर से तेज को लेते हुए इन ब्रह्मचारियों में वह आत्म-वीर्य पैदा होता है जिससे कि ये दैवी नियमों का ठीक पालन कर सकते हैं और अतएव जगत् में दैवी नियमों का ठीक संचालन होता है और सब जगत् कायम है। मनुष्यो ! ब्रह्मचर्य की इस परम महिमा को देखो और अपनी परिपूर्ण शक्ति लगाकर महान् ब्रह्मचर्य की तरफ अग्रसर होओ।

(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (उभे रोदसी) दिव और पृथ्वी दोनों लोकों में (इष्णन्) ब्रह्म को खोजता हुआ, चाहता हुआ (चरति) विचरता है (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी में (देवाः) सब दिव्य शक्तियाँ (संमनसः) अनुकूल मन वाली (भवन्ति) हो जाती हैं। अतः (सः) वह (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और द्युलोक को (दाधार) अपने अन्दर धारण करता है, एवं बाहिर के भी इस दोनों लोकों को वह धारण करता है। (सः) ऐसा ब्रह्मचारी (तपसा) इस तप से (आचार्यं) अपने आचार्य को भी (पिपर्ति) परितृप्त करता है, पूर्ण करता है, पालन करता है।

विपश्चिते पवमानाय गायत मही न धारात्यन्धो अर्षति ।
अहिर्न जूर्णामतिसर्पति त्वचं, अत्यो न क्रीडन्नसरद्वृषा हरिः ।

ऋ० 9.86.44, सा० उ० 7.3.4।

उस ज्ञानमय आत्मा के स्तुति गीत गाओ जोकि महा अद्भुत है । यह आत्मा समरस होकर अपने विज्ञानमय, मनोमय तथा प्राणमय विचारों में नानारूप से पवमान हो रहा है । इन आन्तरिक शरीरों में जो लोग आत्मा के इन अदभुत कौतुकों को देख पाते हैं वे आवेश में आकर अवश होकर उसकी स्तुतियाँ गाने लगते हैं । अहो ! मनुष्य अपने ही आत्मा को नहीं जानता । यदि वह इसके सामर्थ्यों, कार्यों और गतियों को जान जाय तो संसार की अन्य सब बाहिरी बातों की प्रशंसायें करना छोड़कर आत्मा के ही स्तोत्रगान में मग्न हो जाय । जब आध्यान द्वारा आत्मा की शक्ति विज्ञानमय शरीर में विशेषतया प्रकट होती है तो मनुष्य में चैतन्य (उच्च ज्ञान) की बाढ़ आ जाती है । जैसे कि कोई बड़ी जलधारा बढ़ने पर अपने तटों को लाँघकर इधर-उधर के क्षेत्र में भी भर जाती है, वैसे ही आत्मा में ज्ञानप्रकाश होने पर वह आत्मा इस स्थूल शरीर को और इन्द्रियों को अतिक्रमण कर जाता है, शरीर से बाहिर भी उसका साक्षात् अनुभव होता है और उसे अतीन्द्रिय ज्ञान हुआ करते हैं। उसके विज्ञानमय आदि आन्तर शरीर परिपक्व हो जाने पर उसके लिए स्थूल देह परम तुच्छ वस्तु हो जाती है । हम तो इस स्थूल देह को छोड़ने का ख्याल करते ही डरते हैं और जब छोड़ना पड़ता है तो रोते चीखते हुए इसे छोड़ते हैं । परन्तु वह जागृत आत्मा स्थूल शरीर को इस तरह आसानी से और स्वभावतः त्याग देता है जैसे कि साँप आन्तर नयी त्वचा के तैयार हो जाने पर जीर्ण हुई केंचुली को सहज में छोड़ जाया करता है । वह जागृत आत्मा तो एक शरीर से दूसरे शरीर में या आन्तरिक संसार में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में इस तरह चला जाता है जैसे कि एक बलवान और गतिशील घोड़ा एक स्थान को छोड़कर दौड़ता हुआ—विहार करता हुआ—दूसरे स्थान पर जा पहुँचता है । वह बलवान आत्मा अपने साथ प्राणों, इन्द्रियों आदि का हरण करता हुआ आनन्द से नये-नये स्थान पर चला जाता है । मरना जीना आदि संसार की सब घटनायें उसे लीला और खेल नजर आती हैं । सचमुच वह खेलता हुआ ही आन्तर संसार में विचरता है, इस स्थूल देह को तो वह सर्वथा भूला सा रहता है जिसके कारण हम मौत से डरते हैं ।

(विपश्चिते) ज्ञानमय (पवमानाय) सोमरूप आत्मा की (गायत) स्तुति गान करो (अन्धः) वह आध्यायनीय आत्मा (महींधारां न) बड़ी जलधारा के समान (अति अर्षति) अपने तटों रूप देह बन्धनों को तोड़कर चला जाता है (अहिः जूर्णां त्वचं न) सांप जैसे अपनी जीर्ण त्वचा को वैसे वह अपने जीर्ण शरीर को (अतिसर्पति) छोड़कर चला जाता है । और (अत्यः न) घोड़े के समान (वृषा हरिः) यह बलवान और गतिशील आत्मा (क्रीडन्) खेलता हुआ (असरत) एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र पर चला जाता है ।

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापति र्मातरिश्वा प्रजाभ्यः।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥

अथर्व० 19.20.2

मुझे अब फिकर नहीं है कि यदि कोई मुझे हानि पहुँचायेंगे तो मैं उनसे कैसे अपने को बचाऊँगा। जो लोग अज्ञान से मुझे अपना शत्रु जानकर मुझे कभी विपद-ग्रस्त करना चाहेंगे तो उनसे बचने के लिए अब मैं न तो जेब में पिस्तौल रखता हूँ, न अंगरक्षकों की तरह किन्हीं साथियों से घिरा रहता हूँ। इसके लिए न तो सार्व-जनिक जीवन में किसी दल (पार्टी) बनाने की आवश्यकता समझता हूँ, नही विरोधी समझे जाने वाले के विरुद्ध कोई प्रचार (प्रोपेगेन्डा) करने की। एवं विरोधियों से बचने के लिए अब कभी मुझे कोई भी योजनायें (Schemes) बनाने और करने की चिन्ता नहीं होती क्योंकि मैंने देख लिया है कि प्रभु ने जो कि इस सब भुवन के पति हैं, रक्षक हैं, उन्होंने हम सब की रक्षा का स्वयं ही पूरा प्रबन्ध कर रखा है। उस प्रजापति ने हम प्रजाओं की रक्षा के लिए सब स्थानों पर दिव्य वर्म (कवच) बना रखे हैं।

इन अदृष्ट कवचों का स्वरूप क्या है? ये हमारे व्यष्टि प्राणों में समष्टि प्राणों द्वारा मिलने वाले हमारे शुभकर्मों के फल रूप हैं। जगतव्यापक सूक्ष्म प्राण, मातरिश्वा या सूत्रात्मा वायु (हमारे अपने पापों से आयी विपत्तियों के अतिरिक्त अन्य) सब क्लेशों, भयों से हमारी निरन्तर रक्षा कर रहे हैं। यदि हमारा भोग नहीं है तो संसार में कोई भी हमारा बाल बांका नहीं कर सकता है। जब हम देखते हैं कि हमें गोली मारने वाले का वार चूक जाता है, हमें हानि पहुँचाने की सब योज-नाओं का ऐसा प्रभाव होता है कि उलटे उनसे हमारा कल्याण हो जाता है, तब उस समय मातरिश्वा प्रजापति के इन अदृश्य कवचों की सत्ता सब को अनुभव हो जाती है। इन्हीं ईश्वरीय कवचों से सदा सुरक्षित देखते हुए ही सत्यनिष्ठ आस्तिक वीर लोग हजारों विरोधियों के बीच में निर्भय विचरा करते हैं। संसार के सब सच्चे आस्तिक पुरुषों को सर्वथा निर्भय, निश्चिन्त बनाने वाले ये ही प्रजापति के कवच हैं। इन्हें न देखकर हम तो यूँ ही हजारों काल्पनिक भयों से पीड़ित तथा उनके प्रति-विधान के लिए सदा चिन्तित रहते हैं। हे भुवनपति! मेरी तुमसे यही प्रार्थना है, यही याचना है कि मेरे लिए तुम्हारे दिये ये कवच सदा बहुत रहें, पर्याप्त रहें। मुझे किन्हीं अन्य निरर्थक दुनियावी कवचों की, रक्षा-साधनों की, जरूरत न हो। मैं सदा तुम्हारे इन्हीं महान दुर्भेद्य, सर्व समर्थ कवचों की रक्षा में रहूँ।

(यः भुवनस्य पतिः) जो इस संसार का पति है उस (मातरिश्वा प्रजापतिः) प्राणस्वरूप, सूक्ष्म प्राणशक्ति द्वारा संसार को चलाने वाले, प्रजाओं के रक्षक ने (प्रजाभ्यः) अपनी प्रजाओं के लिए (यानि) जिन कवचों को (चकार) बनाया है और (यानि) जिन कवचों को (प्रदिशः दिशश्च) ये दिशायें और प्रदिशायें (वसते) पहिने हुई हैं (तानि वर्माणि) वे कवच (मे) मेरे लिए (बहुलानि सन्तु) बहुत होयें, प्रबल होयें, पर्याप्त होयें।

न घा त्वद्रिक् अपवेति मे मनः त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रिय।
राजेव दस्म निषदोऽधि बर्हिषि, अस्मिन् सुसोमे अवपानमस्तु ते ॥

अथर्व० 20.17.2, ऋ० 10.43.2

हे देव ! मैंने संसार में बहुत विहार किया, बहुत इच्छायें—कामनायें पालीं, बहुत भटका परन्तु जब से मेरा मन तेरी तरफ गया है, जब से शास्त्रश्रवण द्वारा, तेरे एक सच्चे भक्त (गुरु) द्वारा तेरे स्वरूप की एक झांकी मुझे मिली है, तब से मेरा मन मुग्ध होकर ठहर गया है। हे दर्शनीय ! तुझे देखकर मैंने सब कुछ पा लिया है। जिस प्यारे अमर तत्त्व को न पा लेने से सब व्याकुलता थी, वही पा लिया है। तेरे स्वरूप ने दीखकर मुझे ऐसा मोहित कर लिया है कि अब मेरा मन हे परम-सुन्दर ! तुझमे जरा देर को भी हटना नहीं चाहता है। मैं अब अन्य किस वस्तु की कामना करूँ ? मेरी सब इच्छा, कामना, अभिलाषा, मनोरथ, सब का तू ही एक आश्रय हो गया है। अब मुझमें दीखने वाली कुछ स्वाभाविक कामनायें भी जिसमें अवलम्बित हैं, वह एक तेरी ही कामना रह गई है। हे मेरे हृदय को सब अन्य काम-नाओं से शुद्ध कर देने वाले देव ! अब तुम मेरे इस निष्काम हृदयान्तरिक्ष को अपने इस मुग्ध करने वाले दृश्यमान स्वरूप से पूरिपूर्ण कर दो, मेरे अन्तःकरण के आसन पर आ विराजो। राजा की तरह मेरे हृदय के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाओ। हे अभीष्ट देव ! तुम मेरे हृदय के शासक, नियन्त्रक, राजा, स्वामी हो जाओ। हे समस्त प्रजाओं द्वारा पुकारे गए पुरुहूत ! मेरे महाभाग्योदय से जब तुम मुझे एक बार मिल गये हो तो मैं तुम्हें क्यों गँवा दूँ ? अतः अब तुम मुझमें स्थिर हो जाओ, आ बैठो। हे दर्शनीय ! तुम्हें एक बार देख लेने पर अब मैं तुम्हें आँखों से क्षण भर के लिए भी ओझल नहीं करना चाहता। अतएव कहता हूँ कि इस मेरे हृदय-कक्ष को अपना निवास स्थान बना लो। हे 'रसेन तृप्त' ! तुम अपने परिपूर्ण स्वरूप के सोमरस से सदा ही तृप्त हो, मैं तुम्हें अपने हृदय में निमन्त्रित करके क्या सुख दे सकूँगा ? परन्तु नहीं, मेरा भक्त मन कहता है तुम्हें भी विशुद्ध हुई आत्मा को देखकर अवश्य सुख तृप्ति मिलती होगी। अतः तुम मेरे हृदय में बैठकर मेरे शुद्ध हुए, उत्तम हुए, आत्मा से स्वभावतः निकलने वाले भक्तिरस का—सुसोम का—आस्वादन करो। अपने उच्च सिंहासन से उतर कर मेरे इस तुच्छ पान को ग्रहण करो। मेरा यह कामनामल से रहित हुआ निर्लेप आत्मा तुम्हारा सोम होकर सर्वभाव से तुम्हें समर्पित है, तुम इसे ग्रहण करो, स्वीकार करो, अपना लो।

[हे इन्द्र] (मे) मेरा (त्वद्रिक् मनः) तेरी तरफ गया मन (न घ अपवेति) अब कभी लौटता नहीं, तुझसे हटता नहीं, (पुरुहूत) हे बहुतों से पुकारे गये ! (कामं) अपनी सब इच्छा मनोरथ कामना को (त्वे इत) तुझमें ही (शिश्रिय) मैंने आश्रित कर दिया है। (दस्म) हे दर्शनीय ! हे परमसुन्दर ! तू (राजा इव) राजा की तरह (बर्हिषि अधि) मेरे हृदयासन पर (निषदः) बैठ जा (अस्मिन सुसोमे) इस उत्तम सोम आत्मा में अब (ते) तेरा (अवपानं अस्तु) अवपान हो, उतर कर पीना हो।

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजो, अयस्मयान् विचृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥
अथर्व० 6.63.2

हे मुझ पर आई हुई भारी विपत्ति ! मैं तुझे नमस्कार करता हूं। मैं जानता हूं कि इस प्रकार संसार में हम पर जो कष्ट, क्लेश, दुःख दर्द आते हैं, वे हमारे भले के लिए, हमें हलका करने के लिए ही आते हैं अतः मैं तेरा स्वागत करता हूँ। हे भारी से भारी विपत्ति ! तुम आओ और मेरे भारी से भारी बन्धनों को, पाशों को, काट जाओ। तुम तो बन्धन काटने के लिए ही आया करती हो। हमने पाप करके अपने आपको बाँध लिया होता है, तुम दुःख भुगा कर हमें उस उस पाप के बंधन से छुड़ा जाती हो। हे विपत्तियो ! तुम तो बड़ी कल्याणकारी मंगलकारी वस्तु हो। हम जो पहिले बड़े-बड़े पाप कर चुके हैं, उनके कारण हमारी उन्नति रुक जाती है, उनके बोझ से हम दब गये होते हैं। जब तक कि वह बोझ न उतर जाय, वह ऋण न अदा हो जाय, तब तक हम आगे बढ़ने से वंचित हो जाते हैं। विपत्तियां तो हमें आगे बढ़ने से रोकने वाली हमारी इन बेड़ियों को काट जाती हैं। इसलिये हे भारी विपत्ति ! तू मुझ पर अपने पूरे तीक्ष्ण तेज के साथ आ। तू मेरे किसी बड़े भारी पाप समूह का फल दीखती है। इसीलिये तू इतने तीक्ष्ण क्लेश संताप वाली है। परन्तु तू आकर मेरी उतने ही बड़े सुदृढ़, उतने ही बड़े कठोर और उतने ही भारी बाधा डालने वाले पाश को काट जा। तेरा जितना ही तीक्ष्ण संताप है, उतनी भारी मेरी बेड़ी कटेगी, यह मुझे विश्वास है। अतएव मैं, हे घोर विपत्ति ! तुझसे घबराता नहीं हूँ। मैं तेरा प्रसन्नता से स्वागत करता हूँ। पहिले भी मुझे कई बार घोर कष्ट आ चुके हैं पर उस सर्वनियन्ता प्रभु ने आज फिर मेरे लिए तुझे भेजा है। पिछली विपदों से भी मैं कुछ हलका हुआ था पर आज उस यम प्रभु ने फिर से मेरे लिए ऐसी भारी विपत्ति को दिया है कि इसकी असह्य तीक्ष्णताओं से तो मेरे वे सब लोहमय दुर्भेद्य पाश जो और किसी तरह कट नहीं सकते थे, वे भी कट जायेंगे। अतः मैं उस मृत्यु रूप प्रभु को भी आज नमस्कार करता हूँ। उसका रुद्ररूप भी शिव होता है, संहारक रूप भी कल्याणकारी होता है, यह मैं जानता हूँ। उसके सुख शान्तिदाता सौम्य रूप को तो मैं सदा नमस्कार करता ही रहा हूँ, पर आज तुझ घोर विपत्ति के भेजने वाले उसके मृत्युरूप को भी नमस्कार करता हूँ। हे उसकी भेजी हुई मेरी विपत्ति ! तू आ, तेरा स्वागत है।

(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ते ! हे भारी विपद् (ते नमः अस्तु) मैं तुझे नमस्कार करता हूँ (तिग्मतेजः) हे तीक्ष्ण तेजवाली ! तू मेरी (अयस्मयान् बंधपाशान्) बड़ी सुदृढ़ बाँधने वाली बेड़ियों को (विचृत) काट डाल। (यमः) नियमन करने वाला परमेश्वर (पुनः इत्) फिर भी (मह्यं) मेरे लिए (त्वां) तुझे (ददाति) दे रहा है (तस्मै) उस (मृत्यवे) मृत्युरूप, संहारक (यमाय) नियमन करने वाले परमेश्वर को भी (नमो अस्तु) मेरा नमस्कार है।

30 श्रावण

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यं असपत्नमेव।
विश्वेदेवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवाः हवमायन्तु मे इमम् ॥

अ० 9.2.7

मैं चाहता हूँ कि मुझमें जो आत्मा का संकल्प बल निहित है, उसके द्वारा मैं सपत्नरहित हो जाऊँ। हर समय जो मुझे अब अपने प्रतिद्वन्द्वियों से लड़ने में लगा रहना पड़ता है, वह मेरी विषम अवस्था हट जाय। इसके बिना मैं देवों के साथ कभी अपना सहज सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता अतः मैं तो संकल्पबल द्वारा अन्य कुछ सिद्ध नहीं करना चाहता, केवल अपने में देवों को स्थापित कर लेना चाहता हूँ और इस प्रयोजन के लिए इससे पहिले इन देवों के सब सपत्नों को, सब प्रतिद्वन्द्वियों को, काम क्रोध आदि को, निर्मूल कर देना चाहता हूँ। यह हो जायगा तो बाकी सब अपने आप सिद्ध हो जायगा। ज्ञान, सत्य, प्रेम, यज्ञ, संयम, धैर्य आदि देव मुझमें सदा बसने ही चाहियें। ये मेरे आत्मा के स्वाभाविक साथी हैं परन्तु इनके मुकाबिले में इन्हें हटाकर मेरे हृदय में प्रमुत्व जमाने के लिए जो निरन्तर अविद्या, अस्मिता, राग (काम), द्वेष (क्रोध), लोभ आदि आते रहते हैं ये ही मेरे प्रतिद्वन्द्वी सपत्न हैं जिन्हें बिना हटाये मुझ में मेरे इन देवों का वास नहीं हो सकता है। अतः मैं अपने प्रबल महान् संकल्प द्वारा इन अविद्या आदि व काम क्रोध आदि सपत्नों को हटा दूँगा। परन्तु संकल्प का अर्थ इच्छा नहीं है। केवल प्रवल इच्छा होने से ये सपत्न नहीं हट सकते हैं। इसके लिये ज्ञान जरूरी है। विना ज्ञान हुए, काम क्रोध आदि को नहीं हटाया जा सकता है। यूँ ही दबाने से ये दबने वाले नहीं हैं, बल्कि हठात् दबाने से तो ये और जोर से उठते हैं। इसके लिए मुझे जरूरत है आत्मसंकल्प की, आत्मा के संकल्प की, 'काम' की। क्योंकि आत्मसंकल्प 'वाजी' होता है, ज्ञान बल से युक्त होता है और यह 'अध्यक्ष' होता है, यह मेरे मूर्धा में ब्राह्मस्थान पर ऊपर आत्मा के साथ स्थित रहता है और वहीं से सब क्रियाओं की अध्यक्षता करता है। यही मनुष्य में एक आत्म बल है; यही सच्चा संकल्प है; इच्छा का नाम संकल्प नहीं है। इस वाजी, अध्यक्ष, आत्मसंकल्प द्वारा गहरे से गहरा बद्धमूल काम क्रोध व रागद्वेष आदि सपत्न उखड़ जायगा। अतः मैं अपनी ज्ञानमय बलवान् अध्यक्ष आत्म-शक्ति को ऊपर से प्रेरित करता हूँ कि यह अपने अदम्य अमोघ बल से काम क्रोध आदि प्रतिद्वन्द्वियों को निवृत्त करके मुझे असपत्न कर दे और तब सब मेरे आत्मीय देव मुझसे सहज सम्बन्ध से जुड़े हुए हो जायें। असपत्न हो जाने पर मेरे संकल्प की इस पुकार से सब के सब दिव्य-भाव मुझमें आ जायें। ये देव मुझमें ऐसे बस जायें, मुझमें ऐसे सम्बद्ध हो जायें कि मैं अपने संकल्प द्वारा जब जिस दिव्यभाव को, जब जिस देव को, उद्बुद्ध करना चाहूँ, उसी समय वह उद्बुद्ध हो जाय।

(मम उग्रः कामः) मेरा प्रबल संकल्प (वाजी) ज्ञान बल से युक्त है और (अध्यक्षः) ऊपर से ठीक ठीक देखने वाला है। यह संकल्प (मह्यम्) मेरे लिए संसार को (असपत्नम् एव) सर्वथा प्रतिद्वन्द्वी रहित (कृणोतु) कर देवे। (विश्वेदेवाः) सब देव (मम नाथं) मेरे सम्बन्ध में (भवन्तु) हो जायें, (सर्वे देवाः) और ये सब देव (मे इमं हवम्) मेरी इस पुकार पर (आयन्तु) आ जायें।

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् ।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वी घृतमावहन्तु ॥

अथर्व० 9.2.11

मेरा संकल्प बल जाग गया है। मनुष्य के संकल्प में बड़ा बल छिपा हुआ है, भगवान् जिस अपने 'काम' से—ईशण-शक्ति से—सब जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं, वह संसार की असीम शक्ति मनुष्य के संकल्प में आयी हुई है, यह बात अब मुझे अपनी संकल्पशक्ति के जागने पर अनुभव हो रही है। मेरे जागे हुए संकल्प बल ने, उस काम ने, सब से पहिले मेरी बाधाओं को, रुकावटों को हटाने में अपनी शक्ति लगाई है। मेरे संकल्प ने काम क्रोध आदि सपत्नों को, रिपुओं को मार गिराया है। इच्छामूलक (वासनामूलक) काम क्रोधादि दुर्भाव ही मेरे एक मात्र सपत्न थे जोकि मेरे आत्ममूलक देवभावों के मुकाविले में आते थे और उन्हें दबाये रखते थे। पर मेरे दृढ़ संकल्प ने इन्हें बड़े यत्न से अब मार दिया है, वेजान कर दिया है। इन बाधाओं को हटाकर मेरे संकल्प ने मुझे एक विस्तृत निर्बाध खुले लोक में पहुँचा दिया है। मेरे लिए एक नया अमित क्षेत्र खुल गया है। मैं बढ़ गया हूँ, इस विस्तृत क्षेत्र भर में फैला हुआ मैं अपने को अनुभव करता हूँ। अब मैं जो संकल्प करता हूँ, वह सीधा वेग से बेरोक-टोक अपने दूर से दूर स्थित लक्ष्य पर जा पहुँचता है और उस पर अपना प्रभाव करने लगता है। जब मैं तृष्णाओं का मारा काम क्रोधादि सपत्नों से आक्रान्त रहता था, तब मैं जो कोई संकल्प किया करता था उनका शीघ्र ही व्याघात हो जाता था, इधर एक निश्चय करता था तो उधर दूसरी तरफ का ध्यान न रहने से उधर से मुझे चोट पहुँचती थी, इस तरह बड़ी मुश्किल में रहता था पर अब मेरे आत्म-संकल्प ने मुझे इनसे ऊपर उठा दिया है और मुझे एक खुले लोक में पहुँचा दिया है। अब मेरे बढ़ते जाते हुए संकल्प बल के सामने कौन ठहर सकता है ? इस विस्तृत लोक में प्रतिष्ठित होकर मैं अब जो संकल्प करूँगा उसे प्रकृति को, सब संसार को पूरा करना होगा। ये विस्तृत छहों दिशायें और चारों उपदिशायें मेरे सामने झुक जावें, इन सब दिशाओं का संसार मेरी संकल्पित वस्तु को क्षरित करने के लिए तैयार रहे। पूर्व में, पश्चिम में, उत्तर में, दक्षिण में, नीचे या ऊपर जहाँ भी मैं अपने आत्म-संकल्प को चलाऊँ, भेजूँ, वहाँ का संसार मेरे संकल्प से क्षरित हुए उस अभीष्ट फल को (घृत को) मेरे लिए उपस्थित कर देवे। संसार में अब ऐसी कौन सी दिशा या स्थान रहा है, जहाँ से कि मेरा महान् संकल्प आत्म संकल्पित वस्तु को क्षरित नहीं कर सकता ?

(कामः) मेरे संकल्प बल ने (मम ये सपत्नाः) मेरे जो प्रतिद्वन्द्वी बाधक हैं उन्हें (अवधीत्) नष्ट कर दिया है, (मह्यं) मेरे लिए (उरुलोकं) विस्तृत खुला हुआ लोक (अकरत्) कर दिया है, (एधतुं [अकरत्]) मेरे लिए वृद्धि व विस्तार कर दिया है। अब (मह्यं) मेरे लिए (चतस्रः प्रदिशः) चारों उपदिशायें (नमन्तां) झुक जायें और (षट् उर्वीः) छहों विस्तृत दिशायें (मह्यं) मेरे लिए (घृतं) क्षरित हुए इष्ट फल को (आवहन्तु) ले आयें।

भाद्रपद (सिंह) के लिए
प्राणदायक व्यायाम

पूर्ववर्णित स्थिति के अनुसार भुजाओं को नीचे लटकाये हुए तथा मुट्ठी बांध कर खड़े हो जाइये। हथेलियाँ बाहिर की तरफ हों। दोनों हाथ तथा पैर तने हुए हों। पेट तक पहुँचने वाला पूर्ण श्वास लीजिये और इसको अन्दर ही रोके रखिये। अब पेट को क्रमशः अन्दर सुकोड़िये और फुलाइये, सुकोड़ने के लिए पेट से वायु को छाती में पहुंचाइये और फुलाने के लिए छाती से वायु को पेट में लाइये।

इस तरह श्वास को अन्दर रोके हुए इस सुकोड़ने तथा फैलाने की क्रिया द्वारा पेट अन्दर और बाहर की तरफ गति करेगा, पिचकेगा और उभरेगा।

श्वास निकालने से पूर्व 8 या 10 बार तक कीजिये। श्वास निकालने के बाद शरीर को ढीला छोड़ दीजिये; और फिर दुबारा तिबारा इसी तरह व्यायाम कीजिये।

ध्यान—यह व्यायाम मेरे पाचक अंगों को शक्ति दे रही है, मेरे सारे शरीर को बड़ा लाभ पहुँचाती हुई प्रभावित कर रही है।

इन पेट और अंतड़ियों को गौणतया ज्येष्ठ, मार्गशीर्ष और फाल्गुन की व्यायाम द्वारा भी लाभ पहुँचता है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुं उत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

अथर्व० 84.22, ऋ० 7.104.22

हे जीव ! तूने दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर भी अभी तक अपने में से पशुताओं को नहीं निकाला है। तुझमें छह प्रकार के पशुत्व अब तक बसे हुए हैं। मनुष्य योनि ही वह उच्च योनि है जिसमें आत्मशक्ति जागृत की जा सकती है अतः तू अब अपने इन्द्रत्व को पहिचान और अपनी आत्म-शक्ति से इन 'षड्रिपुओं' को, छह राक्षसों को, अपने में से विनष्ट कर दे। इनसे अपनी रक्षा करनी चाहिये। अतः ये ही तो असली राक्षस हैं जो तेरे वध्य हैं। तुझमें जो कभी कोकपक्षी की तरह अत्यन्त काम-विकार का राक्षस आता है उसे तू मार डाल। तू तो संयम कर सकने वाला मनुष्य है। तू जो कभी क्रोधाविष्ट होकर अपने भाइयों पर निर्दय अत्याचार कर डालता है, यह तुझमें भेड़ियापन है। जो भी कुछ द्वेष व हिंसा तू करता है, वह सब तुझ मनुष्य में जीवों को मार कर खा डालने वाले भेड़िये का सा आचरण है। और जिस तरह गिद्ध मरते सिसकते प्राणियों के भी मांस पर ही दृष्टि रखता है, उस तरह तुझमें जो दूसरों के नाश पर पुष्ट होने की घृणित, लोभमयी वृत्ति उठती है, यह भी एक बड़ा दुष्ट राक्षस है; तू इसे भी नष्ट कर दे। एवं तू उल्लू के आचरण को भी छोड़ दे। जैसे उल्लू को प्रकाश से घृणा होती है, उसी तरह जो तुझमें तमोमयावस्था में पड़े रहने की प्रवृत्ति है और जहाँ सात्त्विक भाव तथा ज्ञानप्रकाश की चर्चा देखता है, वहाँ से जो तू दूर भागा करता है यह प्रवृत्ति है, इसे तू त्याग दे। इसी तरह 'अहंकार' बड़ा बुरा राक्षस है, बाज (गरुड़) के समान गर्व घमंड के भाव को भी अब तुझे सर्वथा निकाल देना होगा। और तू अब कुत्तापन कब तक करता रहेगा ? कुत्तों की तरह आपस में लड़ना और पराये के सामने दुम हिलाना या जैसे कुत्ता अपने वमन किये को भी चाट लेता है, वैसे व्रत करके त्यागी हुई चीज को भी फिर ग्रहण कर लेना, इस तरह की पशुतायें तू कब तक करता रहेगा ? तू तो इन्द्र आत्म है, तेरी आत्मशक्ति के सामने ये विकार कैसे ठहर सकते हैं ? जैसे दृषत् अर्थात् शिला पर टकरा कर मिट्टी का ढेला चूर चूर हो जाता है वैसे ही, हे आत्मा, हे इन्द्र ! तेरी भी एक 'मही दृषत्' दारणशक्ति है, तू इसे पहिचान।

[हे जीव] (उलूकयातुं) उल्लू के समान आचरण [मोह] को (शुशुलूकयातुं) भेड़िये के चलन [क्रोध] को (श्वयातुं) कुत्ते जैसे व्यवहार [मत्सर] को (उत) और (कोकयातुं) कोक चिड़िया के आचरण [काम] को (जहि) नष्ट करदे। (सुपर्णयातुं) बाज की चाल [मद] को (उत) तथा (गृध्रयातुं) गिद्ध जैसे वर्ताव [लोभ] को भी (रक्षः) इन छहों में से एक एक राक्षस को (इन्द्र) हे आत्मन् ! तू (दृषदा इव प्रमृण) अपनी दारणशक्ति द्वारा इस तरह विनष्ट कर दे जैसे शिला से मिट्टी का ढेला या मिट्टी का वर्तन फूट जाता है।

अहमेतान् शाश्वसतो द्वा द्वेन्द्रं ये वज्रं युधयेऽकृण्वत।
आह्वयमानाँ अव हन्मना हनं दृल्हा वदन्ननमस्यु र्नमस्विनः ।।

अथर्व० 10 47.6

मैं आत्मा अपरिमित बल वाला हूँ पर फिर भी संसार के द्वन्द्व मुझ से युद्ध करने के लिए आते हैं। ये मुझे दबाना चाहते हैं। ये नहीं जानते कि मैं वज्रवाला हूँ, अमोघशक्तियुक्त संकल्प बल रखता हूँ। ये द्वन्द्व बड़े शक्तिशाली दीखते हैं और वास्तव में सब संसार इन्होंने दबा भी रखा है। सब प्राणी गर्मी-सदी, भूख-प्यास, प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व से सताये हुए हैं, सुख-दुःख के द्वन्द्व के चक्र में सब संसार घूम रहा है। सूक्ष्म राग-द्वेष रूप में रहता हुआ यह द्वन्द्व बड़े उच्च पुरुषों का भी पीछा नहीं छोड़ता। पर द्वन्द्वों का यह सब बल तभी तक है, जब तक कि इनका सान्मुख्य मुझ आत्मा से नहीं होता। यद्यपि दो दो (युगल) का नया नया रूप धरकर सब संसार में व्यापा हुआ यह महाबली द्वन्द्व मुझ आत्मा के सामने भी बड़ा बल दिखाता हुआ और ललकारता हुआ आता है पर मेरे सामने उसे सम होना पड़ता है। गर्मी-सर्दी, सुख-दुःख, जय-पराजय, मान-अपमान, इन सब द्वन्द्वों को, इसकी जगह कि ये अपनी द्वन्द्वता में मुझे बांधें, स्वयं अपनी द्वन्द्वता छोड़कर एक होकर सम हो जाना अर्थात् समाप्त होना पड़ता है। ये चाहे कितने बली हों पर अन्ततः ये परिणामी अनित्य प्रकृति के बने हुए हैं। इनमें परिणाम व परिवर्तन आ जाना, इनका झुक जाना स्वाभाविक है। मैं नित्य, अपरिणामी, कभी न झुकने वाला आत्मा हूँ। मैं कैसे दब सकता हूँ ? मेरे तेज, वाग्वज्र, संकल्प बल के सामने इन्हें ही दबना होता है। क्या मनुष्य शीतोष्ण, लाभ-हानि, हर्ष-शोक को सह नहीं सकता ? जिस जिस शरीर में आत्मा इन सब को सहना चाहता है, वहां वहां आत्मा की दृढ़ संकल्पमय सहनशक्ति के सामने ये ठहर नहीं सकते। मैं आत्मा जब दृढ़ता से कहता हूँ कि 'मुझे गर्मी सर्दी नुकसान नहीं पहुँचा सकती' 'मैं सुख से सुखी और दुःख से दुःखी नहीं होऊँगा' 'मैं सिद्धि और असिद्धि में सम रहूँगा' तो मेरे इन दृढ़ वचनों के उच्चारण के साथ चलाए गये मेरे महान् वाक्-वज्र, संकल्पवज्र के सामने ये महाबली द्वन्द्व मर जाते हैं। मेरा यह वज्र अमोघ है। इस वज्र से मैं द्वन्द्व—बलिष्ठ से बलिष्ठ रूप में विद्यमान द्वन्द्व को—मार डालता हूँ। अन्त में मैं सूक्ष्म राग द्वेष की भी समाप्ति कर पूर्ण विजयी हो जाता हूं।

(ये द्वा द्वा) जो ये दो दो करके आने वाले द्वन्द्व (वज्रं इन्द्रं) मुझ वज्र वाले इन्द्र को (युधये अकृण्वत) युद्ध के लिए बाधित करते हैं, (एतान् शाश्वसतः आह्वयमानान् नमस्विनः) उन इन बड़े बलवान् दिखाई देने वाले और ललकारने वाले किन्तु अन्त में झुक जाने वाले द्वन्द्वों को (अहं अनमस्युः) मैं कभी न झुकने वाला (दृल्हा वदन्) दृढ़ वाणियां बोलता हुआ मैं आत्मा (हन्मना) अपने हथियार से, अपनी वाक् शक्ति से या संकल्पबल से (अव अहनं) मार गिराता हूँ।

आ॒कूतिं॑ दे॒वीं सु॒भगां॑ पु॒रो द॑धे चि॒त्तस्य॑ मा॒ता सु॒हवा॑ नो अस्तु ।
यामा॒शामेमि॒ केव॑ली॒ सा मे॑ अस्तु वि॒देय॑मेनां॒ मन॑सि॒ प्रवि॑ष्टाम् ॥

अथर्व० 19.4 2

बहुत बार मैं स्वयं नहीं जानता होता कि मेरा अभिप्राय क्या है । उस अपने आन्तरिक अभिप्राय को स्पष्ट सामने नहीं ला सकता होता । असत्यभाषण, असत्य-चिन्तन करते करते, नाना भयों या रागों के वशीभूत होते रहते मेरा मानसिक व्यापार इतना कलुषित और कृत्रिम हो गया है कि मैं उसकी गड़बड़ में अपने वास्तविक अभिप्राय को ही खो देता हूँ । अपने सच्चे आशय को दूसरों से छिपाते छिपाते, वह मुझसे भी छिप जाता है परन्तु मैं अब इस आत्मवञ्चना की अवस्था को त्यागता हूँ । आज से सदा अपनी आकूति (अभिप्राय, को स्पष्ट सामने लाकर रखा करूंगा । मन की इच्छायें, अभिलाषायें जब बुरी होती हैं, दुर्भगा तथा आसुरी होती हैं, तभी हम प्रायः इन्हें छिपाते हैं। जब ये सुभगा और दैवी होती हैं, जब उत्तम ऐश्वर्यों की इच्छा या सबके भले की कल्याणी इच्छा होती हैं, तब भी यदि हम इन्हें छिपाते हैं तो केवल निर्बलता के कारण या किन्हीं झूठे भय व लज्जा के कारण ही ऐसा करते हैं । अतः जब कि मेरी आकूति सुभगा और देवी है तो मैं क्यों डरूं ? क्यों छिपूं ? मैं तो अब इसे सामने स्पष्ट रखता हूँ । मैं आज से अपने जीवन को इतना सच्चा बनाता हूँ, अपने मानसिक क्षेत्र को सत्यज्ञान के प्रकाश से ऐसा प्रकाशित रखता हूँ कि अब मैं मन में घुसी हुई अपनी इस अभिप्राय देवता को हे प्रभो ! जब चाहूँ तब तुरन्त जान सकूं, पा सकूं, निकाल सकूं । मन (अन्तःकरण) का जो निचला 'चित्त' नामक भाग है जहाँ कि विचार अभिप्राय सुप्त रूप में पड़े रहते हैं या यूं कहना चाहिये कि जो चित्त इनका बना हुआ है (जिस चित्त की अभिप्राय माता है) उस स्थान से जब मैं चाहूँ तभी अपने अभिप्राय को पुकार कर ला सकूं । आकूति मेरे लिए सदा सुहवा होये, सुगमता से पुकारने योग्य होये । जब आवश्यकता हो, तब मैं उसे पुकार कर वैखरी वाणी के रूप में लाकर खड़ा कर सकूं । हे प्रभो ! अब मेरी मनोराज्य की सब अव्यवस्था गड़बड़ दूर कर दो । मैं जब जिस आशा व इच्छा को लेकर चलूं, जिस दिशा में चलूं तब वही केवल अकेली आशा (इच्छा) मेरे सामने रहे, शुद्धरूप में वही प्रकाशमान रहे ; और सब गोण विचार (इच्छायें) गड़बड़ न मचाते हुए यथा-स्थान पीछे रहें । यदि ऐसी व्यवस्था स्थापित हो जायगी तो मेरी सब आकूतियाँ (अभिप्राय) संकल्पशक्ति बन जायेंगी और वे पूर्ण व सफल हुआ करेंगी ।

(सुभगां) उत्तम ऐश्वर्य विषयक (आकूतिं देवीं) अभिप्राय देवता को (पुरो दधे) मैं सामने रखता हूँ, वह (चित्तस्य माता) चित्तभाग की माता, निर्मात्री, बनाने वाली, आकूति (नः सुहवा अस्तु) मेरे लिए सुगमता से बुलाने योग्य होवे । (यां आशां एमि) मैं जिस आशा को करूं, जिस दिशा में आऊं (सा मे केवली अस्तु) वही केवल शुद्धरूप में मेरे सामने होये । (मनसि प्रविष्टां) अन्तःकरण में घुसी हुई (एनां) इस अभिप्राय देवता को (विदेयं) मैं सदा जान सकूं, पा सकूं ।

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः।
अभीशूनां महिमानं पनायत मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः ।।

ऋ० 6.75.6, यजु० 29.43

रथ में पीछे बैठा हुआ भी सारथि आगे आगे चलने वाले घोड़ों को ऐसा काबू रखता है, अपने वश में रखता है कि उन्हें जिधर चाहता है, उधर ही ले जाता है। यह कुशल सारथि की महिमा है। पर पीछे बैठा सारथि आगे लगे हुए घोड़ों से जिस साधन द्वारा अपना सम्बन्ध जोड़े रखता है, जिस साधन द्वारा दूर से ही उन्हें काबू रखता है, असल में तो उस साधन की अर्थात् अभीशुओं (बागडोर) की स्तुति करनी चाहिये। ये रश्मियां (रासें) ही हैं जो कि घोड़ों को सारथि की इच्छा अनुकूल संयत रखती हैं; घोड़ों को लगाम लगाये रखती हैं। क्या तुमने इन (अभीशुओं) बागडोरों के महत्त्व को समझा ? पर ये तो बाहरी अभीशु या रश्मियां हैं। असली रश्मियां तो वे हैं जो कि मन नामक आन्तर ज्योति की वृत्ति रूप किरणें हैं। अन्तरात्मा रूपी सूर्य की किरणें ही वास्तविक अभीशु या रश्मियां हैं जिनके द्वारा वह अन्दर का देव बाहर के साथ सम्बन्ध जोड़े हुए है और अपने सब बाह्य जगत् को वश में रख रहा है। वेद ने तो कहा है कि यह मन देव ही है जो कि कुशल सारथि की तरह सब मनुष्यों को घोड़ों की तरह इधर उधर लिये फिरता है (यजु० 34.6)। वास्तव में यह पीछे बैठा हुआ अन्तरात्मा (मनोदेव) अपनी रश्मियों द्वारा ही अपनी वृत्तियों व संकल्पों द्वारा ही आगे बैठे हुए और स्वतन्त्र दीखने वाले सब बाह्य जगत् को चला रहा है। हे मनुष्यो ! इन मनोवृत्तियों, मनःसंकल्पों की महिमा को अनुभव करो। इन रश्मियों को, इन बागडोरों को दृढ़ता से अपने हाथों से पकड़ कर कुशल सारथि की तरह अपने आप को चलाओ, अपने आप पर शासन करो; अपने शरीर को, अपने हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियों और अपनी ज्ञानेन्द्रियों को जुड़े हुए अपने घोड़ों की तरह अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहो, वहाँ ले जाओ और जहाँ न चाहो, वहां न ले जाओ। वास्तव में इन रश्मियों को हाथ में रखकर तुम जो चाहो, वह कर सकते हो। बस केवल इन मनोवृत्तियों, मनःसंकल्पों को दृढ़ता से पकड़ लेने की देर है। फिर तुम अपने आपको जहाँ जैसा चलाना चाहोगे वैसे ही तुम्हारी इन्द्रिय आदि सबको चलना होगा। तुम आत्मवशी हो जाओगे। और तब तुम देखोगे कि तुम जहाँ अपने आपको जैसा चाहते हो वैसा हिलाते हो वहाँ अपने सब बाह्य संसार को भी जैसा चाहते हो वैसा हिला रहे हो। यह सब अभीशुओं की, रश्मियों की महिमा है।

(रथे तिष्ठन्) रथ पर पीछे बैठा हुआ (सुषारथिः) अच्छा सारथि (पुरः) आगे लगे हुए, आगे आगे चलने वाले (वाजिनः) घोड़ों को (यत्र यत्र कामयते) जहाँ जहाँ चाहता है वहाँ (नयति) ले जाता है। (अभीशूनां) बागडोरों की या मन की वृत्ति रूप किरणों की (महिमानं) महिमा की (पनायत) स्तुति करो। क्योंकि (पश्चात्) पीछे लगी हुई भी ये (मनः) मन [सारथि] की (रश्मयः) रश्मियाँ, रासें, आगे लगे हुए घोड़ों को (अनुयच्छन्ति) अपने अनुकूल संयत रखती हैं।

5 भाद्रपद

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो अस्माकं मन्यो अधिपा भवेह ।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥

ऋ० 10.84.5, अथर्व० 4.31.5

हे मन्यु ! हम चाहते हैं कि तू हमारे अन्दर रहे, हमारे अन्दर उत्पन्न हुआ करे। हे मन्यु ! तू देव है। तू हममें निवास कर। यद्यपि क्रोध भी तुझ मन्यु से मिलती जुलती सी चीज है, पर असल में क्रोध में और तुममें आकाश पाताल का फर्क है। हे मन्यु ! तुम देव हो, पर क्रोध असुर है। तुम दोनों का उद्भव स्थान ही बिल्कुल उलटा है। हे मन्यु ! हम तेरे उद्भवस्थान को जानते हैं, उस स्रोत को जानते हैं जहाँ से कि तू निकलता है। निर्मल मन के मूल में विद्यमान जो विशुद्ध आत्मा है, वह तेरा स्रोत है। वहां से तेरा उद्भव होता है। इसलिये तू देव है। क्रोध का उद्भव तो विकार युक्त मन से होता है, द्वेषदूषित मन से होता है, दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना से होता है। क्रोध में मनुष्य स्वयं पागल हो जाता है, विवेकहीन हो जाता है। दूसरे को हानि-लाभ पहुँचाने की वास्तविक शक्ति क्रोध में नहीं होती। क्रोध निर्वीर्य होता है। पर हे मन्यो ! तुम तो एक बड़ी प्रबल शक्ति हो, तुम विजय लाने वाली दैवी शक्ति हो। विशुद्ध आत्मा के स्रोत से जो एक इच्छा-सी उठती है, जो एक राग द्वेष से शून्य इच्छा होती है, जो पाप को हटाने के लिए एक शान्त गम्भीर प्रबल प्रेरणा होती है, वह एक अद्भुत शक्ति होती है। और वही हे मन्यो ! तुम्हारा स्वरूप है। उस रूप में तुम जो चाहते हो, उसे कोई रोक नहीं सकता। तुम जो बोलते हो, उसे कोई दबा नहीं सकता, नीचा नहीं कर सकता। इन्द्र (आत्मा) ही की तरह तुम्हारी आवाज भी अदम्य है। तुम्हारे आगे कोई ठहर नहीं सकता। तुम पाप को जड़ से उखाड़ फेंकते हो। इसलिये हे मन्यो ! इस संसार में, इस जीवन-संग्राम में तुम मेरे अधिष्ठाता होकर मेरी रक्षा करते रहो। तुम 'सहुरि' हो, तुममें असीम सहनशीलता है। तुम्हें 'सहुरि' इस नाम से पुकारना मुझे बड़ा प्रिय है। जहां क्रोध जरा भी सहन नहीं कर सकता वहां तुममें अनन्त सहनशक्ति होती है; इसी कारण से तुम अजेय हो, अन्त में अवश्य ही विजय लाने वाली अखण्डनीय शक्ति हो। हम तुम्हें पुकारते हैं। जब जब संसार में पाप अत्याचार के विनाश के लिए तुम्हारी जरूरत हो, तब तब तुम मेरे विशुद्ध आत्मा में से आ प्रकट होती रहो।

(मन्यो) हे मन्यो ! (तं उत्सं विद्म) हम उस स्रोत को जानते हैं (यतः आबभूथ) जहां से तुम उत्पन्न होते हो। तुम (विजेषकृत्) विजय करने वाले हो और (इन्द्रः इव अनवब्रवः) इन्द्र 'आत्मा' की तरह तुम भी कभी न दबायी जा सकने वाली आवाज वाले हो। (इह अस्माकं अधिपा भव) तुम इस संसार में हमारे अधिष्ठाता पालक होओ। (सहुरे) हे सहुरि ! हे सहनशील ! (ते प्रियं नाम गृणीमसि) हम इस तेरे प्यारे नाम से तेरी स्तुति करते हैं।

न वा उदेवाः क्षुधमिद् वधं ददुः, उताशितमुपगच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोपदस्यति, उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ।।
ऋ० 10.117.1

देवों ने मनुष्य को भूख क्या दी है, एक मौत दे दी है । दुनियां भूख के मारे, बेरोजगारी गरीबी के मारे मरी जा रही है । इसलिये दूसरे को खिलाकर खाना, गरीबों के पेट के सवाल को हल करना वास्तव में बड़ा भारी पुण्य है, बड़ा भारी कर्त्तव्य है । यह मरने से बचाना है । पर इसका यह मतलब नहीं कि भूख और गरीबी का ही कोई मरने से सम्बन्ध है । परमेश्वर ने केवल भूख रूप में ही मौत नहीं दी है किन्तु जो खूब खाते पीते अमीर लोग हैं, उन पर भी उनकी मौत नाना प्रकार से पहुँचती है । ऐसा अमीर से अमीर कौन मनुष्य है जो मरेगा नहीं ? अतः दूसरे बेशक कहीं भूखे मरते हों, मेरा तो पेट भर रहा है इस तरह निश्चिन्त हो जाना मूर्खता है । जिसके पास है, उसे जरूरत वाले को देना ही चाहिये । हम अकेले नहीं हैं किन्तु हमारा जीवन सम्पूर्ण जनसमाज के साथ जुड़ा हुआ है । यदि हम इतना समझते हों तो हमारा यह डर हट जावे कि दूसरे को दान देने से हमारा धन घट जायेगा । हम जिस पात्र को धन देते हैं, वह हम ही हैं और उस दान से जो एक आवश्यकता पूरी होती है, उससे हमारी उन्नति होती है और अन्त में हमारा वैयक्तिक सुख और धन भी बढ़ता है । हम रोज देखते हैं कि जो जरूरत पर देता है, उसे जरूरत पर उदारतापूर्वक मिलता है । जो न देने वाले होते हैं, वे समाज से कटे हुए से रहते हैं, उनका न कोई मित्र होता है, न उन्हें कोई सुख सहायता पहुँचाने की आवश्यकता समझता है । मनुष्य धन से नहीं जीता है । जिनके बिना वह रह नहीं सकता, वह तो ज्ञान, बल, सुख, सौहार्द, प्रेम आदि अत्यन्त मूल्यवान् वस्तुएँ हैं । इसलिये यद्यपि इतना ठीक है कि संसार में भूखे के साथ पेट भरे भी मरते ही हैं और दान देने वाले और न देने वाले दोनों प्रकार के पेट भरे मरते हैं; तो भी भेद यह है कि देने वाले को तो ये अमूल्य जीवनदायी सम्पत्तियां मिलती हैं और उसका धन भी घटता नहीं, पर न देने वाला पुरुष इनसे वंचित होकर अपना सुखहीन संकुचित मुर्दा सा ही जीवन बिताता है ।

(देवाः) देवों ने (न वै उ) न केवल (क्षुधं इत्) भूख ही भूख के रूप में ही (वधं) मौत (ददुः) दी है (उत) अपितु (आशितं) खाते-पीते अमीर को भी (मृत्यवः) नाना तरह से मौत (उपगच्छन्ति) आती हैं । (उत उ) और (पृणतः) देने वाले की (रयिः) धन सम्पत्ति (न) नहीं (उपदस्यति) क्षीण होती, कम होती (उत) अपितु (अपणन्) जो दान न देने वाला है वह कभी (मर्डितारं) अपने किसी सुख देने वाले को (न विन्दते) नहीं पाता, नहीं प्राप्त करता ।

अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशत्, व्रतानि देवः सविताभिरक्षते।
प्रास्राग् बाहू भुवनस्य प्रजाभ्यो, धृतव्रतो महो अज्मस्य राजति॥

ऋ० 4.53.4

सविता देव के परम शासन को देखो ! यह धृतव्रत देव इस महान् ब्रह्माण्ड पर कैसे हुकूमत कर रहा है, यह देखो ! इस 'अदाभ्य' सच्ची सरकार के कुछ सच्चे कानून हैं, व्रत हैं, जिन्हें कि कभी दबाया नहीं जा सकता। ये व्रत, कानून इस संसार में अखण्ड, अटल, परिपूर्ण रूप से चल रहे हैं, वह अपने इन व्रतों की सब तरह सतत रक्षा कर रहा है, इसलिये उसकी यह सरकार परिपूर्ण और अखण्ड चल रही है। इन व्रतों की सतत रक्षा के लिए उसने इस विश्व के सब भुवनों को, सब क्षेत्रों को प्रकाशित किया है, ज्ञान-प्रकाश से युक्त किया है। बिना ज्ञानप्रसार किये, बिना सत्य ज्ञान को आधार बनाये कोई भी कानून नहीं रक्षा पा सकता, नहीं चलाया जा सकता और फिर उसका यह ज्ञानप्रसार भी इतना परिपूर्ण है तथा इतना प्रेममय और सर्वगत है कि उसने अपने इस ब्रह्माण्ड के राज्य की एक एक प्रजा तक—एक एक जीव तक अपनी ज्ञानकिरणों की प्रेममय बाहुओं को फैला रखा है और इन्हीं प्रेममय बाहुओं द्वारा वह प्रत्येक प्रजाजन के अन्दर घुस कर अपने कानून का पालन करवा रहा है। पर उसके ये व्रत जो इतने परिपूर्ण अखण्ड रूप से चल रहे हैं, इसका सबसे बड़ा और मूल कारण तो यह है कि उसने स्वयं इन व्रतों को अपने में परिपूर्णतया धारा हुआ है, वह स्वयं धृतव्रत है। वह व्रतमय है। वह इन व्रतों का धारक महासूर्य है। हमें इस संसार में जो सत्य नियमों के रूप में ये व्रत दिखाई देते हैं, वे तो उसी की किरणें मात्र हैं जो कि उस व्रत-महासूर्य से कोटि कोटि प्रलयों तक, अनन्त काल तक हम पर आती रहेंगी और हम जीवों को नित्य नया जीवन, ज्ञान, और बल देती रहेंगी।

आओ, हम उसकी फैली हुई इन प्रकाशयुक्त प्रेममय बाहुओं का संस्पर्श सदा अनुभव करते रहें और उसकी प्यारी प्रजा बनी रहें।

(सविता देवः) सर्वप्रेरक देव (भुवनानि प्रचाकशत्) भुवनों को ज्ञान से प्रकाशित करता हुआ (अदाभ्यः) अदम्य, न दबने वाला होकर (व्रतानि) संसार में अपने सत्यनियमों की, कानूनों की (अभिरक्षते) पूरी तरह रक्षा कर रहा है। उसने (भुवनस्य) संसार की (प्रजाभ्यः) सब प्रजाओं के लिए (बाहू) अपने बाहू (प्रास्राक्) फैलाए हुए हैं, इस तरह वह (धृतव्रतः) धृतव्रत होकर (महः अज्मस्य) इस महान् जगत् पर (राजति) राज्य कर रहा है।

8 भाद्रपद

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसा पश्यमन्तितः तं माता रेलि स उ रेलि मातरम्॥

ऋ० 10.114.4

संसार में आया जीव क्या है? यह एक सुपर्ण पक्षी है जो कि अन्तरिक्ष समुद्र में विहार करने आया हुआ है। यह अपने ज्ञान और कर्म के पंखों से इधर-उधर उड़ता हुआ इस सब भुवन को विविध प्रकार से देखने का मजा ले रहा है। संसार सागर में मनोमयादि सूक्ष्म संसारान्तरिक्ष में एक योनि से दूसरी योनि में भोग भोगने के लिये फिरता हुआ और वहां विविध प्रकार के भोगों को प्राप्त करता हुआ यह जीव गति कर रहा है, उड़ रहा है। अभी तक जीव को मैं इसी संसाराकाश के विहारी सुपर्ण के रूप में देखता रहा हूँ, पर आज समीपता से देखा है, ज्ञानपरिपक्व हुए मन से इसे समीपता से देख रहा हूँ, तो इस जीवप्रकृति-संयोग को मैं और ही रूप में देख रहा हूँ। मैं देख रहा हूँ कि उसे माता चूम रही है और वह माता को चाट रहा है। प्रकृति माता—मैं कहूँगा परमेश्वरी प्रकृति—जीव से प्रेम कर रही है और जीव इस माता से सुख पा रहा है। जीव के प्रकृति से जुड़ने का, जीव के संसार में आने का यही रहस्य है। कई ऋषि कहते हैं कि जीव और प्रकृति का संयोग लूले और अन्धे का संयोग है, पर यह बात शायद परमेश्वरहीन प्रकृति के विषय में होगी। परमेश्वरी प्रकृति तो अन्धी नहीं है। मुझे तो यह सम्बन्ध माता और पुत्र का लगता है। इसलिये यह सम्बन्ध केवल भोग में नहीं किन्तु अपवर्ग में (अपवर्ग के भोग में) भी बना रहता है। पुत्र माता के बिना नहीं रह सकता और मात्रा पुत्र को चाहती है। ऋषि ने ठीक कहा है 'पृथ्वी सब भूतों को मधु है और सब भूत पृथ्वी को मधु हैं।'+ वास्तव में दोनों एक दूसरे से सुख पा रहे हैं और एक दूसरे को सुख दे रहे हैं। क्या हम ही प्रकृति से सुख पाते हैं और प्रकृति हमसे सुख नहीं पाती? नहीं। ज़रा प्रकृति को बेजान मत समझो, प्रकृति को 'परमेश्वर की प्रकृति' के रूप में देखो।

(एकः सुपर्णः) एक सुपर्ण पक्षी है (सः) वह (समुद्रं) इस संसारान्तरिक्ष के समुद्र में (आविवेश) आया है (सः) [अन्तरिक्ष में विहार करता हुआ] (इदं विश्वं भुवनं) इस सम्पूर्ण संसार को (विचष्टे) विविध प्रकार से देखता है, इसका मजा लेता है। परन्तु (तं) उसे (पाकेन मनसा) परिपक्व ज्ञान वाले मन से (अन्तितः) समीपता से (अपश्यं) देखा है तो मैं देखता हूँ कि (तं) उसे (माता) माता (रेलि) चूम रही है (सः उ) और वह (मातरं) माता को (रेलि) चाट रहा है।

+ प्रसिद्ध मधुविद्या के ऋषि दध्यङ् आथर्वण के ये वचन हैं, देखो बृह० उ० 2 अध्याय का पञ्चम ब्राह्मण

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह ।
सा नो दुहीयद् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥
ऋ० 10.101.9

हे देवो ! मैंने तुम्हारी कामधेनु को जान लिया है। मैंने देख लिया है कि सचमुच इस धेनु से मैं अपनी सब कामनायें दुह सकता हूँ। वह कामधेनु 'यज्ञिया धीः' है, यज्ञपरायणा बुद्धि है। इस यज्ञबुद्धि को पाकर—इस दिव्य, सर्वपूजित यज्ञपरायणा बुद्धि को पाकर—मैं क्या नहीं पा सकता ? क्या कृष्ण भगवान् ने भी अर्जुन को नहीं सुनाया था कि प्रजापति ने हम प्रजाओं के साथ ही यज्ञ-भावना को पैदा करके हमें कह दिया है 'अनेन प्रसविष्यध्वं, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'। हममें यज्ञ भावना को पैदा करने वाले उस प्रजापति परमदेव की यह आवाज मैं तो आज भी सुन रहा हूँ 'इस यज्ञबुद्धि द्वारा तुम सब कुछ उत्पन्न करो, यह तुम्हारी सब इष्ट कामनाओं को दुहने वाली होवे।' परन्तु मुश्किल यह है कि यज्ञभावना मुझमें स्थिर नहीं रहती, बहुत बार स्वार्थभावना इसे दबा देती है। इसलिये मैं इसे फिर-फिर अपने अन्दर लाता हूँ, यज्ञ के सर्वहितकारी, स्वार्थसंहारी, संगमनकारी स्वरूप को बार बार हृदय में स्थापित करता हूँ। इस भाव का सतत चिन्तन व जप करता हूँ।

सचमुच इसके बिना हम मनुष्यों का रक्षण व पालन नहीं हो सकता। यही देखकर हम लोग इस धेनु को अपने अन्दर लाना चाहते हैं। हमारी सांसारिकता, स्वार्थबुद्धि बहुत बार इसे बिदका कर भगा देती है, तब हम सर्वहित चिन्तन द्वारा इसे फिर लाते रहते हैं। हे देवो ! अब तो यह 'यज्ञिया धीः' रूपी धेनु हममें स्थिर हो जावे और जौ के हरे खेत खाकर आयी बड़ी गौ की तरह हमें अपने दूध की सहस्रों धाराओं से परिपूर्ण कर देवे, परिपूर्ण कर देवे।

(देवाः) हे देवो ! मैं (वः) तुम्हारी (देवीं) दिव्य (यजतां) पूज्य (यज्ञियां) यज्ञ परायण (यज्ञियां धियं) यज्ञिय बुद्धि को, यज्ञ भावना को, (ऊतये) अपने रक्षण पालन के लिए (इह) अपने जीवन में (आवर्ते) फिर फिर लाता हूं, स्थापित करना चाहता हूँ। (सा) वह यज्ञिय बुद्धि (यवसा गत्वी इव) जैसे जौ के खेत में जाकर आई हुई (सहस्रधारा मही गौः) दूध की सहस्रों धारा देने वाली बड़ी भारी गौ (पयसा) हमें दूध से भर देती है वैसे (नः) हमें (दुहीयत्) प्रपूरण कर देवे, हमारी सब कामनाओं को पूरण कर देवे।

स दर्शतश्रीरतिथिर्गृहेगृहे वनेवने शिश्रिये तक्ववीरिव ।
जनंजनं जन्यो नातिमन्यते विश आक्षेति विश्यो विशंविशम् ॥

ऋ० 10.91.2

अग्निदेव की विभूति देखो ! अग्नि घर घर में जल रहा है, अग्निहोत्री पुरुष अतिथि की तरह प्रात सायं इस अग्नि को अपने घर में उद्‌बुद्ध और सत्कृत कर रहे हैं तथा दिव्य लाभ पा रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्रदीप्त इस स्थूल अग्नि से जो अन्य अनगिनत सांसारिक कार्य्य और उपकार हो रहे हैं, उन्हें भी हम सब जानते हैं पर यह अग्नि अपने सूक्ष्म अप्रदीप्त रूप में तो प्रत्येक जंगल में, प्रत्येक वृक्ष में, प्रत्येक समिधा में भी चोर की तरह छिपा बैठा है। प्रत्येक लकड़ी में ही नहीं किन्तु पानी में, किरण में, प्रत्येक सेवनीय पदार्थ में छिपा हुआ है और वैज्ञानिक लोग इस प्रत्येक वस्तु में व्यापक भौतिक अग्नि का असंख्यों प्रकार से उपयोग ले रहे हैं। पर भौतिकी के वैज्ञानिक भी जिस सूक्ष्मता में नहीं घुस पाते, उसमें घुस कर देखें तो हमें दीखता है कि ये अग्निदेव प्रत्येक जीवित प्राणी में भी उसका जीवन (Life) और आत्मा होकर विराजमान हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व को बनाता हुआ यह अग्नि जन-जन में बैठा हुआ है। इसी के कारण प्रत्येक जन अपने व्यक्तित्व में बँधा हुआ है, अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण नहीं कर सकता है। इस आत्माग्नि की ही अनन्तप्रकारता को हम देखने लगें और इस अग्नि की विविध किरणों और रूपों को देखने लगें तो इसका ही हम पार न पा सकें। परन्तु इस जन्य (जन हितकारी) अग्नि के अतिरिक्त अन्य भी रूप यह अग्नि धारण करती है। यह अग्नि एक विश में, एक प्रजा में, एक जनसमूह में भी निवास करती है। एक एक प्रजाजन में बस कर भी उसका अतिक्रमण करके यह अग्नि सम्पूर्ण प्रजा की हितकारी, विश्य अग्नि होकर सम्पूर्ण प्रजा का जीवन व आत्मा भी बनती है। यही विश्य अग्नि समाजाग्नि व राष्ट्राग्नि के रूप में प्रकट होती है, जिसमें कि बड़े-बड़े जनसमूह भी समय आने पर आत्महवन किया करते हैं। इस तरह इस अग्निदेवता की विभूति अनन्त प्रकार से दर्शनीय है, इसका पार वाणी नहीं पा सकती।

(दर्शतश्रीः) दर्शनीय विभूति वाला (सः) वह अग्निदेव (गृहे-गृहे) घर-घर में (अतिथिः) अतिथि बना हुआ है और (वने-वने) वन-वन में, हरेक वस्तु में (तक्ववीः इव) चोर की तरह (शिश्रिये) छिपा पड़ा है। (जन्यः) जन-हितकारी रूप में वह अग्नि (जनं-जनं) व्यक्ति-व्यक्ति में ठहरा हुआ (न अतिमन्यते) व्यक्तित्व का अतिक्रमण नहीं करता और (विश्यः) सम्पूर्ण प्रजा के हितकारी रूप में वह अग्नि (विशं विशं) एक-एक प्रजाजन में बसता हुआ (विशः) सम्पूर्ण प्रजा में (आक्षेति) निवास करता है।

सुदक्षो दक्षैः क्रतुनासि सुक्रतुः, अग्ने कविः काव्येनासि विश्ववित् ।
वसुर्वसूनां क्षयसि त्वमेक इत् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः ॥
ऋ० 10.91.3

हे परम अग्ने, हे परमेश्वर ! इस जगत् की नानाविध अग्नियों से जो नाना प्रकार के बल प्रकट हो रहे हैं, वे सब असल में तेरे ही बल हैं । भेद इतना है कि इनके ये अपूर्ण बल तो बहुत बार दूषित बल होते हैं पर इनके मूल में रहने वाला तू सदा परिपूर्ण बली और शोभन बली है । इसी तरह जगत् की भौतिक अभौतिक अग्नियों द्वारा जो निरन्तर अनगिनत क्रियायें और चेष्टायें की जा रही हैं, वे भी असल में तुझ सुक्रतु से, तुझ शोभनकर्मा से, ही प्रवाहित हो रही हैं । तुझ से तो ये सब कर्मप्रवाह निर्मल रूप से ही निकल रहे हैं किन्तु आगे चलकर ये नाना प्रकार से मलिन और दूषित हो जाते हैं और जगत् में जो बहुत सी आत्माग्नियां, जनाग्नियां अपने थोड़े बहुत ज्ञान से, क्रान्तदर्शी ज्ञान से, कवित्व से प्रकाशित हो रही हैं, उनका भी कारण तू ही परिपूर्ण और सर्वज्ञ कवि है । संसार के ऊँचे से ऊँचे कवि ज्ञानी तेरे ही अक्षय नित्य काव्य से, तेरे ही ज्ञान महाग्नि से चिनगारियां प्राप्त करके चमक रहे हैं । यही नहीं, किन्तु सब वसुओं का वसु, सब धनों का धन तू ही है । इस सम्पूर्ण द्यावापृथिवी में जो वसु, जो ऐश्वर्य उपजते हैं– द्युलोक के ऊँचे से ऊँचे अकल्पनीय आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा भूलोक के सब भौतिक ऐश्वर्य—ये सब तुझमें ही निवास करते हैं । इन वसुओं का वासक—एकमात्र वासक—तू ही है । हम नासमझी से समझते हैं कि ऐश्वर्य उस उस लोक के हैं, किसी और के हैं । इसलिये, हे सब बलों से सुबली ! हे सब कर्मों के शोभन आधार ! हे परमकवि ! हे सब रत्नों के भण्डार ! तुम्हें हमारा बार बार नमस्कार है ।

(अग्ने) हे अग्ने ! तू (दक्षैः) बलों से (सुदक्षः) शुभ बल वाला, (क्रतुना) कर्म से (सुक्रतु) शोभन कर्म वाला (असि) है और (काव्येन) अपने काव्य से (विश्ववित् कविः) सर्वज्ञ कवि (असि) है । (वसूनां वसु) वसुओं का भी वसु [वासक] धनों का धन होकर, (यानि) जिन ऐश्वर्यों को (द्यावा च पृथिवी च) सम्पूर्ण द्युलोक और पृथिवी लोक (पुष्यतः) उपजाते हैं, बढ़ाते हैं उन सब ऐश्वर्यों को (त्वं) तू (एक इत्) अकेला ही (क्षयसि) अपने में बसाता है ।

धृतव्रताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः ।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहः, अपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये ।।
ऋ० 10 66 8

असल में प्रत्येक संग्राम पाप का विनाश करने के लिए ही लड़ा जाना चाहिये । इसीलिये संग्राम का वैदिक नाम 'वृत्रतूर्य' होता है । पर ऐसे पवित्र संग्राम को लड़ने का अधिकारी हर कोई नहीं हो सकता है । क्या तुम भी चाहते हो कि तुम किसी 'वृत्रतूर्य'* में सैनिक बन सको ? तो तुम्हें अपने आपको निम्न प्रकार आठ गुणों से विशिष्ट बनाना होगा ।

[1] सब से पहिले इस पवित्र कार्य के लिए व्रत को या व्रतों को धारण करो और उन पर अडिग रहो, धृतव्रत होओ [2] सच्चे क्षत्रिय अर्थात् क्षत से त्राण करने वाले होओ । पीड़ित लोगों की रक्षा करने के भाव से ही युद्ध में प्रवृत्त होओ [3] यज्ञ के, स्वार्थत्यागमय और सर्वहितकारी कर्म के करने वाले, सर्वात्मभाव से करने वाले बनो; अपने पवित्र संग्राम को भी यज्ञ ही समझ कर करो । [4] बड़े दीप्तिमान् बनो, तप ब्रह्मचर्य आदि द्वारा महान् तेज का अपने में संग्रह करो [5] तुम्हारी शोभा तुम्हारा अहिंसामय व्यवहार होवे । तुम सर्वथा अहिंसामय, यज्ञिय, प्रेमभरे कर्मों के सेवन करने वाले होओ और इसके लिए प्रसिद्ध होओ । [6] अग्नि-होत्र करने वाले, अग्निदेव को अपने में आह्वान करने वाले बनो [7] पूरे सत्यनिष्ठ होओ, ऋतु के साथ सत्यनियम के साथ अपने आपको एक कर दो । सर्वथा सत्य का ही सेवन करो [8] और अद्रोही होओ । तुम्हारे व्यवहार से कभी किसी को धोखा न पहुँचे, तुम्हारा मन कभी किसी का बुरा न चाहे । जो इस प्रकार के वीर महानु-भाव होते हैं, वे ही पवित्र 'वृत्रतूर्य' संग्रामों में चल सकते हैं, वे ही इन दिव्य युद्धों में इनके अनुकूल ठीक-ठीक काम कर सकते हैं ।

(धृतव्रताः) व्रत धारण किये हुए (क्षत्रिया) सच्चे अर्थों में क्षत्रिय (यज्ञनिष्कृतः) यज्ञकर्मों को निःशेषेण करने वाले (बृहद्दिवाः) महातेजस्वी (अध्वराणां अभिश्रियः) अहिंसामय कृतियों के सेवन करने वाले, उनसे शोभने वाले (अग्निहोतारः) अग्नि का हवन या आह्वान करने वाले (ऋतसापः) सत्य से समवेत हुए-हुए (अद्रुहः) कभी द्रोह न करने वाले पुरुष ही (वृत्रतूर्ये) पापनाशक संग्राम में (अनु) तदनुकूल (अपः) कर्मों को (असृजन्) करते हैं ।

* वृत्र अर्थात् पापबाधा या पाप के अन्धकारमय विस्तार को तूर्य अर्थात् विनाश करने वाला ।

ऋतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनन्ति वेनाः पतयन्त्या दिशः ।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु मे अधि कामा अयंसत ।।
ऋ० 10.64.2

देवों की शरण में जाये बिना अब मुझे चैन नहीं मिल सकता। ज्ञान और प्रकाश की इस दैवी अवस्था में ही सुख है। संसार में और कहीं सुख नहीं है। लोग भले ही मोह, आलस्य और निष्क्रियता में भी सुख मानते हों पर मुझे तो यह तामसिक अवस्था सह्य नहीं है। और जो दूसरे रजः-प्रवृत्त लोग सुख पाने के लिए दिनरात विषयों में दौड़धूप कर रहे हैं, उनकी उस आसुरी अवस्था से भी मेरा जी घबराता है, उनका यह उत्तेजनापूर्ण 'सुख' मुझे काटता है, दुःखरूप लगता है। सचमुच सुख तो दैवी भाव में रहने में ही है। सुख 'सत्त्व' का ही धर्म है और देव लोक (द्युलोक) की ही वस्तु है। तो देवों के बिना और कहाँ से हमें सुख मिल सकता है ? इसलिये अब मैं सदा दैवी भाव में, सदा देवसंसार में ही रहना चाहता हूँ। यद्यपि मेरे हृदय में धरे हुए नाना संकल्प संकल्पित हुआ करते हैं, उठा करते हैं, नाना प्रेममय कामनायें अपने विषय को चाहती हुई उदय होती हैं और नाना निर्देश व प्रेरणायें इधर-उधर से आती रहती हैं, परन्तु अब मैं अपने इन सब संकल्पों, कामों और प्रेरणाओं को देवों में ही नियमन करता हूँ। नियम और संयम द्वारा अपनी सब कामनाओं को देवसंसार से बाहर नहीं जाने देता। मेरे अन्दर जो इन्द्रिय आदि देव, मन की सात्त्विक अकृष्टवृत्ति रूप देव तथा सूक्ष्म संसार के देव हैं एवं बाहर के सच्चे सरल ज्ञानप्रकाश वाले पुरुष-देव तथा सत्य नियमों से चलने वाले अग्नि आदि प्राकृतिक देव हैं, इन्हीं के विषय में अब मेरे सब हृदयस्थ संकल्प संकल्पन कर रहे हैं, उन्हें ही ये मेरी सब प्रेममय अभिलाषायें चाह रही हैं और उन्हीं के सम्बन्ध में अब मुझ में तरह-तरह के निर्देश व प्रेरणायें आतीं व उठती रहती हैं। मैं और क्या करूँ ? इन देवों के सिवाय और कोई इस संसार में सुख दे सकने वाला नहीं है।

(हृत्सु धीतयः) हृदय में धरे हुए (क्रतवः) संकल्प (ऋतूयन्ति) [देवों का] संकल्प कर रहे हैं, (वेनाः) प्रेममय कामनायें इच्छायें (वेनन्ति) [देवों की] कामना कर रही हैं, चाह रही हैं, और (दिशः) [देवों के सम्बन्ध में] निर्देश प्रेरणायें (आपतयन्ति) इधर उधर से आ रही हैं, पहुँच रही हैं। निःसन्देह (एभ्यः) इन देवों के (अन्यः) सिवाय और कोई (मर्डिता) सुख दे सकने वाला (न) नहीं (विद्यते) है, अतः (मे) मेरी (कामाः) सब कामनायें, सब संकल्प, अभिलाषा तथा प्रेरणायें (देवेषु अधि) देवों में ही (अयंसत) नियमित हो गयी हैं।

नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये ।।
ऋ० 10.63.3

देव लोग कैसे होते हैं ? वे कहाँ रहते हैं ?

देव स्वयं अमरपन को पाकर भी लोककल्याण के लिए अपना जीवन धारण करते हैं। ये सदा अपने दैवी भाव में रहते हैं।

ये अपने ज्ञानप्रकाश द्वारा मनुष्यों को ठीक ठीक देखते हैं, प्रत्येक मनुष्य के असली रूप को पहिचान लेते हैं। ये कभी अपनी आँखें नहीं बन्द करते, सदा जागरूक रहते हैं, तमोगुण के कभी वशीभूत नहीं होते हैं। ऐसे ये पूज्यदेव, सम्पूर्ण लोक के कल्याण में रत होने के कारण सम्पूर्ण लोक के पूज्य ये देव, महान् अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। सापेक्षिक और स्वल्पकालिक अमरपन तो हमें भी प्राप्त हुआ करता है, पर ये देव उस महान् ऊँचे अमरपन को पहुँचे होते हैं जहाँ मृत्यु कोई चीज नहीं रहती है, मरना जीना एक हो जाता है।

ज्योति, प्रज्ञालोक,+ ही इनका रथ होता है। अपने प्रज्ञालोक पर चढ़ कर ये जहाँ चाहते हैं, वहाँ विचरते हैं। इनकी इस प्रकाशमयी प्रज्ञा (माया) को कोई दबा नहीं सकता, इनकी प्रज्ञा को धोखे में नहीं डाला जा सकता। ऐसे ये निष्पाप देव सदा द्युलोक के शरीर में रहते हैं। भौतिक तौर पर ये कहीं न रहते हुए आध्यात्मिक तौर पर सदा अपनी दैवी समावस्था में बसते हैं। मानो द्युलोक के सत्त्व को सदा ओढ़े रहते हैं, इस दिव्य वस्त्र से अपने को आच्छादित किये फिरते हैं और इस दिव्य जीवन को ये 'स्वस्ति' के लिए, सब जगत् के कल्याण के लिए धारण किये होते हैं।

(नृचक्षसः) मनुष्यों को ठीक ठीक देखने वाले (अनिमिषन्तः) कभी न सोने वाले (अर्हणाः) सर्वपूज्य (देवासः) देवलोग (बृहत् अमृतत्वं) महान् अमरपन को (आनशुः) प्राप्त हुए हैं। (ज्योतीरथाः) ज्योति ही जिनका रथ है और (अहिमाया) जिनकी प्रज्ञा का घात नहीं किया जा सकता है (अनागसः) ऐसे ये निष्पाप देव (दिवः वर्ष्माणं वसते) द्युलोक के शरीर में रहते हैं, दिव् के श्रेष्ठ सत्त्व से अपने को आच्छादित किये रखते हैं।

+ योगदर्शन 4 पा० 5–6 सूत्र

तन्तुं तन्वन्रजसो भानुमन्विहि, ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धियाकृतान् ।
अनुल्वणं वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् ॥

ऋ० 16.53.6

हे जुलाहे, तू बुन, तू दिव्य खद्दर बुन ।

हे जीव ! तू हमेशा कुछ न कुछ बुनता रहता है । अपने भाग्य को, अपने भविष्य को, अपने जीवन को बुनता रहता है । जीवन इसके सिवाय और क्या है कि मनुष्य अपने ज्ञान (समझ) के अनुसार कुछ दूर तक देखता है और फिर उसके अनुसार कर्म करता जाता है । इस तरह जीव अपने ज्ञान के ताने में कर्म का बाना डालता हुआ निरन्तर अपने जीवन-पट को बनाया करता है । किन्तु हे जीव-जुलाहे ! अब तू अपना यह मामूली रद्दी कपड़ा बुनना छोड़कर दिव्य जीवन का खद्दर बुन, 'दैव्यजन' को उत्पन्न कर । इसके लिए तुझे बड़ी सुन्दर और बड़ी लम्बी तानी करनी पड़ेगी । तू अपने रजः के, ज्योति के, ज्ञानप्रकाश के चमकीले ताने को तनता हुआ भानु तक, द्युलोक तक चला जा । द्युलोक तक विस्तृत प्रकाशमान ताना तन । दिव्य पट के लिए यह जरूरी है । ऐसे दिव्य वस्त्र बनाने की लुप्त हुई कला की रक्षा इसी तरह हो सकती है । अतः इस उद्योग में पड़ कर तू उन ज्ञानप्रकाशमय प्रणालियों की रक्षा कर जिन्हें कि कलाविदों ने अपनी कुशल बुद्धि द्वारा बड़े यत्न से आविष्कृत किया था । दिव्य-जीवन बनाने में पड़कर उन देवयानादि प्रकाशमान मार्गों की रक्षा कर जिन्हें कि इनके ज्ञानी यात्रियों ने चलाया था। अस्तु, ज्ञान के इस दिव्य ताने को तू फिर भक्तों के कर्म द्वारा बुन, इस ताने में भक्ति रस से भिगोया हुआ अपने व्यापक कर्म का बाना डालता जा । और ध्यान रख, तेरी बुनावट एकसार होवे, कभी ऊँची-नीची या गठीली न होवे । सावधान रह कि सदा उस ज्ञान के अनुसार ही तेरा ठीक ठीक कर्म चले और वह कर्म सदा प्रभु भक्ति से ही प्रेरित हो। इस सावधानी के लिए तुझे पूरा मननशील होना पड़ेगा, सतत विचार तत्पर होना होगा । तभी यह दिव्य जीवन का सुन्दर पट तैयार हो सकेगा । अतः हे जुलाहे ! तू अब दिव्य जीवन बुनने के लिए उठ और इस लुप्त होती जाती अमूल्य दिव्य कला की रक्षा कर ।

(रजसः) अपने ज्योति के, ज्ञानप्रकाश के (तन्तुं) ताने को (तन्वन्) तनता हुआ तू (भानुं) द्युलोक तक (अनु इहि) अनुसरण करता जा, चला जा । इस तरह (धिया कृतान्) [कलाविदों या ज्ञानियों के] बुद्धि कौशल से बनाये गये (ज्योतिष्मतः पथः) ज्ञानप्रकाशमय तरीकों की, प्रणालियों की, मार्गों की (रक्ष) तू रक्षा कर । इस ताने में (जोगुवां) भक्तों के (अपः) व्यापक कर्मों को (अनुल्वणं) एकसार (वयत) बुन, (मनुःभव) मननशील हो और एवं (दैव्यं जनं) दिव्य जन [के जीवन] को, इस 'दैव्यजन' रूपी वस्त्र को (जनय) पैदा कर, बना ।

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा ।
यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः ।।

ऋ० 10.43.6

इन्द्र नारायण हरेक मनुष्य के हृदयकुटीर में आकर लेटे हुए हैं। हम इसे जानते हों या न जानते हों। और सब में चुपके से लेटे हुए ये नारायण प्रत्येक मनुष्य की ज्ञानक्रियाओं को भी साक्षात् देख रहे हैं, बल्कि उन ज्ञानक्रियाओं को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। ये नारायण हममें जागते तब हैं जब कि इन्हें अपने इस ज्ञान की, अपने श्रेष्ठ से श्रेष्ठ ज्ञान की, भेंट चढ़ायी जावे, जब यह सोमरस इन्हें पिलाया जावे। सर्वश्रेष्ठ भक्ति और सर्वश्रेष्ठ सोमसेवन, तत्त्वज्ञान का निष्पादन ही है। भगवान् इसी के भूखे हैं। इसी के लिए प्रत्येक के अन्दर बैठे उसकी ज्ञानक्रियाओं को निहार रहे हैं। हरेक ही मनुष्य कुछ न कुछ अपना सोमसेवन कर रहा है, हरेक मनुष्य कभी न कभी विवेक करने, तत्त्वज्ञान के खोजने और ज्ञान का निष्कर्ष निकालने के लिए बाधित होते हैं; अतः वे सबके अन्दर बैठे धैर्य से प्रतीक्षा कर रहे हैं। यह सच है कि जिसके अन्दर यथेच्छ सोमरस को पाकर वे भगवान् जाग उठते हैं, वह निहाल हो जाता है। उसमें ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि उसके सामने संसार की कोई भी शक्ति ठहर नहीं सकती। बस देर यही है कि वे किसी के सोमसेवन को स्वीकार कर लेवें, किसी को अपना लेवें। जिसे वे अपना लेते हैं, वर लेते हैं, उसके सामने तो वे अपने सम्पूर्ण सर्वसमर्थ रूप में, अपने सम्पूर्ण 'शक्र' और 'वृषा' रूप में प्रकट हो जाते हैं। सचमुच ज्ञान ही सर्वोच्च शक्ति है। ज्ञानी ही संसार के विकट से विकट पाप आक्रमणों को सह सकता है। ज्ञान के बिना शैतान की फौजों के सामने कोई नहीं ठहर सकता; 'प्रसंख्यान' के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान के भी प्रभु-अर्पण कर देने पर भक्त योगी को अपनी धर्ममेघ समाधि में जो सोम की वर्षा[1] मिलती है, उन तीव्र सोमों (उच्च ज्ञानों) के सामने शैतान की सैकड़ों आक्रमणकारी फौजें भी एक क्षण में परास्त हो जाती हैं; सब पाप और क्लेश खतम हो जाते हैं।

(मघवा) परमैश्वर्यवान् ईश्वर (विशं विशं) प्रत्येक मनुष्य में (परि अशायत) लेटे हुए हैं, चुपके से व्यापे हुए हैं और (वृषा) वे सुख वर्षक ईश्वर (जनानां) सब मनुष्यों की (धेनाः) ज्ञानक्रियाओं को (अवचाकशत्) देख रहे हैं या प्रकाशित कर रहे हैं। (अह) परन्तु (शक्रः) ये सर्वशक्तिमान् ईश्वर (यस्य) जिसके (सवनेषु) सपनों में, ज्ञान निष्पादनों में (रण्यति) रम जाते हैं, इन्हें स्वीकार कर लेते हैं (सः) वह पुरुष (तीव्रैः सोमैः) अपने इन तीव्र सोमों द्वारा, महाबली उच्च ज्ञानों द्वारा (पृतन्यतः) सब आक्रमणकारियों को, बड़े से बड़े हमलों को (सहते) सहता है, जीत लेता है।

1. योगदर्शन पाद 4,—सूत्र 29—30

सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च ।
विश्वमन्यन्निविशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥

ऋ० 10.37.2

हे भगवन् ! मैं सत्य ही भाषण करने का व्रत ग्रहण करता हूँ । यह महाव्रत मेरी रक्षा करे, सब तरफ से रक्षा करे । दुनिया तो कहती है कि झूठ के बिना काम नहीं चल सकता, कि असत्य द्वारा ही बहुत बार रक्षा मिलती है परन्तु मैं देखता हूँ कि एकमात्र रक्षा कर सकने वाले, हे सत्यस्वरूप ! तुम ही हो, तुम्हारा सत्य ही है । सत्य वह महान् प्रकाशरूप वस्तु है जिसके प्रकाश से संसार के सब द्युलोक जगमगा रहे हैं और जिसके आंशिक प्रकाश को पाकर ये हमारे दिन अनन्तकाल से प्रकाशित होते आ रहे हैं और अनन्तकाल तक प्रकाशित होते रहेंगे । सत्य प्रकाश है और असत्य अन्धकार है । सत्य सनातन है, असत्य क्षणभंगुर है । भला अन्धकार हमारी कैसे रक्षा कर सकता है ? भंगुर वस्तु का आश्रय हमें कब तक बचा सकता है ? जो इसे समझते हैं, वे सत्य के कारण आयी विपत्तियों को देखकर कभी घबराते नहीं और दीन होकर कभी असत्य का आश्रय नहीं पकड़ते क्योंकि वे देखते हैं कि सत्य के अतिरिक्त संसार में जो भी कुछ है, वह सब विनश्वर है । वह असत्य चाहे कितना जीता जागता दीखता हो—चाहे कितने बड़े आकार वाला, चाहे कितना शक्तिशाली, चाहे कितना कीमती दीखता हो—पर वह सब थोड़ी देर में विलीन हो जाने वाला है, राख हो जाने वाला है, मिट जाने वाला है । सत्य ही अचल है । झूठ कपट की आलीशान दीखने वाली विजयें भी संसार में बेशक आती हैं पर वे क्षण में चली जाती और हमें वहीं का वहीं गिराकर छोड़ जाती हैं । देर तक ईश्वरीय सत्यनियमों को दबाया नहीं जा सकता है । घोर से घोर रात्रियां आवेंगी, पर फिर सूर्योदय होना निश्चित है । सदा प्रकाशमान सूर्य को केवल थोड़ी देर के लिए ही किसी आवरण द्वारा ओझल रखा जा सकता है । जरा देखो, जो अप्रतिहत रूप से वह रहा है, वह तो ईश्वरीय व्यापक सत्यनियमों का प्रवाह ही है और जो प्रतिदिन उदय हो रहा है और असल में सदा उदित रहता है, वह [महान् सत्य का] सूर्य ही है ।

(यत्र) जिस [सत्यप्रकाश] में (द्यावा च) द्युलोक भी (अहानि च) और सब दिन भी (ततनन्) विस्तृत हुए हैं, विस्तार को प्राप्त हुए हुए हैं (सा) वह (सत्योक्तिः) सत्यभाषण का व्रत (मा) मुझे, मेरी (विश्वतः) सब तरफ से (परिपातु) रक्षा करे । (अन्यत्) सत्य के अतिरिक्त (विश्वं) और सब कुछ (यत् एजति) जो हिल रहा है, आकार, बल व जीवनयुक्त दीखता है वह (निविशते) लीन हो जाता है, मिट जाता है, (विश्वाहा) सदैव तो (आपः) व्यापक सत्यनियमों का प्रवाह [चल रहा है] और (विश्वाहा) सदा तो (सूर्यः उदेति) सूर्य उदय हुआ हुआ है ।

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरादधर्षति ।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह ॥
ऋ० 6.28.3, अथर्व० 4.21.3

हे गौओं वालो ! हे गोपतियो ! क्या तुम ऐसी गौओं को भी जानते हो जो न तो कभी भाग खड़ी होती हैं, न जिन्हें चोर उड़ा ले जा सकते हैं और न जिन्हें हमारे शत्रु सता सकते हैं या आघात पहुँचा सकते हैं ? ये गौएँ 'इन्द्र' की दी हुई हैं, इनसे देवों का यजन होता है और ये अपने गोपति के साथ सदा रहती हैं, कभी बिछुड़ती नहीं । ये गौएँ हम में से हर एक को मिली हुई हैं । क्या अब भी समझे कि ये गौएँ कौन सी हैं ?

ये हमारी इन्द्रिय-गौएँ हैं । इनका गोपति हमारा मन व मनोमय आत्मा है । इस आत्मा के साथ ये सदा जुड़ी रहती हैं । ये तो शक्ति रूप से मोक्ष सुख की अवस्था में भी आत्मा ये साथ रहती हैं, एक शरीर से दूसरे शरीर में तो आत्मा के साथ जाती ही हैं । इनके गोपति से इन्हें कोई छीन नहीं सकता है । ये इन्द्र परमेश्वर की दी हुई दिव्य अमर गौएं हैं । प्रभु ने ये गौएं अपने देवों के यजन के लिए ही प्रत्येक जीव को दी हैं, बल्कि इन देवों को दे देने के लिए, अर्पण कर देने, सौंप देने के लिए दी हैं । इन गौओं को हमें शुभ कार्य में लगाने के लिए किए गए पवित्र निक्षेप की वस्तुओं की तरह रखना चाहिए । यदि हम इन चक्षु आदि गौओं से सदा यज्ञिय पवित्र कर्म ही करेंगे और इन चक्षु आदि को बाह्य आदित्य आदि देवों को समर्पित किये रखेंगे तो जहां ये हमारी स्थूल इन्द्रियां भी सर्वथा स्वस्थ, समुन्नत, अविकृत और शतवर्ष तक अविकल बनी रहेंगी, वहां असली सूक्ष्म इन्द्रियां भी ऐश्वर्ययुक्त बड़ी-बड़ी योग विभूतियों को ला सकने वाली हो जायेंगी । क्या तुमने प्रभु से मिली हुई अपनी इन दिव्य गौओं की अमूल्य सम्पत्ति को पहिचान लिया ? तो तुम बाहर की लाखों गौओं के स्वामी बनने की जगह अब इन दस दिव्य गौओं के स्वामी—सच्चे अर्थों में स्वामी – बनना पसन्द करोगे ।

(ताः) वे गौएं (न नशन्ति) न नष्ट होती हैं, न भाग जाती हैं, (न) न इन्हें (तस्करः) चोर (दभाति) सताता है (न) और न ही (आसां) इनको (अमित्रः व्यथिः) शत्रुकृत आघात (आदधर्षति) पीड़ित करता है । वह (याभिः) जिन इन गौओं से (देवान् यजति) देवों का यजन करता है (ददाति च) बल्कि देवों को अर्पण कर देता है (ताभिः) उन इन गौओं के (सह) साथ (गोपतिः) इनका गोस्वामी जीवात्मा (ज्योक् इत्) चिरकाल तक, सदैव ही (सचते) संयुक्त रहता है ।

प्रत्नान्मानाद् अध्या ये समस्वरन् श्लोकयन्त्रासो रभसस्य मन्तवः।
अपानक्षासो बधिरा अहासत ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः॥
ऋ० 9.73.6

देखो, स्वर्गीय गान की स्वरें सुनाई दे रही हैं, दिव्य प्रकाश की किरणें दृष्टि-गोचर हो रही हैं। ये और कुछ नहीं हैं, सत्यनियम (ऋत) ही मिलकर ठीक धुन में ताल स्वर के साथ बज रहे हैं। सत्यनियम ही हमारे अनुकूल रूप धारण करके दीख रहे हैं। ये दिव्य शब्द व प्रकाश की किरणें ऊपर से आ रही हैं, द्युलोक से आ रही है। वहीं हम सब का पुराना सनातन उत्पत्तिस्थान है, निर्माणस्थान है। वहीं से इस अनादि ब्रह्माण्डवीणा के सब स्वर निकल रहे हैं, सदा से निकलते रहे हैं और सदा निकलते रहेंगे। ये जिस वीणायन्त्र से निकल रहे हैं, यह प्रभुवाणी की वीणा है, उसकी श्लोक, ईक्षणशक्ति रूपी वीणा है। इसीलिये उसकी ये रश्मियें इस सब वेग-वान् महान् संसार को जानती हुई चल रही हैं, अपने प्रभु के सर्वगत चैतन्य के स्पर्श से कभी वियुक्त नहीं होती हैं। इन किरणों और इन स्वरों के अनुसार जो लोग अपने आपको चलाते हैं, इनकी ताल पर ताल देते हुए इनके अनुसार अपने शरीर मन बुद्धि को हिलाते नचाते और ठीक करते जाते हैं, वे तो बड़ी आसानी से ऊपर-ऊपर चढ़ते जाते हैं। पर दुःख है कि यह अन्धा और बहिरा संसार न उन्हें देख रहा है और न सुन रहा है। हम लोग बड़ी बेपरवाही के साथ सब कुछ अनसुना करते हुए अन्धाधुन्ध अपनी हाँकते जा रहे हैं, तभी दुःख पा रहे हैं और जहां के तहां पड़े हुए हैं, उन्नति पथ पर आगे नहीं बढ़ सकते। सचमुच अपने इन दुःखदायी प्रतिकूल कर्मों को, दुष्कर्मों को हम इसीलिये करते हैं—करने में प्रवृत्त होते हैं—चूँकि हम इन स्वर्गीय लहरों को सुन व देख नहीं रहे हैं। अतः आओ, भाइयो ! हम अब अपने उन कानों और आँखों को खोल लेवें जिनसे कि प्रभुधाम से अनवरत आने वाली ये दिव्य स्वरें सुनायी और दिखाई देती हैं। ऐसे कान और आँख तो हम सब के पास हैं।

(श्लोकयन्त्रासः) श्लोक यन्त्र वाली, ईश्वरीय वाणी से निकलने वाली (रभसस्य मन्तवः) और इस वेगवान् महान् संसार को जानने वाली (ये) [दिव्य प्रकाश और दिव्यशब्द की किरणें] (प्रत्नात् मानात् अधि) पुराने निर्माणस्थान, उत्पत्तिस्थान से (आ) आकर (सं अस्वरन्) मिलकर के बज रही हैं या प्रकाशित हो रही हैं उन्हें (अनक्षासः) न आंखों वाले तथा (बधिराः) बहिरे, न सुन सकने वाले [संसारी पापी] लोग (अप अहासत) छोड़ देते हैं, उन्हें देखते सुनते नहीं, इनका लाभ नहीं उठाते। इसीलिए (दुष्कृतः) दुष्कर्म करने वाले (ऋतस्य पन्थां) सत्य के मार्ग को (न तरन्ति) तर नहीं सकते।

सहस्रधारे वितते पवित्रे, आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः ।
रुद्रास एषां इषिरास अद्रुहः स्पशः स्वंचः सुदृशो नृचक्षसः ।।

ऋ० 9.63.6

ऊपर द्युलोक से सहस्रों धाराओं में सोम की वर्षा हो रही है। जहाँ केवल शुद्ध धर्म की – अशुक्ल, अकृष्ण धर्म की वर्षा होती है, उस धर्ममेघ समाधि की अवस्था आने पर ध्यानी लोग इसे अनुभव भी करते हैं। यह शिर के ऊर्ध्व भाग में अनुभूत होती है जहाँ कि हठयोगी लोग 'सहस्रार कमल' को देखते हैं। वहाँ अनन्त अपार ज्ञानसमुद्र है 'सर्वावरणमलापेत'+ शुद्ध ज्ञान का समुद्र है। उसमें क्रान्तदर्शी और क्रान्तकर्मा ज्ञानी महापुरुष अपनी वाणी को पवित्र करते हैं, उसमें गोता देकर सर्वथा शुद्ध हुई वाणी को बोलते हैं। तब उनकी यह वाणी बड़ी चमत्कारिणी शक्ति रखती है। वहाँ से निकली वाणी द्वारा जो आज्ञा की जाती है, वह अमोघ होती है। इसी-लिये हम देखते हैं कि महात्मा दिव्य पुरुषों की वाणी व चिन्तना (माध्यमिक वाणी) विशेष प्रभाव रखती है। वे अपने भाषण व चिन्तन से अपने दूत का, अपने वशवर्ती नौकर का, काम ले सकते हैं। दूर-दूर के विषय में वे जो सोचते हैं या बोलते हैं, वह वहाँ पूरा हो जाता है। पर यह तो दूर की बात है। क्या हम अपेक्षया उन्नत श्रेष्ठ पुरुषों को नित्य नहीं देखते कि उनका भाषण व विचार दूर तक प्रभाव पहुँचाने वाला होता है, कभी किसी को भी हानि न पहुँचाने वाला होता है, उत्तम व्यवहार युक्त होता है, उत्तम दिव्य दूरदृष्टि से देखकर बोला हुआ होता है और मनुष्य को ठीक-ठीक देखकर पहिचान कर बोला हुआ होता है? यदि किन्हीं के भाषण व विचार में ये उक्त गुण दिखलाई देते हैं तो यह इस बात का लक्षण है कि उनकी वाणी पवित्र हो रही है, पवित्रताकारक सोमधारा का स्पर्श प्राप्त कर रही है, 'वितत सहस्रधार पवित्र' की तरफ बढ़ रही है।

(कवयः मनीषिणः) क्रान्तदर्शी क्रान्तकर्मा ज्ञानी लोग (वाचं) अपनी वाणी को (सहस्रधारे वितते पवित्रे) हजारों धाराओं वाले विस्तृत पवित्रताकारक स्रोत में [सोम-स्रोत में] (आपुनन्ति) पूरी तरह पवित्र करते हैं। अतः (एषां) इन मनीषियों के (रुद्रासः, प्राण, प्राणरूप माध्यमिक वाणियां इषिरासः) दूर तक पहुँचने वाले, बड़े प्रभावशाली (अद्रुहः) किन्तु कभी किसी का द्रोह व घात न करने वाले (स्वंचः) उत्तम व्यवहार करने वाले (सदृशः) उत्तम दिव्य दृष्टि वाले और (नृचक्षसः) मनुष्यों को ठीक-ठीक पहिचान लेने वाले (स्पशः) दूत की तरह हो जाते हैं।

+ यो० द० 4—31

समेत विश्वे वचसा पतिं दिवः, एको विभूः अतिथिर्जनानाम् ।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्, तं वर्त्तनिः अनुवावृत एकमित् पुरु ॥

अथर्व० 7.21.1

आओ, तुम सब आओ, हे मनुष्यो ! तुम सब इकट्ठे होकर आओ और एक वाणी से उस 'दिवः पति' के स्तोत्र गाओ । वही हम सब को इकट्ठा कर सकता है । वही एक सूत्र की तरह हम सब को जोड़ने वाला है क्योंकि वह एक विभु, वह एक सर्वव्यापक, हम सब मनुष्यों में सततरूप से गया हुआ है । हम सब जनों में अतिथि है । हम सभी का समान रूप से वह मेहमान हुआ हुआ है । अतः हम सबों के उस एक पूज्य द्वारा, हम सबों के उस एक उपास्य द्वारा, हम सब मनुष्य परस्पर जुड़ सकते हैं और असल में जुड़े हुए हैं भी । वह एकरस पुराण है और यह बदलता हुआ संसार नित्य नया होता रहता है । पर वह पुराण इस नित्य नये संसार का नित्य नये रूप से सेवन कर रहा है, इसमें नित्य नये रूप से व्यापा हुआ है । इसलिये उसे प्राप्त करना चाहता हुआ यह संसार अपने अपने नये ढंग से ही उसकी तरफ जा सकता है । अतः यह सच है कि जो मार्ग हमें उस की तरफ ले जाता है, वह बेशक हम सबको केवल उस एक की तरफ ले जाता है परन्तु वह हमें विविध प्रकार से—हरेक व्यक्ति के अनुसार उसके अपने अपने निराले प्रकार से – ले जाता है । हम सब यद्यपि अपने-अपने ढंग से उस एक उपास्य देव की उपासना करेंगे पर अपने अपने ढंग से उपासना करते हुए भी हम सभी का उपास्य देव वह एक ही है । अतः आओ, उस अपने एक देव के नाम पर हम सब—हम सब के सब मनुष्य—एक हो जायें, मिल जायें, उस एक प्रभु के झंडे के नीचे इकट्ठे हो जायें और हम सब के सब एक वाणी से उसके यशः गीत गायें ।

(विश्वे) हे सब लोगो, सब भाइयो ! (दिवः पतिं) प्रकाशपति परमेश्वर के प्रति (वचसा) एक वाणी से (समेत) एकत्रित हो जाओ; चूंकि (एकः विभूः) वह एक ही सर्वव्यापक (जनानां) सब जनों का (अतिथिः) अतिथि हुआ हुआ है । (सः पूर्व्यः) वह पुराना (नूतनं) इस नये [संसार] को (आविवासत्) सेवन कर रहा है, व्याप्त कर रहा है । अतः (तं) उसके प्रति (वर्त्तनिः) जो मार्ग (अनुवावृते, जाता है वह (एकं इत्) उस एक के प्रति ही किन्तु (पुरु) बहुत प्रकार से, नाना प्रकार से जाता है ।

सं जानामहै मनसा संचिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते, मेषुः पप्तत् इन्द्रस्य अहन्यागते ।।
अथर्व० 7.52.2

हमें अपना सब सामूहिक सोचना समझना मिलकर ही करना चाहिये । हम एक होकर एकमत से ही किसी कार्य को प्रारम्भ करें । हम जो बहुत बार एकमत नहीं हो पाते हैं, उसका कारण यह होता है कि हम 'दैव्य-मन' से सोचना छोड़कर आसुर मन से विचारने लगते हैं । आसुरी वृत्ति से, स्वार्थप्रेरित होकर, एक दूसरे पर अविश्वास करते हुए, एक दूसरे को तिरस्कृत करते हुए हम चलेंगे तो हम कभी भी ऐकमत्य नहीं पा सकेंगे अतः हमें निःस्वार्थ प्रेम से युक्त दैव्य-मन को कभी न त्यागना चाहिये और एक मत हो एक निश्चय के साथ सर्वहितकारी बड़े से बड़े काम को उठा लेना चाहिये तथा उसे एकभाव से ही प्रेरित हो चलाते जाना चाहिये । फिर बड़ी से बड़ी भयंकर विपत्तियां आने पर भी विह्वल नहीं होना चाहिये । असफलताएँ और विघ्नों की रात्रियाँ तो प्रत्येक महान् कार्य में आया ही करती हैं । इन क्षुद्र असफलताओं पर हाहाकार मचाना तो क्या, यदि महादारुण प्रलय की रात्रि भी आ जाये और ये विशाल द्यौ और पृथिवी भी नष्ट होने लगें तो भी हमें विचलित नहीं होना चाहिये और अटल निष्ठा से अपनी साधना में लगे रहना चाहिये । और फिर इस रात्रि के बाद दिन आ जाने पर भी, सब अनुकूल अवस्थायें हो जाने पर भी, हमें मौज लूटने में नहीं ग्रस्त हो जाना चाहिये । अपने अन्तिम लक्ष्य को भूल विषय भोगों, विजयोत्सवों में नहीं पड़ जाना चाहिये क्योंकि ऐसे ही समय में 'इन्द्र का इषु' गिरा करता है, वज्रपात हुआ करता है, ईश्वरीय मार पड़ा करती है । यह दैवी मार बहुत बुरी होती हैं । वे बड़े बड़े साम्राज्य जो कि अपने बड़े दुर्दान्त शत्रुओं के घोर आक्रमणों को भी सह गये, पीछे से विषय भोगों में ग्रस्त होकर स्वयमेव नष्ट हो गये, 'इन्द्र के इषु' से मारे गये । अतः आओ, अपने अन्धकार के समय में भी और प्रकाश-काल में भी, हम कभी दैव मन को न छोड़ते हुए सदा मिलकर खूब सोच समझ कर एकमत से अपने सर्वोदय के महान् कार्य्यों को चलाते जायें ।

हम (मनसा) मन द्वारा (सं) मिल करके (जानामहै) विचारें और (चिकित्वा) सोचना समझना (सं) मिलकर करें; (दैव्येन मनसा) दैव मन से (मा युष्महि) कभी वियुक्त न होयें, बिछुड़ें नहीं । (बहुले विनिर्हते) अन्धकार आ जाने पर या विशाल द्यावापृथिवी के टूटने पर भी (घोषाः मा उत्स्थुः) हमारे अन्दर हाहाकार के शब्द न उठें और (अहनि आगते) दिन आ जाने पर, अनुकूल स्थिति पा जाने पर (इन्द्रस्य इषुः) इन्द्र का इषु, ईश्वरीय मार (मा पप्तत्) हम पर न पड़े ।

तं पृच्छता स जगामा स वेद स चिकित्वाँ ईयते स न्वीयते।
तस्मिन्त्सन्ति प्रशिषस्तस्मिन्निष्टयः स वाजस्य शवसः शुष्मिणस्पतिः ।।

ऋ॰ 1.145.1

हे मनुष्यो ! तुम जो कुछ जानना चाहते हो, पूछना चाहते हो वह अपने अग्निदेव से पूछो। इसके सिवाय संसार में और कोई तुम्हारे सब प्रश्नों का ठीक ठीक उत्तर दे सकने वाला नहीं है। संसार के बड़े से बड़े विद्वान् तुम्हें जो कुछ उत्तर देंगे, उससे भी तुम्हें तभी संतुष्टि मिलेगी जब कि तुम्हारा (अन्दर का) अग्नि, अन्तरात्मा उस पर अपनी स्वीकृति की छाप लगा देगा। अतः तुम्हारी सब जिज्ञासायें, सब समस्यायें, अन्त में इस अन्तरात्म-देव की शरण में जाने से ही हल होंगी। क्या तुम सन्देह करते हो कि इस अन्दर के आत्मा की सब जगहों में और सब विषयों में गति नहीं है ? नहीं, यह आत्मा तो सदा अपने परम आत्मा में बसता है और अपनी चिन्मय वृत्ति को जहाँ चाहे वहाँ भेज सकता है। एवं यह अग्नि सब जगह जाता है और वहाँ सब कुछ जानता है। अरे देखो, यह चित्स्वरूप आत्मा सब कुछ जानता हुआ सब कहीं जा रहा है; पलक मारने में, संकल्पमात्र से करोड़ों मीलों तक, करोड़ों युगों तक पहुँच रहा है। यों कहना चाहिये कि यह ज्ञानमय अग्नि सब जगह सब विषयों में पहिले ही पहुँचा हुआ है और संसार के महापुरुषों को जो जगत् में कुछ महान् कार्य करने की आज्ञायें, प्रेरणायें मिला करती हैं, ये भी उनकी इस अन्तरग्नि से ही प्रकट होती हैं। सब प्रशासन, सब ईश्वरीय हुक्म इसी में हैं। एवं ऋषि महात्माओं को समय समय पर जो तत्कालीन विपत्ति के हटाने के लिए किन्हीं यज्ञों का, इष्टियों का, दर्शन हुआ करता है वह भी उनकी अन्तरात्मा में ही होता है। सचमुच सब यज्ञ भी इसी में निहित हैं। एवं समस्त ज्ञान और बल का यही पति है। बल ही क्यों, सब बलियों का—संसार के बड़ी से बड़ी फौज रखने वाले राजा आदि सब बलियों का —यही पति है। अहो, अपने इस अग्निदेव के इस परम माहात्म्य को अनुभव करो और अब से अपने सब प्रश्न इसी ज्ञानमय देव के सामने रक्खो। और कहीं क्यों भटकते हो ?

हे मनुष्यो ! (तं) उस अग्निदेव से (पृच्छत) पूछो। क्योंकि (सः) वह (जगाम) सर्वत्र जाता है, (स वेद) वह सब कुछ जानता है, (सः) वह (चिकित्वान् ईयते) सब जानता हुआ जाता है, (सः) वह (नु) बड़ी जल्दी (ईयते) जाता है। (तस्मिन्) उसी में (इष्टयः) सब यज्ञ व इष्टियां हैं, (सः) वह (वाजस्य) ज्ञान का (शवसः) बल का (शुष्मिणः) और बली का (पतिः) पति है।

तमित्पृच्छन्ति न सिमो वि पृच्छति स्वेनेव धीरो मनसा यदग्रभीत् ।
न मृष्यते प्रथमं नापरं वचो अस्य क्रत्वा सचते अप्रदृपितः ।।
ऋ० 1.145.2

और सब मनुष्य अपने अन्तरात्मा से ही पूछा करते हैं । यह और बात है कि हर कोई उससे पूरी तरह पूछ न सकता हो, किन्तु यह ठीक है कि सब कोई अपने मन (अन्तरात्मा) से ही सोचता है और अपनी मनमानी ही करता है । अन्तरात्मा से विशेष तौर पर (पूरी तरह) पूछ सकने वाले तो विरले ही होते हैं, सब नहीं । बात यह है कि सब कोई अपनी शक्ति के अनुसार पूछ सकता है । जिसका बुद्धि, मन जितना शुद्ध और विकसित होगा अतएव जितना ग्रहण कर सकता होगा, उतना ही ज्ञान वह अपनी अन्तरात्मा की अग्नि से प्राप्त कर सकेगा । एक बुद्धिमान् पुरुष पूरे धैर्य्यपूर्वक पूछने का प्रयत्न करता हुआ भी अपने निजी मन से जितना ग्रहण कर सकेगा, उतना ही अपने प्रश्नों का उत्तर अन्तरात्मा द्वारा प्राप्त करेगा ।

पर एक बात सदा याद रखनी चाहिये । वह यह है कि हमें इस अग्निदेव के समीप सर्वथा निरभिमान होकर ही पहुँच करनी चाहिये । जो मनुष्य अपने बड़े भारी ज्ञानी पण्डित होने के सब दर्प को और सब पाण्डित्य को भुलाकर अपने आपको खाली करके अबोध बालक होकर पूछता है, वही उस अग्नि के प्रज्ञा और कर्म से अपने को संयुक्त करता है, उससे ठीक ज्ञान और प्रेरणाओं को प्राप्त करता है । जब अग्निदेव बोलता है तो उस अपने बोलने से पहिले और पीछे के किसी दूसरे के बोलने को नहीं सह सकता है । उसका उत्तर सुनने के लिए हमें जहाँ अपने सब पूर्वग्रह, प्रथमनिश्चय तथा पक्षपात को बिल्कुल छोड़ कर ही उसे सुनना चाहिये, वहाँ उस का उत्तर सुन लेने के बाद भी उसमें अपना बोल मिला देने से सावधान रहना चाहिये अर्थात् उस उत्तर के किसी अंश को अपनी कल्पना द्वारा पूरा करने का यत्न न करना चाहियें और न अपने विचारों का रंग उस उत्तर में आने देना चाहिये । बस यही अपनें आत्मदेव से बिल्कुल ठीक ठीक उत्तर प्राप्त करने का रहस्य है ।

(तं इत्) उस अन्तरात्मा से ही (पृच्छन्ति) सब पूछते हैं, पर (सिमः) सब कोई (विपृच्छन्ति न) विशेष तौर पर [पूरी तरह] नहीं पूछता है, (धीरः) बुद्धिमान् व धैर्यवान् पुरुष भी [उतना ही पूछ सकता है] (यत्) जितना कि वह (स्वेन इव) अपने ही (मनसा) मन से (अग्रभीत्) ग्रहण कर सकता है । वह अग्नि (प्रथमं वच) अपने बोलने से न तो पहिले के किसी बोल को (न अपरं) और न ही बाद के किसी बोल को (मृष्यते) सहता है, (अप्रदृपितः) निरभिमान होकर आया पुरुष ही (अस्य) इस अग्नि के (क्रत्वा) कर्म व प्रज्ञा से (सचते) अपने आपको संयुक्त करता है ।

प्र वो महे मन्दमानाय अन्धसो अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे ।
इन्द्रस्य यस्य सुमखं सहो महि श्रवो नृम्णं च रोदसी सपर्यतः ।।
ऋ० 10.50.1, यजु० 33.23

क्या तुम अपने विश्वानर देव को भी जानते हो ? यह वह देव है जिसमें हम विश्व नर, हम सब मनुष्य, समाये हुए हैं; यह वह नर है, वह पुरुष है जिसका कि यह विश्व (यह ब्रह्माण्ड) शरीर है । अतः हे नरो, हे मनुष्यो ! तुम इस अपने महान् विश्वानर देव का पूजन करो । यह सब विश्व में समाया हुआ विश्वव्यापी देव सदा मोदमान है, आनन्दमय है । हमें अपना सब आनन्द, सब अन्न आदि भोग इसी से मिल रहा है । 'अन्धस्' वाला यही है । और यह वह इन्द्र (परमेश्वर) है जिसका कि सुपूजित बल, सर्व वंदित तेज, अत्यन्त महान् है । इसी के महान् 'सहस्' के कारण सब लोक, सब भुवन, सब ब्रह्माण्ड ठीक-ठीक चल रहा है । और इसी के मनुष्योपयोगी आंशिक यश और बल को सब संसार के मनुष्य सेवन कर रहे हैं । आः, क्या तुम देखते नहीं कि ये रोदसी, ये विशाल द्यौ और यह पृथिवी, उसी देव की परिचर्या कर रहे हैं, अहर्निश उसी देव का पूजन कर रहे हैं, तो आओ, हम भी उस अपने महान् विश्वानर देव के गीत गायें, अपने सम्पूर्ण जीवन द्वारा उसकी वन्दना करें ।

हे मनुष्यो ! (वः) तुम उस (महे) महान् (मन्दमानाय) सदा मोदमान, आनन्दमय (अन्धसः) सुख भोग के [देने वाले] (विश्वा भुवे) विश्व में समाये हुए, विश्वव्यापी (विश्वानराय) विश्वानर देव का (प्रअर्चा) पूजन करो (यस्य इन्द्रस्य) जिस ईश्वर का (सुमखं) सुपूजित (सहः) बल व तेज (महि) महान् है और जिसके (श्रवः) यश (नृम्णं च) तथा बल को (रोदसी) यह द्यौ और पृथिवी, दोनों संसार (सपर्यतः) पूजन कर रहे हैं, वन्दन कर रहे हैं ।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीं अदितिं नाम वचसा करामहे ।
यस्यां इदं विश्वं भुवनमाविवेश, तस्यां नो देवः सविता धर्म साविषत् ॥

यजु० 18.30

. . . .

. . . .

भूमि-माता कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है । यह 'राज्यवान् आत्मा' है, राष्ट्र है । यह माता राष्ट्र के, भूमि के, सब व्यक्तियों की सामूहिक आत्मा है । इसका देह राष्ट्र-शरीर है । ज़रा अनन्त व्यक्तिभेदों को भूलकर हम अपनी दृष्टि को विशाल बनाकर देखें, सम्पूर्ण भूमि को एक अ-खण्डित (अ-दिति), समष्टि रूप में देखें तो हमें यह 'अदिति' नाम अपनी माता दीख जायगी । तब हमें दीखेगा कि भूमि भर की सब मनुष्य, पशु वृक्ष आदि व्यक्तियाँ, भूमि भर की सब सम्पत्तियाँ, सब वस्तुएँ इसी अदिति में समायी हुई हैं । इससे बाहर कुछ नहीं है इसलिये हम व्यक्तियों के सब वैयक्तिक सुख भी, सब 'वाज', सब अन्न जल बल ज्ञान आदि वस्तुएँ भी हमें उस समष्टिरूपिणी एकात्मा अदिति माता की उपासना के बिना नहीं मिल सकती हैं । अतः आओ, हम उस महती अदिति माता को अपने अभिमुख करें, उसे एक वाणी से अपनी माता करके पुकारें, परस्पर चर्चा और प्रचार से उसकी भावना अपने में जगायें । तभी हम अपने वैयक्तिक बल, ज्ञान आदि की उन्नति पा सकेंगे । सर्वप्रेरक प्रभु भी हममें उसी समष्टिरूप अदिति में हमारी धारणा को उत्पन्न करें और उसके प्रति जो हमारा धर्म है, उसकी हममें प्रेरणा करते रहें, उस समष्टि में एक होकर जो हमारा कर्त्तव्य है, जो हमारा धर्म है उसे सदैव सुझाते रहें । यदि प्रभु हममें इस धर्म की प्रेरणा न करेंगे या हम किसी अन्य कारण इस महान् अदिति माता की उपासना न कर सकेंगे तो हम अपने अन्न बल ज्ञान सम्पत्ति को भी कभी प्राप्त न कर सकेंगे । इसलिये हे सवितः, तुम हमें उस अपनी मही माता के प्रति हमारे धर्म की सदा प्रेरणा करते रहो ।

(अदितिं नाम) अदिति नाम **(महीं मातरं)** महान् भूमि माता को **(वाजस्य प्रसवे नु)** अन्न, बल, ज्ञान आदि की उत्पत्ति के लिए ही हम **(वचसा)** वाणी द्वारा **(करामहे)** अभिमुख करते हैं, माता बनाते हैं । **(यस्यां)** जिस अदिति में **(इदं विश्वं भुवनं)** यह सब की सब व्यक्तियें और वस्तुएं **(आविवेश)** समाई हुई हैं, **(तस्यां)** उसी में, उसी के प्रति **(सविता देवः)** प्रेरक प्रभु **(नः धर्म)** हमारे धर्म, कर्त्तव्य की **(साविषत्)** सदा प्रेरणा करें ।

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ, याभ्यां रक्षांसि अपहंस्यग्ने ।
ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं, यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥

यजु० 18.52

हे अग्ने ! हे आत्मन् ! तू अपने दोनों पक्षों द्वारा सब बाधाओं को हटाता हुआ निरन्तर गति करता जाता है । तुझमें 'शवस्' और 'घृत' की, बल और दीप्ति की, कर्म और ज्ञान की, कार्य और कारण की, स्थूल और सूक्ष्म की व पृथिवी और दिव् की जो दो विभिन्न शक्तियाँ निहित हैं, वे ही तेरे दो अजर पक्ष हैं, कभी जीर्ण न होने वाले तेरे दो पंख हैं, जो कि पतत्र वाले हैं, तुझे ऊपर उड़ाने वाले हैं, उठाने वाले हैं । इनसे तू उड़ता है, सब बाधाओं को दूर करता हुआ उड़ता है, उन्नत होता है । उन्नति को रोके रखने वाले ही 'रक्षस्' होते हैं । इन सब राक्षसों को, रुकावटों को, विघ्नों और बन्धनों को तू अपने इन दोनों पक्षों की समतोल क्रिया द्वारा और सम्मिलित यत्न द्वारा काटता हुआ चलता जाता है । हे अग्ने ! हम भी तेरे इन दिव्य पंखों का सहारा लेकर उड़ना चाहते हैं । हम अब अपने जीवन में कर्म और ज्ञान की ऐसी समतोलता रखते हुए बढ़ें कि इससे हमारे आगे चलने में कभी कोई रुकावट न पड़े । जब कभी हम किसी एक पार्श्व में कमी या अति करते हैं अर्थात् ज्ञान में ग्रस्त हो कर्म छोड़ देते हैं या ज्ञान को भूल कर्म में बह जाते हैं अथवा जब कभी हम इन दोनों को परस्पर सम्बद्ध नहीं रखते अर्थात् ज्ञान के अनुसार कर्म नहीं करते या कर्म से अगला ज्ञान नहीं प्राप्त करते, तभी रुकावट होती है, तभी राक्षसों की जीत हो जाती है । अतः हे अग्ने ! यदि हम तुम्हारे इन दिव्य अजर पतत्री पंखों को पा सकेंगे, तभी हम बिना रुकावट उन्नत हो सकेंगे और उस लोक को पहुँच सकेंगे जहाँ कि उत्तम कर्म और उत्तम ज्ञान अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त हुए हैं; उस 'सुकृतां लोकं' को, श्रेष्ठ कर्म वाले पुरुषों के लोक को, पहुँच सकेंगे जहाँ कि पुराने प्रख्यात महाज्ञानी पहुँचते रहे हैं ।

(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तेरे (इमौ) ये (अजरौ) अजर (पतत्रिणौ) ऊपर उड़ाने वाले (पक्षौ) दो पक्ष, दो पंख हैं (याभ्यां) जिनसे कि तू (रक्षांसि) राक्षसों को (अपहंसि) हटा देता है, मार भगाता है, (ताभ्यां) उन्हीं पंखों से (उ) ही हम भी (सुकृतां लोकं) उस श्रेष्ठ कर्मों वालों के लोक को (यत्र) जहाँ (प्रथमजाः) हम से पहिले पैदा हुए हुए (पुराणाः) पुराने (ऋषयः) ज्ञानी लोग (जग्मुः) पहुँचते रहे हैं (पतेम) हम भी उड़ें, उन्नत होते हुए पहुँचें ।

यदाकूतात् समसुस्रोत् हृदो वा मनसो वा संभृतं चक्षुषो वा।
तदनुप्रेत सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥

यजु० 18.58

उस लोक को उड़ने का, उस लोक में पहुँचने का मार्ग बड़ा सहज हो जाता है, यदि किसी तरह हमारी वैयक्तिक प्रकृति उस तरफ झुक जाय, उस तरफ प्रवृत्त हो जाय, उधर चलने लगे; हठयोग की भाषा में, यदि किसी तरह हमारी कुंडलिनी शक्ति का जागरण हो जाय क्योंकि उस अवस्था में हम बरसती हुई ईश्वरीय-शक्ति के धारण करने के योग्य हो जाते हैं। तब तो हमें ईश्वरीय-शक्ति का एक बिन्दु मिल जाना पर्याप्त होता है, उस एक शक्ति-बिन्दु को ही लेकर हमारी वैयक्तिक प्रकृति (शक्ति) चल पड़ती है और हमें बड़ी आसानी से हमारे ध्येय तक पहुँचा देती है। प्रभु की दया होने पर यह शक्ति-बिन्दु 'आकूत' से, आत्मिक ईक्षण व आत्मिक संकल्प से, चूता है, गिरता है। इस शक्ति-बिन्दु का निपात अपनी आत्मा के आकूत से या बहुधा दूसरी किसी बलवान् महान् आत्मा (गुरु) के आकूत से हुआ करता है। यह शक्ति-निपात आकूत से आकर गुरु के हृदय से या मन से या आँख से प्रकट होता है। गुरु इस शक्ति को या तो अपने हृदय से शिष्य के हृदय में डालते हैं, या अपने मन से शिष्य के मन में, या कभी अपनी आँख से ही शिष्य की आँख में इसका संचार कर देते हैं। ऋषियों ने बताया है, आत्मा का निवास सुषुप्ति में हृदय में होता है, स्वप्न में मन में और जागृत में दक्षिणाक्षि में होता है। जो हो, परमगुरु परमेश्वर की कृपा होने पर 'आकूत' द्वारा नाना प्रकार से शक्ति का विनिपात हुआ करता है और अधिकारी आत्मा (शिष्य) इसे अपने में अच्छी तरह धारण, संभृत, कर लेता है। धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें कि भगवान् का ऐसा आशीर्वाद प्राप्त होता है। भाइयो! यदि तुम्हें कभी कोई शक्ति-निपात प्राप्त हुआ है और तुमने उसे संभृत कर लिया है तो तुम उसे ही लेकर चल पड़ो, निःशंक होकर चल पड़ो। तब तुम्हें साफ सीधा चौड़ा मार्ग मिल गया है। निश्चय से तुम अपने अभीष्ट लोक को पहुँच जाओगे, उस सुकृतों के लोक को, श्रेष्ठ कर्म वालों के लोक को पहुँच जाओगे जहां कि तुम से पहिले पैदा हुए पुराने सब ज्ञानी ऋषि लोग पहुँचते रहे हैं।

(यत्) जो शक्ति-बिन्दु (आकूतात्) आत्मिक ईक्षण से, आत्मिक संकल्प से (सं असुस्रोत्) अच्छी तरह चुआ है, विनिपतित हुआ है, और (हृदः वा) या तो हृदय से, बुद्धि से (मनसः वा) या मन से (चक्षुषः वा) या आँख [आदि इन्द्रिय] से चुए हुए इसे (सं भृतं) तुमने सम्यक्तया धारण कर लिया है तो तुम (तत् उ) इसे ही लेकर (अनुप्रेत) चल पड़ो, पीछे होलो, इस तरह तुम (सुकृतां लोकं) उस श्रेष्ठ कर्मों वालों के लोक को पहुँच जाओगे (यत्र) जहां, जिस लोक को (प्रथमजाः) तुम से पहिले उत्पन्न हुए (पुराणाः) पुराने (ऋषयः) ऋषि लोग (जग्मुः) पहुंचते रहे हैं।

प्रजापते रावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् ॥
अथर्व० 17.1.27

हे प्रभो ! मेरी महत्त्वाकांक्षा यह है कि मैं पुण्य कर्म करता हुआ हज़ार वर्ष तक जीवन धारण करूँ । ऐसे दिव्य जीवन बिताने वाले सिद्ध पुरुष संसार में हुआ करते हैं । मैं वैसा ही विभूतिसम्पन्न होना चाहता हूँ । मेरी अमर आत्मा अपने अमरत्व को लगभग स्थूल शरीर तक पहुँचा देगी । सर्व साधारण लोगों के तो आत्मा मन का शरीर पर असर नहीं होता है किन्तु उनके शरीर का मन आत्मा पर असर होता है । इसीलिये वे स्थूल भौतिक संसार के वृद्धि-क्षय आदि नियमों के वशीभूत होते हैं और उन्हें इतनी जल्दी जल्दी चोले बदलने पड़ते हैं परन्तु मैं अपने आपको ऐसे दिव्य कवचों से सुरक्षित करूँगा कि मेरे आत्मा का ही प्रभाव बेरोक-टोक स्थूल शरीर और स्थूल जगत् तक पड़ेगा । मैं अपने आत्मा को, कारण शरीर को, 'प्रजापति के ब्रह्म' से ईश्वर की प्राज्ञावस्था के कवच में ढक लूँगा और अपने बुद्धि मन आदि सूक्ष्म शरीर को 'कश्यप' की, कश्यप हिरण्य-गर्भ की ज्योति से ढक लूँगा तथा अपने प्राणशरीर को उसके वर्चस् से, प्राणमय तेज से ढक लूँगा । एवं मुझ में पूरा आत्मिक वीर्य तथा मानसिक व शारीरिक वीर्य भी सञ्चित, रक्षित रहेगा । अतः मैं इतनी लम्बी जीर्णता की अवस्था तक भी सर्वथा समर्थ रहूंगा । मुझ में सर्वत्र गमन कर सकने की सिद्धियां प्राप्त होंगी और मैं हजार वर्ष तक जीता हुआ सर्व-कल्याण के सुकृत कर्म करता रहूंगा । हे जगदीश्वर ! मेरी इस महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करो ।

(प्रजापतेः) प्रजापालक 'ईश्वर' के (ब्रह्मणा) महान् ज्ञानरूपी 'प्राज्ञतारूपी' (वर्मणा) कवच से (आवृतः) ढका हुआ और (कश्यपस्य) महासूर्य 'हिरण्यगर्भ' के (ज्योतिषा) प्रकाश से (वर्चसा) तथा तेज से ढका हुआ मैं (जरदष्टिः) बड़ी वृद्धावस्था में भी सब कर्म-सामर्थ्य रखने वाला (कृतवीर्यः) सब प्रकार के वीर्य को सञ्चित किये हुए (विहायाः) विविध गमन की सिद्धि रखने वाला (सहस्रायुः) हजार वर्ष की उमर वाला होकर (सुकृतः) सुकृत कर्म करता हुआ (चरेयम्) विचरता रहूं, जीवित रहूँ ।

स पर्यगात् शुक्रमकायमव्रणं, अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भू र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्य ॥

यजु॰ 4.8

वह परमेश्वर तो सर्वत्र फैला हुआ है, व्यापा हुआ है । वह अपने दीप्यमान शुक्र रूप में, सब प्रकार के शरीरों से रहित होकर, अतएव शारीरिक व्रणादि दोषों तथा स्नायु आदि बन्धनों से रहित होकर, सर्वथा शुद्ध, सूक्ष्ममल रूप पापों से भी सर्वथा रहित, त्रिकाल में रहित सदा सर्वदा मुक्त रूप होकर सर्वत्र फैला हुआ है, सर्वत्र रमा हुआ है । एवं सर्वव्यापक सर्वगत होकर वह परमेश्वर इस सब जगत् को चला रहा है, इसकी ठीक ठीक परिपूर्ण व्यवस्था कर रहा है । शाश्वत काल से अपनी सनातन प्रजा के लिए, प्राणिमात्र के लिए, सब अर्थों को रच रहा है, ज्ञान ऐश्वर्य कर्मभोग आदि सब पदार्थों को यथावत् परिपूर्ण न्याय से सब को दे रहा है और शाश्वत काल तक देता रहेगा क्योंकि वह क्रान्तदर्शी कवि सर्वज्ञ है, सब के मनों को जानने और प्रेरणे वाला मनीषी है, सब वस्तुओं का परिभव करने वाला सर्वत्र सब से ऊँचा परिभू है और स्वयमेव विद्यमान स्वाधार आत्माश्रय अजन्मा स्वयंभू है । यही हमारे परम ईश्वर का स्वरूप है । हे मनुष्यो ! इस स्वरूप को अपने हृदयों में बसा लो, अपने अन्तःकरण में रमा लो ।

(सः) वह परमेश्वर (शुक्रं) दीप्यमान रूप से (अकायं) शरीर रहित होकर (अव्रणं अस्नाविरं) व्रण रहित और स्नायु रहित होकर (शुद्धं) सर्वथा शुद्ध और (अपापविद्धम्) पाप से भी सर्वथा अछूता होकर (परि अगात्) सर्वत्र फैला हुआ है, सब तरफ व्यापा हुआ है । वह (कविः) क्रान्तदर्शी (मनीषी) सब के मनों का स्वामी (परिभूः) सब का परिभव करने वाला, सब से ऊँचा और (स्वयंभूः) स्वयं विद्यमान अजन्मा परमेश्वर (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) अपनी सनातन प्रजाओं के लिए [शाश्वत काल से] (अर्थान्) सब अर्थों को, [वेदज्ञान, ऐश्वर्य, कर्मफल आदि सब पदार्थों को] (याथातथ्यतः) ठीक ठीक, यथावत्, पूर्ण न्याय से (व्यदधात्) विधान करता है, रचता है, देता है ।

आ रुद्रास इन्द्रवन्तः सजोषसो हिरण्यरथाः, सुविताय गन्तन ।
इयं वो अस्मत् प्रतिहर्यते मतिः, तृष्णजे न दिव उत्सा उदन्यवे ॥

ऋ० 4.3.21

हे प्राणो ! तुम इन्द्रवन्त हो । आत्मशक्ति या आत्मैश्वर्य तुम्हारे साथ रहता है । शरीर में जितने प्राण भरे रहेंगे, उतनी ही इसमें आत्मशक्ति जागृत होगी और चूंकि तुम मिल करके शरीर का सेवन करने वाले, प्राण अपान आदि रूप से शरीर के अंगों में विभक्त होकर सारे शरीर को अपने सम्मिलित यत्न से धारने वाले हो, अतः तुम्हारी वृद्धि से हमारी सर्वांगीण उन्नति होती है । और हम यह भी जानते हैं कि तुम्हारा रहण (संचार) हित और रमणीय दोनों है । यद्यपि संसार में प्रायः हितकर वस्तुएँ आनन्ददायक नहीं होतीं, किन्तु तुम्हारे पूरण से जहाँ बड़ा भारी हित होता है वहाँ तुम्हारे संचार से शरीर में बड़ा ही आनन्द भी अनुभूत होता है । शरीर में प्राणों के बढ़ जाने से जो एक शक्ति का, यौवन का, उत्साह का, एक हितकारी नशे का सा आनन्द अनुभूत होता है, उसे प्राण साधना करने वाले ही जानते हैं । इसलिये हे प्राणो ! मेरा यह शरीर तुम्हें चाह रहा है । जब से मुझे तुम्हारे इस माहात्म्य का कुछ पता लगा है और कुछ अनुभव मिला है, तब से मेरा ध्यान और सब बातों की तरफ से हटकर केवल इसमें लगा हुआ है कि मेरे शरीर में प्राणों का आगमन, प्राणों का पूरण कब होगा । तब से मेरी मति, मेरी कामना तुम्हारी तरफ ही दौड़ रही है । मैं देखता हूँ कि शरीर में तुम्हारे आगमन बिना मेरा 'सुवित', मेरी उत्तम गति नहीं हो सकती है । मैं देखता हूँ कि तुम्हारी कमी के कारण—प्राणसाधना द्वारा शरीर में तुम्हारा पूरण न हो जाने के कारण मेरी बड़ी हानि हो रही है । इसलिये हे प्राणदेवो ! मैं तुम्हारे पाने का प्यासा हो गया हूँ । जैसे कि चातक आकाश की दिव्यधाराओं का प्यासा होता है या जैसे कि गर्मी के दिनों में पिपासाकुल मनुष्य 'पानी पानी'[1] चिल्लाता है, उसी तरह मुझे भी अब तुम्हारे आपूरण बिना चैन नहीं मिल सकता । इसलिये, हे प्राणरूपी दिव्य जलो ! तुम मेरे उत्तम कल्याण के लिए आओ और मेरी पिपासा बुझा जाओ । यह शरद् ऋतु तुम्हारे आगमन के लिए बहुत अनुकूल है; अतः इस समय तो आओ, अवश्य आओ ।

(रुद्रासः) हे प्राणो ! (इन्द्रवन्तः) आत्मैश्वर्य वाले (सजोषसः) साथ मिल कर सेवन करने वाले (हिरण्यरथाः) हितरमणीय रहण वाले तुम (सुविताय) हमारी उत्तम गति के लिए (आ गन्तन) आओ, हममें आओ । (इयं) यह (अस्मत्) मेरी (मतिः) मति, इच्छा (वः) तुमको (प्रति हर्यते) चाह रही है, कामना कर रही है, अतः (तृष्णजे न उदन्यवे) जैसे कि प्यासे चातक के लिए (दिवः उत्साः) आकाश से वर्षाधाराएँ आती हैं, वैसे तुम्हारे पाने के प्यासे मुझे तुम प्राप्त होओ, आओ ।

1—'आपोमयः प्राणः' अर्थात् प्राण जलमय है । छा० उ० 6-5-4

शरद्

शरद् की ऋतुचर्या

लक्षण—जब वर्षा समाप्त हो जाती है, आकाश बादलों से निर्मल हो जाता है तो यह वर्षा और सर्दी (हेमन्त) के मिलाने वाली बीच की ऋतु शरद् ऋतु कहलाती है। इसके महीने आश्विन और कार्तिक हैं।

महिमा—यह ऋतु वसन्त ऋतु के मुकाबिले की और उस के समान है। वसन्त से गर्मी की छमाही शुरू होती है तो इस शरद् से सर्दी की छमाही का प्रारम्भ होता है। अतः इसमें भी न तो ऋतु अतिगर्म होती है और न अतिशीत। बड़ा सुहावना मौसम होता है। मीठा-मीठा शीत पड़ना प्रारम्भ होता है। सब वृक्ष वनस्पतियाँ वसन्त में नवांकुर से पल्लवित और पुष्पित होती हैं तो शरद् में ये वनस्पतियाँ पकती हैं, फलयुक्त हो परिपक्वावस्था में आ जाती हैं। वसन्त में कफ कुपित होता है तो इसमें पित्त कुपित होता है। हठयोगी लोग इस ऋतु में, इस शीत छमाही के प्रारम्भ में भी षट्कर्मों द्वारा शरीर शुद्धि किया करते हैं, विशेषतया इस में पित्त की अधिकता का निवारण करते हैं, जैसे कि वसन्त में कफ का निवारण। एवं वसन्त के समान यह ऋतु भी प्राणसम्बन्धी क्रियाओं के अभ्यास करने के लिए अति उत्तम है। प्राणायाम का नया प्रारम्भ तथा प्राणोत्थान के अभ्यास इस ऋतु में करना बहुत लाभदायक होता है।

वर्षा ऋतु के उपद्रवों के हट जाने के कारण इस ऋतु का लोग बड़े उत्साह से प्रारम्भ मनाते हैं, स्वागत करते हैं। प्राचीन समय में लोग इस शरद् ऋतु से यात्रा का, राजा लोग चढ़ाई आदि का, प्रारम्भ किया करते थे। वर्षा ऋतु से सीले हुए या जंग लगे हुए या अन्य प्रकार से खराब हुए अपने हथियार औजार आदि सब वस्तुओं को तथा अपने घर को ठीक ठाक और संस्कृत किया करते थे। हमारे देश के प्रसिद्ध दशहरा और दीपावली त्यौहार भी इस ऋतु में आते हैं।

गुण—शरद ऋतु उष्ण पित्तकारक तथा मनुष्यों में बल उत्पन्न करने वाली है। इस ऋतु में जठराग्नि और बल मध्यम अवस्था में होते हैं।

पथ्यापथ्य—वर्षा में कुपित होने वाला वायु यद्यपि इस शरद् ऋतु के आने पर शान्त हो जाता है, किन्तु वर्षा ऋतु के जल तथा वनस्पतियों के प्रयोग से शरीर में संचित हुआ पित्त इस ऋतु में आकर प्रकुपित हो जाता है। इसलिये इस ऋतु में पित्तनिवारक उपाय करने चाहियें। इस समय की धूप सेकना भी अच्छा नहीं है। इससे भी पित्त प्रकोप की सम्भावना होती है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जब

तक जाड़ा अच्छे रूप में न पड़ने लग जाय, तब तक भोजन भी अल्पमात्रा में करना चाहिये। पित्त प्रकुपित होकर विषम ज्वर (मलेरिया) इस ऋतु में होता है। इसके लिये निम्बू की शिकंजवी, तुलसी की चाय आदि का सेवन करना चाहिये। पित्त निकालने के लिए पित्त विरेचन लेने चाहिये (जैसी आमलकी मधु चूर्ण के साथ या चिरायता आदि तिक्त पदार्थ का क्वाथ लेवें)। पित्त विरेचन के लिए यह ऋतु बहुत अच्छी है।

पित्तकारक भोजन अर्थात् खट्टे तीक्ष्ण गरम पदार्थ, यथा मिर्च मसाला तैल तथा दही आदि के सेवन से बचना चाहिये। पित्तहर मधुर कसैले कड़वे रस तथा हल्के शीतल भोजन खाने चाहिये। घी और साठी के चावल विशेष हितकारी होते हैं। दूध, गेहूँ, जौ, मूंग, ईख एवं मिश्री कपूर आदि का सेवन, जलाशय व चाँदनी का सेवन इस ऋतु में हितकर है।

आश्विन (कन्या) के लिए

प्राणदायक व्यायाम

प्रारंभिक स्थिति में खड़े हो जाइये, भुजायें नीचे लटकी हों और हाथ खुले हुए हों। टाँगों की मांसपेशियां तान लीजिये और इस सारी व्यायाम में गोडों व टाँगों को कभी झुकनें मत दीजिये। दोनों भुजाओं को सामने लाइये और इन्हें सिर के ऊपर पूरी लम्बाई में खड़ा कर लीजिये। अब इसी स्थिति में सिर को हाथों के बीच में रखते हुए अपने को इस तरह आगे झुकाइये कि आप के हाथ नीचे आकर पैर के अंगूठों को छू लेवें। प्रारम्भिक स्थिति में लौट आइये, अंगों को ढीला छोड़ दीजिये और इस व्यायाम को फिर कीजिये। जब भुजाओं को सिर के ऊपर खड़ा कर रहे हों तो अन्दर पूर्ण दीर्घ श्वास दीजिए और जब पैरों को छूने के लिए सामने झुक रहे हों तो श्वास को बाहर छोड़िए।

इस व्यायाम को करते हुए अपना मन गुर्दों और कटिप्रदेश पर केन्द्रित कीजिये और आप के गहरे और दीर्घ श्वास से इन अगों को जीवन मिल रहा है, ऐसा चित्रित कीजिए। इसी के अनुसार ध्यान के शब्द निश्चित कर लीजिये। मेरे गुर्दे ठीक काम कर रहे हैं, यह ध्यान कीजिए।

इन अंगों को गौणतया चैत्र, आषाढ़ तथा पौष की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यं अगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

ऋ० 1.50.10, अथर्व० 7 5.53

हमें ऊपर-ऊपर, अधिक-अधिक प्रकाश में उठना है। इस अन्धकारमय अवस्था से निकल परमज्योति तक पहुंचना है। हमें अपनी यह वर्तमान अवस्था अन्धकारमय इसलिये नहीं प्रतीत होती है चूंकि हमें उसके अतिरिक्त अभी और किसी प्रकाश का पता ही नहीं है। यदि हमें इससे अगला ही प्रकाश दीखने लगे तो कम-से-कम इस वर्त्तमान अंधेरी दशा से बाहर निकलने को हमारा जी अवश्य छटपटाने लगे। हाँ, उस अन्तिम ज्योति तक बेशक हम धीरे-धीरे ही पहुंचेंगे। एक दम उस परमज्योति को तो हमारी आँख सह ही नहीं सकेगी, अभी उस चकाचौंध करने वाले महाप्रकाश के दृष्टिगोचर हो जाने पर तो शायद हमारी अनभ्यस्त निर्बल दृष्टि अन्धी हो जाय या हम पगला जायें। अतः हमें क्रमशः एक के बाद एक उच्चतर प्रकाश को देखते हुए ऊपर जाना होगा। हम इस तामसिक दशा को छोड़ राजसिक अवस्थाओं से गुजरते हुए सत्त्व के प्रकाश में पहुँचेंगे। इस जड़ (नास्तिकता) वाद और भोगवाद के अन्धकार से उठ देववाद और यज्ञवाद के विविध प्रकाशों को देखते हुए उस सर्वोच्च प्रकाश में जा पहुँचेंगे जहाँ एकेश्वरवाद और सर्वोदयवाद का अखण्ड राज्य है। जड़ता, स्थूलता के पार्थिव अन्धकार से उठकर सूर्य किरणों से प्रकाशित सूक्ष्मतर विस्तृत अन्तरिक्ष की सैर करते हुए उस सूर्य ही को पा लेंगे जिसकी कि ज्योतिर्मय किरणों से अन्य सब लोक प्रकाश पा रहे हैं। हे प्रभो! हम पर ऐसी कृपा करो कि हम इस अन्धकारमय प्रकृतिग्रस्त अवस्था से उठकर नाना देवों को दिखलाने वाली अपनी आत्मिक ज्योति को विविध प्रकार से देखते हुए अन्त में तुम्हारी उस परमात्मज्योति को पा लेवें, जिसमें कि तुम सब देवों के देव और सब ब्रह्माण्ड के प्रेरक महान् सूर्य होकर अपने अनन्त अपार अखण्ड प्रकाश में सदैव जगमगा रहे हो, सदैव देदीप्यमान हो रहे हो।

(वयं) हम (तमसः परि) अन्धकार से ऊपर (उत्) ऊँचे उठकर (उत्तरं ज्योतिः) अधिक उच्च, उच्चतर, प्रकाश को (पश्यन्तः) देखते हुए उस (देवत्रा देवं) सब देवों के देव, सब प्रकाशों के प्रकाशक (सूर्यं) सर्व प्रेरक, महासूर्य को (उत्तमं ज्योतिः) उस सबसे उत्तम, उच्चतम ज्योति को (अगन्म) प्राप्त करें।

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रपः॥

ऋ० 10.137.2

हे मनुष्य ! तुझ में दो वायु चल रही हैं। तुझ में श्वास और प्रश्वास के रूप में प्राण की दो तरह की गति हो रही है। श्वास द्वारा बाहर का शुद्ध वायु तेरे अन्दर के सिन्धु, स्पन्दनशील हृदय, तक आता है और प्रश्वास द्वारा अन्दर का दूषित वायु बाहर 'परावत्' तक पहुंचता है। हमारे अन्दर हृदय वह 'सिन्धु स्थान है जहाँ कि सैकड़ों रुधिरवाहिनी नाड़ी रूपी नदियाँ आ आकर मिलती हैं, और बाहर 'परावत्' वह वायुमण्डल नामक स्थान है जो कि वायु का अपार अटूट भण्डार है। एवं ये जो परावत् से सिन्धु तक और सिन्धु से परावत् तक दो वायु हम में निरन्तर चल रही हैं, ये ही हमारे जीवन का आधार हैं क्योंकि इनमें से पहिली वायु, श्वास, हमारे सिन्धु में बाहर से प्राण और नवजीवन को लाती है और हमारे रुधिर के एक-एक कण को नव बल से संयुक्त कर देती है और दूसरी वायु हमारे रुधिर में से, सारे शरीर में से सब मल, दोष, विकार को बहा ले जाती है और बाहर परावत् में फेंक देती है। एवं हमारा जीवन बढ़ रहा है हम नित्य अधिक अधिक बलवान् और अधिक अधिक नीरोग होते जा रहे हैं। पर हे मनुष्य ! यह द्विविध प्राणक्रिया केवल तेरे भौतिक जीवन का सिद्धान्त नहीं है किन्तु तेरे मानसिक और आत्मिक जीवन का रहस्य भी इसी में है। तू जानता नहीं है कि सब महामना महापुरुष अपने श्वास द्वारा केवल शारीरिक शक्ति का नहीं किन्तु उत्साह, धैर्य, बल, सत्य, प्रेम आदि सब मानसिक और आत्मिक सद्भावों को अन्दर ले रहे हैं तथा प्रश्वास द्वारा सब मन्दता, कायरता, अशक्ति, झूठ, घृणा आदि सभी असद्भावों को बाहर निकाल रहे हैं और इसीलिये वे महान् हुए हैं। प्राण के साथ मन ऐसा जुड़ा हुआ है कि तू श्वास के साथ जो सोचेगा, वह तुझ में आ बसेगा और जिसे प्रश्वास के साथ ध्यान करेगा, वह बाहर निकल जायेगा। जरा अपनी प्रार्थना में तू इस सिद्धान्त का उपयोग करके देख। जिसे बसाना चाहता है, उसे श्वास के साथ चित्रित करके देख और जो अशुभ विचार टलता ही नहीं है, उसे उसके आने पर बार-बार प्रश्वास के साथ बाहर करके देख, तो तुझे निस्संदेह अद्भुत सफलता मिलेगी। एवं अपनी व्यायाम में, प्राणायाम में और प्रार्थना में तू इस जगत्व्यापक जीवन-सिद्धान्त का सदा उपयोग कर। तू देख कि तू अपनी इस द्विविध प्राणक्रिया द्वारा अनन्त शक्ति भण्डार से जुड़ा हुआ है और तू इस भण्डार से अपने प्रत्येक श्वास द्वारा यथेच्छ बल पा सकता है और अपने प्रत्येक प्रश्वास द्वारा उस पवित्रताकारक महापारावार में अपनी तुच्छ मलिनतायें फेंक कर सदा पवित्र होता रह सकता है। अतः हे मनुष्य ! तू उठ और अब अपने प्रत्येक श्वास और प्रश्वास के साथ नित्य उन्नत और नवजीवन-सम्पन्न होता जा।

(इमौ द्वौ) ये दो प्रकार की (वातौ) वायुएँ (वातः) बहती हैं, एक वायु (आ सिन्धोः) हृदय तक चलती है और दूसरी (आ परावतः) बाहर के वायुमण्डल तक चलती है। (अन्यः) उनमें एक (ते) तेरे लिए (दक्षं) बल (आवातु) अन्दर बहा लाये और (अन्यः) दूसरा (यद्रपः) जो दोष बुराई है उसे (परावातु) बाहर बहा ले जाये।

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः ।
त्वं हि विश्वभेषजो देवानां दूत ईयसे ॥ ऋ॰ 10.137.3

हे वायु ! हे प्राण ! तुम सर्व औषध रूप हो, तुम में सब की सब दवाइयां मौजूद हैं। मैं तो यूं ही इन बाहिर की नाना प्रकार की दवाइयों के खाने पीने के चक्कर में पड़ा हुआ हूं। यदि मैं, हे तात ! तुम्हारा ठीक तरह सेवन करूं, तुम्हारी शक्ति का उपयोग करूं, तो मुझे कभी किसी दवा की जरूरत न हो। संसार के 90 प्रतिशत रोगी इसीलिये रोगग्रस्त हैं चूंकि वे ठीक तरह श्वास लेना नहीं जानते तथा सर्वौषधमय तुम्हारा लाभ उठाना नहीं जानते। यदि हम ठीक प्रकार श्वास लेवें तो अन्दर आता हुआ श्वास ही हमारा दिव्य औषधपान होवे और बाहर जाता हुआ प्रश्वास हमारे सब रोग-मल निकालने वाला होता रहे। यह जो कहा जाता है कि देवताओं के वैद्य अश्विनी कुमार हैं वे और कोई नहीं है, वे नासत्यौ (नाक से पैदा होने वाले) अश्विनौ ये श्वासप्रवास या प्राणापान ही हैं जिन्हें इड़ा, पिंगला, चन्द्रप्राण, सूर्यप्राण आदि अन्य रूपों में भी देखा जाता है। इस प्राणापान के नियमन द्वारा संसार के सब रोगों की दिव्य और अमोघ चिकित्सा हो जाती है। मैं यूंही बाहर के वैद्यों को खोजता फिरता हूं, जब कि असली दिव्य वैद्य मेरे अन्दर ही बैठे हुए हैं। सब औषध मेरे अन्दर मौजूद हैं, मैं इन्हें बाहर कहाँ ढूंढ़ता हूँ ?

और हे प्राणो ! तुम तो देवदूत हो; हमारे अन्दर देवदूत होकर चल रहे हो, हमारे अन्दर सब देवों के सन्देशों को लाकर सुनाते हुए सदा चल रहे हो। हम प्राणोपासना से रहित, स्थूलरत लोग बेशक तुम्हारे इन सूक्ष्म देव-संदेशों को न सुनते हों अतएव तुम्हारी दिव्य चिकित्सा से वंचित रहते हों, परन्तु जो तुम्हारे उपासक हैं वे तो अपने प्राण में सूक्ष्म रूप से चलने वाले सब पृथिवी, अप, तेज आदि देवों के सन्देशों को सुनते हैं। शरीर की सब हरकतों व चेष्टाओं के प्रेरक और नियामक वात ! हे प्राण ! शरीर में दोष उत्पन्न होते ही तुम तो हम में दिव्य प्रेरणायें करते हो, शरीर को विशेष प्रकार से हिलाने डुलाने व चेष्टा करने की प्रेरणा तथा विशेष प्रकार के भोजन पान आच्छादन की प्रेरणा पैदा करते हो, यदि हम उन्हें सुना करें, तुम द्वारा आये उन देवों के संदेशों को सुन लिया करें और उनके अनुसार आचरण कर लिया करें तो हमारे सब रोगों की चिकित्सा हो जाया करे या बहुत अवस्थाओं में तो हम रोग के उत्पन्न होने से ही बच जाया करें। पर हम उन्हें सुनते नहीं हैं। दूसरी तरफ जो सुनने वाले हैं, वे अपनी नासिकाओं में चलने वाले तुम्हारे 'स्वरों' को भी सुनते हैं।

(वात) हे प्राण ! (भेषजं आवाहि) मुझ में औषध को वहा लाओ और (वात) हे प्राण ! (यद् रपः) मुझ में जो दोष मल है उसे (वि वाहि) मुझ से बाहर बहा ले जाओ। (त्वं) तुम (हि) निश्चय रूप से (विश्वभेषजः) सर्व औषध रूप हो, (देवानां दूत ईयसे) तुम देवताओं के दूत होकर चल रहे हो।

उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन्, मो अहं द्विषते रधम् ।।

ऋ० 1.50.13

मनुष्य कभी अहिंसक नहीं हो सकता है, जब तक कि वह आस्तिक न होये, जब तक कि उसे परमात्मा के परिपूर्ण और अटल न्याय में विश्वास न होये । दुष्ट पापी अत्याचारी का मैं क्यों न विनाश कर डालूंगा जब कि मैं देखता हूँ इसके सिवाय और कोई इलाज नहीं है परन्तु आत्म-ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इस तरह नहीं सोच सकता । परमात्म-सूर्य उदय हो जाने पर सब दृश्य पलट जाता है । तब दीखता है कि किसी की हिंसा करना उसके वशंगत हो जाना है, उसके काबू चढ़ जाना है । शत्रु को अपने काबू करने का एकमात्र उपाय तो उसे अपनाना, उस तक अपनी आत्मा को फैला लेना ही है । आत्मप्रकाश फैल जाने पर संसार में कोई अनात्म नहीं रहता, कोई शत्रु या द्वेष नहीं रहता । देखते क्यों नहीं, अपने परिपूर्ण तेज और बल के साथ यह 'आदित्य' इस विश्व में उदित हुआ हुआ है, अपनी परिपूर्ण सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता के साथ वह अखण्ड राजा इस विश्व का शासन कर रहा है । वह तो अपने उदित होने, जागृत रहने मात्र से परिपूर्ण ब्रह्माण्ड की ठीक ठीक व्यवस्था कर रहा है । उस का सर्वज्ञ तेजस्वी कानून स्वयमेव स्वभावतः सब दण्डनीयों को दण्ड देता हुआ, सब हिंसनीयों का हिंसन करता हुआ निरन्तर चल रहा है । तो फिर महाअज्ञानी और मूर्ख मैं इस संसार में किसी को मारने वाला कौन होता हूँ ? सचमुच किसी की हिंसा करना ईश्वरीय 'कानून को अपने हाथ में लेना है ।' हिंसा करना केवल ईश्वरीय व्यवस्था में दखल डालना नहीं है किन्तु उस व्यवस्था (कानून) का अपराधी बनना भी है । इसलिये उसे उदय हुआ देख लेने पर, उसे सब दण्डनीयों का ठीक ठीक निरन्तर दण्डविधान करता हुआ देख लेने पर, मैं तो अब निश्चिन्त और शांत हो गया हूँ । मैं अब किसी की हिंसा करने की मूर्खता नहीं कर सकता । मैं देखता हूँ कि मैं उसके सच्चे शासन में यदि कुछ सहायता कर सकता हूँ, उस की दुष्टों पापियों अत्याचारियों के इलाज में कुछ सहायता कर सकता हूँ, तो वह मैं अहिंसा द्वारा, प्रेम द्वारा, अपने आत्मा के विस्तार द्वारा ही कर सकता हूँ । और इस तरह अहिंसा की शरण में पहुँच कर मैं यह भी देखता हूँ कि अब मैं कभी किसी का वशंगत, अधीन व गुलाम भी नहीं बन सकता हूँ । सचमुच किसी का 'रंधन', हिंसा करना उसके वशंगत होना है ।

देखो, (अयम्) यह (आदित्यः) आदित्य, परम आत्मसूर्य (मह्यं) मेरे लिए (दिषन्तं) शत्रु को, दुष्ट अत्याचारी शत्रु को (रंधयन्) नाश करता हुआ, वशवर्ती करता हुआ (विश्वेन् सहसा सह) अपने सम्पूर्ण तेज व बल के साथ (उद् अगात्) उदित हुआ हुआ है, इसलिये (अहम्) मैं (द्विषते) शत्रु की (मो) मत (रधं) हिंसा करूँ, शत्रु के वशवर्ती न होऊँ ।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥

अथर्व० 1.34.2

मैं माधुर्य-प्राप्ति की साधना में लगा हूँ। संसार की प्रत्येक वस्तु के सेवन द्वारा मैं अपने में मधुरता बसाना चाहता हूं। हे माधुर्य! तुम मेरे सम्पूर्ण जीवन में घुल जाओ और मेरे सम्पूर्ण जीवन को मधुरमय कर दो। मैं वाणी से मीठा ही बोलूँ। मेरी जीभ के अग्रभाग में मधु हो और मेरी जीभ का मूल और भी अधिक मधुभरा हो। हे मधुमय प्रभो! माधुर्य को न समझने वाले मनुष्य केवल काम निकालने के लिए भी मधुरता का आश्रय लेते हैं। अतः वे ऊपर के व्यवहार में, दिखावट में, मधुरता ले आना काफी समझते हैं। वे जिह्वा मूल के अन्दर अन्दर द्वेष रखते हुए भी जिह्वाग्र में प्रेम और माधुर्य ही प्रकट करते हैं। पर उन्हें मालूम नहीं कि ऐसे धोखे के माधुर्य से तो कटुता ही लाख दर्जे अच्छी है। ऐसे झूठे माधुर्य से वास्तव में कोई काम भी सिद्ध नहीं होता है। वे बिचारे माधुर्य की असली अपार शक्ति को, मैत्री के महाबल[1] को, नहीं समझते। अतः मेरी वाणी से तो जो प्रेममय मधु झरा करता है, वह सदा मेरे वाणी-मूल से, मेरे हृदय से, मेरे प्रेम भरे मानसस्रोत से ही आकर झरता है। मेरा एक एक कर्म भी मधुमय पुष्पों को बरसाता है। हे माधुर्य! तुम मेरी प्रत्येक चेष्टा में, प्रत्येक हरकत में, प्रत्येक व्यवहार में ही केवल समाये हुए न होओ किन्तु मेरी प्रत्येक बुद्धि में, प्रत्येक विचार में, प्रत्येक निश्चय में तुम्हारा वास हो। मेरे अहर्निश का एक एक संकल्प भी मधुमय होये। हे मधु! तुम मेरे सम्पूर्ण अन्तःकरण में ऐसे रम जाओ कि मेरा चित्तप्रदेश भी इससे अव्याप्त न रहे अर्थात् मेरी एक एक वासना भी माधुर्य से वासित हो जाय और मैं अपनी स्मृति व स्वप्न में भी कभी कोई द्वेष, अमैत्री व कटुता का स्वप्न तक न ले सकूँ। हे मेरे प्रेम व ज्ञानस्वरूप प्रभो! मैं तुम्हारे मधुरूप का उपासक हुआ हूँ।

(मे) मेरी (जिह्वायाः अग्रे) जिह्वा के अग्रभाग में (मधु) मिठास होये, और (जिह्वामूले) जिह्वा के मूल में (मधुलकम्) और भी अधिक मिठास मिठास, का झरना होये। हे मधु! तू (इत् अह) अवश्य ही (मम) मेरे (क्रतौ) प्रत्येक कर्म में, प्रत्येक बुद्धि में (असः) विद्यमान रह और तू (मम) मेरे (चित्त) अन्तःकरण के चित्त प्रदेश तक (उपायसि) पहुँच जा, व्याप्त हो जा।

1—'मैत्र्यादिषु बलादीनि' यो द. 3-23

यन्मन्यसे वरेण्यं इन्द्र द्युक्षं तदाभर ।
विद्याम तस्य ते वयं अकूपारस्य दावने ।।

ऋ० 5.39.2

संसार में मनुष्यों के पास अन्नभण्डार, पशु, पुत्र, यान, सामान, मुद्रायें (रुपया पैसा), प्रतिष्ठा, प्रभाव, साख आदि नाना प्रकार के ऐश्वर्य होते हैं और यह भी ठीक है कि इस धन ऐश्वर्य द्वारा संसार के बड़े काम चल रहे हैं, सुख भोगे और भुगाये जा रहे हैं। पर ऐसे लोग भी बहुत हैं जिनके पास का यह धन उन्हें सुखी और अच्छा बनाने की जगह उन्हें दुःखी और अवनत कर रहा है। धन के कारण उनके शरीर, मन और आत्मा निर्बल होते जा रहे हैं। ऐसे भी हैं जिनका धन उनके ही नहीं किन्तु अन्यों के भी विनाश का कारण हो रहा है। ऐसे धन को पाकर हम क्या करेंगे ? यह वरेण्य धन नहीं है। इसका तो न होना अच्छा है। एवं कइयों का धन इतना निस्तेज होता है कि यदि वह उन्हें हानि नहीं पहुँचाता है तो कम से कम उन्हें लाभ भी नहीं पहुँचाता। उनके धन में शक्ति नहीं होती, वह उनके उपयोग में नहीं आता या नहीं आ सकता। वह ऐसा ही है जैसा कि उतना ही मिट्टी का ढेर। इस धन को भी प्राप्त करके हम क्या करेंगे ? अतः हमें तो अपने वरेण्य और द्युतिवाले धन का ही दान करो।

पर इस जटिल संसार में इस सच्चे धन का पता पाना हमारे लिए लगभग असम्भव है। परिमित ज्ञान वाला मनुष्य इसे कहां तक जान सकता है कि यह धन कैसा है। इसीलिये हे परमेश्वर ! तुम्हीं कुछ ऐसा करो कि हमारे पास वरने योग्य और तेजस्वी धन का ही आगम हो। तेरी समझ ही निर्भ्रान्त है, पक्की है। अतः हम तो कहते हैं कि तू जिसे सच्चा धन समझता है, उसे ही हमारे पास आने दे। जो धन वरणीय नहीं है, जो तेजोरहित है, उस कुत्सित धन से हम अपने को भरना नहीं चाहते। ऐसा धन चाहे कितनी मात्रा में हमारे सामने आये, चाहे कितने प्रलोभक सुन्दर रूप में हमारे सामने आये, उसे हम कभी पाना नहीं चाहते हैं। उससे हम बचना चाहते हैं। ऐसा कुत्सित धन हमारे पास न जमा हो। अतः तुमही ऐसा करो कि हमारे पास वही धन खिंच कर आये, वही धन संचित होये जो कि बरने योग्य है, जिससे हमारी वास्तविक शरीर मन आत्मा की उन्नति हो, जिससे सब लोगों का कल्याण हो और वह धन आये जो कि कभी निस्तेज, निरर्थक और भार रूप न हो। हे परमैश्वर्यवाले ! तुझ द्वारा हम सदा ऐसे ही धन को प्राप्त करना चाहते हैं।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (यत्) जिसे तू (वरेण्यं) वरने योग्य (द्युक्षं) और तेजोयुक्त ऐश्वर्य (मन्यसे) मानता है (तद्) उसे (आभर) हमारे लिए ला, जिससे कि (वयं) हम (ते) तेरे (तस्य) उस (अकूपारस्य) अकुत्सितपूरण, जिससे अपने को भरना कुत्सित न होये ऐसे (दावने) दान को (विद्याम) प्राप्त कर सकें।

7 आश्विन

ये नदीनां संस्रवन्ति उत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैः धनं संस्रावयामसि ॥

अ० 1.15.3

सदा बहने वाली नदियों को देखो । ये अक्षीण स्रोतों से निकलती हैं अतः इनका बहना कभी बन्द नहीं होता । स्रोतों से सदा निरन्तर नया नया जल निकलता आता है और ये नदियां निरन्तर अप्रतिरुद्ध गति से बहती चली जा रही हैं । नदी के प्रत्येक स्थान पर प्रतिक्षण नया नया जल आता जाता है और वहां का पहला पहला जल आगे बढ़ता जाता है । इसी तरह मनुष्य संसार में धन का प्रवाह भी निरन्तर बह रहा है । एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य के पास धन पहुँच रहा है । कोई धनराशि किसी से किसी के पास और कोई किसी दूसरे से किसी और के पास जा रही है । एवं हमारे मनुष्य समाज में नाना प्रकार से धन की धारायें बह रही हैं । जैसे नदी प्रवाह को रोक लेने से रुका हुआ पानी सड़ने लगता है और नाना रोगों को पैदा करता है, वैसे ही जिस मनुष्य समाज में लोभी लालची, अपना ही पेट भरने वाले या कंजूस लोग धन के प्रवाह को अपने यहाँ रोक रखते हैं तो उस समाज में धन — वैषम्य के कारण नाना सामाजिक रोग और उपद्रव प्रकट होते हैं — जमींदारों और किसानों, स्वामी और श्रमियों, अमीर और गरीबों के झगड़े खड़े होते हैं और हड़ताल, अत्याचार व क्रान्तियां जन्म पाती हैं । सारा राष्ट्रीय शरीर व्याधिग्रस्त हो जाता है । इसलिये हे प्रभो ! मैं तो नदी के प्रवाह की तरह अपने पास आये धन को आगे आगे प्रवाहित करता जाता हूं । उसे अपने पास रोकने की मूर्खता नहीं करता । सब तरफ से आये धनों को, रुपये पैसे से लेकर आत्मिक ऐश्वर्यों तक के सब प्रकार के धनों को सब तरफ आगे आगे प्रवाहित करता जाता हूं । हे नाथ ! सब धन तेरा है । मैं तो केवल तुझ से आते हुए ऐश्वर्य प्रवाह को लेने वाला और इसे आगे पहुँचाने वाला हूं । क्षण भर जो मेरे पास हरेक नये धन के रूप में ताजा जल पहुँचता है, उससे ही मुझे तो मेरी पूर्ण पुष्टि मिलती जाती है । यही धनों का उपभोग है । धन को रोक रखने से तो यह हमें पुष्टि नहीं देता किन्तु बिगड़ कर, सड़कर हमारे साथ सारे समाज को हानि पहुँचाता है । अतः हे नाथ ! मैं तो तेरे प्रत्येक ऐश्वर्य को ताज़ा ताज़ा उपभोग कर उसे आगे आगे चलाता जाता हूं, जिससे कि मुझे तुझ अक्षीण स्रोत से अगला अगला नित्य नया ऐश्वर्य-जल मिलता रहे और यह प्रवाह मुझे सर्व प्रकार विकसित और पुष्ट करता हुआ मुझ द्वारा आगे आगे भी बहता ही, बहता ही जाये ।

(ये) जो (सदं अक्षिताः) सदा चलते रहने वाले, कभी बन्द न होने वाले (नदीनां उत्सासः) नदियों के स्रोत (संस्रवन्ति) निरन्तर बहते हैं (तेभिः मे सर्वैः संस्रावैः) उन्हीं अपने सब प्रवाहों के साथ (धनं) मैं अपने धन को (संस्रावयामसि) लगातार प्रवाहित करता जाता हूं ।

गायन्ति त्वा गायत्रिणो अर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रतो उद्वंशमिव येमिरे ।।

ऋ० 1.10.1

हे भगवान् ! जिसने जिस रूप में तुम्हारी महिमा को अनुभव किया होता है, वह उसी रूप में तुम्हारा वर्णन करता है और उसी रूप में तुम्हें देखता है । तुम तो शतक्रतु हो, तुम्हारा अनन्त ज्ञान, कर्म और गुण संसार में सैकड़ों प्रकार से प्रकट हो रहा है, अनुभूत हो रहा है । अतः प्रत्येक मनुष्य तेरा भजन अपने अपने अनुभव के अनुसार भिन्न भिन्न तरीके से कर रहा है । भिन्न भिन्न तरह से तुझे अनुभव कर भिन्न भिन्न प्रकार से ही सब कोई तुझसे मिलने का—तेरी तरफ पहुँचने का—यत्न कर रहा है । कोई गा गा कर तुझसे अपनी समीपता अनुभव करना चाहता है, तो कोई इसके लिए स्तुति पाठ करता है या ध्यान करता है । यह सब हे शतक्रतो ! अपने अपने तरीके से तेरी ही अनुभूति का प्रकाशन करना है, अपने अपने तरीके से तेरे ही झण्डे को ऊँचा करना है । अरे, ये नाना मतमतान्तर वाले, ये नाना तरह से उपासना करने वाले इन सब तरीकों में तेरी ही महिमा को, तेरे ही प्रचार को क्यों नहीं अनुभव करते ? ओह, तू तो इन सब में है । सचमुच, मुग्ध करने वाले साम के दिव्य गायनों में तू है, गंधर्वों की वाणी में तू है और मस्ती से गायी जाती हुई भक्त की सुरीली तानों में तू है । उपासक के अनवरत जप में तू है, सच्चे व्याख्याता के व्याख्यान में तू है और अडोल आसन लगाकर बैठे योगी के एकतान ध्यान में तू है । सब मन्त्रों में, सब सन्तों की वाणी में, सब प्रकार के भजनों में तू है । क्योंकि इन सभी साधनों से तेरा ही भक्तवंश बढ़ता है, जगत् में तेरी भक्ति का प्रसार होता है । ये सब भजन साधन और कुछ नहीं हैं, ये सब नाना प्रकार से उठाये गये तेरी महिमा के रंगबिरंगे झण्डे हैं । अहा ! देखने योग्य दृश्य है, संसार के सब ज्ञानी पुरुष तेरे सम्मान के लिए, तेरी महिमा को ऊँचा करने के लिए इन अपनी विविध प्रकार की भजनरूपी तरह तरह की ध्वजाओं को ऊँचे उठाये हुए चल रहे हैं; सभी ज्ञानी पुरुष तेरे सम्मान में अपने अपने ध्वजादण्ड उठाये चले जा रहे हैं । आहा, यह क्या ही दर्शनीय दृश्य है !

(गायत्रिणः) साम गान करने वाले (त्वा) तेरे ही (गायन्ति) गीत गाते हैं (अर्किणः) मंत्र ऋचाओं से स्तुति करने वाले (अर्कं) तुझ देव का ही (अर्चन्ति) पूजन करते हैं, (ब्रह्माणः) एवं सब ज्ञानी लोग (शतक्रतो) हे असंख्य प्रकार की प्रज्ञा व कर्मों वाले ! (त्वा) तुझे ही, तेरी महिमा को ही (वंशं इव) ध्वजादण्ड की तरह (उद्येमिरे) ऊँचा उठाते हैं ।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥

ऋ० 10.151.1

संसार की कोई भी अग्नि श्रद्धा के बिना प्रदीप्त नहीं होती और कोई भी त्याग, कोई भी बलिदान, श्रद्धा के बिना किया नहीं जा सकता। किसी भी प्रकार की सफलता पाने के लिए त्याग करना और अग्नि प्रदीप्त करना आवश्यक होते हैं, हम किसी भी दिशा में उन्नति करना चाहें, हमें सदा एक तो आत्मबलिदान के लिए तैयार होना चाहिये और दूसरे यह बलिदान जिस उच्च ध्येय के लिए करना होता है, उस ध्येय की पवित्र अग्नि हममें धधक रही होनी चाहिये। पर यह दोनों की कार्य—अग्निदीपन और आत्म-बलिदान—बिना श्रद्धा के कभी नहीं बन सकते। अतः संसार के सब धीर पुरुष राष्ट्राग्नि, संग्रामाग्नि, धर्माग्नि, ज्ञानाग्नि, आत्माग्नि आदि नाना अग्नियों को किसी उच्च भावना से प्रेरित होकर अपने अटूट विश्वास द्वारा नित्य प्रदीप्त कर रहे हैं और उसमें अटल श्रद्धा से अपना सर्वस्व तक स्वाहा करते हुए अग्रसर हो रहे हैं। क्या तुम समझते हो कि वह यज्ञवेदि की भौतिक स्थूल अग्नि भी बिना श्रद्धा के ही समिद्ध होती है? अग्निहोत्र का रहस्य जानने वाले तो देखते हैं कि भक्त अग्निहोत्री लोग जो अग्नि प्रदीप्त करते हैं, वे अपनी अन्दर की श्रद्धा को ही उस अग्नि में प्रदीप्त करते हैं। बाहर की अग्नि जलाना निरर्थक है, उससे कोई अग्निहोत्र का फल नहीं मिल सकता, जब तक कि अन्दर की श्रद्धाग्नि न जल रही हो। वास्तव में कोई भी यज्ञ, कोई भी अग्निदीपन और आत्मत्याग, कोई भी उन्नति-कारक कार्य बिना श्रद्धा के नहीं चल सकता। इसीलिये हम चिल्लाते हैं, 'श्रद्धा को अपनाओ, श्रद्धामय पुरुष बनो'। हे मनुष्यो! अपना एक भी काम श्रद्धारहित होकर मत करो। श्रद्धा के बिना कभी कुछ सध नहीं सकता। तुम्हारे सब कर्तव्यों की सफलता, तुम्हारे धर्म के सब शास्त्रोक्त विधि-निषेध श्रद्धा पर ही अवलम्बित हैं। हम तो वेदवाणी का नाम लेकर घोषित करते हैं, अपनी वाणी से पुकारते हैं, अनुभव करते हुए सब भाइयों से निवेदन करते हैं कि भजनीय धर्म-शरीर का मूर्धा श्रद्धा है। श्रद्धा बिना सब धर्म निर्जीव है। हे भाइयो! सब करना धरना बेकार है, सब जीवन मृतक समान है, जब तक कि इसमें श्रद्धा का प्राण मौजूद नहीं है।

(श्रद्धया) श्रद्धा से (अग्निः) अग्नि (समिध्यते) प्रदीप्त होती है और (श्रद्धया) श्रद्धा से ही (हविः हूयते) हवि दी जाती है, आत्मबलिदान किया जाता है। (भगस्य) सब भजनीय वस्तु के, भागधेय धर्म के, ऐश्वर्य के (मूर्धनि) मूर्धा स्थान में (श्रद्धां) श्रद्धा को हम लोग (वचसा) वाणी द्वारा, वेदवाणी द्वारा (वेदयामसि) घोषित करते हैं, प्रकट करते हैं।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फार्ति समावह ।।

अथर्व० 3.24.5

हे दो हाथों वाले मनुष्य ! तू सौ हाथों वाला होकर धन संग्रह कर, सौ गुनी शक्ति से धन धान्यादि ऐश्वर्यों को इकट्ठा कर परन्तु इस उपार्जन किये हुए अपने धन को हजार हाथों वाला होकर सत्पात्र में दान कर दे । धन संग्रह करने के लिए यदि तू सौ हाथों वाला हुआ है तो धन को दूर दूर बाँट देने के लिए, दान कर देने के लिए, तू हजार हाथों वाला हो जा । इससे निःसन्देह तेरी बढ़ती होगी, तेरी उन्नति होगी, तेरा बड़ा भारी कल्याण होगा । तू अपनी 'कृत' और 'कार्य' कमाई को देख । तूने जो कमाया है वह तो कमाया ही है, वह तेरी 'कृत' कमाई है; परन्तु जो तूने हजार हाथों से दूर दूर अपने दान को फैलाया है, वह भी तेरी कमाई है । वह तेरी कमाई 'कार्य' है, वह भविष्य में अपना फल दिखलायेगी । वास्तव में, जैसे समाहृत किये धान्य को सत्क्षेत्र में (जोते हुए खेत में) संकिरण कर देने से (बिखेर देने से) उसका एक एक दाना हजारों दानों को देने वाले पौधे के रूप में पुष्पित और फलित हो जाता है, उसी तरह किसी यज्ञिय कार्य में दिया हुआ धन, सत्पात्र में दिया हुआ दान, अनन्त गुणा होकर फलित हुआ करता है । इस तरह हे मनुष्य ! तू देख कि तू कितनी बड़ी भारी फसल का स्वामी हो जाता है, तू कितनी बड़ी भारी 'स्फाति' को प्राप्त हो जाता है ? यह बढ़ती 'शतहस्त से लेने और सहस्रहस्त से देने' के सिद्धान्त का फल है । हे मनुष्य ! तू इस सिद्धान्त का पालन करता हुआ अपनी इस बढ़ती को सदा ठीक प्रकार से प्राप्त करता रह ।

(शतहस्त) हे सौ हाथों वाले मनुष्य ! (समाहर) तू इकट्ठा कर और (सहस्रहस्त) हे हजार हाथों वाले ! (संकिर) तू दान कर, बिखेर । इस तरह (कृतस्य) अपने किये हुए की (कार्यस्य च) और किये जाने वाले की (स्फाति) बढ़ती को, फसल को (इह) तू इस संसार में (समावह) ठीक प्रकार से प्राप्त कर ।

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥
ऋ० 10.137.1, अ० 4.13.1

हे देवो ! तुम्हारे इस संसार में कोई भी मनुष्य सदा के लिए नहीं पतित हो जाता, कोई मनुष्य सदा के लिए मर भी नहीं जाता। पतित से पतित मनुष्य इस संसार में फिर जब चाहे तब उन्नत हो सकता है। मरे हुए मनुष्य को भी, हे देवो ! तुम फिर जिला देते हो; पापी से पापी पुरुष भी तुम्हारा सहारा पा कर फिर पूरा पुण्यात्मा हो जाता है। प्रायः पतित होकर हम लोग निराश हो जाया करते हैं, समझने लगते हैं कि अब तो हमारा उद्धार किसी तरह नहीं हो सकता। परन्तु हे देवो ! तुम तो देव हो। तुम बड़े भारी ज्ञान प्रकाश और शक्ति से युक्त हो। तुम्हारे रहते हम कैसे फिर उन्नत न हो सकेंगे ? हे परोपकार के लिए ही जीवन धारण करने वाले श्रेष्ठ जनो ! हे पतितों को उठाने वाले महात्माजनो ! हे करुणापरायण मेरे गुरुजनो ! तुम देव हो। तुम्हारी कृपा में बड़ी अद्भुत शक्ति है। तुमने न जाने कितने पतितों को उबारा है, न जाने कितने डूबतों को बचाया है, प्राण निकलते निकलते आ बचाया है, जघन्य पापियों को अन्तिम क्षण में पुण्य-जीवन की तरफ फेर लिया है। मर कर तो सभी जीव पुनर्जन्म पाते हैं किन्तु असल में मरना तो पापी होना ही है। यदि अमर आत्मा किसी तरह मरता है तो वह पाप अपराध करने से ही मरता है; परन्तु हे देवो ! तुम इस अत्यन्त विकट आत्मिक मौत से भी उबार लेने वाले हो, फिर पुण्य जीवन का संचार कर देने वाले हो। तो हम तुम्हारे होते, क्यों कभी निराश होयें ? हतोत्साह हो कर क्यों हाथ पैर मारने छोड़ देवें ? क्यों न तुम्हारी जीवन-दायी शरण का आश्रय लेवें ? हे देवो ! हमें पूरा पूरा विश्वास है कि तुम शरण पड़े हम पतितों को अवश्य ही ऊपर उठा लोगे, हम मरे हुओं को अवश्य ही फिर जीवित कर दोगे।

(देवाः) हे देवो ! (देवाः) तुम देव (अवहितं) नीचे पड़े हुए, पतित को (उत) भी (पुनः) फिर (उन्नयथाः) उन्नत कर देते हो, उठा लेते हो और (देवाः) देवो ! (देवाः) तुम देव (आगः चक्रुषं) पाप करने वाले को, पापी को (उत) भी (पुनः) फिर (जीवयथाः) जिन्दा कर देते हो, जीवन दे देते हो।

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैः व्यापस्तृष्णयासरन्।
व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥

अथर्व॰ 3.31.3

मैं पवित्रात्मा सब प्रकार के पाप से सर्वथा वियुक्त हूं, मैं निष्पाप होकर सब प्रकार के रोग से जुदा हूँ एवं निष्पाप और नीरोग होकर मैं सदा आयु और प्राण से संयुक्त हूं। क्या कभी ग्राम्य पशु और जंगली पशु एक साथ रह सकते हैं? अरे, वे तो एक दूसरे को देखकर विरुद्ध दिशा में भागते हैं। तो फिर मेरे सामने कोई पाप कैसे ठहर सकता है? और क्या कभी पानी को भी प्यास लग सकती है? तो फिर मेरे पास पाप कैसे फटक सकता है? ओह नहीं, मुझ विशुद्धात्मा में पाप का स्पर्श तक नहीं हो सकता। और मुझ निष्पाप पर रोग की छाया तक नहीं पड़ सकती। हे मेरे निर्लेप विशुद्ध आत्मन्! मैं तो सदा तेरे प्राण और जीवन से सम्पन्न हूँ और इस प्राण और जीवन से सदा सम्पन्न रहूँगा।

(ग्राम्याः पशवः) ग्राम्य पशु (आरण्यैः) जंगली पशुओं से (वि असरन्) विरुद्ध दिशा में जाते हैं, (आपः) पानी (तृष्णया) प्यास से (वि) वियुक्त होते हैं। इसी तरह (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब प्रकार के पाप से (वि) वियुक्त हूं, (यक्ष्मेण) रोग से (वि) वियुक्त हूं, और (आयुषा) आयु, प्राण, जीवन से सदा (सं) संयुक्त हूं।

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्त्तारमृच्छतु ।।

अ० 4.19 6

क्या तुम समझते हो कि संसार में 'असत्' की, पाप की ही विजय हो रही है ? सच यह है कि प्रभु अपने इस संसार में बेशक कुछ देर के लिए पाप को बढ़ने, पकने देते हैं परन्तु समय आने पर उसका विनाश तो अवश्यंभावी होता है । बुराई का वृक्ष बेशक खूब फलता फूलता है, पर वह फिर जड़सहित उखड़ जाता है । भूमि से उठकर पाप कभी कभी सारे अन्तरिक्ष में फैल जाता है और इतना बढ़ता है कि वह द्युलोक के प्रकाश को भी ढक लेता है । तब मनुष्य हाहाकार मचाने लगते हैं । पर अगले ही क्षण वह छिन्न भिन्न होने लगता है और लौटता हुआ अपने उठाने वाले के लिए दुःख की प्रतिक्रिया लाकर सब का सब वहीं विलीन हो जाता है । सब अधर्म भूमि से उठता है, अन्धकार अज्ञान तथा स्थूलता से उत्पन्न होता है । वह अपनी स्थूलशक्ति, पशुशक्ति को बढ़ाता हुआ सब तरफ फैलता है । अपने इस स्थूल बल द्वारा वह पाप के विरुद्ध उभड़ने वाले सब लोगों को दबा देता है । उसके इस दामक स्वभाव के कारण धीरे धीरे संसार भर में सब कहीं उस की ही दुंदुभि बजने लगती है, उसी का सिक्का चलने लगता है । संसार के बड़े बड़े दिव्य पुरुषों का, बड़े ईश्वरपरायण महात्माओं का दिव्य तेज भी उसके अन्धकार के सामने ढक सा जाता है । तब सब भयभीत साधारण लोग बिना चूँ चरां किये उसके अँधेरे राज्य को चलाते जाने में ही अपना हित व स्वार्थ देखते हैं, यद्यपि उस अँधेरे में वे बड़े बेचैन होते जाते और उन की वह घबराहट बढ़ती ही जाती है । उस समय ईश्वरीय नियम की अटलता को देखने वाले विरले ही होते हैं जो घबराते नहीं हैं, जो कि प्रसन्न होते हैं कि पाप जितना अधिक से अधिक बढ़ सकता है, वह बढ़ चुका है और अब उसके विनाशकाल का प्रभात होने वाला है । उस ऊँचाई से, अधर्म के खोखले आधार पर खड़ा किया वह सब पाप का ठाठ तो गिरता ही है, अपने बोझ से स्वयमेव गिरता ही है पर वह अपने कर्त्ता को, अपने खड़े करने वाले को संताप पहुँचाता हुआ गिरता है । वह लौट-कर उसी पर गिरता है और उसको साथ लेकर भूमिसात् हो जाता है ।

हे मनुष्यो ! इस संसार में विजय तो सत् की, पुण्य की ही हो रही है ।

(असत्) पाप, अधर्म (भूम्याः) भूमि से (समभवत्) उत्पन्न होता है और (तत्) वह (महत् व्यचः) बड़े भारी रूप में, [अन्तरिक्ष में] फैल कर (द्यां) द्युलोक तक (एति) चढ़ जाता है । किन्तु (ततः) वहाँ से, उतना बढ़ कर भी (तत्) वह (वै) निःसंदेह (विधूपायत्) कर्त्ता को सन्ताप देता हुआ (प्रत्यक्) उसके प्रति उलटा लौटकर (कर्त्तारं) उस कर्त्ता [पाप कर्त्ता] पर ही (ऋच्छतु) आ पड़ता है ।

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमंगुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यम्, आत्मनं तपनं तु सः ॥

अ० 4.18.6

जब कोई निर्बल अशक्त पुरुष क्रोध के आवेश में आकर किसी बलवान् की हिंसा करने के लिए झुंझलाकर उठता है तो वह प्राय: अपने ही हाथ पैरों को तोड़ लिया करता है। वह उस बलवान् का कुछ नहीं बिगाड़ पाता। उतावलेपन का बिना सोचे विचारे उत्तेजित होकर कुछ न कुछ कर डालने का यही परिणाम हुआ करता है पर असल में सदैव निर्बल पुरुष ही हिंसा करता है और सदैव ही हिंसा द्वारा हम जो कुछ करना चाहते हैं, उसे करने में अशक्त रहते हैं। क्योंकि हिंसा द्वारा हम कभी किसी का विनाश नहीं कर सकते, कुछ देर के लिए उसे सता सकते हैं, उसके कार्य को रोके भी रख सकते हैं, पर इस सब से तो वह हिंस्यमान पुरुष और भी फलता फूलता है, बढ़ता है। और सदैव हिंसा द्वारा अपनी ही हानि होती है। जरा उच्च दृष्टि से देखें तो यह भी दीखेगा कि किसी अपने मनुष्य भाई की हिंसा करने में हम असल में अपने ही अंग अवयव को, अपने ही हाथ पैर को तोड़ते हैं। हिंसा करने से जो अपने को जलाना और अपने आत्मा की कमजोरी होती है, वह तो होती ही है। इसलिये ज्ञानी पुरुष सदा अपनी हिंसा करने वाले पर तरस ही खाते हैं। जब उन्हें कोई लाठी मारता है तो उन्हें अपने शरीर की कुछ परवाह नहीं होती, किन्तु उन्हें फिकर यह होती है कि मारने वाले के कोमल हाथों में तो कहीं लाठी चलाने से कुछ पीड़ा नहीं पहुँची है। वास्तव में हमारी हिंसा द्वारा हमारा तो सदा भला ही होता है, इससे हमारी सहनशक्ति बढ़ती है और हमारी तपस्या होती है और यदि हमारा शरीर भी इस से छूट जाता है तो हमारा एक पवित्र यज्ञ पूरा हो जाता है और इससे बड़ी आत्म-शक्ति बढ़ती है। एवं हमारा तो सब तरह भला ही भला होता है, पर तपना तो उस बिचारे हिंसक को पड़ता है। पहिले वह अपनी क्रोधाग्नि में तपता है और पीछे उसे अपने हिंसा पाप के प्रतिफल में आये दुःख की अग्नि में तपना पड़ता है।

(यः) जो (चकार) हिंसा करता है, (कर्त्तुं न शशाक) वह कर नहीं सकता, करने में अशक्त रहता है वह (पादं अंगुरिं) अपने पैर अंगुलि को, अपने ही अंग अवयव को (शश्रे) तोड़ लेता है, हिंसित करता है। हमारी हिंसा करने वाला (अस्मभ्यं) हमारा तो (भद्रं) सदा भला ही (चकार) करता है, (तु) किन्तु (सः) वह (आत्मने) अपना (तपनं) तपाना करता है, अपने को तपाता है।

स्वर्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥

अ० 4.14.4, यजु० 17.68

हमारे सब यज्ञ 'विश्वतोधार' होने चाहियें पर प्रायः हमारे यज्ञ एकतोधार होते हैं । इसका कारण यह है कि हम दूर तक देखकर, सब संसार को दृष्टि में रख कर लोकोपकार नहीं करते । अतः हमारे ये यज्ञकार्य परिमित, अदूरगामी और एक पक्षीय होते हैं । हम केवल एक अपने समाज, एक अपने कुटुम्ब, केवल एक संस्था या केवल एक अपने देश व राष्ट्र के हित के लिए अपने उपकार कार्य करते हैं और उनके लिए बड़े-बड़े स्वार्थ-त्याग तक करते हैं । पर यह नहीं ध्यान रखते कि वह संस्थाहित, देशहित व राष्ट्रहित संसार के हित के भी अविरुद्ध होना चाहिये । विश्वतोधार यज्ञ वह है जो कि 'सर्वभूत हित'[1] के लिए होता है, जो सम्पूर्ण विश्व के भले के लिए प्राणीमात्र के हित की दृष्टि से होता है, अथवा यूँ कहें कि जो परमात्मा के प्रीत्यर्थ होता है । वही यज्ञ पूरी तरह फैला, वितत होता है, व्यापक होता है । वही यज्ञ 'विष्णु'[2] कहाता है । पर यज्ञ के इस 'विष्णु' 'विश्वतोधार' रूप को संसार में कुछ उत्तमज्ञानी लोग ही समझते हैं और ये विरले ही उसे वितत करते हैं । अतः ये 'सुविद्वान्' तो शीघ्र ही पृथिवी और अन्तरिक्ष के स्थूल और मानसिक लोकों को लांघ कर आत्मा के सुखमय और प्रकाशमय लोक में चढ़ जाते हैं, आसानी से पहुँच जाते हैं । वे फिर उस आत्मिक सुख की तरफ जाते हुए, उसका आनन्द लेते हुए दुनिया की किसी भी अन्य वस्तु की परवाह नहीं करते । 'विश्वतोधार' यज्ञ करने वालों को यह 'स्वः' का एक ऐसा दृढ़ अवलंबन मिल जाता है कि वे फिर संसार के अन्य किसी भी सहारे की तनिक भी अपेक्षा नहीं करते । चाहे उनके साथी उनसे छिन जायें, उनका प्रमुत्व नष्ट हो जाय, उनकी सब प्रतिष्ठा जाती रहे पर वे इन सहारों के रखने के लिए भी कभी अपने यज्ञ को थोड़ी देर के लिए भी छोटा, अव्यापक नहीं करते । वे अपनी दृष्टि को कभी नीची या संकुचित नहीं करते । ऊपर चढ़ते हुए नीचे की इन क्षुद्र चीजो पर कभी उनकी दृष्टि ही नहीं पड़ती । यही रहस्य है जिससे कि वे ऊपर ऊपर ही जाते हैं और शीघ्र सुखमय प्रकाशमय द्युलोक में जा पहुँचते हैं ।

(ये) जो (सुविद्वांसः) उत्तम ज्ञानी महापुरुष (विश्वतोधारं यज्ञं) विश्वतोधार यज्ञ को, सब को सब तरफ से धारण करने वाले यज्ञ को (वितेनिरे) विस्तृत करते हैं वे (स्वः यन्तः) आनन्दमय स्थिति को जाते हुए (न अपेक्षन्त) किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते या नीचे नहीं देखते, (रोदसी) वे द्यावापृथिवी को लांघ (द्यां) द्युलोक में (आरोहन्ति) चढ़ जाते हैं ।

---

1. गीता 5-25, 12-4 2. यहाँ वैविष्णुःशत. 1.9.6.9 शत, 1.1.2.23

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ ऋ० 7.59.12

स्वाभाविक और उचित मृत्यु वह होती है जिस में शरीर इस तरह सहज में छुट जाता है जैसे कि पका हुआ फल डाल से टूट पड़ता है। हम चाहते हैं कि हमारी ऐसी ही मृत्यु हो। पूरा पका हुआ फल अपनी अधिक से अधिक पुष्टि को जो उसे उस वृक्ष से मिल सकती है, पा चुका होता है और पकने पर उसमें एक मनोहर सुगन्ध आ जाती है। तब उस को वृक्ष से जबरदस्ती नहीं जुदा करना होता, वह स्वयमेव आराम से जुदा हो जाता है। हम चाहते हैं कि हमारी इस संसार से जुदाई—हमारी मृत्यु—इसी तरह आराम से स्वाभाविकतया हो। इस प्रयोजन के लिए हे भगवन् ! हम तुम्हारा यजन करते हैं। तुम्हारा यजन करने से हम इस संसारवृक्ष पर स्वाभाविकतया पकते जायेंगे। 'सुन्दर गन्ध दाता' और 'पुष्टि के बढ़ाने वाले' के रूप में, हे प्रभो ! हम तुम्हारी उपासना करते हैं। तुम्हारी उपासना से जहाँ हम धीरे धीरे परिपक्व हो जायेंगे, हममें पूरी पुष्टि आ जायगी, वहाँ हममें परिपक्वता की सुगन्ध व सुन्दरता भी आ जायेगी। ओह, इस पकी अवस्था में शरीर को छोड़ना, संसार को छोड़ना, भयंकर व दुःखदायी होने की जगह कैसा स्वाभाविक और शान्तिदायक होगा ! लोग मृत्यु से यूँ ही डरते हैं। हे मृत्यु के भी स्वामी देव ! ऐसे लोग तुम से भी डरते हैं, तुम्हारे रुद्ररूप से घबराते हैं। पर हे रुद्र ! तुम तो त्र्यंबक हो, तीनों लोकों की आँख हो, तीनों अवस्थाओं के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के—अधिद्रष्टा हो। नहीं, यूँ कहना चाहिये कि तुम तीनों लोकों की तीनों कालों में अम्बा हो, माता हो। तुम उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली हमारी माता हो। जो तुम्हारे केवल प्रलय व संहार रूप को ही देखते हैं, वे ही तुम से, तुम्हारी मृत्यु से घबराते हैं। वे तुम्हारे पुष्टिवर्धक सुन्दर रूप को नहीं देखते, अतएव वे तुम्हारा यजन कर तुम से रस पाकर अपनी परिपक्वता नहीं कर पाते। उन्हें जबरदस्ती संसार से छुटने में—मृत्यु में—बड़ा क्लेश होता है। हे अम्बक ! तुम इसीलिये तो संहार करती हुई भी हमारी माता हो। तुम जब इहलोक रूपी अपनी दायीं गोद से (मृत्यु द्वारा) हमें उठाती हो तो हम बच्चे बेशक रोने लगते हैं कि बस हम गये, हम मरे, पर तब हम नहीं जानते होते कि तुम तुरन्त ही परलोक की अपनी दूसरी गोदी में बैठाने के लिए ही पहिली गोद से हमें उठाती हो। हम तुम्हारे नादान बच्चे तुम्हारी अमृतमय गोदों को भी नहीं पहिचानते। पर हे मातः ! तुम अब हमें ऐसा परिपक्व और सुगन्धियुक्त कर दो कि हम मरते हुए भी तुम्हारी इन अमृतमय गोदों से कभी जुदा न होयें। अब मृत्युभय से तो अवश्य हमारा छुटकारा करो, पर अपनी अमृतगोद से हमें कभी बिछुड़ने न दो। हे मां, अपनी अमृतमय गोद से हमें कभी बिछुड़ने न दो।

(सुगन्धिं) सुष्ठु गन्ध व सौन्दर्य वाले और (पुष्टिवर्धनं) पुष्टि बढ़ाने वाले (त्र्यम्बकं) त्र्यम्बक देव का, संसार के तीनों लोकों के अधिद्रष्टारूप माता का (यजामहे) हम यजन करते हैं। (बन्धनात् उर्वारुकइव) जैसे कि लताबन्धन से डाली में पका हुआ कर्कटीफल स्वयमेव जुदा हो जाता है वैसे [मरते हुए] हम (मृत्योः) मृत्यु से, मृत्युभय से (मुक्षीय) मुक्त हो जायें, (अमृतात्) अमृत से (मा) कभी नहीं।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ यजु० 19.77

इस संसार में सब जगह सच और झूठ इतने मिले हुए दिखाई देते हैं कि इन में फर्क करना असम्भव सा हो जाता है। हर एक सत्य के साथ झूठ ऐसी सूक्ष्मता के साथ लगा हुआ है और हर एक झूठ के मूल में सत्य ऐसी गुप्तता से समाया हुआ है कि सच और झूठ का पृथक्करण करने में बड़े बड़े तत्त्ववेत्ता भी हार मानते हैं पर सत्य और अनृत तो एक दूसरे से बिलकुल ही उलटी चीजें हैं। ये एक जगह कैसे रह सकती हैं? फिर भी जो हम इन दोनों स्वभावतः विरोधी वस्तुओं का विवेक नहीं कर पाते हैं, इसका कारण यह है कि हम स्वाभाविकता से हट गये हैं, हम अस्वाभाविक बनकर प्रजापति से दूर हो गये हैं। हम सब प्रजाओं को उत्पन्न करने वाले, सब संसार के स्वामी प्रजापति ने तो संसार के सब सत्य और अनृत रूप को साक्षात् जुदा जुदा देखा है और स्पष्ट जुदा जुदा कर रक्खा है। इन दोनों रूपों की पृथक्ता के आधार पर ही बनाये अपने नियमों द्वारा वह इस जगत् का और अपनी सब प्रजाओं का शासन कर रहा और पति हो रहा है। तो क्या इन जगत्-शासन नियमों को हम प्रजाओं के लिए बिना सताये ही वह इन द्वारा हम पर शासन कर रहा है? नहीं, उसने तो जहाँ बाहर जगत् में सत्य और अनृत का विवेक किया और उसके अनुसार जगत् को संचालित कर रहा है, वहाँ उसने हमारे अन्दर में भी वह साधन रक्खा है जिससे कि हम प्रजा लोग सत्य और अनृत का स्पष्ट भेद कर सकें। उसने हमारे अन्तःकरण में अनृत के लिए अश्रद्धा और सत्य के लिए श्रद्धा स्वभावतः उत्पन्न कर रखी है। वे प्रजापति हममें से प्रत्येक प्रजा के हृदय में स्वयं आ बैठे हैं और प्रत्येक सत्य में श्रद्धा को उपजाते तथा प्रत्येक असत्य में अश्रद्धा को उद्भूत करते हुए बैठे हुए हैं। फिर भी यदि हम सत्य और अनृत का विवेक न कर सकें तो हम कितने दुर्भागे हैं! सचमुच सत्यासत्य का विवेक जहाँ महाकठिन है, वहाँ अत्यन्त सहज भी है। जो मलिन हृदय वाले पुरुष प्रजापति से दूर होकर केवल तर्कना द्वारा सत्य और असत्य का भेद जानना चाहते हैं उनके लिए यह निःसन्देह महा कठिन है, किन्तु जो प्रजापति की शरण में पड़े हुए हैं और जो अपने शुद्ध अन्तःकरण में उसकी दी हुई श्रद्धा और अश्रद्धा की पक्की कसौटी के रखने वाले हैं, उन भक्तपुरुषों के लिए यह अत्यन्त सहज है।

भाइयो! ज़रा अन्दर टटोलो, देखो; प्रजापति ने तो हम सब के अन्दर अनृत के लिए अश्रद्धा और सत्य के लिए श्रद्धा पैदा की हुई है।

(प्रजापतिः) प्रजापति ने (दृष्ट्वा) देखकर (रूपे) सब रूप को दो विभागों में (सत्यानृते) सत्य और अनृत, सच्चा और झूठा इन दो विभागों में (व्याकरोत्) स्पष्ट जुदा जुदा कर दिया है। (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) अनृत में, झूठ में (अश्रद्धां) अश्रद्धा को (दधात्) रक्खा है और (सत्ये) सत्य में, सचाई में (श्रद्धा) श्रद्धा को रक्खा है।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

ऋ० 10.191.2

हे मनुष्यो ! सदा मिलकर चलो, मिलकर आचरण करो; मिलकर बोलो; तुम्हारे मन मिलकर सदा एक निश्चय किया करें। यह दैवी नियम है। देव लोग सदा 'संजानानाः' होकर—समान मन और ज्ञान वाले होकर – ही अपने कार्य भाग को निबाहते आये हैं। असल में यह मनों द्वारा ज्ञान की एकता ही वास्तविक एकता है। मन की एकता होने पर वचन और कर्म (आचरण) की एकता होने में कुछ देर नहीं लगती। देखो, ये देव लोग सब जगह 'संजानानाः' होकर ही कार्य कर रहे हैं। आधिदैविक जगत् में देखो, अग्नि वायु आदि देव जगत् संचालन के लिए एक ज्ञान समान-मन होकर अपने अपने भाग को ठीक ठीक कर रहे हैं। अध्यात्म में प्राण इन्द्रिय आदि देवों को देखो कि ये कैसे संगठित होकर जीवन को चला रहे हैं ? पैर में कांटा चुभता है तो त्वचा प्राण मन हाथ आदि सब देव एक क्षण में कैसे सहयोग दिखाते हैं ? और आधिभौतिक में भी सब ज्ञानी देव-पुरुष पुराने काल से लेकर आज तक संगठित होकर ही बड़ी बड़ी सफलतायें प्राप्त करते रहे हैं। मिलना दैवी प्रवृत्ति है। क्षुद्र स्वार्थों को न छोड़ सकना और न मिलना आसुरी है। अतः हे मनुष्यो ! तुम मिलो, अपने सैकड़ों क्षुद्र स्वार्थों को छोड़कर एक बड़े समष्टि-स्वार्थ के लिए सदा मिलो। लाखों करोड़ों के मिलकर काम करने से जो तुम्हे बड़ी भारी सामूहिक सिद्धि मिलेगी, उससे फलतः तुम लाखों करोड़ों में से प्रत्येक व्यक्ति के भी सब सच्चे स्वार्थ अवश्य सिद्ध होयेंगे। मिलने में बड़ी भारी शक्ति है। तुम मिलकर चलो, मिल करके करो तो कौन सा कार्य असाध्य है ? तुम मिलकर बोलो तो संसार को हिला दो। और मिलकर के ध्यान करने में तो अपार अपार शक्ति है। अतः हे मनुष्यो ! मिलो, मिलो; सब प्रकार मिलकर अपने सब अभीष्ट सिद्ध करो।

हे मनुष्यो ! (संगच्छध्वं) मिलकर चलो, आचरण करो (संवदध्वं) मिलकर बोलो, और (वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (संजानतां) मिलकर के ज्ञान प्राप्त करें, समान ज्ञान वाले हों; (यथा) जैसे कि (पूर्वे देवाः) पहले से देव लोग (संजानानाः) मिलकर जानते हुए, एकज्ञान होते हुए (भागं) भजनीय वस्तु की, अपने भाग की (उपासते) उपासना करते, उपलब्धि करते रहे हैं।

19 आश्विन

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ अ० 7.18 1

बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्य दूसरे की बढ़ती को सह नहीं सकता। इसकी जगह कि वह अपने साथी की बढ़ती को देखकर प्रसन्न होये, प्रेमयुक्त होये, वह उसके प्रति ईर्ष्यालु हो जाता है। यह ईर्ष्या बड़ी बुरी चीज है। जब किसी मनुष्य के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि जल उठती है तो यह उसे बुरी तरह संतप्त करती है। इतना ही नहीं, किन्तु ईर्ष्या की अग्नि के बढ़ जाने पर कई बड़े अच्छे अच्छे कुल राख हो चुके हैं, प्रगतिशील समाजें लड़ाई झगड़े में पड़ पंगु बन चुकी हैं। कई संग्राम छिड़ चुके हैं जिनमें हजारों लाखों लोग नाहक में तबाह हो गये हैं इसलिये ईर्ष्याग्नि को बढ़ने नहीं देना चाहिये। जब ईर्ष्या की पहली ही ज्वाला चमके, तभी उसे बुझा देना चाहिये। ईर्ष्या के प्रथम वेग को ही रोक देना चाहिये। सोचना चाहिये 'यदि मेरे अमुक साथी को संपत्ति मिली है, उसे प्यार किया जाता है या उसे प्रतिष्ठा व उच्चपद मिलता है तो इससे मुझे क्यों कुढ़ना चाहिये? मुझे क्यों न प्रसन्न होना चाहिये? यदि मैं उतना योग्य नहीं हूँ तो धैर्यपूर्वक मुझे भी वैसा गुणी बनने का यत्न करना चाहिये। मुफ्त में अपने को जलाना तो कभी नहीं चाहिये।' और बार बार 'मैत्रीभावना' कर करके उस अपने सौभाग्यशाली साथी से अपने को पूरी तरह जोड़ लेना चाहिये, एक कर लेना चाहिये। अन्त में उससे इतने अभिन्नात्मा बन जाना चाहिये कि उसकी बढ़ती का स्मरण आने पर अपना आत्मा उतना ही आनन्दित होने लगे जितना उस स्मरण से उस अपने साथी का आत्मा होता है। तब समझना चाहिये कि मैत्रीभावना पूर्णावस्था में पहुँच गयी है। यह अवस्था पहुँचने पर सब ईर्ष्याग्नि अवश्य बुझ जायगी और उसकी जगह प्रेमधारा बह निकलेगी!

पर इतने से निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये क्योंकि आग बुझ बुझ कर भी फिर फिर बिना जाने जल पड़ा करती है। असावधानी के क्षणों में यदि फिर ईर्ष्याग्नि चुपके से सुलगने लगे तो फिर ऐसे विचार और भावना की जलधारा से इसे फिर शान्त कर देना चाहिये। यह निश्चित है कि उसका यह दूसरा वेग मन्द होगा। इसी तरह आगे भी करते जाना चाहिये जब तक कि यह हृदय की अग्नि और इसका शोक संताप बिलकुल न बुझ जायें और इसकी जगह प्रेम की शीतलता और आत्मैक्य की जलधारा न बहने लगे।

हे ईर्ष्यासंतप्त पुरुष! हम तेरी ईर्ष्याग्नि को प्रेमधारा द्वारा सर्वथा बुझा देते हैं।

(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्या की (प्रथमां) पहिली ही (ध्राजिं) वेगवती गति को, ज्वाला को (निर्वापयामसि) हम बुझाते हैं (उत) और (प्रथमस्याः अपरां) इस पहिली से अगली ज्वाला को भी बुझाते हैं, इस तरह हे मनुष्य! (ते) तेरी (तं) उस ईर्ष्यारूपी (हृदय्यं अग्निं) हृदय में जलने वाली अग्नि को (शोकं) तथा उसके शोक संताप को (निर्वापयामसि) बिलकुल शान्त कर देते हैं।

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुंचतेह नः ।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ।।

अ० 5.114.2

हे आदित्यो ! तुम मेरे बन्धन खोल दो । मैं यज्ञ करना चाहता हूं, कर सकना चाहता हूं किन्तु कर नहीं सकता । मैं चाहता हूँ अब मैं अमुक स्वार्थत्याग अवश्य कर दूँ, पर इसे कर नहीं सकता । मैं स्पष्ट देखता हूँ कि मुझे राष्ट्रयज्ञ में, सेवायज्ञ में या धर्मयज्ञ में अपनी आहुति अवश्य दे देनी चाहिये, इसका अनिवार्य समय आ पहुंचा है, पर फिर भी मैं न जाने क्यों इस आहुति को दे नहीं सकता। दिल से चाहता हुआ भी कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता । मन उठता है, पर हाथ पैर नहीं उठते मानों हाथों पैरों को किसी ने बांध रक्खा है । हे देवो ! तुम मुझे मेरी इस बद्ध अवस्था से मुक्त करो । तुम मेरे उस बंधन को खोल दो जिसके मारे मैं हृदय से यह कर्म कर सकना चाहता हुआ भी इसके करने में असमर्थ रहता हूँ । इसका उपाय मैं एक ही जानता हूँ, वह यह कि तुम, हे यजनीयो ! यज्ञवाहक आदित्यो ! तुम मुझ में उस देव को जगा दो जोकि 'ऋत' का 'ऋत' है, जोकि यज्ञों का भी यज्ञ है, जोकि सब सत्यों का एक सत्य है । उस परम यज्ञ सत्यस्वरूप का ध्यान करते ही मेरा यह बन्धन स्वयमेव खुल जायगा । केवल उस प्रभु के एक बार ध्यान में समा जाने की देरी है । ओह ! उस परमयज्ञ पुरुष का ध्यान आ जाने पर जिसने कि अपने इस ऐश्वर्यमय विश्व ब्रह्माण्ड को समस्त जीवों के भोग के लिए त्याग रक्खा है, यज्ञ कर रक्खा है, उस सत्यस्वरूप प्रभु के क्षण भर के लिए दृष्टिगोचर हो जाने पर जो कि एकमात्र इस संसार में सत्यवस्तु है और जिसके सिवाय शेष सब कुछ मिट जाने वाला है, उसका ध्यान आ जाने पर मेरे लिए बड़े से बड़ा त्याग करना, किसी यज्ञ के लिए अपने प्राण तक दे देना, परम तुच्छ साधारण सी बात लगने लगती है । इसलिये हे आदित्यो ! हे मेरी उच्च दिव्य प्रकाशमय वृत्तियो ! जब जब मैं यज्ञ कर सकने में अशक्त रहूँ, तब तब तुम मुझे उस प्रभु को दिखला दिया करो, उसका ध्यान करा दिया करो । उस 'ऋतस्य ऋत' का ध्यान आ जाने पर यज्ञ कर सकने से रोकने वाली मेरी सब रुकावटें निश्चय से हट जायेंगी, रोकने वाले सब बन्धन खुल जायेंगे । इस तरह, यज्ञवाहक आदित्यो ! तुम उस ऋत के ऋत द्वारा अब मेरा यज्ञरोधक बन्धन सदा के लिए खोल दो ।

(यजत्राः) हे यजनीय (आदित्याः) आदित्यो ! प्रकाशमय देवो ! (इह) इस लोक में (नः) हमें (ऋतस्य ऋतेन) यज्ञ के भी यज्ञ, सत्य के सत्य परमेश्वर द्वारा (मुंचत) उस बन्धन से मुक्त कर दो (यद्) जिसके कि कारण (यज्ञवाहसः) हे यज्ञ-वाहक देवो ! हम (यज्ञं) यज्ञ को (शिक्षन्तः) कर सकना चाहते हुए भी (न उपशेकिम) कर नहीं सकते हैं ।

21 आश्विन

यदि जाग्रद् यदि स्वपन् एन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदादिव मुंचताम् ॥

अ० 6 115.2

हे भूत और भव्य ! तुम मुझे सदैव पाप से मुक्त करो । मैं जागते हुए या सोते हुए जो पाप करता हूँ, पापी बनता हूँ, उससे मुक्त करो । जाग्रतावस्था में इस स्थूल वैश्वानर लोक में ठहरता हुआ मैं जो स्थूल पाप करता हूँ अथवा स्वप्नावस्था में सूक्ष्म तैजस लोक में रहता हुआ जो सूक्ष्म मानसिक पाप करता हूँ, उससे मैं बँध जाता हूँ । जैसे कि द्रुपद में, पादबन्धन में पड़ जाने से मनुष्य के पैर ऐसे जकड़ जाते हैं कि वे आगे हिल नहीं सकते, उसी तरह सूक्ष्म या स्थूल पाप कर लेने पर हमारे उन्नति के पग ऐसे रुक जाते हैं कि जब तक हमारी उससे मुक्ति न हो जाय, तब तक हम आगे नहीं बढ़ सकते, उन्नत नहीं हो सकते । इससे छुटकारा पाने के लिए मैं अपने भूत और भव्य से प्रार्थना करता हूँ । मेरा भूत, अपने भूत का आत्मनिरीक्षण तथा मेरा भव्य, अपने भव्य के लिए दृढ़ निश्चय, ये दोनों मुझे पाप-बन्धन से छुड़ा देवें । पाप हो जाने पर जब तक कि हम भूत के लिए पश्चात्ताप और भविष्य के लिए दृढ़ निश्चय न कर लेवें, तब तक हम उससे मुक्त नहीं हो सकते और आगे नहीं बढ़ सकते । ओह, मेरा आदि काल से आने वाला विशाल भूत और अनन्त काल तक पहुँचने वाला विशाल भव्य, इन दोनों के अपार काल समुद्र में मैं अपनी चिन्तन रूपी डुबकी लगाकर अपने सब पाप मैल को धो डालूँगा । मैं इस भूत के लोक, स्थूललोक के पूरे पूरे निरीक्षण द्वारा अपने आपको इतना कार्यदक्ष, सावधान और सदा जागृत बनाऊँगा कि आगे मे जाग्रत् के स्थूलपापों से सदा बचता रहूँगा तथा भव्य के दूसरे सूक्ष्मलोक की सहायता से इतनी मानसिक दक्षता प्राप्त कर लूँगा कि मुझ से असावधानी में बिना जाने, स्वप्नावस्था में, होने वाले मानसिक पाप भी आगे से न हो सकेंगे । एवं यह भारी साधना कर लेने पर मेरे भूत और भव्य मुझे क्रमशः जाग्रत् और स्वप्नावस्था के पाप बन्धनों से मुक्त करते रहेंगे, सदा मुक्त करते रहेंगे, सदा मुक्त करते रहेंगे ।

(यदि) यदि (जाग्रत्) जागते हुए (यदि स्वपन्) यदि सोते हुए (एनस्यः) मैं पापी बन (एनः) पाप (अकरं) करता हूँ तो (तस्मात्) उस पाप से (मा) मुझे (भूतंभव्यं च) भूत और भव्य, भूत और भविष्य का चिन्तन (द्रुपदात् इव) काठ से, पादबन्धन से छुड़ाया जाता है उस तरह (मुंचताम्) छुड़ा देवें, मुक्त कर देवें ।

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यात् अभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥

अ० 7. 100.1

ज्ञान का दिव्य सूर्य उदय हो चुका है इसलिये मेरी चिरंतन अज्ञान की रात्रि बीत गई है और मैं महानिद्रा से जाग उठा हूँ। अब तक मैं बहुत सोया, बहुत सोया और निद्रा में न जाने कैसे केसे पाप के भयंकर भयंकर दुःस्वप्न देखता रहा और अकल्याण व अनिष्ट के दुःखदायी स्वप्न देखता रहा पर अब ये सब खतम हो गये हैं। अज्ञानावस्था में ही ये सब पाप दुःख अनिष्ट थे, अतः अब निद्रा के साथ वे सब समाप्त हो गये हैं। मैंने सदा के लिए अब इन पाप ताप भय संकट और दुःख दारिद्रय से मुख मोड़ लिया है। मैंने ब्रह्म को, महान् ज्ञान को, आत्मज्ञान को अपने अन्दर कर लिया है और उन स्वप्नों से आने वाले, सब दुःखों, शोकों तथा पीड़ाओं को बाहर कर दिया है, हटा दिया है। ओह, सचमुच सब 'पाप' दुःस्वप्न ही था, सब 'अभूति' स्वप्नमात्र थी। ये नींद के साथ खतम हो चुके हैं। अपने शोकों क्लेशों दुःखों सहित खतम हो चुके हैं। मैं अब जाग गया हूँ जाग गया हूँ।

(दुष्वप्न्यात्) दुःखदायी स्वप्न में होने वाले (पापात्) पाप से और (स्वप्न्यात् अभूत्याः) स्वप्न में होने वाले अकल्याण से [अकल्याण के पास से] (पर्यावर्त्ते) मैं लौटता हूँ, मुंह मोड़ता हूँ। (अहं) मैं (ब्रह्म) महान् ज्ञान को, आत्मज्ञान को (अन्तरं) अपने अन्दर (कृण्वे) करता हूँ, और (स्वप्नमुखाः) स्वप्न से आने वाले इन (शुचः) शोकों को दुःखों को (परा) [कृण्वे] दूर करता हूं।

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ।। अ॰ 7.105.1

हे मनुष्य ! तू पौरुषेय बातों को छोड़ कर सदा ईश्वरीय वचन को स्वीकार कर । सब बातों से पौरुषेय मनुष्यकृत भाग को छोड़ कर सदा उसके सारमय सत्य दैवभाग का वरण कर । यही नीति है जिसके अनुसार तुझे अपने जीवन को तथा अपने साथियों के जीवन को चलाना चाहिये । यदि तू उच्च ज्ञान पाना चाहता है, सच्ची शिक्षा से शिक्षित होना चाहता है तो तू साधारण पुरुषों की स्तुति निन्दा की कथाओं से अखबारी दुनियाँ की उत्तेजनाभरी सामयिक अस्थायी और भ्रान्तिपूर्ण चर्चाओं से, मनुष्यों के रागद्वेष से रंजित अत्युक्तिहीनोक्ति पूर्ण भाषाओं से दूर रहता हुआ, हटता हुआ, बचता हुआ सदा सब जगह मूलभूत ईश्वरीय नियम को, उसके सत्य सिद्धान्त को ही देखने ढूँढने का अभ्यास करता हुआ चल । यदि तू ऐसा करेगा तो तू इन सब जगह वेद को पढ़ेगा, ईश्वरीय वाणी को प्राप्त करेगा । इस प्रकार सदा सच्ची दैवी प्रकृष्ट नीतियों को, उत्तम शिक्षाओं को; सन्मार्गों को प्राप्त करता हुआ तू उसी के अनुसार सब तरह से अपना वर्त्तन कर, व्यवहार कर, अपने सब साथी, संगी, मित्र, शिष्य अनुयायियों सहित उन्हीं के अनुसार आचरण कर, उन्हीं प्रणीतियों का अनुसरण कर। इसी तरह तू अपने मनुष्यत्व को फलीभूत कर सकेगा ।

हे मनुष्य ! (पौरुषेयात्) पुरुषों की, मनुष्यकृत [बातों से] (अपक्रामन्) हटता हुआ (दैव्यं) देव सम्बन्धी, ईश्वरीय (वचः) वचन को (वृणानः) श्रेष्ठ मान कर स्वीकार करता हुआ तू (प्रणीतीः) इन दैवी प्रकृष्ट नीतियों का, सुशिक्षाओं का (विश्वेभि सखिभिः सह) अपने सब साथी मित्रों सहित (अभि आ वर्त्तस्व) सब तरह से आचरण कर ।

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्रणोनुमो जेतारमपराजितम् ॥

ऋ० 1. 11. 2

हे परम ईश्वर ! तुम्हे अपना सखा जानकर अब संसार में और किसी से क्या डरना है ? सब बल के स्वामी 'शवसस्पति' तो तुम हो, तुम से बल ज्ञान पाकर 'वाजी' होकर कैसा डरना ? तुम्हारा सहारा पकड़ कर अब कैसा भय ? अदूर भविष्य चाहे कितना अंधकारमय दीख रहा हो, सामने चाहे कितना विकट संकट आता दीखता सो फिर भी हम निर्भय हैं, क्यों कि हम जानते हैं कि इस सब को यदि तुम चाहो तो एक क्षण में टाल सकते हो । जब तुम से नाता जोड़ लिया, जब तुम्हारी राह में चल पड़े, तो दुःख-पीड़ा, अर्थनाश, संबन्धियों का वियोग, जग हँसाई आदि के सह लेने में क्या पड़ा है ? तुझ महाबली का नाम लेते हुए हम भारी से भारी अत्याचारों को हँसते हँसते सहते जाते हैं । तुम्हारे प्यारे सच्चे मार्ग पर चलते हुए एक बार नहीं, लाख बार यदि मौत आये तो हम उसे भी आनन्दमग्न होकर स्वीकार करते जाते हैं । इनमें भय की क्या बात है ? सचमुच हे इन्द्र ! तेरे सख्य को पाकर हम निर्भय हो गये हैं, दुर्लभ 'अभय' पद को पा गये हैं, अभय बन गये हैं । पर इस उच्च अभय अवस्था को प्राप्त होकर भी, हे मेरे स्वामी ! हम कभी मन में अभिमान को कैसे ला सकते हैं ? क्या हम नहीं जानते कि संसार की सब विजयें तुम्हारे बल द्वारा ही प्राप्त हो रही हैं, तुम ही संसार में एकमात्र जेता हो, विजयी होने वाले हो ? तुम्हें, तुम्हारी शक्ति को, संसार में और कोई नहीं पराजित कर सकता । यह अनुभव करते हुए हे मेरे सखा ! ज्यों-ज्यों हम में तुम्हें पाकर आत्माभिमान बढ़ता गया है, त्यों-त्यों हम में तुम्हारे प्रति नम्रता भी बढ़ती गई है । ज्यों ज्यों तुम्हारी कृपा से हममें अभयता आती गई है त्यों त्यों तुम्हारे चरणों में भक्ति भी बढ़ती गई है । इसलिये, हे हमें अभयपद प्रदान करने वाले प्रभो । हम तुम्हें प्रणाम करते हैं । हे जेतः ! हे अपराजित ! हम तुम्हारे स्तुतिगान करते हैं । तुम्हारा नित्य निरन्तर गुण कीर्त्तन करते हैं । ओह ! तुम्हारा गुणकीर्त्तन करते हुए हम कभी नहीं थकते, हम कभी नहीं थकते ।

(शवसस्पते) हे बल के स्वामी ! (इन्द्र) परमेश्वर (ते) तेरी (सख्ये) मित्रता में आकर (वाजिनः) बल ज्ञान से युक्त हुए हम (मा भेम) अब भयभीत न होयें, निर्भय हो जायें । (जेतारं) सदा जीतने वाले (अपराजितं) कभी भी पराजित न हो सकने वाले (त्वा) तेरे (अभि प्रणोनुमः) हम बार बार सर्व प्रकार स्तुतिगान करते हैं ।

25 आश्विन

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः, पापीस्ता अनीनशम् ॥

अ० 7.115.4

मेरे घर में सैकड़ों प्रकार की लक्ष्मी, ऐश्वर्य की वस्तुएं रखी हुई हैं किन्तु जब से मुझे ज्ञान हुआ है कि मुझे पाप की कमाई का परित्याग कर देना चाहिये और ऐसी पापलक्ष्मी का सेवन मेरा विनाश कर देगा, तब से मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं अब पापलक्ष्मी को घर में नहीं रखूंगा । इस प्रयोजन के लिए आज मैं अपनी एक एक वस्तु का निरीक्षण करने लगा हूँ । जैसे कि गोपाल व्रज में इकट्ठी हुई गौओं को पृथक् पृथक् पहचानता है कि ये अपने घर की गौएं हैं और ये नहीं, उसी तरह मैं अपने सब सामान को—पुस्तक, पलंग, कुर्सी, संदूक, कीमती वस्त्र, वहाँ का रुपया उधर से आया जेवर, कोठी, खेत, जायदाद आदि एक एक वस्तु को—जुदा जुदा विभक्त कर रहा हूँ कि ये ये बिलकुल उचित कमाई की वस्तुएं तो ठीक हैं किन्तु यह रिश्वत में आयी वस्तु, यह छल कपट से पायी जायदाद, दुर्बल को सताकर मिला यह धन, गरीबों के पेट काट कर बने ये बहुमूल्य कपड़े, इन सब को मैं आज विनष्ट कर दूंगा, इन्हें मैं अपने पास नहीं रख सकता ।

जन्म से ही मैं सैकड़ों प्रकार की दैवी या आसुरी संपदों को साथ लेकर आया हूँ, पैदा हुआ हूँ किन्तु आज मैं उनका विवेकपूर्वक पृथक्करण करने में प्रवृत्त हुआ हूँ । जो मेरे हृदय में 'अभय', सत्त्वसंशुद्धि, ज्ञान, योगस्थिति आदि दैवी संपद् हैं, पुण्यलक्ष्मी हैं, उन्हें तो मैं कहता हूँ कि 'तुम मुझ में रमण करो' आनन्दपूर्वक रहो ।' किन्तु जो दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य, अज्ञान आदि आसुरी संपद् हैं, पाप-लक्ष्मी हैं, उन्हें अपने हृदय-मंदिर में से निकल जाने को कहता हूँ, उन्हें मैं अब अपने मनोराज्य में नहीं रहने दूंगा ।

(एताः) इन (एनाः) उन [अपने घर या जीवन में रखी हुई सैकड़ों प्रकार की] लक्ष्मियों का (व्याकरं) मैं विवेकपूर्वक पृथक्करण करता हूँ (खिले विष्ठिता गाः इव) जैसे कि व्रज में विविध प्रकार की आ बैठी हुई गौओं का गोपाल किया करता है। अब (याः पुण्याः लक्ष्मीः) जो पुण्या लक्ष्मी हैं, पुण्य कमाई के ऐश्वर्य हैं (रमन्तां) वह मेरे यहाँ रमण करें, आनन्द से रहें पर (याः पापीः) जो पाप कमाई की लक्ष्मी हैं (ताः) उन्हें मैं आज (अनीनशम्) विनष्ट किये देता हूँ ।

हिरण्यगर्भं परमं अनत्युद्यं जना विदुः ।
स्कम्भस्तदग्रे प्रासिंचत् हिरण्यं लोके अन्तरा ॥
अ० 10.7.28

इस विश्व का मूल खोजते हुए हम मनुष्य प्रायः हिरण्यगर्भ तक ही पहुँचते हैं। सब शास्त्रों में इसे जगत् का वह हिरण्यमय (चमकता हुआ) गर्भ माना है जिससे कि इस सब जगत् की उत्पत्ति हुई है। वैज्ञानिक लोग भी इस सब सौरमण्डल की उत्पत्ति एक ऐसे ही हिरण्यमय महातेजःपिण्ड से कहते हैं जिससे कि कालान्तर में जुदा हुए और ठण्डे हुए ये हमारे पृथिवी आदि सब ग्रह आज अपने अवशिष्ट सूर्य के चारों तरफ घूम रहे हैं परन्तु क्या इस हिरण्यगर्भ से भी परम अन्य किसी तत्त्व को नहीं बताया जा सकता ? एवं वैयक्तिक जीवन के मूल में भी हम वीर्य (हिरण्य) को, वीर्य के अणु को, ही जानते हैं। पर वीर्य के अणु में भी यह जीवन पैदा करने की शक्ति क्योंकर है, यह हम नहीं जानते। प्रारम्भ प्रारम्भ में इस वीर्यअणु को किसने उत्पन्न किया, इस विश्व के प्रारम्भ में तैजस सूक्ष्मलोक में उस हिरण्यगर्भ को किसने प्रकट किया ? इस का उत्तर हम नहीं जानते। यह संसार बेशक सत्त्व, रज, तम (Mind, Motion, Matter) का खेल है। तम से परे रज है और रज से परम सत्त्व है। पर क्या सत्त्व (Mind) का अतिक्रमण करके कही जा सकने वाली, इससे परली और कोई शक्ति संसार में नहीं है ? वह सत्त्व का हिरण्य भी जिसके आधार से चमकता है, हे मनुष्यो ! उस 'स्कंभ' देव को तुम जानो। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में जो हिरण्यगर्भ को भी प्रादुर्भूत करता है और जो संसार की जीवनप्रक्रिया को चलता कर देता है, उस स्कंभदेव को तुम जानो। इस ब्रह्माण्ड-शरीर की नस-नस में जो दिव्य वीर्य (हिरण्य) इसे जीवन देता हुआ सदा बह रहा है, वह उस स्कंभ का ही सींचा हुआ है, इस ब्रह्माण्ड में जो भी कुछ जीवन चैतन्य प्राण दिव्यत्व, प्रकाश, चमक आदि दीख रहा है, यह सब हिरण्य उसी स्कंभ से आया हुआ है। अतः हे मनुष्यो ! तुम उस जगदाधार स्कंभ को ही परम और अनत्युद्य वस्तु समझो; अन्य किसी को नहीं।

(जनाः) लोग (हिरण्यगर्भं) हिरण्यगर्भ को (परमं) सब से परली और (अन्-अति-उद्यं) जिससे अतिक्रमण कर परे कुछ न कहा जा सके ऐसी वस्तु (विदुः) समझते हैं। परन्तु (तत् हिरण्यं) उस हिरण्य को, तेजोमय वीर्य को तो (अग्रे) प्रारम्भ में (लोके अन्तरा) इस संसार के अन्दर (स्कंभः) जगदाधार परमेश्वर ने (प्रासिंचत्) सिंचन किया है।

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीः नेलयन्ति कदाचन ।।

अ० 10.7.37

यह वायु क्यों सदा गति कर रहा है ? क्यों कहीं ठहर नहीं जाता ? यह मन क्यों कहीं रत नहीं हो जाता, क्यों किसी आनन्द को पाकर ठहर नहीं जाता ? ये नदियाँ, ये प्रजायें, ये जीव, जीवों के ये कर्मप्रवाह क्यों कभी नहीं ठहरते ? क्यों सदा चल रहे हैं ?

ये सब किसे प्राप्त करना चाहते हुए चलते चले जा रहे हैं ? यह वायु, यह प्राण कहाँ पहुँचने के लिए सदा चल रहा है ? यह मन किस प्यारे को पाना चाहता हुआ और उसे कहीं न पा सकता हुआ प्रतिक्षण चंचल है ? ये सब प्रजायें ये सब प्राणी दिन रात कुछ न कुछ करते जाते हुए किसे प्राप्त करना चाहते हैं ?

क्या ये सब सत्य को ही पाना चाहते हुए नहीं चल रहे हैं ? ओह, सचमुच, उस परम सत्य को पाने के लिए ही प्राण निरन्तर फिर रहा है, मन सदा भटक रहा है और सब प्राणियों का प्रतिक्षण का कर्मप्रवाह चल रहा है। और निःसन्देह कभी किसी काल में उस परम प्यारे 'सत्य' को पा लेने पर ही यह हमारा प्राण चैन पायेगा, मन निरुद्ध हो जायेगा, हमारी सब की सब चेष्टायें सर्वथा बन्द हो जायेंगी और हम उस प्रेप्सित परम आनन्द में समाधिस्थ हो जायेंगे। पर उसे बिना पाये कहीं विश्राम नहीं है, हे भाइयो ! कहीं विश्राम नहीं है।

(वातः) वायु, प्राण (कथं) क्यों (न इलयति) नहीं ठहरता ? (मनः) मन (कथं) क्यों (न रमते) कहीं नहीं रमता ? (किं) क्या (सत्यं प्रेप्सन्तीः) सत्य स्वरूप को प्राप्त करना चाहती हुई ही (आपः) प्रजायें, जीव, जीवों के कर्मप्रवाह (कदाचन) कभी भी (न इलयन्ति) नहीं ठहरते हैं, सदा चल रहे हैं ?

अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यन्ति ।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥
अ० 10.8.32

मनुष्य परमेश्वर को कभी त्याग नहीं सकता, कभी उससे जुदा नहीं हो सकता है क्योंकि यह परमेश्वर के इतना सन्निकट है, इतना घनिष्ठ सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है कि परमात्मा उसकी आत्मा की आत्मा है। पर आश्चर्य है कि इतने निकट होता हुआ भी वह अपने परमात्मा को देखता नहीं है। अथवा इसमें आश्चर्य करने की क्या बात है ? वह इतना अत्यन्त निकट है इसीलिये उसे वह नहीं देख सकता है ! आँख अपनी पुतली को कैसे देख सकती है ? तो अपने को शक्ति देने वाले परमात्मा को आत्मा कैसे देखे ? इसीलिये हे मनुष्य ! यदि तू अपने परमात्मा को आँखों से ही देखना चाहता है तो तू उसके काव्य को देख। गुणों के देखने से ही गुणी देखा जाता है। तू उसके इस दृश्य महाकाव्य में उसके दर्शन कर। देख, उसका यह दृश्य काव्य हर समय चल रहा है, खेला जा रहा है। इस दृश्य काव्य का पुस्तक वेद है, पर उसका अभिनय यह सब चलता हुआ दृश्यमान संसार है। मनुष्यकृत नाटक तो एक दो बार देख लिये जाने पर पुराना हो जाता है और वह खतम तो हो ही जाता है परन्तु यह ईश्वरीय काव्य न तो कभी खतम होता है और न कभी पुराना होता है, न कभी मरता है और न कभी जीर्ण होता है क्योंकि इसका रचयिता ही कभी न मरने वाला है और न कभी बुड्ढा होने वाला है। उससे निरन्तर हर समय नित्य नया निकलता हुआ यह काव्य सदा चल रहा है। हे मनुष्य ! तू सदा इसको देखता हुआ इसी में अपने परमात्मदेव का हर घड़ी और हर पल दर्शन किया कर।

मनुष्य (अन्ति सन्तं) सदा समीप ही विद्यमान [परमात्मदेव] को (न जहाति) कभी त्यागता नहीं, जुदा नहीं होता और (अन्ति सन्तं) समीप ही विद्यमान उसे (न पश्यति) देखता भी नहीं। हे मनुष्य ! तू (देवस्य) उस परमात्मदेव के (काव्यं) काव्य को (पश्य) देख, जो कि काव्य (न ममार) कभी मरा नहीं, मरता नहीं और जो (न जीर्यति) कभी जीर्ण नहीं होता, पुराना नहीं होता।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः ॥

अ० 1.34.3

मेरा प्रत्येक कर्म मधुमत् होये । मेरा आना जाना, मेरा पास होना और दूर होना, मेरी प्रवृत्ति और निवृत्ति ये सब क्रियायें माधुर्यमय और प्रेमपूर्ण होयें । लोग समझते हैं कि पास होना, आकृष्ट होना तो प्रेमयुक्त होता है पर जुदा होना दूर हटना प्रेमयुक्त नहीं हो सकता । परन्तु नहीं, हमारा दूर हटना भी प्रेमपूर्ण ही होना चाहिये, दूर हटने, जुदा होने में भी हमें उस भाई के प्रति जिससे कि हम हटते हैं, अपने प्रेमभाव व माधुर्य को नहीं त्यागना चाहिये । किसी समय जुदा हो जाना, निवृत्ति, असहयोग करना भी कर्तव्य होता है, धर्म होता है, परन्तु उस समय अपने उस प्रतिपक्षी साथी के प्रति उसी तरह प्रेमभाव बनाये रखना भी उतना ही आवश्यक धर्म होता है । इसलिये मेरी तो जहाँ प्रत्येक निक्रमण की, निकटगमन की, क्रिया भी मधुमय होती है, वहाँ मेरी प्रत्येक परायण की, हटने की क्रिया भी माधुर्यमय होती है । और इस निक्रमण और परायण से बाहर मेरी और कौन सी क्रिया रह गयी ? मैं वाणी से भी मीठा ही बोलता हूँ; स्थूल वाणी से, हृदय की वाणी से, लेख की वाणी से या आचरण की वाणी से, अपनी प्रत्येक अभिव्यक्ति से मैं माधुर्य को ही बरसाता हूं । इस तरह हे प्रभो ! अपनी एक एक चेष्टा में, क्रिया में, हरकत में तथा एक-एक वाणी में, वचन में माधुर्य को ही लाता हुआ मैं मधुसंदृश बन जाऊँ । हे मधुस्वरूप ! जब मैं इस तरह अपने जीवन में माधुर्य की उपासना करूँगा तो निश्चय से बाहर भी मेरे लिये सब कहीं माधुर्य ही माधुर्य हो जायेगा । मेरी दृष्टि में ऐसा माधुर्य बस जायगा कि मैं इस संसार में माधुर्य के सिवाय और कुछ नहीं देख सकूँगा । और तो क्या, अपने प्रति किये गये प्रहारों में, आक्षेपों में, निन्दा में, नुक्ताचीनियों में भी मैं माधुर्य ही माधुर्य देखूँगा । ओह, हे परममधुवाले ! तेरे माधुर्य से भरे पड़े इस संसार में मैं माधुर्य के सिवा और कुछ कैसे देख सकूँगा ?

(मे) मेरा (निक्रमणं) निकट जाना, प्रवृत्ति (मधुमत्) माधुर्यमय होये तथा (मे) मेरा (परायणं) दूर हटना, निवृत्ति भी (मधुमत्) माधुर्यपूर्ण होये । मैं (वाचा) वाणी से (मधुमत्) माधुर्ययुक्त ही (वदामि) बोलता हूँ, इसलिये [हे मधुस्वरूप] मैं (मधुसंदृशः) मधुरूप या सर्वत्र मधु को ही देखने वाला (भूयासम्) हो जाऊँ ।

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते।
उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥
अ० 10.8.39

मनुष्यो ! आओ हम यह जानें कि यह संसार परिपूर्ण है। संसार की पृथक् पृथक् वस्तुएं बेशक अपूर्ण हैं, अधूरी हैं, त्रुटिमय हैं किन्तु यह समूचा संसार मिलकर परिपूर्ण ही है। यदि हम संसार की परिपूर्णता को नहीं अनुभव करते हैं तो हम अभी संसार को नहीं जानते हैं। पूरी समूची दृष्टि से जब हम संसार को देख सकेंगे तो हम देखेंगे कि इस समष्टि संसार में कोई कसर, त्रुटि व कमी नहीं है। और यह संसार पूर्ण क्यों न हों, जब यह पूर्ण पुरुष का रचा हुआ है ? पूर्ण से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। निःसन्देह यह पूर्ण जगत् उस पूर्ण परमेश्वर से निकला है, प्रादुर्भूत हुआ है।

भाइयो ! और फिर तुम यह देखो कि उस पूर्ण प्रभु ने इस पूर्ण जगत् को एक बार पैदा करके ही नहीं रख दिया है, किन्तु वह इसे लगातार सींच भी रहा है, सतत जीवन-रस पहुंचाता हुआ पालन भी कर रहा है। अर्थात् यह जगत् न केवल पूर्ण पैदा हुआ है किन्तु पूर्ण रूप से चल भी रहा है और पूर्ण रूप से सदा चलता रहता है, इस पूर्ण माली द्वारा पूरी तरह सींचा जाता हुआ सदा पूर्णतया फलता फूलता रहता है।

हे मेरे भाइयो ! यदि हमने यह जान लिया है कि यह जगत् एक परिपूर्ण कृति है और फिर यह जान लिया है कि फलतः इसका कर्त्ता भी परिपूर्ण होना चाहिये, तो आओ अब हम उस परिपूर्ण को जानें पहिचानें और प्राप्त करें जो कि पूर्ण इस पूर्ण जगत को उत्पन्न कर इसे सदा परिपूर्णतया सींच रहा है। आओ आओ, तो आज से हम उस की खोज में निकल पड़ें जो कि परिपूर्ण है और परिपूर्णता का देने वाला है, आज से उस पथ के पथिक बन जायें जोकि हमें परिपूर्णता के पद पर पहुंचाने वाला है।

(पूर्णात्) पूर्ण से (पूर्णं) पूर्ण (उदचति) उत्पन्न होता है और (पूर्णं) यह पूर्ण (पूर्णेन) उस पूर्ण द्वारा (सिच्यते) सींचा भी जाता है। (उतो) तो (अद्य) अब आज हम (तद्) उस [पूर्ण] को (विद्याम) जानें, प्राप्त करें (यतः) जिस द्वारा (तत्) वह [दूसरा पूर्ण] (परि-सिच्यते) पूर्णतया सींचा जा रहा है।

इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे ।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥

अ० 10.8.26

देखो, यह कल्याणरूपिणी देवता है जो कि कभी बुड्ढी नहीं होती है, सदा अजरा है। यह मरणशील मनुष्य के, मर्त्य के घर में धारण की गई अमृत है, कभी न मरने वाली है। यह इस घर में न जाने कब से बैठी है ? पर बड़े दु:ख की बात है कि यह जिसके लिए आयी है, जिसके लिए घर में धारण की गई है वह सोया पड़ा है। वह लगातार सोया पड़ा है। यह उसे धारण करने वाला घर जीर्ण हो जाता है और ढह जाता है किन्तु फिर भी उसकी नींद नहीं समाप्त होती।

क्या तुम समझे कि यह कल्याणी देवता किसके लिए आयी है ? शरीर रूपी मर्त्यगृह में धारण की गयी यह आत्म देवता किस काम के लिए बैठी हुई है ? यह तो जीव का कल्याण करने के लिए आयी हुई है। यह माता तो अपने जीव-पुत्र को उसके कल्याणमय मंगलधाम में ले जाने के लिए आयी हुई है और न जाने कब से पुत्र के जगने की प्रतीक्षा में बैठी हुई है। उसे धारण करने वाले एक नहीं बहुत से घर जीर्ण हो चुके हैं, बहुत से शरीर बुड्ढे हो चुके हैं पर वह प्रतीक्षा में बैठी हुई है। यह अजरा अमृता माता तो अनन्त काल तक ऐसे ही निर्विकार बैठी रह सकती है, और जब तक जीव न जागेगा तब तक बैठी रहेगी। पर हा ! चिन्ता की बात तो यह है कि यह जीव कब जागेगा ? यह पुत्र कब जागेगा ? कब जागृति पायेगा ?

(इयं) यह (कल्याणी) कल्याणस्वरूपिणी देवता (अजरा) कभी जीर्ण न होने वाली, कभी बुड्ढी न होने वाली है यह (मर्त्यस्य) मरणशील मनुष्य के (गृहे) घर में, शरीर में धारण की गई (अमृता) अमृत है, न मरने वाली है। किन्तु (यस्मै) जिसके लिये (कृता) यह धारण की गई है (सः) वह (शये) सोया पड़ा है, इसे (यः) जिसने (चकार) धारण किया है (सः) वह भी (जजार) जीर्ण हो जाता है।

कार्त्तिक (तुला) के लिए

प्राणदायक व्यायाम

प्रारम्भिक स्थिति में खड़े होइये, भुजायें नीचे लटकी हों, मुट्ठियां कसी हों और शरीर की सब मांसपेशियां तनी हुई हों। दाहिने पैर को फर्श से एक दो इंच ऊपर उठाइये पर इसका घुटना बिलकुल तना हुआ और सीधा रहे। आपके शरीर का सारा बोझ बायें पैर पर थमा हुआ हो। अब दायें पैर को इसके जंघामूल के जोड़ पर घुमाइये और इसे जहां तक बाईं ओर ले जा सकते हों वहां तक ले जाइये और फिर इसे दूसरी तरफ चक्राकार में घुमाते हुए जहां तक ले जा सकते हो, वहां तक दाईं तरफ ले जाइये। यह सब करते हुए शरीर को इधर उधर मत हिलने दीजिये और न पैर को ही जमीन से छूने दीजिये। इसके बाद दायें पैर पर खड़े होकर यही व्यायाम बायें पैर से कीजिये। शरीर को ढीला छोड़ दीजिये और फिर से इस व्यायाम को दुहराइये। इस व्यायाम भर में लगातार गहरे, पूर्ण और पेट तक पहुँचने वाले श्वास लेते रहिये।

यह व्यायाम हमारे उत्पादक अंगों के लिए लाभकारी है। ध्यान कीजिये कि मैं बलवान् हूँ और प्राणशक्ति से परिपूर्ण हूँ। इस प्राणायाम से मुझमें नया जीवन संचार हो रहा है, इत्यादि।

इन उत्पादक अंगों को गौणतया वैशाख, श्रावण तथा माघ मास की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ।
विदुष्टे तस्य मेधिराः तेषां श्रवांस्युत्तिर ॥

ऋ॰ 1.11.7

हे परमेश्वर ! तेरे इस संसार में शुष्ण असुर भी उत्पन्न हुआ करता है । यह वह मनुष्य व मनुष्यसमूह होता है जो कि दूसरों के शोषण पर, चूसने पर, अपना निर्वाह करता है । यह बड़ा मायावी होता है । यह दूसरों के रक्त का शोषण बड़ी गहरी माया से, बड़े छल कपट से करता है । यह ऐसे प्रबंध से काम करता है, ऐसा ढंग रचता है कि हमें अपना कुछ भी अनिष्ट होता हुआ नहीं पता लगता किन्तु चुपके चुपके हमारे सब सत्त्व, सब विद्या, सब संपत्ति का अपहरण होता चला जाता है । इसकी माया के अच्छी तरह फैल जाने पर तो यह अवस्था आ जाती है कि इस शुष्ण असुर के शिकार हुए लोग ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि वे स्वेच्छा से, प्रसन्नता से, अपने को चुसवाते, शोषित करवाते जाते हैं । परन्तु हे इन्द्र ! तू इस मायावी महाअसुर को मायाओं द्वारा ही विनष्ट कर देता है । तेरा जगद्विधान इतना सच्चा और परिपूर्ण है कि इसमें माया की अपने आप प्रतिक्रिया होती है; माया अपनी प्रतिद्वन्द्वी माया को पैदा कर अपना आत्मघात कर लेती है । चालें चलने वाला आखिर अपनी चालों से ही मारा जाता है । तेरी सच्ची माया (प्रज्ञा) के सामने शुष्ण की झूठी माया विलीन हो जाती है पर तेरे इस सृष्टि के रहस्य को, तेरे इस सामर्थ्य को, विरले मेधावाले ज्ञानीजन ही जानते हैं । शेष साधारण लोगों को तो जब इस भयंकर शोषण का पता लगता है तो वे घबरा उठते हैं और समझने लगते हैं कि इस संसार में कोई इन्द्र नहीं, परमेश्वर नहीं, कोई गरीबों की आह सुनने वाला नहीं । किन्तु ये 'मेधिर' लोग श्रद्धाभरी आँखों से तेरी तरफ देखते हुए अपना काम करते जाते हैं । पर हे इन्द्र ! अब तो बहुत देर हो चुकी, शुष्ण राक्षस का उपद्रव पराकाष्ठा को पहुँच चुका । पीड़ितों की सुधि तुम और कब लोगे ? ये देखो, चुसते चुसते अब यहाँ क्या बचा ? ये देखो, मेधावी लोग अब एकमात्र तुम्हारी तरफ टकटकी लगाये देख रहे हैं । अब तो तुम छिनते जाते गरीबों के पेट के अन्नों का उद्धार कर दो, नष्ट होते जाते उनके सत्त्वों का रक्षण कर दो । शुष्ण की माया को छिन्न भिन्न करके इससे ढके पड़े सज्जनों के यज्ञों को फिर सुप्रकट कर दो । प्रभो ! अब तो हद हो चुकी है । हे इन्द्र ! तुम्हारा इन्द्रत्व और किस समय के लिए है ?

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वं) तुम (मायिनं) माया वाले, बड़े कपटी (शुष्णं) शोषण करने वाले राक्षस को (मायाभिः) मायाओं द्वारा ही (अवातिरः) नीचे कर देते हो, विनष्ट कर देते हो । (ते) तुम्हारे (तस्य) उस रहस्य को (मेधिराः) मेधा-वाले ज्ञानी लोग ही (विदुः) समझते हैं; तुम अब (तेषां) उनके (श्रवांसि) अन्नों को, सत्त्वों को, यशों को (उत्तिर) ऊँचा कर दो, उद्धार कर दो ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

अ० 11.5.19

शरीर में वीर्य ही जीवनवर्धक वस्तु है। हम इस वीर्य को जितना जितना धारण करेंगे उतना ही हम जीवनपूर्ण होंगे और मृत्यु को जीतेंगे। मनुष्यो ! यदि तुम मृत्युभय से पार होना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य को धारण करो। सब देव जो अमर हुए हैं, ज्ञानी सन्त महात्मा ऋषिलोग जो मृत्यु को भी मारे हुए निश्चिन्त बैठे हैं, वे इस स्पृहणीय अवस्था को ब्रह्मचर्य के तपोबल द्वारा ही पहुँचे हैं। शारीरिक वीर्य, मानसिक तेज और आत्मिक शक्ति को सदा रक्षित रखना, कभी भी भोग में गिर कर इसका क्षय न होने देना, यही वह कठिन ब्रह्मचर्य का तप है जिससे कि मौत भी मारी जाती है और सच्चा परमसुख पाया जाता है। संयमी ब्रह्मचारी जिस दिव्य सुख को अनुभव करते हैं, उसकी एक कला भी भोगियों को नहीं मिलती है। विचारे भोगी लोग सुख को जानते ही नहीं हैं। यदि उन्हें सच्चे आत्मवश सुख का पता लग जाय तो वे कभी भोगों की इच्छा न करें। हे भाइयो ! तुम उन परम ब्रह्मचारी परमेश्वर की तरफ क्यों नहीं देखते ? वे इन्द्र परमैश्वर्यवाले होते हुए भी त्रिकाल में भोगवासना से परे हैं और सर्वथा निष्काम हैं। इसीलिये उनके पास अपनी शक्ति का ऐसा अक्षय भंडार संचित है कि वे देवराज अपने सब अग्नि आदि देवों के लिए तथा सब मनुष्य-देवों के लिए तेज और सुख को अनवरत देते चले जा रहे हैं। यदि इस संसार के मूल में उन इन्द्र प्रभु का ब्रह्मचर्य न हो तो यह संसार एक क्षण भर न चल सके। इसी तरह शरीर में आत्मा-इन्द्र अपने ब्रह्मचर्य द्वारा ही सब इन्द्रिय-देवों में तेज और सुख को सदा ला रहे हैं। भोगों में पड़ते जाने से इन्द्रियों का तेज सदा क्षीण होता जाता है पर उनके आत्माभिमुख होने पर वे ब्रह्मचर्य द्वारा रक्षित आत्मा के अपार तेज और सुख से परिपूर्ण हो जाती हैं, भर जाती हैं। अतः हे मनुष्यो ! यदि तुम मौत को मारना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की साधना करो और यदि तुम सुख पाना चाहते हो तो ब्रह्मचर्य की उपासना करो।

(देवाः) देव, ज्ञानी पुरुष (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तपोबल से (मृत्युं) मौत को (अपाघ्नत) मार डालते हैं। (इन्द्रः) परमेश्वर व आत्मा (ह) भी निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) अपने ब्रह्मचर्य के द्वारा ही (देवेभ्यः) देवों के लिए (स्वः) सुख व तेज को (आभरत्) लाता है, प्राप्त कराता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ।।

अ० 11.5.17

जो राजा अजितेन्द्रिय, विलासी होता है, उसके दुर्बल हाथों में राज्य की बागडोर सँभली नहीं रह सकती क्योंकि जिस सरकार के अधिकारी व कर्मचारी विषयलोलुप आचारहीन और लम्पट होते हैं, उसकी प्रजा अरक्षित हो जाती है एवं पीड़ित और दुःखी होती हुई वह प्रजा उस सरकार को शाप देती रहती है। ऐसी सरकार शीघ्र ही च्युत हो जाती है। अतः हे राजाओ ! यदि तुम सचमुच राज्य करना चाहते हो, प्रजा का ठीक-ठीक रंजन और रक्षण करना चाहते हो, प्रजा को धनसमृद्ध, ज्ञानविकसित और उन्नत बनाना चाहते हो तो तुम ब्रह्मचारी बनो और तपस्वी बनो। तुम अपने जीवन को सदा संयमी और तेजस्वी बनाओ और अपने आपको जितेन्द्रिय, कष्टसहिष्णु और ईश्वरपरायण बनाओ।

इसी तरह जो आचार्य शिष्य को शिक्षित करना चाहता है, उसे ब्रह्मचारी रखकर वेदज्ञान देना चाहता है उसे स्वयं ब्रह्मचारी होना चाहिये, बड़ा उन्नत ब्रह्मचारी होना चाहिये। नहीं तो उसे ब्रह्मचारियों की इच्छा ही नहीं करनी चाहिये। वास्तव में यह आचार्य का अपना ब्रह्मचर्यमय और शान्तिप्राप्त जीवन ही होता है जिसके कि कारण वह इच्छा करता है कि और भी बहुत से लोग ब्रह्मचारी बनें, कि जितने ब्रह्मचारी बनें उतने थोड़े हैं। सचमुच आचार्य अपने ब्रह्मचर्य के बल द्वारा ही ब्रह्मचारियों को आकृष्ट करता है, उन पर शासन करता है, उन्हें अपने वश में रखता है, अपने से जोड़े रखता है और उन्हें ब्रह्मामृत पिलाता हुआ परिपुष्ट करता रहता है।

एवं कोई भी शासन—राज्यशासन या शिक्षाशासन, क्षत्रिय का शासन या ब्राह्मण का शासन—ब्रह्मचर्य के बिना नहीं चल सकता।

(राजा) राजा (ब्रह्मचर्येण तपसा) ब्रह्मचर्य के तप द्वारा (राष्ट्रं) राष्ट्र की (वि रक्षति) ठीक ठीक रक्षा करता है और (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य से ही (ब्रह्मचारिणं) ब्रह्मचारी को (इच्छते) चाहता है।

तस्माद् वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥

अ० 11.8.31

सब ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह पुरुष ब्रह्म है। क्या तुम जानते हो कि वे ऐसा क्यों कहते हैं? इसका कारण यह है कि सब के सब देवता हमारे शरीर में आये हुए हैं और सब देवों का देव परमदेव परमेश्वर ही हमारे अन्दर है। सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव हमारे शरीर में ऐसे अपना घर बना कर आ बैठे हैं जैसे कि अपने गोष्ठ में, गोशाला में, गौएँ यथास्थान बैठी हुई होती हैं। सचमुच हमारा देह देवों का घर बना हुआ है। सूर्य देवता हमारे चक्षु को, ज्ञान को, ज्ञान के विस्तृत कोष को अधिकृत करके आ बैठा है और उसके साथ सम्पूर्ण और द्युलोक के सब देवता समाये हुए हैं। वायु देवता हमारे प्राण में, मनोमय सहित हमारे प्राणशरीर में ठहरा हुआ है और उसके साथ सम्पूर्ण अन्तरिक्षलोक और अन्तरिक्ष के सब देव आये हुए हैं। अग्नि देवता हमारे शेष स्थूल शरीर को संभाल कर बैठा हुआ है और उसके साथ समस्त पृथ्वीलोक तथा पृथ्वी के सब देव विराजे हुए हैं। इस तरह यह सब त्रिलोकी, त्रिलोकी के सब भुवन और भुवनों के सब के सब तैंतीस, तीन सौ तीन या तीन हजार तीन[1] देवता इस शरीर में आये हुए हैं। सचमुच सब ब्रह्माण्ड ही इस पिंड में है। इसमें आश्चर्य ही क्या है? जबकि वह परमदेव हमारे अन्दर है तो उस की सम्पूर्ण विभूति, उसका सम्पूर्ण विश्व क्यों न हमारे अन्दर होगा? वास्तव में सब कुछ हमारे अन्दर ही है और मनुष्य को जब भी कभी सब कुछ की प्राप्ति होगी तो अपने अन्दर से ही होगी। बाहर कुछ नहीं है। बाहर तो केवल हमारे अन्दर की छाया-मात्र है, अस्थिर छायामात्र है। इसलिये हे मनुष्य! जिस दिन इस परम सत्य का साक्षात्कार तुझे हो जायगा तो निश्चय से तू भी बोल उठेगा 'इदं ब्रह्म' पुरुष के विषय में कहने लगेगा 'यह ब्रह्म है, वह ब्रह्म है।'

(तस्मात्) इसी कारण (वै) ही (विद्वान्) ज्ञानी लोग (पुरुषं) इस पुरुष को (इदं ब्रह्म इति) 'यह ब्रह्म है' ऐसा (मन्यते) मानते हैं। क्योंकि (अस्मिन्) इस पुरुष देह में (सर्वा हि देवताः) सब की सब देवताएँ (गावः गोष्ठे इव) जिस तरह गोशाला में गौएँ बैठी होती हैं उसी तरह (आसते) आ विराजी हुई है।

---

[1] बृहदा० उ० —9.1.1

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषास्मि विश्वाषाड् आशमाशां विषासहिः ।।

अ० 12.1,54

मैं सहनशक्ति में अदम्य हूँ । मैं सह सह कर सब को हरा दूँगा, सब को पराभूत कर दूँगा । अपनी भूमि माता के लिए ऐसी क्या चीज है जिसे मैं सह नहीं लूँगा । मैं इस भूमि पर 'उत्तर' होकर उत्पन्न हुआ हूँ, उत्कृष्टतर मनुष्य-योनि पाकर उत्पन्न हुआ हूं । मुझे अपने मनुष्यत्व का अभिमान है । मैं मनुष्य होकर कभी सहन करने में कैसे हार खा सकता हूँ ? मैं तो भूमिमाता का मुख उज्ज्वल करने के लिए असह्य से असह्य कठिनाइयों और मुसीबतों को सह डालूँगा । मेरे मुकाबिले में जो कोई आयेगा, उसे मैं अपनी सहनशक्ति द्वारा वशीभूत कर लूँगा, अपने सामने नमा लूँगा । मेरे अभिमुख कोई भी प्रतिद्वन्द्वी खड़ा नहीं रह सकता । मैं उत्तर हूँ । मैं सब कुछ सह लूँगा । मैं भूमिमाता का पुत्र हूं, मैं सब का अभिभव कर दूँगा । हे संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति ! तू आ, मैं आज सब को जीत लूँगा । मैं तो जिस दिशा में पैर रखूँगा, उसे ही अपनी सहनशक्ति द्वारा अपने सामने झुका लूँगा, जिस आशा या इच्छा से निकलूँगा, उसे ही अपने इस अमोघ अस्त्र द्वारा अधिगत कर लूँगा । मैं अभीषाड् हूँ, मैं विश्वाषाड् हूँ ।

(अहं) मैं (सहमानः) सहन करने वाला (अस्मि) हूँ, (भूम्यां) इस भूमि पर (उत्तरः नाम) उत्कृष्टतर प्रसिद्ध हूँ । मैं (अभीषाड्) मुकाबिले में आये हुए को सहने वाला (अस्मि) हूँ, (विश्वाषाड्) सब कुछ सहने वाला हूँ, (आशां आशां) प्रत्येक दिशा में प्रत्येक इच्छापूर्ति के लिए सब कुछ (विषासहिः) विशेषतया बार बार सह सकने वाला हूँ ।

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।
यथैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ।।

अ० 19.1.3

हमारे अन्दर जो वाणी है, वह एक बहुत बड़ी देवता है । हमारा दौर्भाग्य है कि हम इसके माहात्म्य को नहीं समझते । यह तो परमेष्ठिनी है, परम में ठहरने-वाली है । इस का स्थान परमदेव में है पर हम इसे एक मामूली चीज समझते हुए इसके साथ 'परमेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली वाग् देवता' का सा वर्ताव नहीं करते । यदि हम इसके साथ ऐसा ही वर्ताव करें और इसे ब्रह्मसंशिता बनायें तो इसके समान संसार में और कोई दूसरी शक्ति नहीं है । ब्रह्म से, ईश्वरीय ज्ञान से, ब्रह्मचर्य-प्राप्त ब्रह्मतेज से संशित की गई, तीक्ष्ण की गई वाणी एक ऐसा शस्त्र है जो कि अमोघ है । यह इन्द्र का वज्र है । यह आत्मा की एकमात्र शक्ति है । अनादिकाल से संसार के सब दिव्य लोग इसी दिव्य हथियार को बरतते आये हैं । यह ठीक है कि जैसे हरएक ही हथियार का सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों किया जा सकता है वैसे इस वाक् का दुरुपयोग भी हो सकता है और सदा होता रहा है । इससे बड़े-बड़े घोर कृत्य किये गये हैं । संसार में जो सदा लड़ाई झगड़े उपद्रव और संग्राम होते रहते हैं, प्रायः उन सब का मूल किसी न किसी रूप में वाणी का दुरुपयोग ही होता है । वाणी की तलवार के घाव कितने बुरे होते हैं और कितने भयंकर दुष्परिणाम के लाने वाले होते हैं, यह सभी अनुभवी लोग जानते और देखते हैं । परन्तु हम तो कभी वाणी का दुरुपयोग नहीं करेंगे । अपनी वाणी का सदा शान्ति फैलाने के लिए, प्रेम व मेल बढ़ाने के लिए ही उपयोग करेंगे । इस देवी का, परमेश्वर की प्रदान की हुई इस परम पवित्र वस्तु का, हम बहुत सोच समझकर उपयोग करेंगे । इसके द्वारा हम जख्मों को भरेंगे, फटे हुओं को मिलायेंगे और जुदा हुओं को गले लगवायेंगे । हमारा संकल्प है कि इस वाणी शक्ति द्वारा हम संसार में शान्ति को फैलायेंगे, संसार में शान्ति का संस्थापन करेंगे ।

(इयं) यह (या) जो (परमेष्ठिनी) परमदेव परमेश्वर में ठहरने वाली और (ब्रह्मसंशिता) ज्ञान से तीक्ष्ण की गयी (वाक्) वाणी रूपी (देवी) देवता है, (यया एव) जिससे कि निःसन्देह (घोरं) बड़े-बड़े घोर कृत्य (ससृजे) किये जाते हैं (तया एव) उसी ही वाणी से (नः) हमारे लिए, हम मनुष्यों के लिए (शान्तिः) शान्ति (अस्तु) होवे, फैले ।

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥

य० 40.1

हे मनुष्या ! बिना पूछे ताछे, बिना जाने बूझे तुने उत्पन्न होते ही इस संसार के ऐश्वर्यों को भोगना शुरू कर दिया है पर क्या तूने कभी यह भी पता लगाया है कि यह ऐश्वर्य धन किसका है ? इस धन का ईश कौन है, स्वामी कौन है ? अरे, इसका स्वामी तो हर जगह विद्यमान है। वह न दीखता हुआ भी हर वस्तु में रमा हुआ है। इस जगतीतल पर यह जो भी कुछ जगत् दीख रहा है, पदार्थजात विद्यमान है, वह सब इस ईश से बसा हुआ है, इससे अधिकृत हुआ हुआ है। तुझे चाहिये कि तू उस ईश की अनुमति पाकर ही इन ऐश्वर्यों का भोग कर 'अर्थात् तेरे अन्दर बैठा हुआ वह ईश तुझे जो कुछ दे रहा है' उसी का भोग कर। दूसरे को दिये गये धन को देखकर तू कभी मत ललचा। वह उसी के लिए दिया गया है। सब धन तो उस ईश का ही है और वह हमारे कल्याण के लिए और जगत् कल्याण के लिए हम मनुष्यों को यथा-योग्य धन देता है इसलिये तू कभी लोभ मत कर। दूसरे को दिये गये धन पर दृष्टिपात मत कर। जो कुछ तूझे दिया, उसका ही संतोष के साथ भोग कर। इसी में तेरा कल्याण है। और फिर तू इस प्राप्त धन का भी त्यागपूर्वक भोग कर। जो कुछ तेरे सामने आता है, उसमें से यज्ञ का भाग निकाल कर जो शेष बचे, उसे ही भोग कर; जगत् कल्याण के लिए, सर्वहित के लिए दे देने के बाद जो बच रहे इसे ही अपने लिए समझ। यह यज्ञ भाग तो उस ईश का भाग है उस से जो कुछ छूटे, त्यक्त होये, उसी त्यक्त से तू अपना काम चला, उपभोग कर। और इस अमृत का उपभोग भी तू सदा ईशार्पण करके कर। तू और तेरा सब कुछ भी उस ईश का ही तो है अतः तू जो कुछ भोगता है, उसे सदा इसी भावना से भोग कि इसके भोगने से जो तेरी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पुष्टि होगी, वह उस ईश के काम के लिए होगी, ईश की सेवा के लिए होगी। देख इस जगत् में ईश के इस सब धन को भोगने का यही एक नियम (कानून) है, एकमात्र यही ठीक विधि (तरीका) है।

(जगत्यां) इस संसार में (यत् किंच) जो कुछ भी (जगत्) सृष्टि है वह (इदं) यह सामने दीखने वाला (सर्वं) सभी कुछ (ईशा) ईश से, ईश्वर से (वास्यं) बसा हुआ है, व्याप्त है। अतः (तेन) उस ईश्वर से (त्यक्तेन) त्याग किये हुए, दिये हुए धन से ही (भुंजीथाः) तू अपना भोग प्राप्त कर, (कस्यचित्) किसी दूसरे के (धनं) धन की कमी (मा गृधः) चाह मत कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

य० 40.2

मनुष्य को चाहिये कि वह कर्म करता हुआ ही जीना चाहे । यदि वह कर्म नहीं करता है तो उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं है । यह जीवन कर्म करने के लिए ही दिया गया है । हे मनुष्य ! क्या तू डरता है कि कर्म करने से तू कर्म में लिप्त हो जायगा, बँध जायगा ? नहीं, यदि पूर्वोक्त प्रकार से त्यागपूर्वक तू जगत् को भोगेगा ईशार्पण बुद्धि से अपने सब व्यवहार करेगा, सर्वथा 'मम' 'अहं' को छोड़ कर कर्म करेगा तो तेरे ऐसे कर्म कभी तुझे बंधनकारक नहीं होंगे । ऐसे निष्काम कर्मों का कभी तुझ 'नर' में लेप नहीं होएगा । सचमुच ऐसे निष्काम कर्म करने वाले ही संसार में असली नर होते हैं, व्यवहार को चलाने वाले होते हैं, नेता होते हैं । अतः हे नर ! तू अनासक्त होकर त्यागपूर्वक कर्मों को कर । यही कर्मलेप से बचने का उपाय है । बल्कि इस निष्काम कर्म की साधना के सिवाय संसार में और कोई उपाय कर्मलेप से बचने का नहीं है । क्या तू समझता है कि कर्म न करने से तू कर्मलेप से बच जायगा ? अरे भोले ! जब तक यह शरीर है, जीवन है तब तक कर्मत्याग हो ही कैसे सकता है ? कुछ न कुछ शारीरिक या मानसिक कर्म किये बिना तू जी ही कैसे सकता है ? यदि कर्म से बचने के लिए तू आत्मघात भी कर डालेगा तो भी तुझे छुटकारा नहीं मिलेगा । तुझे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा और तुझे इस आत्मघात का पाप भी लगेगा । तू देख कि जिस समय कर्म करना आवश्यक हो, उस समय कर्म न करने से अकर्म का पाप भी लगता है । अतः याद रख कि कर्म त्यागने से तो तुझे कभी निर्लेपता नहीं मिलेगी । इसका साधन तो एक ही है कि कर्म किया जाय किन्तु निर्लेप होकर किया जाय । अतः हे मनुष्य ! तू उठ और इस अकर्म की तामसिक अवस्था को त्यागकर उत्साहपूर्वक निर्लेप कर्मों को किया कर, सर्वथा निरहंकार होकर सदा प्रभु अर्पित अवस्था में रहते हुए सहजप्राप्त कर्मों को निःसंग होकर सदा किया कर । ऐसे कर्मों को तू अपने संपूर्ण सौ वर्षों तक करता जा, अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक करता जा ।

मनुष्य (इह) इस संसार में (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतं समाः) सौ बरस तक (जिजीविषेत्) जीता रहना चाहे । (एवं) इस तरह, पूर्वोक्त प्रकार से त्यागपूर्व कर्म करने से (त्वयि) तुझ (नरे) नर में, कर्म चलाने वाले पुरुष में (कर्म) कर्म (न लिप्यते) लिप्त नहीं होगा । (इतः अन्यथा) इस के अति-रिक्त [कर्मलेप से बचने का] और कोई उपाय (न अस्ति) नहीं है ।

बह्विदं राजन वरुण अनृतमाह पूरुषः।
तस्मात् सहस्रवीर्य मुंच नः पर्यंहसः॥
अ० 19.44.8

हे सच्चे राजा, हे पापनिवारक ! मनुष्य बहुत अनृत बोला करता है और बड़ी तुच्छ तुच्छ बातों पर अनृत बोला करता है। प्रातः से लेकर रात्रि तक एक दिन में ही न जाने कितनी बार असत्यभाषण करता है। हम मनुष्यों का जीवन इतना अनृतमय हो गया है कि प्राय. हम लोग यह अनुभव ही नहीं करते कि हम कितना अधिक असत्य बोलते हैं। यह अनुभव तो तब मिलता है जब कि मनुष्य सचमुच झूठ से घबराने लगता है और सत्य ही बोलने के लिए सदा सचिन्त रहने लगता है। उस समय मुख से निकली अपनी एक एक वाणी पर पूरा पूरा निरीक्षण और विवेचन करने पर उसे पता लगता है कि वह सूक्ष्म रूप में कितने अधिक असत्य बोलता है। सच तो यह है कि हम में से जो लोग अपने को सत्य बोलने वाला समझते हैं, वे भी असल में काफी असत्य बोलते हैं। जो पूरा सत्यवादी होगा, पतंजलि, व्यास आदि ऋषि मुनियों के कथनानुसार, उसकी वाणी में तो ऐसा तेज आ जायगा कि वह जो कुछ कहेगा, वह सच्चा हो जायगा, वह क्रिया और फल से समन्वित हो जायगा। यदि वह किसी को कहेगा कि 'तू नीरोग हो जा' तो वह नीरोग हो जायगा[1] अर्थात् जो कार्य हम हाथ पैर आदि की स्थूल शक्ति से सिद्ध करते हैं, वह पूरे सत्यवादी पुरुष की वाणी की शक्ति से हो जाता है। अतः वास्तव में हम में से ऊँचे ऊँचे पुरुष भी अभी सर्वथा असत्यरहित नहीं हुए हैं।

हे सहस्रवीर्य ! इस असत्य से तुम ही हमें बचाओ। हममें आत्मनिरीक्षण करते हुए सदा देखा है कि हम सदैव तुच्छ भय लोभ आसक्ति आदि के कारण ही, सदैव अपनी कमजोरी, निर्बलता, वीर्यहीनता के कारण ही असत्य बोलते हैं। अतः हे अपरिमित वीर्यवाले ! तुम हमें ऐसे वीर्य और बल से भर दो कि हम सदा निधड़क हो कर सत्य ही बोलें, झूठ बोल ही न सकें, झूठ बोलने की कभी आवश्यकता ही अनुभव न करें। सचमुच तुम्हारी सहस्रवीर्यता का ध्यान कर लेने पर हम में इतना बल संचार हो जाता है कि हम अनुभव करने लगते हैं कि हम भी कभी पूरे सत्यवादी हो जायेंगे। इस तरह, हे सहस्रवीर्य ! तुम हमें सदा असत्य से छुड़ाते रहो, असत्य के पाप से हमें सब तरफ से मुक्त करते रहो।

(वरुण) हे पापनिवारक ! (राजन्) हे सच्चे राजा ! (पूरुषः) मनुष्य (इदं) यह [तुच्छ तुच्छ] (बहु) बहुत (अनृतं) झूठ (आह) बोलता है। (तस्मात्) उस (अंहसः) पाप से, (सहस्रवीर्य) हे अपरिमित वीर्य वाले ! तू (नः) हमें (परिमुंच) सब तरफ से मुक्त कर दे।

---

1. देखो योगदर्शन 2-36 और व्यासभाष्य

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयः तेषु चारु वदेम ते ।।

अ० 12 1.56

हे भूमिमातः ! हम प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक समय में, प्रत्येक विषय में तेरे लिए चारु ही भाषण करें, तेरे लिए उत्तम वाणी ही बोलें । सदा ऐसी बात बोलें जो कि तेरे यश को बढ़ाने वाली हों, तेरे लिए हितकर हों, तेरी उन्नति करने वाली हों । हम तेरे ग्रामों नगरों में रहें तो हमारे अन्दर परस्पर प्रेमपूर्वक तेरी ही चर्चायें चलें, तेरे गौरवपूर्ण भूत की कथायें कही जायें और तेरे उज्ज्वल भविष्य की बातें होयें । हम तेरे जंगल में होयें तो वहाँ अकेले भी हम तेरे स्तुति-गीत गायें, तेरे प्रेम की गीतियाँ गाते हुए आनन्द पायें । यदि तेरी सभाओं में जायें तो वहाँ तेरे पक्ष में भाषण करें, तेरे उन्नतिकारक प्रस्तावों पर हमारे प्रभावशाली वक्तृत्व होयें । और यदि संग्रामों में खड़े हों तो वहाँ तेरे ही उच्च स्वर से नारे लगायें, अपने सैनिकों का उत्साह बढ़ाते हुए तेरे जयघोषों से आकाश को गुँजा देवें । और जब तेरी समितियों में बैठे होयें तो खूब सोच समझकर पूरी तरह गंभीर विचार करके ही मुख से शब्द निकालें, जिससे कभी अनजाने में भी हमारी वाणी द्वारा कभी तुम्हारा द्रोह न हो सके । हे भूमिमातः हमारी वाणी सदा तुम्हारे लिए चारु बोलने वाली होयें सदा तुम्हारी सेवा के लिए समर्पित होयें ।

(अधि भूम्यां) इस भूमि पर (ये ग्रामाः) जो ग्राम हैं । (यद् अरण्यं) जो जंगल हैं (याः सभाः) जो सभा हैं (ये संग्रामाः) जो लड़ाइयाँ हैं (समितयः) और जो समितियाँ होती हैं, (तेषु) उन सब में हम, हे भूमिमातः ! (ते) तेरे लिए (चारु) उत्तम ही वाणी (वदेम) बोलें ।

यथा प्राण बलिहृतः तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ।।

अ० 11.4.19

हे प्राण-महासम्राट् ! यह देखो कि संसार भर के सब प्राणी, सब प्रजायें, सब जीव तुम्हारे लिए कर ला रहे हैं, तुम्हें प्रतिदिन अन्नरूपी कर की भेंट चढ़ा रहे हैं। यदि वे ऐसा न करें तो वे जीवित ही न रह सकें। तुम ऐसे प्रतापी सम्राट् हो कि डर के मारे, अपने मर जाने के डर के मारे, संसार भर के सब जीव नित्य तुम्हारी प्राणाग्नि में अन्न-बलि दे सकने के लिए अन्नों को जहाँ कहाँ से ला रहे हैं, बड़े यत्न से पसीना बहा कर अन्न धन जमा कर रहे हैं और किसी न किसी तरह तुम्हें संतृप्त कर रहे हैं। इस तरह हे प्राण ! तुम जीवमात्र के सदा प्रथम उपास्य बने हुए हो। हे सुश्रवः, हे सुन्दर सुनाने वाले, हे सुन्दर यशवाले ! तुम्हारा वह भक्त भी इसी तरह सब लोगों का उपास्य और सब की बलियों का भाजन बन जाता है जो कि तुम्हारा पूर्ण उपासक हो जाता है, जो कि तुम्हारे सुन्दर यश को सुनता है, तुम्हारी आज्ञाओं व बातों को सुनता है और ठीक उनके अनुसार आचरण करता है। जो मनुष्य प्राण की उपासना करते हैं, प्राण की महामहिमा का श्रवण मनन करते हैं, उनके कानों में तुम न केवल सदा अपना दिव्यगान सुनाने लगते हो किन्तु उन्हें कब क्या करना चाहिये, ऐसा अपना दिव्य संदेश भी हर समय देने लगते हो। धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें इस प्रकार प्राण के श्रोता बनने का महासौभाग्य प्राप्त होता है। ऐसे लोग, हे प्राण ! मनुष्यसमाज के प्राण बन जाते हैं। हम संसार में देखते हैं कि मनुष्यसमाज के प्राण-भूत ऐसे महापुरुषों के लिए सब लोग अपना अहोभाग्य समझते हुए नानाविध भेंट लाते हैं, उनके सामने अपना घर, धन, संपत्ति, पुत्र, जीवन तक उपस्थित कर देते हैं, जीवित रखने की सब के सब लोग चिन्ता करते हैं और अपने आप मर कर भी उन्हें जीवित रखना चाहते हैं। हे प्राण जब तुम्हारे श्रोता की ही इतनी महिमा है तो स्वयं तुम्हारी अपनी महिमा को हम तुच्छ लोग क्या बखान कर सकते हैं ?

(हे प्राण) हे प्राण (यथा) जैसे (इमाः) ये (सर्वा) सब (प्रजाः) प्रजायें, जीव (तुभ्यं) तेरे लिये (बलिहृतः) बलि का, कर का, भेंट का आहरण करनेवाली हुई हुई हैं (एवा) इसी तरह (अस्मै) उस पुरुष के लिए भी ये सब प्रजायें (बलिं) बलि, भेंट को (हरान्) लाती हैं, लाने लगती हैं (यः) जो कि प्राणोपासक पुरुष, (सुश्रवः) हे सुन्दर सुनानेवाले, हे सुन्दर यशवाले ! (त्वां) तुझे (शृणवत्) सुनता है।

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।
नमस्ते प्राण तिष्ठते आसीनायोत ते नमः ॥

अ० 11.4.7

हे प्राण ! मैं सदा आते जाते तुझ पर दृष्टि रखता हूँ । तेरी आने और जाने की गति के साथ अपनी मनोवृत्ति को लाता और ले जाता रहता हूँ बल्कि तेरे आने जाने के साथ 'ओ अं' का जप करता जाता हूँ । इस तरह दिन रात के चौबीसों घन्टों में जो तेरा इक्कीस हजार छः सौ बार आना जाना होता, उसके साथ मेरे इतने ही अजपाजप होते जाते हैं । इस साधना के शुरु करने से तू ठहरने लगता है और कभी कभी स्वयमेव कुछ समय के लिए ठहरा भी रहता है । एवं तेरा स्वाभाविक अनुसरण करने में मेरे चारों प्रकार के प्राणायाम भी सिद्ध हो जाते हैं । तेरे आने में वाह्यवृत्ति (रेचक) प्राणायाम होता है, तेरे जाने में आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) प्राणायाम होता है, ठहरने में स्तंभवृत्ति (कुंभक) प्राणायाम होता है और स्वयमेव ठहर जाने में चौथा वाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी प्राणायाम हो जाता है । मैं तो हठयोग के प्राणायाम की क्रियाओं के झगड़े में नहीं पड़ता किन्तु आते जाते ठहरते और ठहरे हुए तुझे, हे प्राण ! सदा नमस्कार करता जाता हूँ । बस, इसी से मुझे सब प्राणायायों का फल मिल जाता है । मैं तुझे तेरी सब स्थितियों में और सब कालों में नमस्कार ही करता हूँ । सदा तेरे सामने झुकता हूँ । कभी तुझे अपनी इच्छानुसार झुकाने की घातक चेष्टा नहीं करता । तू जो अपने सहज-स्वभाव से मुझ में चल रहा है, उसी के अनुसार मैं अपने आपको झुकाता जाता हूँ, उसी के अनुसार अपने जीवन को संचालित करता जाता हूँ किन्तु कभी अपनी सहूलियत के अनुसार तुझे मोड़ने की, परिवर्तित करने की अक्षम्य मूर्खता नहीं करता । हे प्राण ! मैं तो आते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, जाते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, ठहरते हुए तुझे नमस्कार करता हूँ, और ठहरे हुए, बैठे हुए, तुझे नमस्कार करता हूँ ।

(प्राण) हे प्राण ! (आयते) आते हुए (ते) तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार होये, (परायते) जाते हुए तुझे (नमः अस्तु) नमस्कार होये । (तिष्ठते) ठहरे हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार करता हूँ (उत) और (आसीनाय) बैठे हुए, स्थिर हुए हुए (ते) तुझे (नमः) नमस्कार करता हूं ।

सनातनमेनमाहुः उताद्य स्यात् पुनर्णवः ।
अहोरात्रे प्रजायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ।।

अथर्व० 10.8.23

विरले ही मनुष्य होते हैं जिन्हें कि आत्मा परमात्मा, ईश्वर-ब्रह्म आदि की चर्चा रोज रोज रुचती है, आनन्ददायी लगती है। हम साधारण लोगों को तो यह चर्चा पुरानी, जीर्ण, घिसी हुई, बासी और नीरस ही लगती है। जब हमें रोज रोज समाज मन्दिर की वेदकथा में जाने को, नैत्यिक प्रार्थना में उपस्थित होने को या दैनिक भजन कीर्तन में सम्मिलित होने को कहा जाता है तो हम प्रायः कहते हैं—'हम वहाँ जाकर क्या करेंगे? वहाँ तो रोज वही एकरस मामला चलता है, वहाँ कुछ नयी चीज तो मिलती नहीं।' वास्तव में यह सच है कि जिसमें कुछ नयी चीज न मिलती हो, कुछ नवीनता न होती हो, वह वस्तु हमें कभी रसदायी नहीं हो सकती, आनन्ददायी नहीं हो सकती। जिन लोगों को प्रतिदिन ईश्वरभजन करने में आनन्द आता है, उन्हें इसीलिये आनन्द आता है क्योंकि सचमुच उन भक्तों के लिए वे प्रभु नित्य नये होते रहते हैं, नित्य नया जीवन देते हुए मिलते हैं। हमें ईश्वर का ध्यान करने में तभी रुचि होती है जब कि उसका ध्यान हमें नित्य नया आनन्द देता है। सच्चा जप करने वाला वही है जिसे कि प्रभु का महापुराना नाम लेते हुए और उसे बार बार लेते हुए भी प्रत्येक बार में प्रभुनाम के उच्चारण से नया नया उत्साह, नया नया ज्ञान, नयी नयी भक्ति की उमंग और नया नया प्रेम का रस मिलता है। अरे मेरे भाइयो! ये दिनरात कितने पुराने हैं, उन्हें तुम भी अपने जन्मदिन से लेकर आज तक बिल्कुल उसी एक रूप में रोज रोज आते हुए देख रहे हो फिर भी ये तुम्हें पुराने घिसे हुए और नीरस क्यों नहीं लगते? इसका यह कारण है कि इन दिन रातों में तुम जीवन पाते रहे हो, प्रतिदिन विकसित होते गये हो। इसी तरह जब तुम उस परमेश्वर में रहने लगोगे, उसमें प्रतिदिन आध्यात्मिक विकास पाने लगोगे तो तुम भी कह उठोगे—'वह अनादिकालीन पुराना सनातन प्रभु मेरे लिए प्रतिदिन फिर फिर नया होता है, प्रत्येक आज में प्रत्येक नये दिन में फिर फिर नया होता है।'

(एनं) इस देव को (सनातनं) सनातन, अनादिकालीन (आहुः) कहते हैं, (उत) और तो भी यह (अद्य) आज, प्रतिदिन (पुनः नवः) फिर फिर नया (स्यात्) होता है। देखो, (अन्यः) एक (अन्यस्य) दूसरे के (रूपयोः) रूपों में, समान रूपों में ही (अहोरात्रे) ये दिन रात (प्रजायेते) सदा पैदा होते रहते हैं।

बालादेकमणीयस्कं उतैकं नेव दृश्यते ।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ।।

अथर्व० 10.8.25

मुझ में प्रेमशक्ति किस प्रयोजन के लिए है ? मेरे प्रेम का असली भाजन कौन है ? यह खोजता हुआ जब मैं संसार को देखता हूँ तो इस संसार में केवल तीन तत्त्व ही पाता हूँ, तीन तत्त्वों में ही यह सब कुछ समाया हुआ देखता हूँ । इनमें से पहिला तत्व बाल से भी बहुत अधिक सूक्ष्म है । बाल के अग्रभाग के सैंकड़ों टुकड़े करते जायें तो अन्त में जो अविभाज्य टुकड़ा बचे, उस अणु, परम अणु रूप यह तत्त्व है । प्रकृति के इन्हीं परमाणुओं से यह सब दृश्य जगत् बना है । इसमें भी सूक्ष्म दूसरा तत्व है । पर इसकी सूक्ष्मता दूसरे प्रकार की है । इसकी सूक्ष्मता की किसी भौतिक वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती । यह तत्त्व ऐसा अद्‌भुत है कि यह नहीं के बराबर है । यह है किन्तु नहीं जैसा है । इस दूसरे तत्त्व से परे और इससे सूक्ष्म और इसे सब तरफ से आलिंगन किए हुए, व्यापे हुए, एक तीसरा तत्त्व है, तीसरी देवता है । यही देवता मुझे प्रिय है । पहिली प्रकृति देवता जड़ और निरानन्द होने के कारण मुझे प्रिय नहीं हो सकती । दूसरी वस्तु मैं ही हूँ, मेरी आत्मा है । मैं तो स्वयं देखने वाला हूँ, तो मैं कैसे दीखूँगा ? अतः मैं नहीं के बराबर हूँ । मैं तो प्रेम करनेवाला हूँ अतः प्रेम का विषय नहीं बन सकता । अतएव मेरे सिवाय मेरे सामने दो ही वस्तुएं रह जाती हैं, यह प्रकृति और वह सच्चिदानन्दरूपिणी परमात्म-देवता । इन में से चित्स्वरूप मुझे यह चैतन्य और आनन्द से शून्य प्रकृति कैसे प्रिय हो सकती है ? मेरा प्यारा तो स्व-भावतः वह दूसरा देवता है जो कि मेरी आत्मा की आत्मा है, जो कि मेरी आत्मा से परिष्वक्त हुआ इसमें सदा व्यापा हुआ है और जो कि मुझे आनन्द दे सकता है । मैं तो स्पष्ट देख रहा हूँ कि प्रकृति के समझे जाने वाले ये बड़े से बड़े ऐश्वर्य तथा प्रकृति के दिव्य से दिव्य भोग दे सकने वाले ये अनगिनत पदार्थ सर्वथा आनन्द और ज्ञान-प्रकाश से शून्य हैं, अतः मैं तो प्रकृति से हट अपने उस प्यारे परम आत्मा की तरफ दौड़ता हूँ । मैं तो स्पष्ट देखता हूँ कि अपने प्रेम द्वारा उसे पा लेने पर मेरी भटकती हुई प्रेम-शक्ति अपने प्रयोजन को पा लेगी, उसे पा लेने पर मेरा सम्पूर्ण प्रेम चरितार्थ और कृतकृत्य हो जायेगा ।

(एकं) एक (बालात्) बाल से भी (अणीयस्कं) बहुत अधिक सूक्ष्म अणु है (उत) और (एकं) एक (न इव) नहीं की तरह (दृश्यते) दीखता है । (ततः) उससे परे (परिष्वजीयसी) उसे आलिंगन किये हुए, उसे व्यापे हुए (देवता) जो देवता है (सा) वह (मम) मुझे (प्रिया) प्यारी है ।

उत्तिष्ठत अवपश्यत इन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ।।

ऋ० 10.179.1, अथर्व० 7.72.1

हे मनुष्यो ! उठो, देखो कि इस समय इन्द्र की कौन सी आहुति का समय है ? यह काल-इन्द्र समय समय पर संसार से भारी भारी आहुतियाँ माँगता है और इसी से यह संसार उन्नत होता है। यह देश-इन्द्र समय समय पर बड़े बड़े बलिदान चाहता है और इस बलिदान को पाकर ही यह अपने एक बड़े अभ्युत्थान के पग को आगे उठा सकता है। और हम इस जीवात्मा-इन्द्र के लिए समय समय पर आत्म-बलिदान करते हुए, ऋतु ऋतु के अनुकूल इसका यजन हवन करते हुए, बल्कि एक दिन के भी भिन्न भिन्न समयों पर उस उस समय के अनुकूल उसको उसके अन्न ज्ञान आदि हवि का भाग प्रदान करते हुए चलते हैं। तभी हम आत्मोन्नति को पा सकते हैं। इसलिये हमें सदा खड़ा रहना चाहिये, जागते रहना चाहिये और खड़े होकर सावधानी से देखते रहना चाहिये कि कहीं किसी आहुति का समय तो नहीं आ गया है, कहीं संसार को, देश को या अपने आत्मा को हमारे किसी बलिदान की जरूरत तो नहीं आ गयी है। देखना, यदि हम प्रमाद के कारण समय को चूक जायेंगे, जिस समय बलिदान करना चाहिये, उस समय बलिदान न कर सकेंगे, तो हम न केवल उन्नति से वंचित हो जायेंगे किन्तु बहुत पिछड़ जायेंगे, पतित हो जायेंगे, अवनति के गर्त में गिर जायेंगे। अतः उठो और देखते रहो कि कहीं इन्द्र का भाग देने की ऋतु तो नहीं आ गयी है।

परन्तु आहुति सदा पकी हुई ही देनी चाहियें, कच्ची आहुति से कुछ फल नहीं होता किन्तु हानि ही होती है। जैसे कि वृक्ष से बिना पके गिरा हुआ फल किसी काम नहीं आता बल्कि खाने वाले को नुकसान पहुँचाता है, उसी तरह अपने आपको बिना पकाये जो यूँ ही जोश में आकर बलिदान कर दिया जाता है, उससे कुछ नहीं बनता बल्कि बहुत बार वह आत्मघात रूप होता है। अतः यदि आहुति पकी हुई हो तब तो उसका हवन कर दो, यदि न पकी हो तो ठहर जाओ। इसके लिए दुःखी भी मत होओ। यदि तुम आहुति के समय तक इसे नहीं पका सके तो अब दुःखी होने से क्या फायदा ? अब तो प्रसन्न होकर इसे फिर पकाओ, पकाते जाओ जिससे कि अगले आहुतिकाल में तो तुम इसे जरूर दे सको, अगले बलिदान के समय तक तुम जरूर पके हुए होओ।

(उत्तिष्ठत) उठो, खड़े होओ (अव पश्यत) और सावधानी से देखो, (इन्द्रस्य) इन्द्र के (ऋत्वियं) ऋतु ऋतु के अनुकूल, समय समय पर दिये जाने वाले (भागं) हवि के, बलिदान के भाग को देखो। (यदि) यदि (श्रातं) [यह हवि] पक चुकी है तो (जुहोतन) इसका हवन कर दो, और (यदि) यदि (अश्रातं) पकी नहीं है तो (ममत्तन) [ठहरो, दुःखी मत होओ] प्रसन्न होकर इसे और पकाते जाओ।

अव मा पाप्मन् सृज वशी सन् मृडयासि नः ।
आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम् ॥

अ० 6.26.1

हे पाप ! तू अब मुझे छोड़ दे । तूने मुझे बहुत देर अपने वश में रखा, अब तो मेरा तुझे वश में करने का समय आ गया है । तेरे वशीभूत होकर मैंने बहुत दुःख पाये, अब तो मेरा सुख पाने का समय आ गया है । हे पाप ! तुझ से पाये दुःख ही अब मेरे सुख के कारण हो जायें । यह तो ईश्वरीय नियम है कि दुःख के बाद सुख आते हैं और पाप की प्रतिक्रिया में पुण्य का प्रादुर्भाव होता है । अब तो उस प्रतिक्रिया का समय आ गया है । तुझ से दुःख पा पाकर आज मैं सीधा हो गया हूं, अकुटिल हो गया हूँ । मेरे सब कुटिलता, टेढ़ापन, झूठ, पाखण्ड तुझ पाप की तरफ ले जाने वाले थे । पर आज अकुटिल, सरल, सीधा, सच्चा होकर तो मैं अब भद्र के लोक की तरफ चल पड़ा हूँ । हे पाप ! यदि मैं तुझ में ग्रस्त होकर इतना न भटकता, इतना दुःख न पाता तो मैं कभी भी कुटिलता की, असत्य जीवन की बुराई को अनुभव न कर पाता और कभी पुण्य का सच्चा पुजारी न बन सकता । इस तरह हे पाप ! तू ही आज मुझे भद्र के लोक में स्थापित कर रहा है । हे पाप ! तू अब अकुटिल हुए मुझे कल्याण के लोक में पहुँचा दे, मैं जितना पक्का बेशर्म पापी था उतना ही कट्टर दृढ़ सच्चा पुण्यात्मा मुझे बना दे, जितना ही गहरा मैं पाप के गर्त्त में गया हुआ था, उतना ही ऊँचा तू मुझे पुण्य के लोक में स्थिर कर दे ।

(पाप्मन्) हे पाप ! तू (मा) मुझे (अवसृज) छोड़ दे, (वशी सन्) अब मेरे वश में होता हुआ तू (नः) मुझे (मृडयासि) सुखी कर दे । (पाप्मन्) हे पाप ! तू अब (अविह्रुतं) कुटिलता रहित, सरल बने (मा) मुझे (भद्रस्य लोके) कल्याण के लोक में (आ धेहि) स्थापित कर दे ।

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् शपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥

अ० 1.19 4

मैं किसी से द्वेष नहीं करता किन्तु फिर भी कई भाई मेरे सपत्न व असपत्न होकर मुझ से शत्रुता रखते हैं। जो सपत्न हैं समान क्षेत्रवाले हैं वे तो प्राय ईर्ष्या व मत्सर के कारण मुझ से वैर रखते हैं और जो असपत्न हैं, न समानक्षेत्र वाले हैं, वे प्राय: मुझ से इस कारण शत्रुता करते हैं क्योंकि मेरे किसी कर्त्तव्यपालन से उनके स्वार्थ को धक्का पहुँचता है। किसी भी कारण से कोई सपत्न या कोई असपत्न या कोई भी मेरा अन्य भाई जब मुझ से द्वेष करता है, मुझ से प्रीति नहीं रख सकता, और अतएव मुझे शाप देता है, कोसता है, गाली देता है, बुरा भला कहता है, मेरे लिए अपनी शक्ति भर अनिष्टचिन्तन करता है तो इससे मेरा तो कुछ बिगड़ता नहीं, किन्तु उसी का नाश होता है। जब तक मुझे ज्ञान नहीं मिला था, तब तक तो मैं ऐसे शापों से घबड़ा उठता था और इनका वास्तव में मुझ पर बहुत असर भी होता था। जब कोई मुझे अखबार या व्याख्यान द्वारा आम जनता में गालियाँ देता था या मेरे परिचित समाज में मेरी झूठी निन्दा फैलाता था तो इसे जान कर मैं बड़ा अशान्त हो जाता था और मेरा चित्त बड़ी देर तक उद्विग्न रहता था किन्तु जब से कुछ ज्ञान मिला है, कुछ वेद ज्ञान मिला है, प्रभु की भक्ति के प्रसाद से कुछ आत्म-ज्ञान मिला है, तब से यह 'ब्रह्म', यह ज्ञान ही मेरा भीतरी कवच बन गया है। इस ज्ञान में रहता हुआ मैं इन शापों से सर्वथा अस्पृष्ट रहता हूँ और सदा आनन्द में रहता हूँ। पर वह बिचारा मुझ से द्वेष करने वाला तो अवश्य मारा जाता है; मनुष्यसमाज के सब देव लोग, सब ज्ञानी पुरुष, उस निरर्थक द्वेष करने वाले को डाँटते हैं, ताड़ना करते हैं तथा सब ईश्वरीय देव, सब 'ऋत' देव उस अपराध के लिए उसे अवश्य दण्ड देते हैं। इसमें कोई क्या कर सकता है ?

(यः) जो (सपत्नः) मेरा समानक्षेत्र में प्रतियोगी है (यः) जो (असपत्नः) असमान क्षेत्र में प्रतियोगी है (यः च) और जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) मुझे (शपाति) शाप देता है, कोसता है (तं) उसे (सर्वे देवाः) सब देव (धूर्वन्तु) ताड़ना करें, (मम) मेरा तो (अन्तरं) भीतरी, अन्दर से रक्षा करने वाला (वर्म) कवच, मेरा रक्षासाधन (ब्रह्म) ब्रह्म है, ज्ञान है, वेदज्ञान है।

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि॥

ऋ० 8.95.9

हे आत्मन् ! तुम परमैश्वर्य वाले हो। हे इन्द्र ! तुम हमें सब प्रकार का ऐश्वर्य दे सकते हो। हम यूँ ही बाहर भटकते हैं, बाहर की वस्तुओं का आसरा देखते हैं, जब कि सब अनिष्टों को हटा सकने वाले और अभीष्टों के दे सकने वाले, हे मेरे आत्मन ! तुम हमारे अन्दर विद्यमान हो। पर तो भी जो हम में तुम्हारी यह शक्ति अभी प्रकट नहीं होती है, इस का कारण यह है कि हम ने अपने अन्दर तुम्हें शुद्ध नहीं किया है, हमने आत्म-विशुद्धि नहीं प्राप्त की है। जिनका आत्मा शुद्ध हो जाता है, जो तपश्चर्या द्वारा व निष्काम कर्म की साधना द्वारा या पवित्र शमोपासना द्वारा अपने रागद्वेष की मलिनताओं को, नानाविध विषयवासनाओं की अशुद्धि को और अज्ञान-मल को हटा कर आत्मा को विशुद्ध कर लेते हैं, वे आत्माराम हो जाते हैं। वे अपनी विशुद्धात्मा को पाकर फिर अन्य किसी भी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखते। तब वे अपनी विशुद्ध आत्मा से जो कुछ मांगते हैं 'वह सब कुछ उन्हें मिल जाता है, मिलता रहता है। निःसंदेह हे आत्मन् ! तुम शुद्ध हुए हमें सर्वविध ऐश्वर्य दिया करते हो। संसार में जो दानशील, स्वार्थ-त्यागी, उदार पुरुषों को सब रमणीय धन मिल रहे हैं, जो अस्तेयव्रतियों को 'सर्वरत्नोपस्थान' हो रहा है यह सब, हे विशुद्ध आत्मन् ! तुम्हारा ही दान है, तुम्हारी ही विशुद्धता का प्रताप है। विशुद्ध हुए तुम तो सब विघ्नबाधाओं को भी मार भगाते हो। सब पापों का नाश कर देते हो, सब वृत्रों का हनन कर देते हो, सब रूकावटों को दूर कर देते हो। और अन्त में, हे शुद्ध इन्द्र ! तुव हमें सर्वश्रेष्ठ ऐश्वर्य को, 'वाज' को भी दे देते हो। इसलिये भाइयों ! आओ, अब जब कभी हम अनैश्वर्य से पीड़ित होयें या रमणीय धनों को प्राप्त करना चाहें तो हम अपनी आत्मा को शुद्ध करने में लग जायें; जब कभी वृत्र के प्रहारों से आक्रान्त होयें तो इस आत्म-विशुद्धि के हथियार को पकड़ लेवें और जब कभी सर्वोच्च ज्ञानबल की आवश्यकता अनुभव करें तो भी आत्मशुद्धि की ही शरण में जायें, आत्मशुद्धि का ही आश्रय ग्रहण करें।

(इन्द्र) हे आत्मन् ! (शुद्धः हि) शुद्ध हुए हुए ही तुम (नः) हमें (रयिं) ऐश्वर्य देते हो, (शुद्ध) शुद्ध हुए हुए तुम (दाशुषे) दानशील के लिए (रत्नानि) रत्नों को, रमणीय धनों को देते हो। (शुद्धः) शुद्ध हुए हुए तुम (वृत्राणि) वृत्रों को, पापों को, बाधाओं को (जिघ्नसे) हनन करते हो और (शुद्धः) शुद्ध हुए हुए तुम (वाजं) ज्ञान बल को (सिषाससि) देना चाहते हो, देते हो।

अव यत्स्वे सधस्थे देवानां दुर्मतीरीक्षे ।
राजन्नप द्विषः सेध, मीढ्वो अप स्रिधः सेध ॥

ऋ० 8.79.9

हे सच्चे राजन् ! सोम ! यह हृदय तुम्हारा सधस्थ है, सहस्थान है । इस हृदय में तुम परम पदस्थ होते हुए भी मेरे साथ में आ बैठे हो । अतः जब तुम कभी अपने इस सधस्थ में देवों की दुर्मतियाँ देखो, जब तुम यह देखो कि इस हृदय में देवों की सुमतियों की जगह दुर्मतियाँ प्रकट हो रही हैं, दिव्य वृत्तियों का विपरीत भाव हो रहा है तो तुम इस दुरवस्था को हटाने के लिए, हे मीढ्वः, हे अमृत के सिंचन करने वाले ! मेरे सब द्वेषों को दूर कर दो, मेरे सब हिंसनों को हटा दो, अपना प्रेमरस प्रवाहित करके मेरे द्वेषभावों व हिंस्र वृत्तियों को बाहर बहा दो । हे सोम ! तुम्हारे अमृत सिंचन के होते हुए ये द्वेष आदि कैसे रह सकते हैं ? सचमुच ये द्वेष व हिंसा के भाव ही हैं जिनके कि कारण मेरे हृदय से देवों का राज्य हट जाता है, देवों की सुमतियाँ उठ जाती हैं और ऐसी दुर्दशा उपस्थित हो जाती है । हे सोम ! क्या तुम कभी अपने इस पवित्र सधस्थ की ऐसी दुर्दशा देख सकते हो ? क्या तुम्हें कभी अपने इस हृदय सहस्थान की यह दुरवस्था सह्य हो सकती है ? तो हे देव ! हमारी तुम से एक ही प्रार्थना है कि तुम इस हृदय में ऐसा अपना अमृत सिंचन करो कि इस द्वेष व हिंसा का लवलेश भी शेष न रहे । तब मेरे हृदय में देवों का ही राज्य हो जायगा, देवों का ही सुमतिपूर्ण राज्य हो जायगा ।

(राजन्) सच्चे राजन् ! सोम ! तुम (यत्) जब (स्वे) अपने (सधस्थे) इस सहस्थान में (देवानां) देवों की (दुर्मतीः) दुर्मतियों को, विपरीत भावों को (ईक्षे) देखो तो (मीढ्वः) हे सिंचन करने वाले ! तुम (द्विषः) द्वेषों को (अपसेध) दूर कर दो और (स्रिधः) हिंसावृत्तियों को (अपसेध) दूर कर दो ।

यद् वर्चो हिरण्यस्य, यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चः तेन मा संसृजामसि ॥

साम० 6.13 10

मैं पूरा वर्चस्वी बनूँगा, तेजस्वी बनूँगा। मैं प्रत्येक वस्तु से वर्चस् का संग्रह करूँगा और प्रत्येक प्रकार के वर्चस् का संग्रह करूँगा। असली हिरण्य जो वीर्य है, उसके वर्चस् से तथा गौओं, इन्द्रियों के वर्चस् से एवं सत्यस्वरूप ब्रह्म के वर्चस् से मैं अपने आप को पूरी तरह संयुक्त कर लूँगा। हिरण्यों के, तैजस पदार्थों के सेवन द्वारा मैं शारीरिक वर्चस् को, वीर्य को, अपने में उत्पन्न करूँगा तथा ब्रह्मचर्य द्वारा इस शरीर में संस्थापित कर लूँगा। मेरी इन्द्रियों में आत्मा (इन्द्र) द्वारा जो तेज आता है और जो कि इन्द्रियों के विषयभोगों में पड़ने से क्षीण होता रहता है उस तेज को मैं संयम द्वारा संरक्षित कर अपनी मानसिक वर्चस्विता को प्राप्त करूँगा। और आत्मिक तेज पाने के लिये मैं सत्यज्ञान के, वेदज्ञान के, सत्यस्वरूप ब्रह्म के तेज को अपनी आत्मा में धारण करूँगा। इस प्रकार ब्रह्मतेज पाकर जागृत हुआ मेरा आत्मा अपने अनन्त तेज से चमक उठेगा और मेरे मन और देह को सहज में तेजोमय बना देगा। तब मैं संसार में एक चमकती हुई प्रदीप्त ज्योति की तरह फिरूँगा, जो कोई मेरे सम्पर्क में आयेगा उसके भी शरीर मन आत्मा को प्रदीप्त, प्रज्वलित और उद्बुद्ध करता हुआ विचरूँगा। मैं वर्चोमय वर्चस्वी बन जाऊँगा।

(हिरण्यस्य) वीर्य का (यत्) जो (वर्चः) तेज है (उत) और (गवां) इन्द्रियों का (यद् वा) जो कुछ (वर्चः) तेज है तथा (सत्यस्य) सत्यस्वरूप (ब्रह्मणः) ब्रह्म का, ज्ञान का, वेद का (वर्चः) जो तेज है (तेन) उस सब तेज से (मा) मुझे, अपने आपको (सं सृजामसि) पूरी तरह संयुक्त करता हूँ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥

अ० 1.1.2

मैं जो कुछ सुनता हूँ वह मुझ में ठहरता नहीं । मानो मैं 'एक कान से सुनता हूँ और दूसरे से निकाल देता हूँ ।' इस तरह मेरा मनोमय शरीर ऐसा रोगग्रस्त हुआ हुआ है कि मैं अच्छे से अच्छा सत्य उपदेश सुनकर और उत्तम से उत्तम वेदज्ञान पा करके भी उसे अपने में धारण नहीं कर सकता । इसका कारण यह है कि मेरे इस शरीर ने अपनी मननक्रिया को छोड़ दिया है । मनन करना, आत्मचिन्तन करना, एकान्त में आत्मनिरीक्षण व विचार करना त्याग दिया है । ऐसा करना मेरे स्वभाव में ही नहीं रहा है । अतः, मेरा मन "देव" नहीं रहा है, द्योतमान, प्रज्वलित और जीवन सम्पन्न नहीं रहा है, और मेरा मनोमय शरीर मृतप्राय हो गया है । अतः हे वाचस्पते ! हे वाणी व ज्ञान के पालक देव ! हे मेरे मनोमय देह के प्राण ! तुम फिर मुझ में आओ, और अपने प्रवेश द्वारा मेरे इस मृत मनशरीर को पुनरुज्जीवित कर दो । तुम देव मन के साथ फिर मुझ में प्रविष्ट होओ और मुझ में मनन, चिन्तन और आत्मभावन व आत्मनिरीक्षण का अभ्यास फिर से जारी कर दो । अभी तक वेशक बिना भूख के खाये स्वादु से स्वादु भोजन की तरह मेरा सुना हुआ सुन्दर से सुन्दर वेदज्ञान मुझे नीरस और अरुचिकर लगता रहा है, परन्तु अब से तो मुझ में देव मन के जगा देने द्वारा, हे वसोष्पते ! इस वेदज्ञान में मुझे नितरां रत कराओ, रमण कराओ । हे वसने वाली स्थिर वस्तु के पति ! हे इस ज्ञान-ऐश्वर्य के रक्षक ! तुम ऐसा करो कि शुष्क से शुष्क किन्तु सत्य और हित उपदेश मुझे अब बड़ा आनन्द-दायी और सरस लगने लगे और अतएव मुझ में रक्षित और स्थिर रहने लगे । तुम मुझ में मननक्रिया को ऐसा जगा दो कि मेरा मन अब द्योतमान हो जाये; इसमें मानसिक अग्नि जल उठे, ज्ञान की भूख लगने लगे, जिज्ञासायें उत्पन्न होने लगें । तब तो भूख में खाये रूखे सूखे भी भोजन की तरह शुष्क से शुष्क दीखने वाले उच्च ज्ञान में भी मेरा मन निःसन्देह रमने लगेगा, और बड़ा आनन्दरस पाने लगेगा । तब तो मैं जो कुछ सुनूँगा वह अवश्य मुझ में ठहरा करेगा, हजम होकर मेरे मनोमय शरीर का अंग हो जाया करेगा और इस तरह मैं प्रतिदिन नया नया ज्ञान ग्रहण कर सकता हुआ मानसिक तौर पर समुन्नत वृद्धिगत और विकसित होता जाऊँगा ।

(वाचः पते) हे वाणी व ज्ञान के पालक देव ! तुम (पुनः) फिर (एहि) मुझ में आओ; (देवेन) देव, द्योतमान (मनसा) मन के, मनन क्रिया के (सह) साथ आओ । (वसोः पते) हे वसु के पति ! तुम (निरमय) मुझे [इस ज्ञान में] रमण कराओ, रस दिलाओ, आनन्दित कराओ; एवं (मयि श्रुतं) मेरा सुना हुआ ज्ञान (मयि एव) मुझ में ही (अस्तु) रहे, ठहरे ।

कालें तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ।।

अ० 11.53.8

हर एक वस्तु अपने काल में ही होती है । जिस कार्य का, जिस बात का उचित काल नहीं आया है, उसके लिए यत्न करना, उसकी आशा करना निरर्थक होता है, मूर्खतापूर्ण होता है । अतः हमें अपना हरेक कार्य उचित काल में ही करना चाहिये । हमें तप करना हो, ज्येष्ठत्व पाना हो या ज्ञान प्राप्त करना हो, चाहे कुछ करना हो, यह सब हमें कालानुसार ही करना चाहिये । देखो, परमेश्वर भी अपना सब कुछ नियत काल में करते हैं, वे समयपालन में भी परम हैं, परिपूर्ण हैं । वे इस जगत् की उत्पत्ति के लिए अपना ज्ञानमय तप बिलकुल नियतकाल में करते हैं, ज्येष्ठ हिरण्यगर्भ को नियत काल पर प्रादुर्भूत करते हैं और ब्रह्म (वेद) का प्रकाश भी सदा नियत काल आने पर करते हैं । कालरूप में ही ये भगवान् प्रजापति के भी पिता हैं । यह सब संसार बेशक सूर्यप्रजापति या हिरण्यगर्भ-प्रजापति से उत्पन्न हुआ है, किन्तु वे प्रजापति भी तो काल आने पर ही उत्पन्न हो सकते हैं । अतः उनके भी जनक ये काल परमेश्वर हैं । और केवल सृष्टि की यह उत्पत्ति ही नहीं, किन्तु सृष्टि का प्रतिक्षण संचालन भी काल द्वारा ही हो रहा है । इस संसार का एक तिनका भी बिना काल आये नहीं हिल सकता । सचमुच काल ही सब का ईश्वर है । भूत का, भवत् का, भविष्यत् का सब ब्रह्माण्ड, इस ब्रह्माण्ड की सब अनगिनत वस्तुएं, काल में ही यथास्थान रखी हुई हैं । काल का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता । अतः आओ, हम भी उस कालदेव की उपासना करें, हम देखें कि आज से उसके प्रतिकूल हमारा कभी कोई आचरण न होने पाये और हमारा एक एक कर्म, एक एक चेष्टा उस कालदेव की अनुमति पाकर ही हुआ करे ।

(काले) काल में, उचित काल में (तपः) तप, (काले) काल में (ज्येष्ठं) ज्येष्ठत्व और (काले) काल में ही (ब्रह्म) ज्ञान (समाहितं) रखा हुआ है । (ह) निश्चय से (कालः) काल (सर्वस्य) सब का (ईश्वरः) ईश्वर है (यः) जो कि (प्रजापतेः) सब प्रजा के उत्पादक हिरण्यगर्भ का भी (पिता) उत्पादक (आसीत्) होता है ।

अव्यचसश्च व्यचसश्चे बिलं विष्यामि मायया ।
ताभ्यां उद्धृत्य वेदं अथ कर्माणि कृण्महे ।।

अ० 11 68.1

यह ठीक है कि हमें वेदज्ञान प्राप्त करके उसी के अनुसार कर्म करने चाहिये परन्तु वेदज्ञान को पा लेना कोई आसान काम नहीं है। वेद को तो हमें बड़े गहरे पानी में पैठ कर निकालना होगा, उद्धृत करना होगा। जब तक कि हम 'अव्यचस्' और 'व्यचस्' के, सान्त और अनन्त के, अन्दर और बाहर के, 'अहं' और शेष सब 'त्वं' के वेद को, रहस्य को पूरी तरह न जान गये हों, तब तक 'ज्ञान क्या वस्तु है', 'ज्ञान होने का क्या अर्थ है' इसे ही हम नहीं समझ सकते। ओह, आज प्रभु कृपा से मैंने तो 'अव्यचस्' और 'व्यचस्' की घुंडी को खोल लिया है। अन्दर और बाहर का क्या मतलब है, इसे मैंने पा लिया है। सान्त और अनन्त जहाँ पर आकर मिलते हैं, उस गुप्त रहस्यस्थान को कपाट खोलकर देख लिया है। मैं देख रहा हूँ कि यह सब कुछ— यह सब अनन्त ब्रह्माण्ड—मेरी आत्मा में, मुझ अणु में, समाया हुआ और मेरा आत्मा, मेरा अपनापन, मेरा 'अहं' इस सब कुछ को, इस सब ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रहा है। सुननेवालों को मेरी ये बातें विचित्र लगेंगी, परन्तु मेरी माया, मेरी उच्च प्रज्ञा द्वारा जो मुझे आज साक्षात् अनुभव हो रहा है, उस अनुभव को मैं इस भाषा के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार प्रकट नहीं कर सकता। अरे, वेद ज्ञान कहीं पुस्तक में नहीं रक्खा है। वेदज्ञान तो मेरी आत्मा में प्रकाशित होता है और वेदज्ञान नित्य संबन्ध से परमात्मा में रहता है। जो ज्ञान इन दोनों द्वारा—इस आत्मा (अव्यचस्) और उस परमात्मा (व्यचस्) द्वारा—निकलता है, उद्धृत होता है, वही असली वेद (ज्ञान) है और उसी के अनुसार कर्म करना वैदिक कर्म करना है। अतः आओ, भाइयो ! अब हम इस प्रकार से ही वेद को पाकर अपने कर्मों को किया करें। इस प्रकार जब हम अपने आपको उस अनन्त से जोड़ कर, अपने क्षुद्र शरीर को इस विश्व ब्रह्माण्ड से मिला कर, अपनी परिमित इन्द्रिय आदियों को बाहर के व्यापक देवों से समस्वर करके जो कर्म किया करेंगे वे ही कर्म[1] वैदिक होंगे, वेदानुसारी होंगे, सच्चे अर्थों में वेदानुसारी होंगे।

(अव्यचसः) अव्यापक, सान्त, एकदेशी 'अहं' के (च) भी और (व्यचसः) व्यापक, अनन्त, बाहर फैले हुए 'त्वं' के (च) भी (बिलं) बिल को, भेदभरे रहस्य को (मायया) अपनी प्रज्ञा द्वारा (विष्यामि) खोलता हूँ। (ताभ्यां) उन दोनों [अव्यचस् और व्यचस्] द्वारा (वेदं) वेद को, वेदज्ञान को (उद्धृत्य) ऊपर निकाल कर, उद्धृत करके (अथ) उसके बाद, इस तरह वेद को प्राप्त करने के बाद, हे भाइयो ! हम (कर्माणि) कर्मों को, वैदिक कर्मों को (कृण्महे) करें।

1. देखो मनु अ. 12. श्लोक 118 से 126 तक

प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यतः उत शूद्रे उतार्ये ॥

अ० 19.62.1

हे मेरे प्यारे प्रभो ! तुम मुझे सब का प्यारा बनाओ । मैं यदि सचमुच तुम्हारा प्यारा बनना चाहता हूँ तो मुझे तुम्हारे इस सब जगत् का प्यारा बनना चाहिये । तुम तो इस जगत् में सर्वत्र हो, छोटे बड़े, नीचे ऊँचे सभी प्राणियों में मन्दिर बना कर बसे हुए हो । यदि इन सब रूपों में मैं तुमसे प्यार न कर सकूँ तो मैं तुम्हें प्यारा कह के क्योंकर पुकार सकूँ ? ये सांसारिक लोग बेशक अपने से बड़ों, बलवानों, धनवानों और प्रतिष्ठावालों के ही प्यारे बनना चाहते हैं, अपने से छोटों, गरीबों, दलितों और असहायों के प्यारे बनने की कोई जरूरत नहीं समझते । ये बेशक अपने राजाओं और स्वामियों का प्रेम पाना चाहते हैं किन्तु अपनी प्रजा और नौकरों का प्रेम पाने की कभी इच्छा नहीं करते । परन्तु इसी में ही तो तुम्हारे सच्चे प्रेमी होने की परीक्षा होती है क्योंकि इन गरीबों, पीड़ित, असहायों का प्रेम चाहना ही असल में तुमसे प्रेम करना है । बलियों, धनियों और राजाओं से प्रेम की इच्छा करना तो सांसारिक बल से, सांसारिक धन से, सांसारिक प्रभुत्व से प्रेम करना है, तुमसे प्रेम करना नहीं है । इसलिये मुझे तो तुम जहाँ देवों और राजाओं का प्यारा बनाओ, वहाँ इन सब देखने वाले सामान्य लोगों का तथा नौकरों और सेवकों का भी प्यारा बनाओ । जहाँ ब्राह्मणों और क्षत्रियों का प्यारा बनाओ, वहाँ इन सामान्य प्रजाओं (वैश्यों) और शूद्रों का भी प्यारा बनाओ । शूद्रों और आर्यों का, नीचों और ऊँचों का, शिष्यों और गुरुओं का, सेवकों और स्वामियों का, अधीनों और अधिकारियों का, सब छोटों और बड़ों का मुझे प्यारा बनाओ । मुझे ऐसा बनाओ कि इस संसार में जो कोई मुझे देखे, मेरे संपर्क में आए, वह मुझ से प्यार करे । हे प्रभो ! मैं तो तुम्हारे इस सब संसार से प्रेम की भिक्षा मांगता हूँ क्योंकि मैं देखता हूँ कि जब तक मैं तुम्हारे इस छोटे बड़े समस्त संसार से प्रेम नहीं कर लूँगा तब तक, हे मेरे परम प्यारे ! मैं कभी तुम्हारे प्रेम का भाजन न हो सकूँगा, तुम्हारे प्रेम का अधिकारी न बन सकूँगा ।

हे प्रभो ! (मा) मुझे (देवेषु) देवों में [ब्राह्मणों में] (प्रियं कृणु) प्यारा करो (मा) मुझे (राजसु) राजाओं में [क्षत्रियों में] (प्रियं कृणु) प्यारा करो, (सर्वस्य पश्यतः) सब देखने वालों का (प्रियं) प्यारा करो, (उत शूद्रे) शूद्र में भी और (उत आर्ये) आर्य में भी, सब में, मुझे प्यारा बनाओ ।

त्वं बलस्य गोमतो ऽपावोऽद्रिवो बिलम् ।
त्वां देवा अविभ्युषः तुज्यमानास आविशुः ॥

ऋ० 1.11 5

हे इन्द्र ! तुम 'वल' असुर का संहार कर उस द्वारा छिपा रखी हुई देवों की गौओं को फिर देवों को दिला देते हो। तुम्हारा यह नित्य इतिहास हममें से प्रत्येक जीव में दोहराया जा रहा है। हमारे आत्मिक ऐश्वर्य ऐसे खोये जा चुके हैं कि हमें उन के बारे में कुछ पता ही नहीं है। यह हमें ढकने वाला[1] 'वल' नाम अज्ञानासुर ही है जिसने कि इन हमारी आत्मिक ऐश्वर्यों की गौओं को छिपा रखा है। इनके वशभूत हुए हम लोग अज्ञान-निद्रा में न जाने कब से पड़े सो रहे हैं ! परन्तु हे इन्द्र ! जब तुम इस अज्ञानान्धकार का संहार कर देते हो, अज्ञान-मेघ का भेदन कर देते हो, गौओं को छिपा रखनेवाले इस 'वल' के बिल को खोल देते हो, हमारी प्रसुप्तावस्था में पड़ी सुषुम्ना के विवर का उद्घाटन कर देते हो, शक्ति को जगा देते हो, तब जो आश्चर्यमय अवस्था आती है, वह तो स्वयं देखने ही योग्य है। तब वे छिपी गौएँ निकल पड़ती हैं, एक से एक अद्भुत आत्मिक ऐश्वर्य प्रकट होने लगते हैं। अन्दर प्रकाश हो जाता है, आनन्ददायक कंपन होते हैं और आनन्द की लहरें उठती हैं तथा हे आत्मन् ! तुम्हारी सब दिव्य शक्तियाँ आ आकर तुम से संयुक्त होने लगती हैं। हे इन्द्र ! हम तुम्हारे पराक्रम की क्या कथा कहें ? बलासुर तो अपने अन्धकार द्वारा तुम्हारे देवों को उनके ऐश्वर्यों से जुदा कर चुका होता है और तुम्हारे इन देवों को तुमसे भी विच्छिन्न कर चुका होता है। पर ऐसी अवस्था पहुँच जाने पर भी तुम अपने वज्र से जब उसका संहार करने लगते हो तो एकदम प्रकाश की धारायें बहने लगती हैं और उस प्रकाश में वे सब ऐश्वर्य देवों को फिर मिल जाते हैं तथा एवं ऐश्वर्ययुक्त हुए ये देव कभी कभी 'वल' के प्रहारों से मारे जाते हुए और कांपते हुए भी अब निर्भय हुए हुए, तुम्हें देख लेने के कारण निर्भय हुए हुए, तुममें प्रविष्ट होने लगते हैं, आ आकर तुमसे संयुक्त होने लगते हैं।

(अद्रिवः) हे वज्रवाले इन्द्र ! (त्वं) तुम (गोमतः) गौओं को रोक रखने वाले (बलस्य) बल के (बिलं) बिल को (अपावः) खोल देते हो। तब (देवाः) सब देव (तुज्यमानासः) हिंसित होते हुए, कांपते हुए भी (अविभ्युषः) निर्भय हुए हुए (त्वां) तुझ में फिर (आविशुः) प्रविष्ट होने लगते हैं।

1—'बलो वृणोतेः' निरुक्त 6-2

अग्नये समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।
स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु ।।

अथ० 19. 64. 1

जब समिधा अग्नि में डाली जाती है तो बस जल उठती है, अग्निरूप हो जाती है; समिधा में छिपी अग्नि उद्‌बुद्ध हो जाती है, प्रदीप्त अवस्था में आ जाती है। इसीलिये वैदिक काल के जिज्ञासु लोग समित्पाणि होकर (समिधा हाथ में लेकर) गुरु के पास आया करते थे, अपने को समिधा बनाकर गुरु के लिए अर्पित कर देते थे जिससे कि वे अपने गुरु की अग्नि से प्रदीप्त हो जावें। उस वैदिक विधि के अनुसार मैं भी अपने आचार्य के चरणों में उपस्थित हुआ हूं और उनकी अग्नि द्वारा उन जैसा प्रदीप्त होना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि प्रदीप्त हो जाना बड़ा कठिन है। प्रदीप्त होने से पहिले तो अपने को जला देना होता है और यह अपने को जला देना तभी किया जा सकता है जब कि मुझ में पूर्ण श्रद्धा हो कि इस जलने द्वारा मैं अवश्य प्रदीप्त व ज्ञानमय हो जाऊँगा। इसलिये पहिले तो मुझ में श्रद्धा की जरूरत है। इसी तरह गीली होने आदि किसी दोष के कारण यदि समिधा अग्नि को धारण नहीं कर सकती है तो भी वह प्रदीप्त नहीं हो सकती। इसलिये मुझ में ज्ञान के धारण करने वाली बुद्धि, मेधा की भी जरूरत है। श्रद्धा और मेधा के बिना मैं कभी ज्ञान से प्रदीप्त नहीं हो सकता। पर इस श्रद्धा और मेधा को मैं और कहां से लाऊँ ? मैं तो इन 'जातवेदाः' अग्नि से, अपने आचार्यदेव से ही प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे श्रद्धा और मेधा का दान प्रदान करें। वे जातवेदा हैं, उन्हें ज्ञान उत्पन्न हो चुका है, वे ज्ञान की जलती हुई अग्नि हैं। अतः वे 'जातवेदा' यदि चाहें तो मुझे श्रद्धा और मेधा भी दे सकते हैं।

परन्तु अन्त में तो, मैं जो प्रातः सायं भौतिक अग्नि के लिए अपनी काष्ठ की समिधा लाता हूँ, शिष्य में आचार्याग्नि के लिए अपने शरीर मन आत्मा के प्रदीपनार्थ जो तीन समिधायें प्रतिदिन लाता हूं, राष्ट्रसेवक या धर्मसेवक बनकर राष्ट्राग्नि या धर्माग्नि आदि के लिए जो तदुपयोगी समिधायें लाता हूँ, ये सब की सब समिधायें अन्त में उस 'बृहत् जातवेदाः' के लिए उस सब कुछ जानने वाले महान् अग्नि के लिए लाता हूँ जो कि सब आचार्यों का आचार्य है, सब अग्नियों का अग्नि है, परम परम अग्नि है और अन्त में उसी 'बृहत् जातवेदाः' से श्रद्धा और मेधा की याचना करता हूं जो कि परम श्रद्धामय है और मेधा का भण्डार है।

(बृहते) बहुत बड़े, परम (जातवेदसे) जातमात्र के जाननेवाले, ज्ञानयुक्त (अग्नये) अग्नि के लिए मैं (समिधं) समिधा को, प्रदीपनीय वस्तु को (आहार्षं) आहरण करता हूँ, लाता हूं। (सः) वह (जातवेदाः) ज्ञानयुक्त अग्नि (मे) मुझे (श्रद्धां च) श्रद्धा को भी और (मेधां च) मेधा को भी (प्रयच्छतु) प्रदान करे।

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचं आवदानि जनां अनु ।।

अ० 9.1.1

हे युगल देवो ! हे सर्वत्र ज्योति और रस के देने वाले दिव्य देवो ! तुम नाना रूपों में जगत् को व्याप्त कर रहे हो । तुम मेरे अन्दर सूर्यशक्ति और चन्द्रशक्ति के रूप में कार्य कर रहे हो, तुम प्राण और अपान के रूप में भी मेरे शरीर का सेवन कर रहे हो । हे अश्विनौ ! तुम सदा 'शुभस्पती' हो, दीप्ति के पालक हो, तेज के संरक्षक हो इसलिये मैं तुम से वाणी के तेज की याचना करता हूँ । मैं चाहता हूँ कि मैं जनता की सेवा के लिए अपनी शारीरिक वाणी को, मानसिक वाणी को, आत्मिक वाणी को तेजस्वी, वर्चस्वी, ओजस्वी बना लूँ । तुम मधु के लिए प्रसिद्ध हो । यह स्थूल माक्षिक मधु, शहद भी तुम्हारे ही ज्योति और रस द्वारा बना हुआ होता है । इस शहद के सेवन से मैं अपनी स्थूल वाणी को तेजस्वी और बलवान् बना लूँगा । पर तुम्हारा असली मधु तो हमारे अन्दर है । तुम्हारी क्रिया द्वारा प्राण उठ कर जब सिर में व्याप्त हो जाते हैं तो कपाल में जो तुम्हारा मधु झरता है, जिस सारभरे अमृत का हठयोगी लोग खेचरी मुद्रा में अपनी जिह्वा द्वारा आस्वादन भी करते हैं, उस अपने मधु से, हे प्राणापानरूपी अश्विनौ ! तुम मेरे सम्पूर्ण शरीर को अक्त कर दो, मेरे रोम रोम को भर दो । इस प्रकार मधुसिंचित हो जाने पर निःसंदेह मेरी मानसिक वाणी ऐसी वर्चस्वती हो जायगी कि तब मैं मनुष्यों में जो भाषण करूँगा, वह उनके हृदयों का वेधन करता हुआ जाएगा और अवश्य असर पैदा करेगा । पर हे सूर्यप्राण और चन्द्रप्राणरूपी अश्विनौ ! तुम जिस मधु के लिए प्रसिद्ध हो, वह तो तुम्हारा मधुज्ञान हैं, तुम्हारी ज्ञान-सारभरी मधुविद्या है । उस तुम्हारे मधु द्वारा मेरा आत्मा जब तृप्त हो जायगा, तब तो मेरी वाणी में आत्मा बोलने लगेगा । उस समय मेरी आत्मा से निकलने वाले शब्द ऐसे ओजस्वी होंगे कि वे निःसन्देह मनुष्यों को हिला दिया करेंगे और उन्हें उचित कर्म में प्रवृत्त कर दिया करेंगे । इस सारघ मधु से सिंचित आत्मिक वाणी द्वारा ही, हे अश्विनौ ! मैं जनों का सच्चा अनुसेवन कर सकूँगा, उनका सच्चा उपकार साधन कर सकूँगा ।

(अश्विना) हे अश्विनौ ! (शुभस्पती) हे दीप्ति के पालको ! तुम अपने (सारघेन मधुना) माक्षिक शहद से या सारभरे अमृत और मधुज्ञान से (मा) मुझको (अङ्क्थं) अंजन कर दो, रमा दो (यथा) जिससे कि मैं (जनान् अनु) जनों के प्रति, जनता के अनुसेवन करने के लिए (वर्चस्वतीं वाचं) तेजस्वी वाणी को (आवदानि) बोलूँ, बोल सकूँ ।

देवान् यन्नाथितो हुए ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षात् यद बभ्रू न् आलभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥

अ० 7.101.7

हे प्रभो ! बड़ा विकट समय उपस्थित है। मैं इस वर्तमान दुरवस्था को कैसे दूर करूँ ? मेरा इस में कुछ बस नहीं चलता। मुझे हार पर हार खानी पड़ रही है। जिन लोगों ने यह दुरवस्था उत्पन्न की है, वे मेरे सब न्यायोचित यत्नों को अपने अन्यायपूर्ण दुष्कृत्यों द्वारा निष्फल करते जा रहे हैं। मैं इस समय क्या करूँ ? जो मैं उपतप्त होकर आज देवताओं का आह्वान कर रहा हूँ, पुकार रहा हूँ, क्या मेरा यह सब यत्न भी व्यर्थ जायेगा ? क्या इस समय ये देवलोग भी आकर मेरी मदद नहीं करेंगे ? जो मैंने अब तक ब्रह्मचर्य का उग्र कठोर व्रत पालन किया है, क्या वह मेरा ब्रह्मचर्य तप भी इस दुरवस्था को पलट न सकेगा ? जो मैंने सब को हरण करने वाली, विद्वानों को भी खींचने वाली, दुर्दम इन्द्रियों को सब तरफ से काबू किया है, वह मेरी संयम की शक्ति भी क्या मुझे आज जय-लाभ न करा सकेगी ? ओह, मेरे ये सब यदि ऐसे समय पर भी मेरे काम न आयेंगे तो और कब आयेंगे ? यह देखो, दूसरे लोग मुझ पर हंस रहे हैं, वे सचमुच समझ रहे हैं कि देवों का आह्वान, ब्रह्मचर्य की तपस्या और इन्द्रियनिग्रह फिजूल की चीजें हैं, निरर्थक ढकोसले हैं। इसलिये हे प्रभो ! अब तो ऐसा करो कि मेरे ये सब पुण्य कर्म—मेरे ये देवाह्वान, ब्रह्मचर्य, संयम आदि सब पुण्य प्रयत्न—मुझे सुखी कर देवें, विजय प्राप्त करा कर मुझे सुख पहुँचाने के कारण होयें। अब तो ऐसा कर दो कि इन दिव्यशक्तियों का चमत्कार एक बार फिर जगत् में प्रकट हो जाये। हे प्रभो ! मैं तुम से और क्या कहूँ ? इस समय और क्या कहूँ ?

(यत्) जो (नाथितः) उपतप्त हुआ मैं (देवान्) देवों को (हुए) पुकारता हूँ, (यत्) जो (ब्रह्मचर्यं) मैंने ब्रह्मचर्य को (ऊषिम) वरा है, पालन किया है और (यत्) जो (बभ्रू न्) हरण करने वाली (अक्षान्) इन्द्रियों को (आलभे) सब तरफ से काबू किया है (ते) ये सब मेरे कर्म (ईदृशे) ऐसे विकट समय में (नः) मुझे (मृडन्तु) सुखी करें, जय प्राप्त कराकर सुखी करें।

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥

य० 19 30

प्यारे ! क्या तू सत्य को पाने के लिए व्याकुल हो गया है ? तो तू आ, इन चार सीढ़ियों द्वारा तू अवश्य 'सत्य' को पा जायेगा। प्रारम्भ में, यदि तुझे सचमुच सत्य से प्रेम है तो तुझे जहाँ कहीं जो कोई सच्चा नियम, सत्यनियम, व्रत पता लगेगा, तू उसे अवश्य पालन करने लग पड़ेगा। इस तरह व्रतों को जानने और यथाशक्ति पालन करने की तेरी प्रवृत्ति तुझे शीघ्र दीक्षा का पात्र बना देगी। दीक्षित हो जाने पर तू पहिली सीढ़ी चढ़ जायेगा। दीक्षित हो जाना मानो सत्य के साम्राज्य में घुसने का प्रवेशपत्र (परवाना) पा लेना है और सत्य के दरबार में पहुँचने का अधिकारी बन जाना है। दीक्षित हो जाने की इस पहिली सीढ़ी पर जब तू चढ़ जायेगा तो तू सत्य के वायुमण्डल में रहने वाला हो जायेगा और तेरा सत्यप्रेमी साथियों का परिवार बन जायेगा। तब तेरे लिए अपने अन्य सत्यपथिक भाइयों के अनुभव से लाभ उठाते हुए सत्यनियमों को जान लेना और उनका यथावत् पालन करना बहुत सहज हो जायेगा। एवं आगे आगे सत्य के पालन में अभ्यस्त होता हुआ तू तीसरी सीढ़ी पर भी तब पहुँच जायेगा जब कि तुझे यह स्वात्म-अनुभव हो जायेगा कि सत्य के पालन से तेरी वृद्धि (दक्षिणा) होती है, तेरी उन्नति होती है। तब तू स्वयमेव अनुभव करेगा कि सत्य के पालन से तू बलवान् और उन्नत हो रहा है। कुछ आश्चर्य नहीं यदि उस समय बाहर का संसार भी तुझे प्रतिष्ठा देता हुआ और तेरे प्रति नानाविध दक्षिणायें लाता हुआ तेरी दक्षता, बलवत्ता और बढ़ती को स्वीकार करे। तुझे अपने आप तो अपनी वृद्धि अनुभूत होगी ही। यह अनुभव ही तुझमें सत्य के लिए श्रद्धा उत्पन्न कर देगा और तुझे श्रद्धा की तीसरी सीढ़ी पर पहुँचा देगा। तब तुझमें सत्य के लिए ऐसी अटल श्रद्धा हो जायेगी कि तू त्रिकाल में भी यह शक न करेगा कि कभी सत्य तेरी हानि भी कर सकता है। श्रद्धा पा जाने पर मनुष्य बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ने लगता है। अत: जब तू अपनी श्रद्धा में मग्न होकर सत्य के—केवल सत्य के—पा लेने के लिए व्याकुल हुआ हुआ एकाग्र होकर अग्रसर हो रहा होगा तो इससे अगली उच्च सीढ़ी पर पैर रखते ही तुझे सत्य के दर्शन हो जायेंगे, 'सत्य' का साक्षात्कार हो जायेगा, अपने प्यारे सत्य का साक्षात्कार हो जायेगा।

(व्रतेन) व्रत से, सत्यनियम के पालन से मनुष्य (दीक्षां) दीक्षा को, प्रवेश को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (दीक्षया) दीक्षा से (दक्षिणां) दक्षिणा को, वृद्धि को, बढ़ती को (आप्नोति) प्राप्त करता है। (दक्षिणा) दक्षिणा से (श्रद्धां) श्रद्धा को (आप्नोति) प्राप्त करता है और सदा (श्रद्धया) श्रद्धा द्वारा (सत्यं) सत्य को (आप्यते) प्राप्त किया जाता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

यजु० 40.7

मोह और शोक से मनुष्य कैसे पार होये ? ओह, यदि तुम में से कोई सचमुच मोह और शोक से पार होना चाहता है तो वह इस प्रश्न का उत्तर सावधानता से सुने । अवश्य ही एक ऐसी स्थिति होती है जहाँ पहुँचने पर मोह जन्म नहीं पा सकता, जहाँ शोक का कभी प्रसंग नहीं उठ सकता । यदि तुम उस स्थिति में पहुँचना चाहते हो तो अपने आपको फैलाओ, फैलाओ; इतना फैलाओ कि संसार का कोई भूत, कोई वस्तु, कोई जगह तुम्हारी आत्मा से रिक्त (खाली) न रहे । तुम प्रेम में भरकर अपने 'अहं' को, 'मैं' को सब कहीं सर्वत्र व्याप्त कर दो । 'मैं' को मारने का तरीका ही यह है । यह तुम्हारी 'मैं' कुचलने से कभी विनष्ट नहीं होगी, पर फैला देने से यह स्वयमेव नष्ट हो जायेगी, जिस 'मैं' को तुम मारना चाहते हो वह समाप्त हो जायेगी । तब तुम्हारी सब जगह आत्मवत् समान दृष्टि हो जायेगी । असल में, इस स्थिति को वे ही विशेष ज्ञानी 'विजानन्' पुरुष पा सकते हैं जिन्होंने ज्ञान समाधि द्वारा अपनी परम आत्मा को देख लिया है, इसके सर्वगत रूप का साक्षात् कर लिया है । उन्हें तो ऊपर नीचे, इधर उधर सर्वत्र वह आत्मा ही आत्मा प्रसृत दीखता है । ये सब दीखने वाले भूत, ये दृश्यमान संसार के सब के सब पदार्थ, उन्हें उस आत्मा में ही सामान्य रूप से रखे हुए, लटके हुए दिखायी देते हैं । जब वे कभी विशेष रूप में इन पदार्थों व भूतों पर दृष्टि देते हैं तो उन सब के अन्दर भी उन्हें वह एक आत्मा ही दृष्टिगोचर होता है, वही एक अनुस्यूत दिखायी देता है । उस आत्मा के सिवाय उन्हें अपने सहज ध्यान में और कुछ नहीं दिखायी पड़ता । वे सदा सर्वत्र उस अपने एक अद्वितीय परम आत्मा के ही दर्शन करते हैं । उस दर्शन में वे अपनी 'मैं' को भी डुबा देते हैं । तो फिर उनको मोह शोक कहाँ से हो सकता है ? जब सब कहीं प्रकाश ही प्रकाश हो गया तो वहाँ मोह का अन्धकार कैसे आ सकता है, जब आनन्द का शाही डेरा लग गया तो उसके आस पास भी शोक-पामर कैसे फटक सकता है ? जब समुद्र ही सूख गया तो उसमें ज्वारभाटे क्योंकर उठेंगे, जब सब अपना ही अपना हो गया तो शोक मोह किसके लिए होंगे ?

(तस्मिन्) जिस ज्ञान में, जिस ज्ञानमय स्थिति में (सर्वाणि भूतानि) सब भूत, सब पदार्थ, जातमात्र (आत्मा एव) आत्मा ही, अपने ही (अभूत्) हो जाते हैं (तत्र) उस स्थिति में (एकत्वं अनुपश्यतः) परम आत्मा के एकत्व का साक्षात् करने वाले (विजानतः) उस विशेष ज्ञानी के लिए (कः मोहः) कौनसा मोह और (कः शोकः) कौनसा शोक रह सकता है ?

हेमन्त

हेमन्त की ऋतुचर्या

लक्षण—शीत का प्रारम्भ करने वाली शरद् ऋतु के समाप्त हो जाने पर जिन महीनों में शीत अपने पूरे वेग से पड़ने लगता है, उस ऋतु का नाम हेमन्त है। इसमें अधिक से अधिक शीत पड़ता है तथा हिम (बर्फ), पाला तक जम जाता है। हेमन्त ऋतु के मार्गशीर्ष और पौष ये दो महीने होते हैं। दूसरों के मत में पौष और माघ इसके महीने होते हैं। माघ के कुछ दिन तो प्रायः हेमन्त के ऋतुकाल से युक्त हुआ ही करते हैं।

महिमा—शारीरिक पुष्टि पाने के लिए यह ऋतु सर्वश्रेष्ठ है। कृष्ण भगवान् ने 'मासानां मार्गशीर्षोऽहम्' कह कर मार्गशीर्ष के महीने को सर्वश्रेष्ठ महीना कहा है। इस ऋतु में मस्तिष्क का काम तथा शारीरिक परिश्रम भी बिना थके अधिक से अधिक किया जा सकता है। इसमें वात, पित्त और कफ प्रायः समावस्था में रहते हैं तथा शारीरिक बल और पाचनाग्नि प्रबल अवस्था में होते हैं। इस समय विसर्गकाल अपने पूर्ण यौवन में होता है अर्थात् इस समय दक्षिणायन सूर्य मनुष्यों के लिए रस का विसर्जन करते हैं, प्राणियों के शरीरों में वृद्धि, पुष्टि, बल आदि का दान करते हैं।

गुण—यह ऋतु शीत, स्निग्ध तथा पदार्थों में स्वादुता उत्पन्न करने वाली है। यह प्राणियों की जठराग्नि को बढ़ाती है।

पथ्यापथ्य—इस ऋतु में धूप का खूब सेवन करना चाहिए। इस ऋतु में शारीरिक बल तथा पाचकाग्नि प्रबल होते है अतः इसमें अतिस्निग्ध, गुरु, पौष्टिक पदार्थ जैसे दूध, मक्खन, तेल, गुड़ आदि का तथा ऋतु के गर्म स्निग्ध पदार्थ जैसे बाजरा, सरसों, गाजर आदि का भी सेवन करना चाहिए। ऊनी व रुई के कपड़े पहिनने चाहिये। व्यायाम भी खूब अच्छी तरह करना चाहिये।

कहावत के अनुसार मार्गशीर्ष में जीरा तथा पौष में धनिया खाना मना है।

मार्गशीर्ष (वृश्चिक) के लिए प्राणदायक व्यायाम

इस व्यायाम के लिए भूमि पर पीठ के बल पूरे पैर पसार कर अच्छी तरह लेट जाइये और लेट कर अपने हाथों को स्वस्तिकाकार में (पलौथी की तरह एक दूसरे के ऊपर) छाती पर रख लीजिए। अब घुटनों को जरा भी न मुड़ने देते हुए और पैरों व एड़ियों को भूमि से न उठने देते हुए, अपने सिर को धीरे-धीरे 18, 20 इञ्च ऊपर उठाइये। फिर उसी तरह सिर को धीरे-धीरे नीचे लाइये। इस तरह 7, 8 वार कीजिये, जब सिर ऊपर उठा रहे हों तो पेट तक पहुँचने वाला गहरा दीर्घ श्वास लीजिये और जब नीचे ले जा रहे हों तो श्वास बाहर निकालिये।

(2)

उसी तरह लेट जाइये। हाथों को सिर के नीचे तकिया बनाते हुए रख लीजिये। अब धड़ को बिलकुल न हिलने देते हुए और टाँगों को घुटने पर न मुड़ने देते हुए, कटिप्रदेश को चूल बना कर टांगों को धीरे-धीरे इतना ऊपर लाइये कि उनका धड़ के साथ समकोण बन जाय। फिर टांगें नीचे ला कर पूर्ववत् हो जाइये। इस प्रकार वार-वार कीजिये। जब टांगें ऊपर ले जा रहे हों तो अन्दर श्वास लीजिये और जब नीचे ले जा रहे हों तो बाहर श्वास छोड़िये।

इस व्यायाम को करते हुए अपना मन कूल्हों और जांघों पर केन्द्रित कीजिये। इनकी स्वस्थता की भावना कीजिये।

ध्यान – "मैं बलवान् हो रहा हूँ, मेरा सारा शरीर प्राण-संचार से विद्युन्मय और पूर्ण स्वस्थ हो रहा है। मैं बलस्वरूप हूँ..........." इत्यादि प्रकार से ध्यान कीजिये।

इन अंगों को गौणतया ज्येष्ठ, भाद्रपद और फाल्गुन की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

1 मार्गशीर्ष

उदीर्ध्वं जीवो असु नं आगात्, अप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति ।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याय, अगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥

ऋ० 1.131.16

उठो, उठो हे मनुष्यो ! उठो, जागो, देखो यह प्रभात हो रहा है, अन्धकार को चीर कर उषा की किरणें निकल रही हैं । हमें जीवन प्रदान करती हुई, हम में नवप्राण का संचार करती हुई यह दिव्य ज्योति उदय हो रही है । इस ज्योति के पाने के लिए जागो। भाइयो ! अनुभव करो कि हमारे जीवन में आज फिर एक नव-प्रभात हुआ है । अब तक हम अन्धेरे में थे, एक निष्प्राण और जीवनहीन 'जीवन' धिता रहे थे । इस ज्योति का पवित्र संस्पर्श हम में आज जो नया चैतन्य उत्पन्न कर रहा है, वह हमारे लिए अननुभूतपूर्व है । ओह, इस ज्योति ने तो उस परम ज्योति सूर्य का मार्ग भी खोल दिया है, इस आत्म ज्योति ने उदित होकर परमात्म ज्योति तक पहुँचने का रास्ता भी साफ कर दिया है । हम अब उस अवस्था में पहुँच गये हैं, जहाँ वृद्धि ही वृद्धि है, जहाँ क्षय व ह्रास होने का डर नहीं रहा है। इस आत्मप्रकाश में वे जीवनशक्तियाँ हैं जिन्हें पाकर अब हम दिनों दिन उन्नत होते जायेंगे; बढ़ते, विकसित होते जायेंगे । हमारा जीवन, हमारा ज्ञान, हमारा मनुष्यत्व, हमारे सब गुण आगे आगे बढ़ते ही जायेंगे । यह जीवन की ज्योति इस नवप्रभात के आगे उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी । इसलिये उठो, इस आत्मप्रकाश को देखो, यह देखो, उषा देवी नव जीवन का सन्देश लाती हुई हमें जगा रही है ।

हे मनुष्यो ! (उदीर्ध्वं) उठो, (नः) हमारे लिए (जीवः) जीवन (असुः) प्राण (आगात्) आ गया है, उदय हो गया है । (तमः) अन्धकार (अप प्रागात्) हट गया है और [यह देखो] (ज्योतिः) उषा की ज्योति (आ एति) आ रही है । इस ज्योति ने (सूर्याय) सूर्य के (पन्थां) मार्ग को (यातवे) चलने, पहुँचने के लिए (आरैक्) खोल दिया है, (यत्र) जहाँ [जीवनशक्तियाँ] (आयुः) जीवन को (प्रतिरन्त) बढ़ाती ही हैं [उस अवस्था में हम] (आ अगन्म) पहुँच गये हैं ।

2 मार्गशीर्ष

ये त्वा देवोस्रिकं मन्यमानाः पापा भद्रमुपजीवन्ति पज्राः ।
त दूढ्ये अनुददासि वामं बृहस्पते चयस इत् पियारुम् ।।

ऋ० 1.190.5

हे देव ! दुर्बुद्धि लोग तेरे दिये भोगों को ऐसे अन्धे हो कर भोगते हैं कि वे और कुछ नहीं देखते । इस जगत् में जो तूने अपनी नानाविध भोग्यवस्तु रूपी गौएँ दे रक्खी हैं, उन से वे यथेच्छ भोगरूपी दूध दुहते जाते हैं, पर अपना और कुछ कर्त्तव्य नहीं समझते । वे तुझे भोला समझते हैं । तुझे ऐसा भोला भोगदाता समझते हैं जिसके कि भोगों को यूँ ही लूट लिया जा सकता है । वे मूर्ख भोगप्राप्ति के रहस्य को नहीं समझते, भोग और यज्ञ किसी अविच्छेद्य बन्धन से जुड़े हुए हैं, यह नहीं समझते । वे नहीं देखते कि हमारे भोग भोगने से प्रकृति में जो क्षति आ जाती है, उसे यदि हम यज्ञ द्वारा न पूरा करते रहेंगे तो हमारी भोगप्राप्ति की जड़ ही कट जाएगी । अतः वे यथार्थ कर्म कुछ भी न करते हुए केवल भोग भोगना चाहते हैं, वह यही पाप है । सूक्ष्मता से देखें तो सब पाप के मूल में जो भावना रहती है, वह यही है । इस पापभावना से युक्त होकर, पापी होकर वे तुझ भद्र के आश्रय से जीना चाहते हैं । मानो तेरी भलमनसाहत का लाभ (?) उठा कर वे पापी हो कर भी तेरी भद्रता पर अपने को पुष्ट करना चाहते हैं । वे कुछ समय तक इस तरह तेरा उपजीवन करते भी हैं पर बिना यज्ञ के भोग कब तक मिल सकता है ? बिना भोज्य प्रदान आदि सेवा किये गौ से दूध कब तक मिल सकता है ? अतः तू आगे के लिए ऐसे दुर्बुद्धि को अपना उत्तम ऐश्वर्य देना बन्द कर देता है, नहीं देता है । बल्कि उस हिंसक का तू विनाश ही कर देता है । भोग्यग्रस्त पुरुष को जब तेरे सच्चे विधान से भोगप्राप्ति में बाधा पड़ने लगती है तो वह क्रुद्ध होता है और नानाविध घोर हिंसाएँ कर के भी भोग पाना चाहता है । उस समय हे बृहस्पते ! तू उसका नाश कर देता है । यदि तू ऐसा न करे तो इस बृहत् जगत् का पालन न कर सके, तू बृहस्पति न रह सके । ऐसे ही अटल न्याय विधान द्वारा तू अपने इस बृहत् ब्रह्माण्ड का पालन कर रहा है ।

(देव) हे देव (ये) जो (त्वा उस्रिकं मन्यमानाः) तुझे केवल भोगों का स्रावक या गौओं वाला ही समझते हुए (पज्राः) [भोग्य वस्तुओं को] प्राप्त करने वाले, [ऐश्वर्यों का] प्रार्जन करने वाले (पापाः) पापी लोग (भद्रं उपजीवन्ति) तुझ भद्र का उपजीवन करते हैं, तुझ सुखदाता पर जीवित रहते हैं, ऐसे (दूढ्ये) दुर्बुद्धि पुरुष [पुरुषों] के लिए (बृहस्पते) हे इस बृहत् जगत् के पालक देव ! (वामं) श्रेष्ठ ऐश्वर्य को (न अनुददासि) नहीं देता है बल्कि (पियारुं) उस हिंसक को तू (चयस इत्) विनष्ट ही कर देता है ।

3 मार्गशीर्ष

यस्मै त्वं सुद्रविणो ददाशो अनागस्त्वमदिते सर्वताता।
यं भद्रेण शवसा चोदयासि प्रजावता राधसा ते स्याम॥

ऋ० 1.94.15

हे प्रभो ! हम तेरे ही हो जायें। हम चाहते हैं कि हम अपने न रहें, तेरे हो जायें। तेरे होने से हम तर जायेंगे। परन्तु तेरे हो जाने वाले वे सौभाग्यशाली पुरुष होते हैं जिनके लिए तू 'निरपराधत्व' का वर प्रदान कर देता है। ऐसे पुरुष नाना प्रकार के कार्य किया करते हैं किन्तु उनके सब कर्म विस्तार में तुम्हारी कृपा से सदा निर्दोषता रहती है। हे अखण्ड ! हे पूर्ण अग्ने ! तेरे सहारे किये गये कर्मों में अपूर्णता दोष, त्रुटि कैसे रह सकती है ? तू अदिति है, तुझ में दिति, खण्डित व बन्धन नहीं है। अत: तेरे हो चुके, तेरे अनन्य उपासक के कर्म भी खण्डित व दोषयुक्त क्यों होंगे ? तेरे ऐसे भक्तों के भयंकर से भयंकर दीखने वाले कर्म भी निर्दोष व उचित ही होते हैं। धन्य हैं वे तेरी कृपा पाने वाली विशुद्ध आत्मायें जिनके कि सब कर्म-प्रवाह में, हे सुद्रविण ! हे शुद्ध बल व धन वाले ! तुम ऐसी निष्पापता प्रदान करते हो। हम देखते हैं कि इससे उनका बल (शवस्) और धन (राधस्) असाधारण प्रकार का हो जाता है। उनका बल सदा 'भद्र' होता है और उनका धन 'प्रजावान्' होता है। उनमें तू जिस प्रकार के बल की प्रेरणा करता है वह बल भद्र होता है, कल्याण के लिए होता है। वह दुर्बलों के सताने व आत्महनन में लगने वाला अभद्र बल नहीं होता, किन्तु आत्मोन्नति कराने में, दु:खितों पीड़ितों की रक्षा में निरन्तर लगने वाला बल होता है। एवं उनका धन ऐश्वर्य 'प्रजावान्' होता है, प्रजनन करने वाला उत्पादक होता है। अनुत्पादक धन नहीं होता। उनका ऐश्वर्य कुछ भी सृजन न करने वाला नहीं होता, अपितु सदैव उत्तरोत्तर उत्तम-उत्तम परिणाम लाने वाला होता है। ओह ! ऐसे धन के साथ, ऐसे बल के साथ हम तेरे हो जायें, हे अदिते ! निष्पाप होकर हम तेरे हो जायें।

(अदिते) हे अखण्ड स्वरूप अग्ने ! (त्वं) तुम (यस्मै) जिस पुरुष के लिए (सर्वताता) उसके सब कर्म विस्तार में, सब कर्मों में (अनागस्त्वं) निरपराधता, निर्दोषता (ददाशः) प्रदान करते हो और अतएव (यं) जिस पुरुष को तुम (सुद्रविणः) हे सुन्दर बल व धन वाले ! (भद्रेण शवसा) कल्याणकारक बल से तथा (प्रजावता राधसा) उत्पादक धन से (चोदयासि) प्रेरित करते हो, अनुप्राणित करते हो वैसे होते हुए हम (ते) तेरे (स्याम) हो जायें।

नकीरेवन्तं सख्याय विन्दसे, पीयन्ति ते सुराश्वः।
यदा कृणोषि नदनुं समूहसि, आदित्पितेव हूयसे ॥
ऋक्॰ 8 21.14, सा॰ उ॰ 6.2.4, अथ॰ 20.114. 2

हे इन्द्र ! साधारणतया संसार के धनिक पुरुष तेरे सख्य के योग्य नहीं होते क्योंकि वे हिंसक होते हैं। धन में ऐसा मद (नशा) होता है कि उससे मदोन्मत्त हुआ पुरुष किसी कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नहीं देखता। धन का संग्रह ही बिना हिंसा के कहाँ होता है ? जगत् में विरले ही धनसमृद्ध पुरुष होंगे जिन्हों ने कि दूसरों को बिना सताये धन प्राप्त किया हो। क्या हम नहीं देखते कि ऐश्वर्य की मदिरा से मस्त हुए धनशक्ति को सर्वोपरि समझते हुए आज संसार के धनाढ्य लोग निःशंक हो कर गरीबों को सता रहे हैं, करुणापात्रों पर ही नहीं किन्तु सम्मानपात्रों पर भी बेखटके जुल्म कर रहे हैं ? तो हम हिंसक पुरुषों को तेरे दर्शन कैसे प्राप्त हो सकते हैं ? इसलिये धनसमृद्धों में से तुझे अपने सख्य के लिए लोग नहीं मिलते हैं। वे तेरे नजदीकी नहीं हो पाते हैं। जो तेरे सखा होते हैं, बल्कि तेरे पुत्र बनते हैं, वे दूसरे प्रकार के ही लोग होते हैं। जो धनत्याग करने वाले तपस्वी, मदरहित शान्त पुरुष और प्रेम करने वाले अहिंसक होते हैं, वे ही तुझे पहिचान सकते हैं और पहिचानते हैं। वे जब तेरी महिमा का अनुभव कर तेरे स्तोता भक्त बन जाते हैं और विशेषतः जब तू उन्हें सम्यक्तया वहन करता है, उनका पालन पोषण करने वाला तू है, ऐसा वे देखने लगते हैं, तभी वे तुझे 'पिता पिता' करके पुकारने लगते हैं। वे तेरे प्यारे पुत्र बन जाते हैं। इसलिये हे इन्द्र ! धनों द्वारा हम तुझे नहीं पा सकते हैं, तुझे पाने के लिए तो हमें धन का कम से कम धन के मोह का त्याग करना पड़ेगा, क्योंकि तभी हम उस 'नदनु' अवस्था को पा सकेंगे जहाँ पहुँच कर भक्त लोग तुझे 'पिता-पिता' कह कर पुकारने लगते हैं और तेरे वात्सल्य में पलने वाले तेरे प्यारे पुत्र बन जाते हैं।

हे इन्द्र ! (रेवन्तं) धन वाले पुरुष को (नकिः) तू कभी नहीं (सख्याय) सख्य के लिए, सखाभाव के लिए (विन्दसे) पाता है, क्योंकि (ते) वे (सुराश्वः) ऐश्वर्य समृद्ध, धनमत्त पुरुष (पीयन्ति) हिंसन करते हैं। (यदा) जब तू किसी को (नदनुं) स्तोता, भक्त (कृणोषि) बनाता है (सं ऊहसि) और उसे सम्यक् प्रकार से वहन करता है (आत्इत्) तब ही [उस द्वारा तू] (पिता इव) पिता की तरह (हूयसे) पुकारा जाता है।

अपाङ् प्राङ् एति स्वधया गृभीतः, अमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता, न्यन्यं चिक्युर्नंनिचिक्युरन्यम् ॥
ऋ॰ 1.164.48, अथर्व॰ 9.10.16

एक ही घर में दो मित्र रहते हैं। उनमें से लोग एक को जानते देखते हैं, दूसरे को बिलकुल नहीं पहिचानते। इन साथियों में एक न मरने वाला अमर्त्य अमर है और दूसरा मरने वाला मर्त्य है। इतने विरुद्ध उलटे स्वभाव वाले होते हुए भी ये दोनों आ मिले हैं, न जुदा होने वाले साथी बन गये हैं। इनको इस तरह जोड़ने वाली 'स्वधा' है, अपने में धारण की हुई भोगेच्छा है, अन्न (भोग) की इच्छा है। जब तक यह इच्छा समाप्त व शान्त न होगी, तब तक संसार में इन साथियों को कोई जुदा नहीं कर सकता। इस तरह इस भोगेच्छा से, स्वधा से पकड़ा हुआ यह अमर्त्य उस अपने मर्त्य साथी को साथ लिये, उसके साथ एक शरीर हुआ-हुआ फिर रहा है, सुख भोग की तलाश में बुरा अच्छा सब कुछ करता हुआ फिर रहा है। बुरा करने पर उसे विवश होकर नीचे गिरना पड़ता है, नीची योनियों में जाना पड़ता है और अच्छा करने पर ऊपर जाना, उच्च योनि में जाना होता है। इस तरह ये नीचे-ऊपर फिरते हैं। किन्तु सदा साथ रहते हैं, सदा एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं। दोनों इकट्ठे ही सब स्थानों में फिरते हैं। दोनों ही भोगवश विविध लोकों तक जाते हैं। पर आश्चर्य यह है कि इन दोनों में से लोग एक 'मर्त्य' को ही जानते हैं, जो दूसरा न मरने वाला है, उसे देखते तक नहीं। यह कितना आश्चर्य है !

(अमर्त्यः) न मरने वाला (मर्त्येन) मरने वाले के साथ (सयोनिः) एक घर वाला होकर (स्वधया) अन्नेच्छा से, भोगेच्छा से (गृभीतः) पकड़ा हुआ, कभी (अपाङ् एति) नीचे जाता है और कभी (प्राङ् [एति]) ऊपर आता है (ता) वे दोनों (शश्वन्ता) सदा साथ रहने वाले (विषूचीना) सब जगह फिरने वाले (वियन्ता) विविध लोकों तक पहुँचने वाले हैं। पर इनमें से (अन्यं) एक को, मर्त्य को (निचिक्युः) लोग जानते हैं। (अन्यं) दूसरे को (न निचिक्युः) नहीं जानते।

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्।
सजोषा धीराः पदैरनुग्मन्, उप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः ।।
ऋ० 1.65.1

मैं तुझे कैसे ढूंढूं ? हे मेरे अग्ने ! आत्मन् ! तू मुझ से ही छिप कर न जाने कहाँ जा बैठा है, किस गहन गुफा में जा छिपा है ? जैसे कि जब कोई चोर किसी के पशु को चुरा ले जाता है और कहीं पहाड़ की गुफा में जा छिपता है तो पशु वाला अपने पशु को घर पर न पाकर ढूंढ मचाने लगता है, उसी तरह जब से मुझे पता लगा है कि मेरी 'पशु'—मेरी दर्शनशक्ति, ज्ञान की शक्ति—खोगयी है तब से मैं हे आत्मन् ! तुझे ढूँढने लगा हूँ। तब से मैं जानने लगा हूँ कि मेरी वह दर्शनशक्ति तेरे ही साथ चली गई है और अब वह मुझे तुझ से ही मिल सकती है, अन्य कहीं से नहीं। पर हे आत्मन् ! मैं तुझे कहाँ ढूंढूं ?

कहते हैं कि तू मेरे ही अन्दर मेरी 'हृदय की' कहाने वाली किसी गंभीर गुफा में छिपा पड़ा है, कहते हैं कि तू वहाँ ही अपने अन्न को, नमस्कार को, पाता है और उसे स्वीकार भी करता रहता है; पर फिर भी तू मुझे दर्शन नहीं देता, मिलता नहीं। जो वीर पुरुष होते हैं, जो लगातार यत्न करते जाने वाले ज्ञानी पुरुष होते हैं तथा जो परस्पर मिलकर प्रीति और सेवन करने वाले कर्मशील होते हैं वे तुझे पदों द्वारा, तेरे पदचिह्नों द्वारा तुझे खोजने में लग जाते हैं। वे मन्त्रों के पदों से, तेरी प्राप्ति कराने के साधन रूपी अन्य नाना प्रकार के पदों से, तेरा पीछा करते हैं। संसार के दुःख दर्द, भय, पीड़ाओं से जो तेरा संकेत मिलता है, उसे वे ध्यान से देखते हैं और प्रतिदिन सुषुप्ति, संध्या, मृत्यु की घटनाओं में जो तेरे पदचिह्न चमकते हैं, इन्द्रियों में जो तेरे पदचिह्न पड़े हैं, सब ज्ञान में जो तेरे पदचिह्न हैं, उनमें तेरा अनुगमन करते हैं। इस प्रकार खोजते-खोजते अन्त में ये यजन के अभिलाषी तुझे पा लेते हैं और तब ये यजनशील लोग मिल कर तेरी उपासना 'यजन' करने लगते हैं।

क्या मैं भी कभी, हे मेरे आत्मन् ! तुझे पाकर, 'यजत्र' बन, तेरी उपासना में बैठ सकूँगा ?

हे अग्ने ! (पश्वा) पशु के, दर्शन शक्ति के साथ (तायुं न) चोर की तरह (गुहां चतन्तं) गुहा में, हृदय गुहा में, गये हुए [छिपे हुए] और वहाँ (नमो युजानं) अन्न व नमस्कार से युक्त होते हुए तथा (नमो वहन्तं) उस अन्न व नमस्कार को धारण करते हुए तुझको (सजोषाः) मिल कर प्रीति तथा सेवन करने वाले (धीराः) धैर्यशाली ज्ञानी लोग (पदैः) पदचिह्नों, प्राप्ति साधनों द्वारा (अनुग्मन्) पीछा करते हैं, खोजते हैं, और खोज कर वे (विश्वे) सब (यजत्राः) यजनशील लोग (त्वा) तुझे, तेरी (उपसीदन्) उपासना करते हैं।

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्त्तेष्वग्निरमृतो नि धायि ।
स मा नो अत्र जुहुरः सहस्वः सदा त्वे सुमनसः स्याम ॥

ऋ० 7.4.4

हम क्या हैं ? वह हम नहीं जानते । हम जिसे हम समझते हैं, यह तो केवल बहुत सी विनश्वर वस्तुओं का ढेर है । फिर भी जो हम में ज्ञान, चैतन्य, शक्ति और आनन्द दिखायी देता है, वह जिस एक वस्तु के कारण है, वही हमारे अन्दर एकमात्र अविनश्वर तत्व है । यह हमारा अग्नि है. आत्मा है, और वही असली हम हैं । इन हमारे देह इन्द्रिय आदि भौतिक जड़ वस्तुओं में वही एकमात्र (प्रचेता) है, चेतन है । इन अकवियों में वह कवि है, इन अक्रान्तदर्शियों में क्रान्तदर्शी है, इन बोल न सकने वालों में बोलने की शक्ति देने वाला है, इन असुन्दर, अकाव्यमय वस्तुओं में सुन्दर काव्यमय है । वही इन विनाशशील, मरने वाले मर्त्य अनग्निओं में एक अविनश्वर अमृत अग्नि है । वही असली हम हैं, आत्मा हैं ।

ओह ! इसकी उपेक्षा कर जो अब तक हम दिन रात दूसरी जड़ क्षणभंगुर वस्तुओं की सेवा शुश्रूषा करने में लगे रहे हैं, यह हमने कितना अनर्थ किया है ? हे आत्मन् ! आज तुझे पहचान कर हम देखते है कि इन्द्रिय मन प्राण आदि में जो बल, तेज, सामर्थ्य दिखायी देता है वह इनमें नहीं है, वह तो सब तुझ में है । इसलिये हे अग्ने ! सहस्वः ! हे बल तेज शक्ति के भण्डार ! तू इस संसार में हमारा कभी विनाश मत कर । हमने अब तक बेशक तुझ अपनी अग्नि को भूल कर बड़ा आत्मघात किया है । पर अब हम कभी ऐसा आत्मघात न करेंगे । हमें अब एकमात्र तेरी ही प्रसन्नता चाहिये । यह सब जग बेशक रूठ जाय, पर हम अब तुझे कभी रूठने न देंगे । हे अन्दर बैठे अन्तरात्मन् ! जब तक हमारे प्रति तुम सुमना हो, चाहे फिर दुनिया हमें निन्दा करे, धिक्कारे, हमें कुछ परवाह नहीं । इस सब मर्त्य दुनिया को छोड़ कर हम केवल तुझे प्रसन्न रखेंगे चूँकि तू ही सब कुछ है, निश्चय से हमारा सब कुछ है ।

(अयं) यह (प्रचेताः अग्निः) चेतन अग्नि (अकविषु कविः) इन अकवियों में कवि होकर (अमर्त्येषु अमृतः) इन मरने वालों में अमृत हो कर (निधायि) निहित है, रखा हुआ है । (सहस्वः) हे बल तेज शक्ति वाले (सः) वह तू (नः) हमें (अत्र) इस संसार में (मा) कभी मत (जुहुरः) विनष्ट कर, किन्तु हम (सदा) सदा (त्वे) तुझ में (सुमनसः) अच्छे मन वाले, प्रसन्नता पाने वाले (स्याम) बने रहें ।

चित्र इद्राजा राजका इदन्यके यके सरस्वतीमनु ।
पर्जन्य इव ततनद्धि वृष्टया सहस्रमयुता ददत् ॥

ऋ० 8.21.18

भाइयो ! इस संसार में 'चित्र' देव ही एकमात्र राजा हैं । ओह, वे 'चित्र' देव, वे परमपूजनीय परमेश्वर, वे महा अद्भुत, विलक्षण शक्ति जगदीश्वर जो कि अपने अनन्तोंप्रकार के ऐश्वर्यों को इस जगती तल पर अनवरत बरसा रहे हैं, वे ही संसार के एक सच्चे राजा हैं । किसी एक प्रकार का थोड़ा बहुत ऐश्वर्य रखने वाले और उसका दान करने वाले, हम लोगों में 'राजा' 'महाराजा' आदि कहलाने वाले, संसार के ये बड़े से बड़े ऐश्वर्यशाली पुरुष भी उनके सामने क्या राजा हैं ! जरा देखो कि इन्हें उस बरसने वाले महान् ऐश्वर्य में से, हजारों लक्षों प्रकार से बरसते इन अनन्त ऐश्वर्य में से कितना अति क्षुद्र अंश ही प्राप्त हुआ है ! 'चित्र' प्रभु की उस ऐश्वर्य वर्षा से, बरसाती नदी की तरह, इस मनुष्य लोक में वह निकलने वाली जो एक समष्टि ऐश्वर्य की अलक्षित नदी, सरस्वती, वह रही है, उस नदी से अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक ऐश्वर्य-जल पाकर ये दुनियावी राजा 'राजा' बने हैं । बस, उनका इतना ही ऐश्वर्य है । तो उस बरसाने वाले, ऐसी सहस्रों सरस्वतियों को वहाने वाले, उस अनन्तधनी के सामने ये कितने क्षुद्रातिक्षुद्र हैं !

मैं सोचा करता था कि संसार में जो मुझे नाना प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त हो रहे हैं, इनका प्रदाता कौन है ? मैं अब तक समझता था कि ज्ञान, तप, बल और धन आदि जो नाना प्रकार के विलक्षण ऐश्वर्य मुझे प्राप्त हुए हैं, उनके प्रदाता वे वे उन उन ऐश्वर्यों के धनी पुरुष ही हैं । परन्तु जब से मुझे इस महान् ऐश्वर्य वृष्टि का अनुभव हुआ है और बरसाने वाले चित्र प्रभु का दर्शन हुआ है तब से मैं उस प्रभु के इस दिव्य महादान के ही स्तुति-गीत गाने लगा हूं । ओह, 'चित्र' ही इस संसार में राजा हैं, 'चित्र' ही एक मात्र इस संसार में सच्चे राजा हैं ।

(चित्रः) वे परम पूजनीय या विलक्षण शक्ति परमेश्वर (इत्) ही एकमात्र (राजा) राजा हैं (अन्यके) अन्य [दुनियावी राजा] तो (राजका इत्) क्षुद्र राजे ही हैं (यके) जो कि क्षुद्र राजे (सरस्वतीं) [उसकी मनुष्य लोक में बहायी] समष्टि-ऐश्वर्य की नदी (अनु) द्वारा बने हैं, क्योंकि वही (सहस्रा अयुता) सहस्रों लाखों प्रकार के धनों, ऐश्वर्यों को (ददत्) देता हुआ (पर्जन्य इव) मेघ की तरह (वृष्ट्या) अपनी ऐश्वर्यवृष्टि से (हि) निःसन्देह [इन दुनियावी राजाओं को] (ततनत्) भरता है, ऐश्वर्य-जल से पूरित कर बढ़ाता है, बड़ा बनाता है ।

न त्वा रासीयाभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य ।
न मे स्तोता अमतीवा न दुर्हितः स्यान्न पापया ॥

ऋ० 8.19.26

हे जगत् को बसाने वाले ! वसो ! मैं कभी तुमसे दूसरों के विनाश के लिए प्रार्थना न करूँ, और हे सन्त्य ! हे संभजनीय ! मैं कभी दूसरों के प्रति किसी अन्य पाप के लिए भी तुम्हारा संभजन न करूँ। मैं तुम्हें कभी इस लिये हविः प्रदान न करूँ कि उससे किसी दूसरे की हिंसा हो या कोई अन्य पाप होवे। हे बसाने वाले ! तुमसे विनाश की प्रार्थना करना, हे सन्त्य ! तुमसे पाप की चाहना करना, यह कितनी उल्टी बात है ! परन्तु हम अज्ञानी लोग मोहवश बहुत बार तुमसे ऐसी प्रार्थनायें भी करते हैं। हम तो मारण उच्चाटन अभिचरण तक में तुमसे सफलता चाहा करते हैं। परन्तु शायद इसी लिये हम संसार में ठगे जाते हैं। हमें ऐसे स्तोता या प्रशंसक मिलते हैं जो कि अन्दर से हमारा अनिष्ट चाहते हैं पर ऊपर से स्तुति करते हैं। हे अग्ने ! मैं तो चाहता हूं कि मेरी स्तुति कभी कोई मूर्ख पुरुष न करे, मेरे लिए दुर्भाव और अहित रखने वाला कभी मेरा स्तोता व प्रशंसक न बने, पाप-बुद्धि वाला कभी मेरी खुशामद न करे। मैं कैसा हूं, इसकी बड़ी अच्छी पहचान यह है कि मेरे प्रशंसक कैसे हैं। अतः मैं जहाँ यह चाहता हूँ कि नासमझ और दुर्हृदय पुरुषों की स्तुति मुझे कभी प्राप्त न होवे, वहाँ मैं आपसे वह बल और ज्ञानप्रकाश भी पाना चाहता हूं जिससे मैं तुमसे कभी हिंसा व पाप की प्रार्थना न कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं तुमसे पवित्र ही प्रार्थना करूँ और मुझे मनुष्यों की पवित्र ही स्तुति प्राप्त हो।

(वसो) हे जगत् के बसाने वाले ! मैं (अभिशस्तये) हिंसन के लिए (त्वा न रासीय) कभी तेरी स्तुति प्रार्थना न करूँ, कभी हविप्रदान न करूँ और (सन्त्य) हे संभजनीय ! (पापत्वाय) पापयुक्तता के लिए मैं तेरी कभी प्रार्थना न करूँ, हवि-प्रदान न करूँ। और (अग्ने) हे अग्ने ! (मे स्तोता) मेरा प्रशंसक कभी (अमतीवा) निर्बुद्धि मूर्ख पुरुष (न स्यात्) न होवे, (दुर्हितः) दुष्कामना रखने वाला पुरुष (न) न होवे और (पापया) पाप बुद्धि से [युक्त पुरुष भी] (न) न होवे।

हस्ते दधानो नृम्णा विश्वानि, अमे देवान्धात् गुहा निषीदन् ।
विदन्तीमत्र नरो धियन्धा, हृदा यत्तष्टान् मन्त्राँ अशंसन् ।।

ऋ० 1.67.2

मन्त्रों की बड़ी महिमा है । मन्त्रों की शक्ति अद्भुत है । मंत्रशक्ति से हम जो चाहें, वह प्राप्त कर सकते हैं । यह ठीक है कि हम प्रतिदिन वेदमन्त्रों का बहुत उच्चारण करते हैं, तो भी हमें इससे कुछ प्राप्त नहीं होता । पर इसका कारण यह है कि ये मन्त्र हमारे हृदय से नहीं निकले होते । जो भक्तलोग हृदय से घड़े हुए हृदय की गम्भीर गहराई से निकले हुए, हार्दिक भावना से तीक्ष्ण हुए और पवित्र अन्तःकरण की गम्भीर सूक्ष्म तथा विस्तृत ज्ञानशक्ति से तेजोयुक्त हुए-हुए वेद मन्त्रों को बोलते हैं, वे अपने ऐसे मन्त्रोच्चारण द्वारा उस 'ईक्षण' नामी दिव्य शक्ति को संचालित कर देते हैं जिससे बढ़ कर संसार में अन्य कोई शक्ति नहीं है । इसलिए वे नर, वे सच्चे पुरुष, अपने अन्दर ही सब कुछ पा लेते हैं । वे 'धी' को धारण करने वाले, स्थितप्रज्ञ होने और निष्काम कर्म करने से हृदय (आत्म) शुद्धि पा लेने वाले, अपने हृदय में ही सब कुछ पा लेते हैं । हृदय की गुफा में जो अग्निदेव छिपे बैठे हैं, सब ऐश्वर्यों को हाथ में लिये हुए और वेदों को अपने में धारण किये हुए हमारे अग्निदेव छिपे बैठे हैं, उन्हें पा लेते हैं और इस प्रकार मन्त्र शक्ति द्वारा अग्निदेव को पा लेने पर, प्रकट कर लेने पर, फिर संसार का कौन-सा ऐश्वर्य है, कौन-सा दिव्य गुण है जिसे ये 'नर' नहीं पा लेते ? संसार के सम्पूर्ण धन ऐश्वर्य को तो हाथ में रखे हुए सब देवों (दिव्य गुणों) को अपनी ज्ञानमय शरण में लिये हुए ये हमारे अग्निदेव हमारे हृदय में ही स्थित हैं, पर हम हैं जो कि 'मन्त्रों का उच्चारण' करके उन्हें पा नहीं लेते, हृदय से मन्त्रोच्चारण करना तक सीख नहीं लेते, हृदय से निकले मन्त्रों से इन्हें प्राप्त कर नहीं लेते ।

अग्नि देव (विश्वानि) सम्पूर्ण (नृम्णा) ऐश्वर्यों को (हस्ते) हाथ में (दधानः) लिये हुए (देवान्) देवों, दिव्य गुणों को (अमे) अपने घर में, अपनी ज्ञानमय शरण में (धात्) धारण करता है, इस प्रकार वह (गुहा) [हृदय की] गुफा में (निषीदन्) बैठा हुआ, छिप कर बैठा हुआ है । (अत्र) इस हृदय गुफा में (ईं) इसको (धियन्धाः) बुद्धि और कर्म को ठीक प्रकार धारण करने वाले (नरः) पुरुष (विदन्ति) तब पा लेते हैं (यत्) जब वे (हृदा) हृदय से, हार्दिक भाव से (तष्टान्) निकले हुए, तेजोयुक्त हुए-हुए (मन्त्रान्) मन्त्रों को (अशंसन्) उच्चारण करते हैं ।

वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः ।
वर्षाण्यनु शरदो हेमन्तः, शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥

साम० 6.3.13.2

मेरे प्रभु की सृष्टि में सभी ऋतुएँ रमणीय है। हर एक ऋतु में अपनी-अपनी रमणीयता है। जो लोग प्रभु के प्रेम को नहीं जानते वे ही हर समय, हर ऋतु में असन्तुष्ट रहते हैं। गर्मी में उन्हें शीत याद आता है, पर शीत आ जाने पर वे कहते हैं गर्मी की ऋतु अच्छी होती है। घर्मकाल में वे प्रतिदिन वर्षा की प्रतीक्षा में रहते हैं परन्तु वर्षा आने पर वे बरसात से तंग आ जाते हैं। इस प्रकार उन्हें हर समय में शिकायत ही शिकायत रहती है। उन्हें कोई भी ऋतु अच्छी नहीं लगती। परन्तु प्रभु-प्रेम का कुछ प्रसाद पा लेने पर मुझे तो प्रत्येक ऋतु में अपने प्रभु की ही कोई न कोई प्रतिमा दिखायी देती है। इसलिये गर्मी में मैं सुख से गर्मी का आनन्द लेता हूँ और जाड़े में जाड़े का। वर्षा-काल में मैं खूब बरसात मनाता हूँ और पतझड़ में मैं अपने प्रभु का एक दूसरा ही सौन्दर्य पाता हूँ। इस तरह मैं हर समय हर ऋतु में अपने प्रभु का दर्शन करता हूँ और देखता हूँ कि प्रत्येक ऋतु अपनी नयी-नयी प्रकार की रमणीयता के साथ नया-नया प्रभु-सन्देश लाती हुई मेरे पास आ रही हैं।

मेरे जीवन रूपी संवत्सर में भी इसी प्रकार सब ऋतुएँ आया करती हैं। कभी सुख सम्पत्ति की घड़ियाँ आती हैं तो कभी दुःख दारिद्रय के लम्बे दिन व्यतीत होते है। कभी अति कार्य-व्यग्रता का राजसिक समय वर्षों तक चलता है तो कभी काफी समय के लिए शिथिलता और दीर्घ-सूत्रिता के दिनों की बारी आती है। पर मैं उन सभी का रसास्वाद करता हूँ। ये सभी रस अपने-अपने समय पर प्राप्त होते हुए मुझे प्रिय लगते हैं। इस प्रकार मैं अपने बाल्य-काल के वसन्त में खूब खेला हूँ, नौ-जवानी की ग्रीष्म के जोशीले दिनों का तथा प्रौढ़ता की बरसात के प्रेमपूर्ण दिनों का आनन्द भी मुझे याद है, आजकल सार्वजनिक जीवन की शरद् और हेमन्त की बहार ले रहा हूँ और देख रहा हूँ कि वार्धक्य की शिशिर अपनी बुजुर्गी, अनुभवपूर्णता और परिपक्वता की स्वर्गीयता के साथ आगे मेरी प्रतीक्षा कर रही है। निःसन्देह प्रभु की बसन्त ही नहीं किन्तु ग्रीष्म भी रमणीय है, वर्षा और इसके अनन्तर आने वाली शरद् के साथ उसकी हेमन्त तथा शिशिर भी उसी तरह रमणीय हैं।

(वसन्त) वसन्त (इत् नु) निश्चय से ही (रन्त्यः) रमणीय है और (ग्रीष्मः) गर्मी की ऋतु भी (इत् नु) निश्चय से ही (रन्त्यः) रमणीय है। (वर्षाणि) वर्षाएँ (अनु शरदः) उसके पीछे आने वाले शरद के दिन (हेमन्तः) और हेमन्त ऋतु, तथा (शिशिरः) पतझड़ की ऋतु भी (इत्नु) निश्चय से (रन्त्यः) रमणीय है।

12 मार्गशीर्ष

इमे हि ते ब्रह्मकृतः सुते सचा मधौ न मक्ष आसते ।
इन्द्रे कामं जरितारो वसूयवो रथे न पादमा दधुः ॥

ऋ० 7.32.2, सा० उ० 8.2.6 2

हे इन्द्र ! सदा तेरे ज्ञान का निष्पादन करने वाले, तेरे उद्देश्य मे ब्रह्मयज्ञ करने वाले ये भक्त लोग जगह-जगह से तेरे ज्ञान का, तेरे प्रेम का, संग्रह करते रहते हैं जैसे 'मधुकृत' मक्षिकायें जहाँ मधु देखती हैं वहीं जा बैठती हैं और इस प्रकार सब कहीं से मधु इकट्ठा करती हैं, उसी तरह ये 'ब्रह्मकृत्' लोग जहाँ कोई विकसित ज्ञान-पुष्प देखते हैं, जहाँ कहीं तेरे गुणों की सुगन्धि पाते हैं, वहीं जा पहुँचते हैं और उनमें समवेत होकर, तल्लीन होकर तेरे भक्तिरस का आस्वादन और संग्रहण करते हैं। प्रत्येक ब्रह्मचर्चा के स्थान से, प्रत्येक हरिकीर्तन मंडली से, प्रत्येक शुभयज्ञ से, प्रत्येक सद्ग्रन्थ से और क्या, प्रत्येक चेताने वाली घटना से अर्थात् जहाँ भी कहीं तेरे लिए 'सोम अभिषुत किया' जाता है, उन सभी स्थलों से वे तल्लीन होकर चुपके से मधु को, सोमरस को वे ज्ञानामृत को ग्रहण कर जाते हैं। इस तरह ये लोग ज्ञानधनी भक्त-शिरोमणि बन कर सब संसार के लिए भक्तिपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हैं, संसारी प्यासों को ज्ञानामृत पिलाते हैं।

इन भक्तों में ऐसा सामर्थ्य इसलिए आ जाता है चूंकि ये दुनियावी कामनाओं से पीड़ित नहीं होते। ये निष्काम होते हैं। ये अपनी सब कामनायें इन्द्र प्रभु में समर्पित कर चुके होते हैं। जैसे कि रथ में पैर रख कर, रथ में बैठकर हमें अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए स्वयं अपने प्रयत्न से नहीं चलना पड़ता, रथ हमें स्वयं पहुंचा देता है, उसी तरह से तेरे स्तोता भक्त लोग अपनी कामना मात्र को तुझ परमेश्वर में रख कर निश्चिन्त हो जाते है कि तुम सर्वशक्ति सर्वज्ञानी प्रभु स्वयमेव उनकी सब शुभ कामना को ठीक तरह पूर्ण करोगे, स्वयमेव अभीष्ट फल को प्राप्त कराओगे। ओह ! इस इन्द्र-रथ का आश्रय पाकर, अपनी कामना रूपी पैरों को समेट कर इस रथ पर बैठ जाने पर, कोई तृष्णा व्याकुलता नहीं रहती, कोई चिन्ता जलन नहीं रहती, कोई झंझट व परेशानी नहीं रहती।

(मधौ न) जैसे मधु पर (मक्षः) मधु मक्षिकायें (आसते) बैठती हैं वैसे (इमे) ये (ते) तेरे (ब्रह्मकृतः) ज्ञान निष्पादन करने वाले भक्त लोग (हि) निश्चय से (सुते) प्रत्येक सुत सोम पर, प्रत्येक ज्ञान निष्पादन के स्थल पर (सचा) समवेत होकर, तन्मग्न होकर बैठते हैं। और ये (वसूयवः) वसु व अभीष्ट फल चाहने वाले (जरितारः) स्तोता, भक्त लोग (इन्द्रे) परमेश्वर में (काम) अपनी इच्छा को, कामनामात्र को (आदधुः) रख देते हैं, समर्पित कर देते हैं, (रथे न) जैसे रथ में (पादं) पैर को रख देते हैं [और बैठ जाते हैं]।

13 मार्गशीर्ष

महि महे तवसे दीध्ये नॄन् इन्द्रायेत्था तवसे अतव्यान् ।
यो अस्मै सुमतिं वाजसातौ स्तुतो जने समर्यश्चिकेत ॥

ऋ० 5.33.1

जीवन का संग्राम बड़ा विकट है । मैं क्षुद्र हूँ, अत्यन्त निर्बल हूं । परन्तु हे इन्द्र ! तुम तो महान् हो, बलवान् हो, सर्वशक्तिधाम हो और तुम्हारी शक्ति का आश्रय पाकर मैं निर्बल भी महाबली हो सकता हूँ । इसलिए मैं आज 'अतव्यान्' हो कर भी महान् बल पाने के लिए महत्वपूर्ण 'आरम्भ' करने लगा हूँ । तेरा ध्यान करके मैं आज अपनी सुप्त शक्तियों को जगाता हूँ, अपनी छिपी हुई 'नर' शक्तियों को, नेतृत्व की शक्तियों को उद्बुद्ध करता हूँ, ध्यान द्वारा अपने पौरुषों को प्रदीप्त करता हूँ, अपने आपको प्रकाशित करता हूँ । इस प्रकार महान् बल को धारण करके मैं अपनी विजय-यात्रा पूरी करूँगा । परन्तु हे इन्द्र ! यह सब मैं तुम्हारा अवलम्बन पाकर ही कर सकूँगा । तुम 'समर्य' हो, इस संसार-समर में विजय प्राप्त कराने वाले हो । उस श्रेष्ठमति को तुम्हीं जानते हो और तुम्हीं दे सकते हो जिसके द्वारा इस घोर जीवन-संग्राम में विजय प्राप्ति होती है । मैं जानता हूँ कि भक्ति से अभिमुख हुए तुम नित्य सुमति देने वाले पथप्रदर्शक बन जाते हो इस लिये इस दीन जन पर भी कृपा करो । तुम्हारा नाम लेकर, तुम्हारे लिए, मैं आज इस प्रकार महान् कार्य प्रारम्भ करने लगा हूँ, महान् बल पाने के लिए अपने पौरुषों को प्रदीप्त करने का महान् कार्य प्रारम्भ करने लगा हूँ ।

(महि) महत्व के साथ (महे तवसे) महान् बल के लिए मैं (नॄन्) अपनी नर-शक्तियों को, पौरुषों को (दीध्ये) प्रदीप्त करता हूँ, ध्यान द्वारा प्रदीप्त करता हूँ; (इत्था) इस प्रकार (तवसे इन्द्राय) बलस्वरूप इन्द्र के [पाने के] लिए (अतव्यान्) मैं निर्बल [अपनी नृ शक्तियों को प्रदीप्त करता हूँ] (यः) जो कि इन्द्र (स्तुतः) भक्ति से अभिमुख किया गया (समर्यः) संग्राम कराने वाला, संग्राम में हितकारक (अस्मै जने) इस निर्बल जन के लिए (वाजसातौ) जीवन संग्राम में (सुमत) उत्तम मति को (चिकेत) जानता है ।

स इत्तन्तुं स विजानात्योतुं स वक्त्वान्यृतुथा वदाति।
य ईं चिकेतदमृतस्य गोपा अवश्चरन्परो अन्येन पश्यन् ॥
ऋ० 6.9.3

मैं नहीं जानता कि यह जो संसाररूपी वस्त्र बुना जा रहा है, उसका ताना क्या है, बाना क्या है और जब कभी बुनते हुए इसका कोई तन्तु टूट जाता है तो उसे जोड़ने वाला कौन है ? हाँ, वह वैश्वानर अग्नि अवश्य जानता है। वह ही इस संसाररूपी वस्त्र के लिए ताना तानना और बाना भरना जानता है। वह अग्नि ऋक् [ज्ञान] के ताने में यजु (कर्म) का बाना डालता हुआ इस महायज्ञ के वस्त्र को निरन्तर बुन रहा है और यही समय समय पर किसी ज्ञानतन्तु के विच्छिन्न होने पर नया ज्ञान देने द्वारा, वक्तव्य के बोलने द्वारा, उसे जोड़ता रहता है।

यह वैश्वानर अग्नि कौन है ? यह वह अग्नि है जो कि इस विश्व-शरीर का अग्नि है, जोकि असंख्यों व्यष्टि (वैयक्तिक) अग्नियों को समष्टि (सामूहिक) अग्नि से एक करने वाला है, अतएव जो कि व्यक्तियों के मरते रहने पर भी अमर रहने वाला है, जो कि अमरत्व का रक्षक 'अमृतस्य गोपा' है। यह अग्नि इस सब संसार को ज्ञान, चैतन्य, स्फूर्ति दे रहा है। यह अपने व्यष्टि रूप से जहाँ नीचे पृथिवी पर पैर बनकर विचर रहा है, वहाँ यह अपने समष्टि रूप से ऊपर द्युलोक में नेत्र होकर सब को देख रहा है। भाइयो ! क्या तुमने 'वैश्वानर अग्नि' को पहिचाना ? यह वह अग्नि है जिसमें या जिस के द्वारा यह संसाररूपी महान् यज्ञ हो रहा है।

(सः) वह वैश्वानर अग्नि (इत्) ही (तन्तु) ताना तनने को और (सः) वही (ओतुं) बाना करने को (विजानाति) जानता है, (सः) वह (ऋतुथा) समय समय पर (वक्त्वानि) वक्तव्य ज्ञानों को भी (वदाति) बोलता है, प्रकाशित करता है। (यः) जो [वैश्वानर अग्नि] (अमृतस्य गोपाः) अमरत्व का रक्षक हो (अवः) इधर नीचे (चरन्) चलता हुआ और (परः) ऊपर ऊपर (अन्येन) अपने दूसरे रूप से (पश्यन्) देखता हुआ (ईं) इस संसार को (चिकेतत्) जान रहा है, इसमें ज्ञान चैतन्य दे रहा है।

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि ।।

ऋ० 4.1.20, यजु० 33.16

हे इन्द्र ! तुम्हीं पूरी तरह शत्रु का विनाश करने वाले हो। तुम शत्रु का इतनी अच्छी तरह विनाश करते हो कि उसका सब शत्रुत्व, सब बुराई विनष्ट हो जाती है किन्तु वह मनुष्य, उसकी अच्छाई जरा भी नष्ट नहीं होने पाती, बल्कि वह मनुष्य अधिक श्रेष्ठ बन जाता है। तुम दास शत्रुओं को आर्य बना कर उनका शत्रुपना नष्ट कर देते हो और मानुष शत्रुओं को उत्तम आचरण वाले मनुष्य बनाकर उनका शत्रुत्व नष्ट कर देते हो। तुम अपनी जिस स्वस्ति से, जिस स्वस्थता से, जिस निर्विकारता से, जिस कल्याणमय अवस्था से ऐसा करते हो, वह हमें भी प्रदान करो। हम अपने शत्रुओं का सच्चे अर्थों में विनाश कर सकें, इसके लिए वह अपनी स्वस्ति, वह अपनी निर्विकारता हमें भी प्राप्त कराओ। यह ठीक है कि हम में वह संयम, वह महत्ता, वह अहिंसा नहीं है जिसके बिना तुम्हारी यह स्वस्ति की शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। परन्तु ये गुण हमें अन्य कौन प्रदान करेगा ? हे इन्द्र ! तुम्हीं वह महान् अहिंसारूपिणी संयमवाली स्वस्ति-शक्ति हम में भर दो जिसके प्रयोग से मनुष्यत्व से गिरे हुए, उपक्षय करने वाले, दास भी आर्य मनुष्य बन जाते हैं और मनुष्य 'वृत्र' भी उत्तम गमन व आचरण वाले, सुन्दर वृद्धि करने वाले या तेरे सुपुत्र बन जाते हैं; शत्रु नहीं रहते। हम भी, हे वज्र वाले ! हे पाप का वर्जन कराने वाले ! अब ऐसे ही ठीक प्रकार से शत्रु विनाश कर सकने वाले होना चाहते हैं। शत्रुओं को उलटे तरीके से, असंयम और हिंसा के तरीके से, विनाश करने का यत्न करते करते हम तंग आ गये हैं। इस लिये हे इन्द्र ! अब हमें तुम्हीं अपना वह संयम प्रदान करो, अपनी वह महत्ता प्रदान करो, अपनी वह अहिंसा शक्ति प्रदान करो और उस स्वस्ति व निर्विकारता का प्रदान करो जिसके साधन से मनुष्य किसी की भी हिंसा न करता हुआ सबकी उन्नति ही साधता है और इस प्रकार इस संसार में पूरी तरह शत्रुरहित हो जाता है।

(हे इन्द्र) हे इन्द्र ! (शत्रु तूर्याय) शत्रुओं के विनाश के लिए (नः) हमें वह (बृहतीं) महान् (अमृध्रां) हिंसा रहित, अहिंसिका (संयतं) संयम वाली (स्वस्तिं) स्वस्थता, निर्विकारता की अवस्था, कल्याणमयता को (आ [भर]) सब ओर से प्राप्त कराओ, (यया) जिस [स्वस्ति] द्वारा तुम (दासानि वृत्रा) दास शत्रुओं को (आर्याणि) आर्य (करः) कर देते हो, बना देते हो और (वज्रिन्, हे वज्र वाले ! (नाहुषाणि [वृत्रा]) मनुष्य शत्रुओं को (सुतुका) उत्तम गमन व वृद्धि वाले या सुपुत्र बना देते हो।

16 मार्गशीर्ष

विश्वेषामदिति र्यज्ञियानां विश्वेषामतिथि र्मानुषाणाम् ।
अग्नि र्देवानामव आवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः ॥

ऋ० 4.1.20, यजु० 33.16

क्या तुम जानते हो कि हम मनुष्य जो देवों का यजन करते हैं और उसके बदले में ये देव हम मनुष्यों को इष्ट फल प्रदान करते हैं, यह सब क्योंकर होता है ? हम मनुष्यों का देवों के साथ जो यह यज्ञिय सम्बन्ध जुड़ा है, उसका जोड़ने वाला कौन है ? यह अग्नि है, जातवेदा है । इस प्रयोजन के लिए यह अग्निदेव जहाँ एक तरफ सब देवों का अदिति है, वहाँ दूसरी तरफ सब मनुष्यों का अतिथि हुआ है । जहाँ यह सब यज्ञियों, यजनीयों, देवों का अखण्डित निवास स्थान है, उनकी माता है; वहाँ यह हम मनुष्यों के उपकार के लिए स्वयं यजनीय पूजनीय अतिथि हो कर हमारे पास भी आया हुआ है । इस अतिथि रूप से यह हमारा हवि ग्रहण करता है और अदिति रूप से यह उसे देवों को पहुँचाता है । और फिर जो ये देवगण प्रतिफल में हमारे लिए 'अवः' देते हैं, रक्षा, तृप्ति आदि भेजते हैं, उसे स्वीकार करता हुआ यही अग्नि 'जातवेदा' होकर हम मनुष्यों को अभीष्ट सुख पहुँचाता है । इस समय इसका नाम जातवेदा इसलिए होता है चूँकि तब इसमें देवों द्वारा प्रतिफल में आया हुआ 'वेदस्' अर्थात् अभीष्ट ऐश्वर्य उत्पन्न हो चुका होता है । यह प्रक्रिया है जिससे कि यजन द्वारा हमें अभीष्ट फल, सुख शान्ति समृद्धि आदि प्राप्त होते हैं । यह अग्निदेव ही है जिस के द्वारा हम देवों को भावित करते हैं और देव हमें भावित करते हैं एवं परस्पर भावित करते हुए हम परम कल्याण की तरफ जा रहे हैं । देखो, यह सब अग्निदेव की महिमा है । उपनिषदों में इसकी महिमा प्राणाग्नि आदि नाम से बहुत बहुत गाई गयी है । निस्सन्देह इस अग्निदेव की जितनी महिमा गाई जाये, उतनी थोड़ी है ।

हे परमेश्वर ! हे अग्नियों के अग्नि ! तुम हम पर ऐसी कृपा करो जिससे कि ये महिमाशाली अग्निदेव हम यजनशील पुरुषों के लिए सदा उत्तम सुख देने वाले रहें, सदा श्रेष्ठ सुख प्रदान करते रहें ।

अग्नि (विश्वेषां) सब (यज्ञियानां) यजनीयों का, देवों का (अदितिः) अखण्डित निवास-स्थान है, या माता है और (विश्वेषां) सब (मानुषाणां) मनुष्यों का (अतिथिः) अतिथि है, आता हुआ मेहमान है । (अग्निः) वह अग्नि (देवानां) देवों के (अवः) रक्षण तृप्ति आदि फल को (आवृणानः) स्वीकार करता हुआ (जातवेदाः) और अभीष्ट ऐश्वर्यों से युक्त हुआ हुआ [हमारे लिए सदा] (सुमृडीकः) उत्तम सुख देने वाला (भवतु) होये ।

17 मार्गशीर्ष

ये रूपाणि प्रतिमुंचमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्ति, अग्निष्टाँल्लोकात्प्रणुदात्यस्मात्॥

यजु॰ 2.30

हे जगदीश्वर ! यहाँ से असुरों को दूर कर दो, प्रच्छन्न असुरों को दूर भगा दो। यह लोक, यह स्थान तो देवों के लिए है। इस मेरे अध्यात्म, अधिभूत और अधिदेव लोक में दैवभाव, दैवमनुष्य, दैवी शक्तियाँ ही रहनी चाहिए। किन्तु हे अग्ने! आसुर भाव, असुर लोग, आसुरी शक्तियां भी यहाँ आ घुसती हैं। ये असुर अपने नग्न-स्वरूप में तो यहाँ आ नहीं सकते, इसलिए ये अपने अज्ञान, अधर्म, अनैश्वर्य के असली स्वरूपों को छिपाकर ज्ञान, धर्म और ऐश्वर्य के रूपों को दिखलाते हुए यहाँ आते हैं। अपने असली दुर्भावों को अन्दर दबा कर अपने को बड़े सद्भावों से प्रेरित हुए प्रकट करते हैं। अपने स्वार्थपूर्ण अभिप्रायों को इस प्रकार उच्च सिद्धान्तों में लपेट कर लोगों के सामने पेश करते हैं कि लोग इन्हें 'देव' समझते हैं। इसीलिए असुर होते हुए भी ये यहाँ की 'स्वधा' को प्राप्त करते हैं, यहाँ के अन्न से, रस से, स्थूल पार्थिव शक्ति से युक्त होकर ये विचरते हैं परन्तु अन्दर से ये बिलकुल असुर होते हैं, अशोभन, बुरे पुरुष होते हैं। यज्ञ को श्रेष्ठ संगठन को घ्वंस करने वाले होते हैं। असुरों में (प्राणों में) ही रमने वाले इन्द्रिय-भोगरत होते हैं इसलिये ये स्वार्थी लोग सदा अपने ही पेट भरने में लगे रहते हैं। ये 'परापुर्' और 'निपुर्' होते हैं, धर्म से बहुत दूर होकर, बिलकुल विमुख होकर भी अपने आपको भरते हैं और धर्म से नीचे गिरकर निकृष्ट उपायों से भी अपने को भरते हैं। अधर्म, अन्याय द्वारा दूसरों को हरते हुए और अपने स्वार्थों को पूरा करते हुए, किन्तु ऊपर से अपने आप को धार्मिक सच्चे दिखलाते हुए ये असुर इस लोक में धन सुख यश पाते हुए विचरते हैं। इसलिये हे अग्ने ! इन प्रच्छन्न असुरों को, जो कि खुले असुरों की अपेक्षा बहुत भयंकर होते हैं, इस पवित्र लोक से दूर कर दो। निःसन्देह तेरी सन्तापक शक्ति के सामने ये ठहर नहीं सकते हैं, तेरे तेज को यह सह नहीं सकते हैं। अतः अब इन असुरों को यहाँ से बहिष्कृत कर दो और इस स्थान को, इस समाज को, इस पवित्र संगठन को असुररहित कर दो।

(ये) जो (रूपाणि प्रतिमुंचमानाः) [अपने रूपों को छिपा कर] रोचक रूपों को दिखलाते हुए (असुराः सन्तः) असुर, राक्षस होते हुए भी (स्वधया) अन्न से, रस से, स्थूल पार्थिव शक्ति से (युक्त होकर इस लोक में) (चरन्ति) विचरते हैं और (ये) जो (परापुरः) धर्म से दूर हट कर अपने आप को पूरते हैं (निपुरः) नीचे गिर कर निकृष्ट उपायों से भी अपने को पूरते हैं (भरन्ति) इस प्रकार अपने को भरते हैं या दूसरों को हरते हैं (तान्) उन (छिपे असुरों) को (अग्निः) तेजोमय संतापक अग्नि (अस्मात् लोकात्) इस लोक से (प्रणुदाति) दूर कर देवे, हटा देवे।

18 मार्गशीर्ष

ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेः, ईशे रायः सुवीर्यस्य दातोः ।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परिषदाम मा दुवः ॥

ऋ० 7.4.6

हे अग्ने ! हम तुम्हारी बहुत सी विफल उपासना करते हैं। तुम तो सर्व-शक्तिमान् हो, हमें सब कुछ दे सकते हो। हमें प्रभूत अमृत, विविध प्रकार का आध्यात्मिक ऐश्वर्य प्रदान करने में समर्थ हो, सुवीरता आदि सहित सब प्रकार का भौतिक धन देने में समर्थ हो, परन्तु हम ही हैं जो कि तुम्हारी आराधना करने के अयोग्य हैं। अतएव तुम सर्वदाता से भी हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। हम कितने मूर्ख हैं कि निर्वीर्य होकर, विकारयुक्त होकर और सेवारहित होकर तुम्हारा भजन करना चाहते हैं। भला हम बुजदिल कायर लोग, हे सहसावन् ! तुम्हारी क्या उपासना कर सकते हैं ? हम विकार युक्त मलिन हृदयों वाले तुम्हारी क्या उपासना करेंगे ? हम सेवारहित स्वार्थी पुरुष तुम्हारी उपासना से क्या लाभ प्राप्त करेंगे ? अतः हम ने आज से निश्चय किया है कि अब हम वीर्यहीन, विकृत और असेवक होकर कभी तुम्हारी उपासना में नहीं बैठेंगे। हम सब कमजोरियों को हटा कर निर्भय वीर हो कर तुम्हारे सच्चे उपासक बनेंगे, सब काम क्रोधादि मलिनताओं को दूर करके शुद्ध सुरूप बनकर तुम्हारी आराधना करने बैठेंगे और दिन रात निरन्तर सेवाकार्य करते हुए ही अब हम प्रातःसायं तुम्हारा भजन किया करेंगे। सचमुच तभी हम तुम्हारे पास बैठने के योग्य होंगे, तुम्हारी उपासना करने के अधिकारी बनेंगे। और तभी उपासना द्वारा तुम से अमृतत्व आदि आध्यात्मिक ऐश्वर्यों को, वीरता आदि सद्गुणों को तथा अन्य भौतिक ऐश्वर्यों को भी प्राप्त कर सकेंगे।

(अग्नि) परमेश्वर (हि) निश्चय से (भूरेः) बहुत प्रकार के (अमृतस्य) अमरपन के, आध्यात्मिक ऐश्वर्य के (दातोः) देने में (ईशे) समर्थ है और (सुवीर्यस्य) सुन्दर वीरता सहित (रायः) धन के, भौतिक ऐश्वर्य के, देने में (ईशे) समर्थ है। परन्तु (सहसावन्) हे सर्वशक्तिमान् ! बलवन् ! (वयं) हम (त्वा) तुम को (अवीराः) वीरता रहित, कायर होकर (मा) मत (परिसदाम) उपासना करें (अप्सवः) कुरूप, विकृत होकर (मा) मत उपासना करें, और (अदुवः) असेवक होकर (मा) मत उपासना करें।

19 मार्गशीर्ष

त्वे असुर्यं वसवो न्यृण्वन् क्रतुं हि ते मित्रमहो जुषन्त।
त्वं दस्यूं रोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय ।।

ऋ० 7.5 6

हे अग्ने ! तुझ में आश्रय लेकर ये पृथिव्यादि वसु अपने असुर्य को, प्राणवत्व को, सामर्थ्य को प्राप्त कर रहे हैं, तुझ में ही आश्रय पाकर ब्रह्मचारी वसु लोग भी अपने प्राणवत्य और प्रज्ञावत्य (बल और ज्ञान) को प्राप्त कर रहे हैं। ये वसु इस सामर्थ्य को इसलिये पा रहे हैं, बल्कि तेरे आश्रय को भी इसलिये पा रहे हैं, चूँकि ये तेरे 'क्रतु' का सेवन करते हैं। इस संसार में जो तेरा महान् कर्म चल रहा है, उसका ये सेवन करते हैं. उसके अनुकूल आचरण करते है। तेरे महान् संकल्प व ज्ञान के अनुसार ये अपना व्यवहार, कर्म करते हैं। परन्तु जो लोग तेरे 'क्रतु' का सेवन नहीं करते हैं, वे तेरे इस घर से वहिष्कृत हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। हे अग्ने ! तुम तो 'मित्रमहा:' हो। तुम्हारा तेज मित्र है, स्नेह करने वाला है। जो लोग तुम्हारे इस मित्र तेज से मैत्री करते हैं, वे संसार में 'आर्य' कहलाते हैं पर जो इस स्नेह करने वाले तेरे तेज से द्वेष करते हैं, जिन्हें ये तेरा तेज अच्छा नहीं लगता वे ही 'दस्यु' नाम से पुकारे जाते हैं क्योंकि इस तेज से मैत्री करने वाले ही तेरे इस तेज को, प्रकाश को प्राप्त कर सकते हैं। अत: वे ही तेरा प्रकाश पाकर श्रेष्ठाचरण वाले अर्थात् आर्य बनते हैं। अपने स्वार्थमय क्षुद्र प्रकाश में मस्त रहने वाले, दूसरे 'दस्यु' लोगों को तेरी विस्तृत ज्योति नहीं प्राप्त होती है। दस्यु अर्थात् दूसरों का उपक्षय करने वाले वे इसलिये बनते हैं क्योंकि वे स्वार्थान्ध होते हैं क्योंकि वे प्रकाश से प्रेम न रखने के कारण तेरी विस्तृत ज्योति को न पाकर अपने में अन्धे होते हैं। अतएव जब तू अपने किसी घर में, किसी लोक में विस्तृत ज्योति को प्रकाशित कर देता है तो वहाँ ये अन्धकारप्रिय दस्यु नहीं ठहर सकते। वहाँ से ये निकल जाते हैं। इस प्रकार, हे मित्रमह: ! तू आर्यों के लिए महान् ज्योति देता हुआ दस्युओं को निकाल रहा है, इस प्रकार तेरे ऋतु का सेवन करने वालों को अपना सहारा देता हुआ ऐसा न करने-वालों को इस परम अवलम्बन से वञ्चित रख रहा है और इस प्रकार तू तेरा सहारा लेने वालों को प्राण व बल देता हुआ दूसरों को विनष्ट कर रहा है।

(वसव:) वसु (त्वे) तुझमें [आश्रित हो] (असुर्यं) प्राणवत्व को, सामर्थ्य को (नि ऋण्वन्) प्राप्तकर रहे हैं, (हि) क्योंकि वे (ते) तेरे (क्रतुं) कर्म का (मित्रमह:) हे मित्र तेज वाले ! (जुषन्त) सेवन करते हैं। (अग्ने) हे अग्ने (त्वं) तू (आर्याय) आर्यों, श्रेष्ठों के लिए (उरु) विस्तृत (ज्योति:) ज्योति को (जनयन्) प्रकाशित करता हुआ (दस्यून्) दस्युओं, दूसरों का उपक्षय करने वालों को (ओकस:) घर से (आज:) खदेड़ देता है, निकाल देता है।

त्वावतो हीन्द्र क्रत्वे अस्मि त्वावतोऽवितुः शूर रातौ ।
विश्वेदहानि तविषीव उग्र ओकः कृणुष्व हरिवो न मर्धीः ॥

ऋ० 7.25.4

जगदीश्वर ! तुम मेरे आत्मा के भी आत्मा हो । यह जान लेने पर अब मैं तुम्हारे जैसे आत्मीय के कर्म के लिए सदा उद्यत रहता हूँ । मैं प्रातः से सायंकाल तक और फिर सायं से प्रातः तक जो कुछ करता हूँ, वह सब प्रभो ! तुम्हारे लिए करता हूँ । हे शूर ! तुम सब जहान के रक्षक हो । इसलिये, तुम्हारे लिए कर्म करता हुआ मैं अब तुम्हारे जैसे महान् रक्षक के दान में भी हो गया हूँ, तुम्हारी महान् रक्षा में आ गया हूँ। तुम से मेरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है परन्तु फिर भी यह संसार संग्राम बड़ा विकट है । पाप की प्रबल शक्तियाँ मुझे समय समय पर अपना भय दिखलाती हैं, मुझे संत्रस्त करती रहती हैं ! उस समय, हे इन्द्र ! मैं सब सुध बुध भूल जाता हूँ । तुम्हारी रक्षा, शक्ति, सब भूल जाता हूँ इसलिये मैं तो चाहता हूँ कि हे इन्द्र ! तुम मुझ में अब अपना घर कर लो, हमेशा के लिए घर कर लो । अपनी दिव्य सेना के साथ अपनी सब उग्रता और ओजस्विता के साथ मुझ में अपना घर बना लो । हे सेना वाले ! हे उग्र ! मुझ में अपना घर बनालो । तभी ये आसुरी शक्तियाँ मुझे भयभीत न कर सकेंगी । नहीं तो मैं इन भयों और आशंकाओं से ही मरा जा रहा हूँ । हे इन्द्र ! मुझे इस मरने से बचाओ, मुझ में अपना स्थिर घर करके मरने से बचाओ । मैं तुम से और कुछ नहीं चाहता, और कुछ आकांक्षा नहीं करता, बस, मुझ में अब अपना घर बनाओ । हे हरिओं वाले ! तुम अपनी ज्ञानक्रिया और बलक्रिया के हरियों से इस सब संसार का धारण पोषण कर रहे हो, तुम मुझे अब इस तरह विनष्ट मत होने दो, मुझ में अपना घर बनाओ और इस तरह मुझे विनष्ट होने से बचाओ ।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! मैं (त्वावतः) तेरे जैसे [आत्मीय] के (क्रत्वे) कर्म के लिए (हि) ही, निःसन्देह (अस्मि) हूँ, सदा उद्यत हूं और (शूर) हे शूर ! (त्वावतः) तेरे जैसे (अवितुः) रक्षक के (रातौ) दान में भी हूँ । परन्तु (तविषीवः) हे सेना वाले ! (उग्र) हे उग्र ! ओजस्विन् ! तुम अब (विश्वाइत् अहानि) सब ही दिनों के लिए, हमेशा के लिए मुझ में (ओकः) अपना घर (कृणुष्व) कर लो, बना लो (हरिवः) हे हरियों वाले ! (न मर्धीः) मुझे मरने न दो ।

का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः कदा नूनं ते मघवन् दाशेम।
विश्वा मतीरा ततने त्वाया अधा म इन्द्र शृणवो हवेमा ॥

ऋ० 7.29.3

अपने सूक्तों से, स्तोत्रों से और वेदमंत्रों की स्तुतियों से भी हम तेरी क्या अलंकृति कर सकते हैं, हम तेरी क्या शोभा बढ़ा सकते हैं ? हम तो, हे इन्द्र ! उस समय की प्रतीक्षा में हैं जब हम अपने आप को तुझे समर्पित कर देंगे, तुझे दे देंगे। कब हम, हे मघवन् सचमुच तेरे लिए अपनी भेंट चढ़ा सकेंगे ? वह समय कब आयेगा ? अपने आप को तुझे दे देने के लिए हम आतुर हो रहे हैं। मेरे सम्पूर्ण ज्ञान, मेरे सम्पूर्ण ध्यान, मेरे सम्पूर्ण विचार, मेरे सम्पूर्ण संकल्प तेरी ही कामना के लिए उठ रहे हैं। दिन रात की मेरी सम्पूर्ण मतियाँ अपने पंख फैलाये तेरी ही तरफ उड़ रही हैं। मेरे मन की सम्पूर्ण गतियाँ तेरे ही उद्देश्य से हो रही हैं। मैं अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण से निरन्तर तुझे ही याद कर रहा हूँ। फिर भी, हे इन्द्र ! न जाने क्यों तू मेरी सब पुकारों को अनसुनी कर रहा है मैं दर्शन पाने के लिए, तुझे आत्म-समर्पण कर देने के लिए पुकार रहा हूँ। न जाने कब से पुकार रहा हूँ ? हे इन्द्र ! अब तो तू मेरी इन पुकारों को सुन ले। हे ऐश्वर्य वाले ! मघवन् ! अब तो तू मेरी इन पुकारों को सुनी करदे, सफल कर दे।

(सूक्तैः) स्तुति के सुन्दर वचनों से (ते) तेरी (का) क्या (अरंकृतिः) अलंकृति, शोभा (अस्ति) हो सकती है ? (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (ते) तेरे लिए हम (कदा) कब (नूनम्) सचमुच (दाशेम) अपने आप को दे देंगे ? मैं अपनी (विश्वाः) सम्पूर्ण (मतीः) मतियाँ (त्वाया) तेरी कामना से ही (आततने) विस्तृत कर रहा हूँ, कर रहा हूँ (अधा) अब तो (इन्द्र) हे इन्द्र ! (मे) मेरी (इमा) इन (हवा) पुकारों को (शृणवः) सुन लो।

तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्य, अपि भद्रे सौमनसे स्याम।
स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मे आराच्चिद् द्वेषः सनुत र्युयोतु ॥
ऋ० 6.47.13, ऋ० 10.131.7, यजु० 20.52

हम चाहते हैं कि हम पूजनीय परमेश्वर के प्यारे बनें। हम सदा उन यज्ञिय देव की सुमति में रहें, उनके कल्याणकारक सौमनस में वसें। हमें सदा उसकी श्रेष्ठ मति मिलती रहे, उसकी शुभ प्रसन्नता प्राप्त होती रहे। यह सब सुलभ है यदि हम उसका यजन करते रहें। वही एक मात्र इस संसार में हम मनुष्यों का यजनीय है, यज्ञार्ह है। यजन किया हुआ वही हमारा 'सुत्रामा' है। उस जैसा श्रेष्ठ रक्षक हमारा और कौन हो सकता है? क्योंकि वही है जो अपनी निजी शक्ति रखता है। संसार में अन्य सभी उसी की शक्ति पाकर शक्तिमान् हुए हैं। एक वही है जो कि 'स्ववान्' है परन्तु उस सुत्रामा प्रभु का यजन करना आसान काम नहीं है। उसके यजन में जो सब से बड़ा बाधक है वह हमारा 'द्वेष' है। जरा से भी द्वेष को अपने हृदय में स्थान देकर हम उसका पूजन नहीं कर सकते। जिसके लिये यह पृथ्वीतल सब संसार द्वेषरहित हो गया है, वही इन्द्र प्रभु का यजन कर सकता है। इसलिये वे इन्द्र ही हम पर कृपा करें; हम से द्वेष को सर्वथा हटाकर हमें बिलकुल द्वेषरहित कर देवें। अहा, सर्वथा द्वेष रहित हो जाना, कभी भी कहीं भी द्वेष न रहना, यह कैसी सुन्दर अवस्था है, कैसी आनन्दमय अवस्था है! उस अवस्था में पहुँच कर तो इन्द्र की सुमति हम पर बरसती है और उसके सौमनस में हम स्नान करते हैं।

(वयं) हम (तस्य) उस (यज्ञियस्य) यजनीय देव की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) होयें, और उसकी (भद्रे) कल्याणकारक (सौमनसे) सुमनस्कता, प्रसन्नता में (अपि) भी होयें। (सः) वह (सुत्रामा) श्रेष्ठ रक्षक (स्ववान्) अपनी शक्ति वाला (इन्द्रः) परमेश्वर (अस्मे) हमसे (आरात्) दूर (चित्) ही (द्वेषः) द्वेष को (सनुतः) बिलकुल (युयोतु) हटा देवे।

23 मार्गशीर्ष

त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडो अवयासिसीष्ठाः ।
यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषाँसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् ॥

ऋ० 4.1.4, यजु० 21.3

देवों का अनादर करना बड़ा अनर्थकारी होता है। जब हम प्रकृति के देवों का, उनके नियमों की अवज्ञा कर अनादर करते हैं या मनुष्य देवों (विद्वानों) का उनके उपदेशों की अवहेलना कर अनादर करते हैं, उस समय हम (न जानते हुए भी) पाप बन्धन में गिर जाते हैं। क्योंकि, हे अग्ने ! तुम्हारी पापनिवारक वरुण शक्ति मानो रोषयुक्त होकर उसी समय हमें बांध लेती है ज्यों ही हम इस प्रकार किसी धर्म मर्यादा का उल्लंघन करते हैं, और इस बन्धन से फिर हमें तभी छुटकारा मिलता है जब हम पर्याप्त दु;ख भोग चुकते हैं। इसलिये हे अग्ने ! तुम तो विद्वान् हो, सर्वज्ञ हो, हमारे पाप बन्धन (वरुण) के विषय में सब कुछ जानते हो, तुम्हीं ऐसी कृपा करो कि हम अब इन देवहेडनों (देवों के अनादरों) से दूर रहें, बचे रहें और हम कभी तुम्हारे वरुण के क्रोध के भाजन न हों परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि हमारा द्वेषों से छुटकारा हो चुका हो। हम देवों का अनादर इसलिये करते हैं क्योंकि हम किन्हीं तीव्र रागद्वेषों में फंसे होते हैं। अतः हे अग्ने ! पहिले तो तुम हमें द्वेष क्रोध हिंसा अन्याय आदि के जंजाल से मुक्त करो। तुम से बढ़कर इस संसार में हमारे लिये कोई यजनीय नहीं है, तुम यजनीयतम हो। यदि तुम्हारी दया से हम में यह यज्ञभावना जागृत रहे तब यो हममें द्वेष उत्पन्न ही न हो सकें। पर यदि ये उत्पन्न होयें तो भी हे वह्नितम ! हे सर्वश्रेष्ठ वाहक ! शुभ गुणों को प्राप्त कराने वाली तुम्हारी वाहक शक्ति के कारण ये द्वेष मुझ में ठहर न सकें, स्थिर न हो सकें। और यदि ठहर भी जायें तो हे शोशुचान ! अत्यन्त प्रदीप्त अग्ने ! तुम इन्हें अपने जाज्वल्यमान तेज से भस्म कर दो, राख कर दो। अपने इन उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के त्रिविध रूप द्वारा इस प्रकार तुम हम में से द्वेषों को समाप्त कर दो, हे अग्ने ! हमारा द्वेषों से सर्वथा छुटकारा कर दो।

(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वं) तुम (वरुणस्य) वरुण के, पापनिवारक देव के, उसके पाप बन्धन के विषय में (विद्वान्) पूरी तरह जानते हुए (देवस्य) देव के (हेडः) अनादरों को (नः) हम से (अवयासिसीष्ठाः) दूर करो। तुम (यजिष्ठः) यजनीयतम (वह्नितमः) सब से बड़े वाहक (शोशुचानः) और अत्यन्त प्रदीप्त हो, तुम (अस्मत्) हम से (विश्वा द्वेषांसि) सब द्वेषों को (प्रमुमुग्धि) पूरी तरह छुड़ा दो।

स त्वं नो अग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठो अस्या उषसो व्युष्टौ ।
अवयक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृडीकं सुहवो न एधि ॥
ऋ० 4.1.5, यजु० 21.4

हे अग्ने ! हम तुम्हें पुकार रहे हैं। आज हम तुम्हें अपने पाप बन्धन से छुटकारा पाने के लिए पुकार रहे हैं। तुम अपनी रक्षा के साथ आओ। हमारे रक्षक बनो। तुम बेशक सब प्रकार से 'परम' हो; परन्तु हमारी रक्षा के लिए 'अवम' हो जाओ, नीचे उतर आओ, हमें अपनी निकटता का अनुभव कराओ। हम पतितों की रक्षा के लिए तुम्हारा अवम होना जरूरी है। यह देखो उषा का उदय हो रहा है, एक नये दिन का प्रारम्भ हो रहा है, हमारे लिए नवीन प्रकाश के पाने का समय आ रहा है। इस शुभ प्रभात में तो, हे अग्ने ! तुम हमारे निकटतम हो जाओ, आकर हमें अपनाओ। हम तुम्हें न जाने कब से रिझाने का यत्न कर रहे हैं। त्याग, तप, संयम, नियम आदि तुम्हारे प्रेम के पाने का कोई साधन हमने बाकी नहीं छोड़ा है। आज तो हम यह अपने पवित्र आत्मबलिदान की भेंट हाथ में लेकर तुम्हें पुकार रहे हैं। क्या हमारे इस सुन्दर महान् बलिदान से भी तुम प्रसन्न न होगे ? हमारी इस सुखदायी आत्माहुति को तो, हे अग्ने ! तुम अवश्य स्वीकार करो। अब तो प्रसन्न होओ और रमभाण होते हुए आज तो हमारे इस पापबन्धन को काट गिराओ, और इस प्रकार हमारे इस यजन को सफल कर दो। पुकारते पुकारते बहुत समय हो गया है। अब तो, हे अग्ने ! तुम हमारे लिए सुगमता से बुलाने योग्य हो जाओ, हमारी पुकार पर आ जाने वाले हो जाओ। आओ, हे अग्ने ! आओ, यह आहुति स्वीकार कर हमारा बन्धन छुड़ाओ।

(अग्ने) हे अग्ने ! (सः) वह प्रसिद्ध (त्वं) तुम (नः) हमारे लिए (ऊती) अपने रक्षण के साथ (अवमः) नीचे उतरे हुए, नजदीकी (भव) हो जाओ, (अस्याः) इस (उषसःव्युष्टौ) उषा के उदय काल में, नव प्रकाश प्राप्ति के समय में (नेदिष्ठः) हमारे अत्यन्त निकट हो जाओ। (रराणः) प्रसन्न, रममाण होते हुए (नः) हमारे (वरुणं) वरुण पाश को, पाश बन्धन को (अवयक्ष्व) यजन द्वारा काट दो, नष्ट कर दो, नष्ट कर दो (मृडीकं) [हमारी इस] सुखदायक हवि को (वीहि) स्वीकार करो, (नः) हमारे लिए (सुहवः) सुगमता से, बुलाने योग्य (एधि) हो जाओ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० 10.121.4, यजु० 25.12

क्या तुम पूछते हो कि हम किस देव की उपासना करें ? ये देखो, ये ऊँचे ऊँचे पर्वत, ये हिम से ढके हुए आकाश से बातें करने वाले उन्नतशिखर पर्वत जिसकी महिमा को गा रहे हैं; यह समुद्र, यह दिग् दिगन्त तक फैला हुआ असीम दिखायी देने वाला विस्तृत समुद्र, अपने में आ आकर गिरने वाली नदियों के सहित जिसके ऐश्वर्यों का बखान कर रहा है; और ये दिशायें जिस देव की हैं, ये अनन्त दिशायें जिसके फैले हुए बाहुओं के समान हैं; उस देव को, हे मनुष्यो ! तुम पहिचानो । ये ऊँचे खड़े हुए गगनचुम्बी विशाल पर्वत यदि तुम्हें किसी महान् रचयिता की तरफ इशारा करते हुए दिखाई देते हैं, संसार के ये अपार पारावार अपनी लहरों में उमड़ते हुए यदि तुम्हें किसी अद्‌भुत शक्ति का स्मरण दिलाते हैं, और ये प्रकृष्ट दिशायें जिस की बाहु हैं, ऐसा ध्यान करने पर यदि तुम्हें कोई विराट् पुरुष अनुभवगोचर होता है तथा इन दिशाओं में फैले हुए संसार के देखने पर यदि तुम्हें इस सब का जीवन और प्राण होकर इसमें रमे हुए किसी आत्मा का दर्शन होता है तो वही एक मात्र देव है जो कि हम सब का उपास्य है, आराध्य है । वह 'क' नाम का देव है, वह सुख स्वरूप है । वह प्रजापति है, हम सब के सब उसकी प्रजा हैं । आओ, हम सब प्रजाजन, हम सब पुत्र उस परम देव को नमस्कार करें, अभिमान को त्याग कर उस के चरणों में अपना मस्तक नमायें और अपने तुच्छ सर्वस्व की भी भेंट देकर उस आनन्द स्वरूप का पूजन करें ।

(यस्य) जिसकी (महित्वा) महिमा को (इमे हिमवन्तः) ये बरफीले पहाड़ (आहुः) कह रहे हैं और (यस्य) जिसकी महिमा को (रसया सह) नदियों सहित (समुद्रं) यह समुद्र कह रहा है (इमाः प्रदिशः) ये प्रकृष्ट दिशायें (यस्य) जिसकी हैं, ये दिशायें (यस्य) जिसके (बाहु) के समान हैं (कस्मै) उस सुख स्वरूप (देवाय) प्रजापति देव का हम (हविषा) हवि द्वारा (विधेम) पूजन करें ।

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये ।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ।।

यजु० 36.1

हे प्रभो ! मैं पूर्ण पुरुष बनूँगा । इस प्रयोजन के लिए मैं ऋक् रूप वाग्देव की शरण आऊँगा, यजुरूप मनोदेव की शरण लूँगा और सामरूप प्राणदेव की शरण पकड़ूँगा इस प्रकार अपनी तीनों शक्तियों को प्राप्त कर लूँगा । वाणी की भारी शक्ति को ऋग्वेद द्वारा, सम्पूर्ण ज्ञानकाण्ड द्वारा, सम्पूर्ण श्रवण द्वारा प्राप्त कर लूँगा । सम्पूर्ण यजुर्वेद द्वारा, कर्मकाण्ड द्वारा, मन द्वारा अपनी मनः (दर्शन) शक्ति को समृद्ध कर लूँगा और अपनी प्राण शक्ति को सम्पूर्ण सामवेद, उपासनाकाण्ड और निदिध्यासनों द्वारा प्रदीप्त कर लूँगा । इसी प्रकार चक्षु (विज्ञान) की महान् शक्ति को, श्रोत्र की विस्तृत शक्ति को, अन्य सब इन्द्रियों और अंगों की शक्ति को प्राप्त कर लूँगा । प्रत्येक अंग की शक्ति को इतनी पूर्णता के साथ प्राप्त कर लूँगा कि मुझे उस उस अंग का ओज भी मिल जायगा । 'ओज' वह सर्वोत्कृष्ट शक्ति है या शक्तिका वह सर्वोत्कृष्ट रूप है जिसे आत्मिक तेज समझना चाहिए । जब मैं अपनी वाक् आदि सब इन्द्रियों का या आत्मांगों का ओज प्राप्त कर लूंगा तो सम्पूर्ण आत्मा का 'सह ओज' भी, सम्पूर्ण शरीर का सामूहिक तेज भी, मुझे सहज में ही प्राप्त हो जायेगा । इस औज प्राप्ति से मेरा जीवन परिपूर्ण जीवन हो जायेगा । परिपूर्ण जीवन में 'प्राण' और अपान' की जो दो जीवन क्रियायें ठीक प्रकार से चला करती है, वे मुझ में अपना ठीक काम करती हुई स्थिर रहेंगी । ये आदान और विसर्ग की क्रियायें जब जहां बिगड़ती हैं, तभी वहां जीवन बिगड़ता है और ह्रास होता है अतः मुझमें जब इन प्राणापान क्रियाओं के द्वारा शारीरिक भोजन का आदान तथा शारीरिक दोषों का विसर्ग ठीक प्रकार होता रहेगा एवं मानसिक और आत्मिक भोजन का भी आदान तथा मानसिक और आत्मिक मलों का विसर्ग ठीक प्रकार होता रहेगा, तो उस समय मेरा जीवन (शारीरिक मानसिक और आत्मिक जीवन) जीवन बन जायेगा और हे प्रभो ! मैं तेरा परिपूर्ण पुरुष कहला सकूँगा ।

मैं (ऋचं वाचं) ऋक् रूप वाक् को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ, (मनः यजुः) यजु रूप मन को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ (साम प्राणं) साम रूप प्राण को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ और (चक्षु श्रोत्र) चक्षु श्रोत्र आदि को (प्रपद्ये) प्राप्त करता हूँ । ये (वाक्) वाक्शक्ति आदि (ओजः) वाक् आदि का ओज तथा (सह ओजः) इनका इकट्ठा ओज (प्राणापानौ) एवं प्राण अपान क्रिया, आदान और विसर्ग क्रिया (मयि) मुझ में होयें, ठीक प्रकार होती रहें ।

27 मार्गशीर्ष

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

यजु० 36.2

मैंने जो अपनी ओर दृष्टि फेरी है, अपने को टटोला है तो मैं देखता हूँ कि मुझ में त्रुटियाँ ही त्रुटियाँ हैं, दोषों से भरा हुआ हूँ। जब तक मैंने अपने को नहीं देखा था तब तक मैं भी अन्य दुनियावी लोगों की तरह व्यर्थ में औरों को बुरा भला कहता हुआ सन्तुष्ट फिरता था पर आज आत्मनिरीक्षण करने पर अपनी आँख आदि बाह्यकरणों (इन्द्रियों) की रोग अशक्ति आदि विकलताओं को तथा इनकी प्रसिद्ध सदोषताओं को तो मैं अनुभव करता ही हूँ, किन्तु जब मैं अपने अन्दर अधिक घुसता हूँ और अपने मन के तथा हृदय (बुद्धि) के जख्मों को, गहरे घावों को देखता हूँ तो मैं घबरा जाता हूँ। ओह ! मेरा मन कितना मलिन है, कितना दुर्बल है, मेरी बुद्धि कितनी विकृत है ! अपने इन अन्दर के करणों की इस भयंकर दुर्दशा को, इन भयंकर कमियों को देखकर मैं प्रायः निराश हो जाता हूँ। सोचने लगता हूँ कि मेरी ये कमियाँ कभी ठीक भी हो सकती हैं या नहीं ? इसलिये हे बृहस्पते ! ज्ञानपते ! तुम ही कृपा करो कि मेरी इन न्यूनताओं को, मेरे इन जख्मों को, शीघ्र भर दो। तुम इस बृहत् जगत् के पालक रक्षक हो। तुम मेरी भी रक्षा करो। इस जगत् का, इस भुवन का जो भी कोई पति है, क्या उसने हम को रचकर हमारी रक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं किया है ? नहीं हे बृहस्पते ! भुवनपते ! तुम्हारे ध्यान विचार से मिलने वाले शक्ति-प्रवाह से हमारे असंख्य छिद्र और हमारी भारी से भारी कमियाँ एक बार में ठीक हो सकती हैं। इस लिये हे ज्ञानपते ! तुम अब मेरी सब हीनताओं को पूरा कर दो। मेरे ही लिए नहीं किन्तु हम सब, मनुष्यमात्र के लिए कल्याणकारी होओ। तुम सबके धारण करने वाले हो। सब विगड़ों को बनाने वाले हो। मैं अपने आप में तो सर्वथा अशक्त हूँ, कुछ भी नहीं कर सकता हूँ। तुम्हीं, हे बृहस्पते ! जब मेरी सब त्रुटियों को भर दोगे, मेरी सब न्यूनताओं को पूर दोगे, तभी मैं पूर्ण पुरुष बन सकूँगा।

(मे) मेरे (चक्षुषः) आँख की, बाह्येन्द्रियों की (यत्) जो (छिद्रं) छिद्र, दोष, न्यूनता है, और (हृदयस्य) हृदय का, बुद्धि का (मनसो वा) अथवा मन का जो (अतितृण्णम्) गहरा घाव है (मे) मेरे (तत्, उसे छिद्र, घाव को (बृहस्पतिः) बृहत्, संसार का ज्ञानमय पालक परमेश्वर (दधातु) ठीक कर देवे। (यः) जो (भुवनस्य) जगत् का, (पतिः) स्वामी है वह (नः) हमारे लिए (शं) कल्याणकारी (भवतु) होवे।

मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानां मन्ये त्वा च्यवनं अच्युतानाम् ।
मन्ये त्वा सत्त्वनामिन्द्र केतुं मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम् ।।

ऋक्० 8.96.4

हे इन्द्र ! मैंने तुझे जाना है, पहिचाना है, मैं तुझे यज्ञियों का यज्ञिय करके देख रहा हूँ । इस संसार में जो भी ठीक यज्ञ चल रहे हैं, उन असंख्यातों यज्ञों द्वारा बेशक असंख्यातों देवों का यजन किया जा रहा है, किन्तु वे सब के सब यज्ञ और यज्ञनीय अन्त में जिनका यजन कर रहे हैं, वह एक देवों का देव तू ही है । वह यज्ञ ही नहीं है जिनका कि अन्तिम ध्येय तू नहीं हैं । मैं देखता हूं कि अच्युतों का भी च्यवन तू है । संसार के लोग जिन्हें बहुत ध्रुव और स्थायी समझते हैं, उन्हें तू क्षणभर में च्युत कर सकता है । अपने को अचल समझने वाले बड़े बड़े अभिमानी सम्राटों के सिंहासनों को तू पल मारते में धूलि में मिला देता है, बड़े बड़े स्थिर पहाड़ों को तू एक भूकम्प से पृथ्वी के समतल कर देता है और लाखों वर्षों की उमर वाले सम्पूर्ण ग्रहों को तू कभी एक टक्कर से चकनाचूर कर देता है । तेरी शक्ति की हम जीव लोग कल्पना तक नहीं कर सकते हैं । हम प्राणियों में जो थोड़ी बहुत बल-राशि, सत्त्व दिखाई देता है, उस बल राशि में तू हम से बहुत ऊंचा उठा हुआ है, केतु रूप है । जैसे अपने आदर्श सूचक झंडे को देख कर उसके उपासक उससे नवोत्साह प्राप्त करते हैं, वैसे मैं तुझ उन्नत अनन्त बल को देख कर अपने में महान् शक्ति संचार को प्राप्त करता हूँ । तू हमारा 'सत्त्वों का केतु' है । तू बल (सत्त्व) का आदर्श है, और प्राणि (सत्त्व) या पुरुषत्व तुझ में पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है । इसलिये तू 'पुरुषोत्तम' है, मनुष्यों का 'वृषभ' है । पुरुष हो कर भी तू हम से इतना उत्तम है, इतना ऊंचा उठा हुआ है कि तू ऊपर से हम सब प्राणियों पर इष्ट फलों की वर्षा कर रहा है । संसार में जो असंख्यात प्राणियों की प्रतिक्षण असंख्यातों इच्छाएं पूर्ण हो रही हैं, उन्हें तू ही ऊपर से बरसा रहा है । अज्ञानी लोग समझते हैं कि हमारी इच्छा पूर्ण करने वाला यह पुरुष है या वह पुरुष है, दूसरे लोग समझते हैं कि हमारी इच्छा पूर्ति करने वाला हमारा ज्ञान है, हमारा बल ह या धन है परन्तु हे इन्द्र ! मैं तो अनुभव करता हूँ कि सब मनुष्यों की सब इच्छा पूर्ति करने वाला तू ही है, एक मात्र तू ही है ।

(इन्द्र) हे इन्द्र ! मैं (त्वा) तुझे (यज्ञियानां यज्ञियं) यज्ञार्हों का यज्ञार्ह (मन्ये) मानता हूँ, (त्वा) तुझे (अच्युतानां च्यवनं) च्युत न होने वालों का भी च्यावयिता (मन्ये) मानता हूँ । (त्वा) तुझे (सत्त्वनां) बलशाली प्राणियों में (केतुं) बहुत ऊंचा उठा हुआ, झण्डा (मन्ये) देखता हूँ, और (त्वा) तुझे (चर्षणीनां) मनुष्यों का (वृषभं) सब कामनाओं का देने वाला, बरसाने वाला (मन्ये) अनुभव करता हूँ ।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुधितो गर्भिणीषु ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भि र्हविष्मद्भि र्मनुष्येभिरग्निः ॥

ऋ॰ 3.29.2, साम पू॰ 1.2.8.7

तुम कहते हो कि आत्मा दिखाई नहीं देता । पर यदि तुम इसे देखना चाहते हो तो तुम इस आत्माग्नि को प्रज्वलित क्यों नहीं कर लेते ? अरणि में या दियासलाई में विद्यमान भौतिक अग्नि भी तो तब तक दिखलाई नहीं देता है 'जब तक कि मन्थन (रगड़ने) द्वारा उसे प्रज्वलित नहीं कर दिया जाता । तुम जरा अपने आप रूपी दियासलाई या अरणि से प्रणव (ईश्वर नाम) रूपी (दियासलाई की) डिब्बी या उत्तरारणि पर ध्यान रूपी मन्थन करके देखो, तो तुम देखोगे कि तुम्हारा आत्माग्नि चमक उठेगा, जातवेदा जाग उठेगा । अरे ! योग रूपी अरणि और स्वाध्याय रूपी उत्तरारणि के सम्बन्ध से तो अन्तःकरण में परमात्मा तक प्रकाशित हो जाता है । यह ठीक है कि प्रारम्भ में यह आत्मज्योति एक चिनगारी के रूप में ही प्रकट होती है अतएव इस आत्मज्योति की इस समय इतनी अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये, जैसे कि गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ की रक्षा करती है । पर क्या हम अपने इस ज्ञानगर्भ की कुछ रक्षा करते हैं ? ओह ! हम तो न जानते हुए बड़े भारी गर्भपात के पाप-भागी हो रहे हैं । जैसे माता पिता रूपी अरणियों से प्रकट हुई सन्तान रूपी अग्नि प्रारम्भ में गर्भावस्था में होती है, वैसे ही हम सब मनुष्य शरीर पाने वालों के अन्दर जन्म से आत्मज्योति गर्भित रहती है, जो कि हम में जीव के मनुष्य-योनि सम्बन्ध से उत्पन्न हुई है । पर हम लोग इस गर्भित 'सुधित' ज्योति को पालित पोषित कर बढ़ाने की जगह भोगादि में पड़ कर इसे दबा देते हैं, इस सुरक्षित गर्भ को विनष्ट कर देते हैं । ओह ! हम कितना भारी भ्रूणहत्या का पाप करते हैं ! पुण्यात्मा हैं वे पुरुष जो इस गर्भित आत्मज्योति को बढ़ा कर इस द्वारा अपने आप को जगाते हैं, ज्ञानोपार्जन रूपी समिधाधानों से इस शिशु अग्नि को प्रज्वलित करते हैं और 'जागृवत्' होते हैं तथा जो घृताहुति रूपी आत्मबलिदानों को दे देकर इस अग्नि को प्रचण्ड भी कर लेते हैं, 'हविष्मत' होते हैं । संसार के महात्माओं को देखो, इन्होंने इसी प्रकार अपने मे जातवेदा की चिनगारी को इतना बढ़ाया है कि वे आज सब कुछ भस्म कर सकने वाले महानल हो गये हैं, महाशक्ति, महात्मा हो गये हैं । ये देखो ! जागृवान् हविष्मान् मनुष्य अपनी इस प्रज्वलित आत्माग्नि का प्रति दिन भजन स्तवन कर रहे हैं, इसे और और बढ़ा रहे हैं । इनके अन्दर ये आत्मदेव निरन्तर ज्ञानों और बलिदानों द्वारा पूजित और पोषित हो रहे हैं । उठो मनुष्यो ! तुम भी अपनी आत्माग्नि को बढ़ाओ और जागृत होकर तथा हवि हाथ में लेकर इस आत्माग्नि को नित्य अधिक अधिक प्रदीप्त करते जाओ ।

(जातवेदाः) ज्ञान व ऐश्वर्य वाला अग्नि (अरण्योः) अरणियों में (निहितः) छिपा हुआ होता है और यह वहाँ (गर्भिणीषु गर्भ इव) गर्भिणियों में गर्भ की तरह (सुधितः) अच्छी प्रकार धारित, सुरक्षित होता है (अग्निः) यह अग्नि देव (जागृवद्भि) जागने वाले, ज्ञानयुक्त (हविष्मद्भिः) हवि वाले, आत्मत्यागी (मनुष्येभिः) मनुष्यों द्वारा तो (दिवे दिवे) प्रतिदिन ही (ईड्यः) पूजित व प्रार्थित होता है ।

पौष (धनु) के लिए

प्राणदायक व्यायाम

दोनों पांवों को मिलाकर सीधे खड़े हो जाइये, पाँव के अंगूठे जरा से बाहर की ओर घूमे हुए हों, भुजायें सीधी लटकती रहें, हथेलियाँ बाहर की ओर हों। बाहु और टाँगों की माँस पेशियों को खूब तान लीजिये। अब कूल्हों के ऊपरी भाग द्वारा टाँग की माँस पेशियों को जोर से अपनी तरफ खींचते हुए दायें पैर को भूमि से ऊपर उठाइये। टाँग को घुटने पर जरा भी झुकने न दीजिये और नाही पाँव को इधर उधर हिलने दीजिये, इस माँस पेशियों के खिचाव के द्वारा ही दायीं टाँग इतनी सुकड़ जाये कि यह पैर भूमि से दो तीन इन्च ऊपर जाये। दाहिने पाँव को टेक कर, फिर यही व्यायाम बायें पैर से कीजिये, अर्थात् बाँये पैर को अच्छी तरह तानते हुए ऊपर उठाइये। इस प्रकार कई बार कीजिये। जब पैर ऊपर उठे तो श्वास अन्दर भरिये और जब नीचे जाये तो श्वास बाहर निकालिये। स्मरण रखिये कि शरीर लगातार सीधा रहे और इधर उधर हिले जुले नहीं। इस व्यायाम को करते हुए टाँगों और घुटनों पर अपने मन को केन्द्रित कीजिये।

इस प्रकार ध्यान कीजिए—

"मैं स्फूर्ति और शक्ति से परिपूर्ण हो रहा हूँ। यह व्यायाम मुझे नवीन ओज और जीवन प्रदान कर रहा है।····· "

इन अंगों को गौणतया चैत्र, आषाढ़ और आश्विन के व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँच सकता है।

त्वद् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः।
श्रुष्टी रयि र्वाजो वृत्रतूर्ये दिवोवृष्टिरीड्यो रीतिरपाम्॥

ऋ० 6.13.1

हम कितने मूर्ख हैं कि मूल को न सींचकर पत्तों को पानी दे रहे हैं। हे अग्ने! तुम तो सब सौभगों के कल्पतरु हो। परन्तु हम एक तुम्हारा सेवन न कर अन-गिनतों अपनी इच्छाओं के, इष्ट वस्तुओं के पीछे मारे-मारे फिर रहे हैं। इस संसार में जो भी कुछ विविध प्रकार के सौभाग्य के सामान दृष्टिगोचर हो रहे हैं, जो भी कुछ सुन्दर ऐश्वर्य दीख रहे हैं, वे सब के सब एक तुमसे ही निकले हैं। तुमसे ही सर्वत्र फैले हैं। यह विश्व जिन अनन्तों प्रकार की सुन्दर सम्पत्तियों से भरा पड़ा है, उन सब के मूल में, हे सुभग! तुम ही हो। यदि हम एक तुम्हारी उपासना करें, तो हमारी शेष सब उपास्य वस्तुएँ हमें स्वयमेव मिल जायें, तुम वृक्ष के प्राप्त करने से शेष शाखा डाली पुष्प फल आदि सब कुछ हमें स्वयमेव प्राप्त हो जाय। एक तुम्हारे सुभग सेवन से हमें सब सौभग मिल जायें, केवल इतना ही नहीं, किन्तु ये सौभग, ये सुन्दर ऐश्वर्य हमें ठीक प्रकार से ठीक प्रमाण में मिल जायेंगे। जब हम तेरा सेवन करेंगे तो हमें जब जिस ऐश्वर्य की, जिस क्रम से, जिस मात्रा में आवश्यकता होगी, तभी वह ऐश्वर्य उसी क्रम उसी मात्रा में हमें ठीक-ठीक मिलता जायेगा और बड़ी शीघ्रता से तुरन्त मिलता जायेगा। तेरे भजने वाले को सब भौतिक धन, उसकी पार्थिव (शारीरिक) आवश्यकताओं की पूर्त्ति के सब साधन शीघ्र ही मिल जाते हैं। उसे बल, पाप के नाश के लिए, पाप से लड़ने के लिए, जीवन संघर्ष में विजयी होने के लिए जिस बल तेज सामर्थ्य की आवश्यकता है, वह भी ठीक समय पर मिल जाता है। इसके बाद उसे अन्तरिक्ष लोक की वृष्टि, मानसिक लोक की दुर्लभ महान् संतुष्टि, आनन्द व तृप्ति प्राप्त हो जाती हैं और यह दिव्य वृष्टि ही नहीं, किन्तु इन दिव्य जलों की प्रेरक, इनको गति देने वाली जो स्तुत्य जगद्वन्द्य दिव्य ज्योति है, वह आदित्य ज्योति भी अन्त में उन्हें मिल जाती है। इस प्रकार एक से एक ऊँचे ऐश्वर्य, पार्थिव आन्तरिक्ष और दिव्य (आत्मिक) आदि सम्पूर्ण ऐश्वर्य, एक तेरा ही सेवन करते जाने वाले को पूरी तरह मिल जाते हैं। फिर भी हम मूर्ख न जाने क्यों तेरे ही एक सेवन में नहीं लगते, एक तुझ मूल का आश्रय नहीं पकड़ते।

(अग्ने) हे अग्ने! (सुभग) हे सुन्दर ऐश्वर्य वाले! (त्वत्) तुझसे ही (विश्वा) सब (सौभगानि) सुन्दर ऐश्वर्य (वियन्ति) विविध प्रकार से निकलते हैं, (वनिनः न) जैसे वृक्ष से (वयाः) शाखायें [विविध प्रकार से निकलती हैं]। तुझ वृक्ष का सेवन करने वालों को (श्रुष्टी) शीघ्र ही (रयिः) भौतिक धन (वृत्रतूर्ये वाजः) युद्ध में बल (दिवः वृष्टिः) अन्तरिक्ष की दिव्य वृष्टि तथा (अपां रीतिः) इन जलों को गति देने वाली (ईड्यः) स्तुत्य ज्योति प्राप्त हो जाती है।

क्व स्य ते रुद्र मृडयाकु र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः।
अपभर्त्ता रपसो दैवस्य, अभी नु मा वृषभ चक्षमीथाः॥
ऋ० 2.33.7

मैंने बेशक बहुत अपराध किये हैं। उन्हीं का फल भोगता हुआ मैं आज इतना दुःखी हूँ, आर्त हूँ, रोगग्रस्त हूँ। परन्तु हे रुद्र! मैं जानता हूँ कि तुम जहाँ ताड़ना करते हो, वहाँ प्रेम भी करते हो। तुम रुद्र हो, तो वृषभ भी हो। तुम कभी तुरन्त दण्ड देते हो, तो कभी सहन (क्षमा) भी करते हो। तुम्हारा कठोर हाथ जहाँ हमें ताड़ना करता है, वहाँ तुम्हारा करुण हस्त कभी हमें प्रेम भी दिखलाता है। मैं आज तुम्हारे उस भयदायक हस्त का तो अच्छी तरह अनुभव करता हूँ जो कि उग्ररूप होकर हमारा दण्डविधान करता है परन्तु मैं जानता हूँ कि तुम्हारा वह दूसरा 'मृडयाकु' सुखदायक हस्त भी है जो कि कल्याण रूप होकर हमें शान्ति और सान्त्वना प्रदान करता है। मैंने अवश्य देवों के प्रति अक्षम्य पाप किये हैं, किन्तु मैं दुःख भी बहुत भोग चुका हूँ। अब तो मैं दुर्बल अधिक ताड़ना को नहीं सह सकता, इसलिये, हे कामनाओं के पूरा करने वाले! हे सुखवर्षक! तुम्हीं मुझे सहन करो, क्षमा करो। मेरा यह सच्चा पश्चात्ताप मुझे अब पाप में पड़ने से बचायेगा। इन असह्य पीड़ाओं ने मुझे पाप की दुःखरूपता अनुभव करा दी है इसलिये मैं अब सहनीय हूँ, तुम्हारी क्षमा का पात्र हूं। इस समय तो तुम मुझे अपने उस दूसरे करुणा हस्त का ही अनुभव कराओ। तुम सच्चे वैद्य हो, तुम ही पूर्ण चिकित्सक हो। आः! तुम्हारा वह सुखदायक हस्त कहाँ है जो कि औषधमय है, जो कि आनन्दजनक है? तुम्हारा वह 'मृडयाकु' हस्त कहाँ है जो कि मेरे इस दैव्य पाप को शमन कर देगा, जो कि मेरे इस पाप रोग को दूर कर देगा? मुझे तो अब अपने इसी हस्त का संस्पर्श कराओ। हे वृषभ! मुझे अब क्षमा करो और अपने इसी सुखहस्त का अनुभव कराओ।

(रुद्र) हे रुद्र! दुःख रोग नाशक! (ते) तेरा (स्यः) वह (मृडयाकुः) सुखदायक (हस्तः) हाथ (क्व) कहाँ है, (यः) जो कि (भेषजः) औषधमय और (जलाषः) आनन्दजनक (अस्ति) है, जो (दैवस्य) देव सम्बन्धी (रपसः) पाप का, रोग का (अपभर्ता) दूर करने वाला है? (वृषभ) हे सुखवर्षक! तू (नु) अब तो (मा) मुझे (अभिचक्षमीथाः) क्षमा कर, सहन कर।

यो मर्त्येष्वमृत ऋतावा देवो देवेष्वरतिर्निधायि ।
होता यजिष्ठो मह्ना शुचध्यै हव्यैरग्निर्मनुष ईरयध्यै ॥ ऋक् 4.2.1

यह आत्माग्नि हम में और किस लिए रखा हुआ है ? मिट्टी हो जाने वाले हम मर्त्यों में जो यह कभी न मरने वाला एक अमृत तत्त्व, सच्चा, सत्यरूप, 'आत्मा' कहलाने वाला एक तत्त्व निहित है, इन इन्द्रिय आदि देवों के बीच में जो यह एक देव, इन सब देवों में असंग रूप से गया हुआ एक अमर देव रखा हुआ है, यह और किस प्रयोजन के लिए है ? निस्संदेह यह इसलिए है कि यह हम में बढ़े, प्रदीप्त होवे, अपनी महिमा द्वारा विविध प्रकार से प्रदीप्त होवे । यह जीवन इसीलिए है कि इस द्वारा आत्मा अपने आप को विकसित कर सके । यह संसार इसीलिए है कि इसमें आत्माग्नि अपना अधिक से अधिक प्रकाश कर सके; अपनी महान् महिमा द्वारा, अद्भुत सामर्थ्य द्वारा, अपने दिव्य ऐश्वर्यों द्वारा अपने आप को अधिक से अधिक प्रकाशित कर सके । इसीलिए यह आत्मा 'होता' बना है, दान आदान करने वाला हुआ है । आत्मा के लिए हम जो कुछ बलिदान करते हैं, उस से हजारों गुणा आदान उसके विविध ऐश्वर्यों के रूप में हमें प्राप्त होता है । इसलिए यह आत्मा ही यजिष्ठ, सर्वश्रेष्ठ यजनीय है । इसका ही यजन कर के हमें आत्मिक सामर्थ्यों और आत्मिक ऐश्वर्यों में अपने को प्रदीप्त करना चाहिए किन्तु आत्मा से यह अद्भुत सामर्थ्यों, दिव्य ऐश्वर्यों का आदान तभी हो सकता है जब कि हम आत्मा के लिए दान, आत्म-बलिदान करते रहें । ओः यह दिव्य अग्नि तो मनुष्य को आत्मबलिदान के लिए निरन्तर प्रेरित भी कर रहा है । यह बाह्य अग्निहोत्र का अग्नि यदि हमें कुछ प्रिय लगता है, यदि इसके प्रति हमें कुछ आकर्षण होता है, तो इससे सहस्रों गुणा प्रिय और आकर्षक यह अपना अन्दर का आत्माग्नि है ? यह प्यारा आत्मा जब दीख जाता है, तब तो मनुष्य पृथ्वी भर को स्वाहा करके भी इसके प्रेम को पाना चाहता है । इसकी ज्योति इतनी प्यारी है कि उसके दर्शन मात्र से मनुष्य शेष सब अनात्म-संसार को एकदम बलिदान कर देने के लिए उत्कंठित हो जाता है । इसलिए भाइयो ! ज़रा देखो ! अन्दर देखो ! तुम में प्रदीप्त होने की ही प्रतीक्षा में यह तुम्हारा आत्माग्नि निहित है, क्या तुम इसे प्रदीप्त नहीं करोगे ? यह अमृत तुम्हें निरन्तर बलिदान (यजन) के लिए प्रेरित कर रहा है, क्या तुम उसकी बात नहीं सुनोगे ?

(यः) जो (मर्त्येषु) मरणशील मनुष्यों में (अमृतः) कभी न मरने वाला (ऋतावा) सत्यरूप होकर और (देवेषु) इन्द्रियादि देवों के बीच में (अरतिः देवः) उन में असंगरूप से गया हुआ एक देव होकर (निधायि) निहित है । वह (होता) दान आदान करने वाला (यजिष्ठः) सर्वश्रेष्ठ यजनी (अग्निः) आत्माग्नि हम में (मह्ना) अपनी महिमा द्वारा (शुचध्यै) प्रदीप्त होने के लिए ही [निहित है] और (मनुषः) मनुष्य को (हव्यैः) आत्म-हवनों से [यजन की] (ईरयध्यै) प्रेरणा करने के लिये ही निहित है ।

नाहमतो निरया दुर्गहैतत्, तिरश्चिता पार्श्वान्निर्गमाणि ।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छयै ।।

ऋक्० 4.18.2

इस दुनियावी पगडंडियों वाले रास्ते से मैं नहीं चलूँगा, जिससे संसार चलता है । मैं तो सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचूँगा । मैं मामूली मनुष्य नहीं हूँ, मैं श्रेष्ठ देव हूँ । मैं भोग भोगने आया हुआ पृथिवी पर रेंगने वाला कोई संसारी कीड़ा नहीं हूँ, मैं पर-ब्रह्म की तरफ़ वेग से उड़ने वाला अदम्य आत्मा हूँ, सांसारिक सुखों के पीछे फिरना और वहाँ नाना दुःख भोगना—इस रास्ते को मैं नहीं पकड़ूँगा । मेरे लिए यह बड़ा दुःखप्रद है । इस संसार रूपी बड़े भारी गर्भ में अन्य संसारियों की तरह पड़ने के लिए मैं अपरिमित समय तक पड़ा नहीं रह सकता, मैं तो अभी इस संसार बन्धन से बाहर निकलूँगा, मुक्त होऊँगा । मैं सांसारिक सुखों की दुःखरूपता को जानता हूँ । मैं ज्ञानी हुआ हूँ, मैं अब इनमें नीचे नहीं उतरूँगा । मैं तो सीधा चलूँगा, सामने के पार्श्व को तोड़ कर, दीवार को फोड़ कर सीधा बाहर निकलूँगा । तुम मुझे बेशक चले रास्ते से ही चलने को कहते रहो, पर मैं तो धारा को चीर कर, पहाड़ को लांघ कर सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचूँगा । तुम कहते हो कि यह असम्भव है, पर मैं कहता हूँ कि मैंने तो अभी बहुत से ऐसे कार्य करने हैं जो कि दुनिया के लिए नये हैं । मैं आश्रम क्रम से न चल कर अभी सीधा संन्यासी बनूँगा । इस संसार में पूर्ण ब्रह्मचारी होना असम्भव समझा जाता है, पर मैं पूर्ण रूप में ब्रह्मचारी बनूँगा । अपने से राग, द्वेष को बिलकुल निकाल देना बेशक समुद्र को सुखा देना है, पर मैं इस प्रकार राग-द्वेष से सर्वथा रहित भी होऊँगा । तुम बेशक मुझे संसार के बनाये रास्तों से ही चलने की ओर धीमे-धीमे चलने को कहते हो, पर मैं तो सब संसार से उलटा चलूँगा । मैं संसार भर से लड़ूँगा । हाँ, जहाँ मैं इस सब संसार से लड़ूँगा, वहाँ प्रभु के सामने झुकूँगा । जहाँ एक तरफ इस मत्त संसार से लड़ाई ठानूँगा, पग पग पर भिड़ूँगा; वहाँ दूसरी तरफ़ अपने परम गुरु से नम्र भाव से पूछूँगा, शिष्य भाव से उपदेश प्राप्त करूँगा । एवं उस प्रभु की तरफ वेग से आकर्षित होता हुआ और प्रभु के उस प्रबल आकर्षण में मार्ग की सब विघ्न बाधाओं को विनष्ट करता हुआ मैं अभी इस संसार-कारागार से बाहर निकलूँगा, मोक्ष प्राप्त करूँगा ।

(अहं) मैं (अतः) इस संसारी रास्ते से (न निरयाः) नहीं निकलूँगा । (एतत् दुर्गहा) यह मेरे लिये कठिन है, दुर्ग्रह है । मैं तो (तिरश्चिता) सीधे मार्ग से (पार्श्वात्) सामने के पार्श्व से ही (निर्गमाणि) भेदन करके निकल जाऊँगा । मैंने तो (बहूनि) बहुत से (अकृता) अभी तक किसी से न किये गये कर्मों को (कर्त्वानि) करना है । (त्वेन) एक से मैं (युध्यै) लड़ूँगा, जब कि (त्वेन) एक से, दूस से (संपृच्छयै) मैं पूछूँगा, नम्र होकर उपदेश प्राप्त करूँगा ।

त्वं महीमवनिं विश्वधेनां तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।
अरमयो नमसैजदर्णः सुतरणाँ अकृणोः इन्द्र सिन्धून् ॥ ऋ० 4.19.6

हे इन्द्र ! तू उसकी सहायता करता है जो अपनी सहायता अपने आप करता है इसलिए जो मनुष्य स्वयमेव अपनी विघ्न बाधाओं को हटाने वाला, अपने मार्ग के शत्रुओं का विनाश करने वाला 'तुर्वीति' होता है, उसके लिए तू मार्ग साफ कर देता है परन्तु ऐसा मनुष्य दूसरों से प्राप्तव्य वाञ्छनीय 'वय्य' भी अवश्य होता है, तेरा भक्त कभी केवल विनाश करने वाला घोर नहीं होता है किन्तु दूसरों का सहारा सौम्य भी अवश्य होता है। जो तेरा सच्चा भक्त है वह जहाँ मार्ग के राक्षसों, असुरों का संहार करने वाला होता है, वहाँ वह जनता की सेवा करने वाला, उनका आश्रय, प्रेमभाजन भी अवश्य होता है। ऐसे अपने सच्चे उत्कृष्ट भक्त के लिए, हे इन्द्र ! तू कुछ उठा नहीं रखता है। इस 'तुर्वीति' और 'वय्य' पुरुष के लिए तू इस महान् पृथ्वी को अभीष्ट फल दुहने वाली एक बड़ी गौ बना देता है और बड़े से बड़े समुद्रों को 'सुतरण' कर देता है। उसके मार्ग में चाहे स्थल आये या जल, तू किसी वस्तु को बाधक नहीं रहने देता। जब मनुष्य 'तुर्वीति' और 'वय्य' होकर तुझे पाने निकलता है, तेरे पन्थ का पथिक बनता है तो उसके राह में खड़ी हुई बड़ी से बड़ी पार्थिव बाधाओं को तू बाधायें नहीं होने देता, किन्तु अपनी कृपा से उन्हें सब कुछ देने वाली, अपेक्षित आवश्यकताओं को पूरा करने वाली विविध सहायताओं के रूप में बदल देता है। उसके मार्ग में पड़ने वाले बड़े से बड़े तूफानी समुद्रों को भी तू अपने 'नमः' द्वारा शान्त कर देता है मानो क्रुद्ध से क्रुद्ध उत्तेजित समुद्रों को अपने 'नमः' नामक सब को नमाने वाले शान्ति-वज्र द्वारा तू शान्त, रममाण, प्रसन्न कर देता है और तब उनके जल उस भक्त को डुबा देने की जगह उसे पार तराने में सहायक हो जाते हैं। यह सब, हे इन्द्र ! तेरी महिमा है, तेरी अपने भक्तों के प्रति करुणा है। नहीं, मैं कहूंगा कि यह सब 'तुर्वीति' और 'वय्य' होने का सामर्थ्य है, तेरे ऐसे उत्कृष्ट भक्त बनने का माहात्म्य है।

निःसंदेह, हे इन्द्र ! तुम हमें भी विपत्तिओं के भारी से भारी पहाड़ों को लंघा दोगे, भयंकर से भयंकर समुद्रों को तरा दोगे, बस केवल हमारे 'तुर्वीति वय्य' बनने की देरी है, बस तुम्हारे ऐसे पूरे भक्त बनने की देरी है।

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वं) तू (तुर्वीतये) शत्रुओं का नाश करने वाले के लिए (वय्याय) और दूसरों से प्राप्तव्य, वांछनीय भक्त पुरुष के लिए (महीं अवनीं) इस महती पृथ्वी को (विश्वधेनां) सब कुछ देने वाली, सब प्रकार से प्रीणन करने वाली और (क्षरन्तीं) अभीष्ट फलों को प्राप्त कराने वाली, उनसे पूरित करने वाली [बना देता है] तथा (एजत्) बहुत उछलते हुए, तूफानी (अर्णः) समुद्रजल को (नमसा) अपने नमः द्वारा, वज्र द्वारा (अरमयः) रममाण, शान्त कर देता है, एवं (सिन्धून्) समुद्रों को (सुतरणान्) सुगमता से तरने योग्य (अकृणोः) कर देता है।

प्र ते पूर्वाणि करणानि विप्र, आविद्वाँ आह विदुषे करांसि ।
यथा यथा वृष्ण्यानि स्वगूर्त्ता अपांसि राजन् नर्य्याविवेषीः ॥

ऋक् 4.19.10

हे इन्द्र ! तुम हमारे कर्मों में भी बसते हो परन्तु तुम्हारा निवास हमारे उन्हीं श्रेष्ठ कर्मों में होता है जो कि स्वयं हमारे अन्दर से निकले 'स्वगूर्त्त' होते हैं, जो कि सब नरों के हितकारी 'नर्य' होते हैं और जो कि बलकारक (शक्ति बढ़ाने वाले) 'वृष्ण्य' कर्म होते हैं । यों कहना चाहिए कि तुम्हारे निवास के कारण ही हमारे कर्मों में यह श्रेष्ठता और शक्ति उत्पन्न होती है । धन्य हैं वे पुरुष जिनके कर्मों में तुम इस प्रकार व्यापते हो, आविष्ट होते हो । हे राजन् ! ज्यों-ज्यों तुम किसी मनुष्य के कर्मों में इस प्रकार विराजने लगते हो, त्यों-त्यों उसका कर्म-सामर्थ्य बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके कर्म का प्रभाव अधिक अधिक क्षेत्र को घेरता जाता है । अन्त में उसका मानसिक कर्म, उसका ज्ञान अत्यन्त व्यापक और तेजस्वी हो जाता है, उसके ज्ञान-कर्म में भी तुम्हारा निवास हो जाता है अतः वही मनुष्य होता है जो कि ठीक ठीक कर्त्तव्य कर्मों को जान सकता है और दूसरों को बतला सकता है । क्योंकि तब वह हे विप्र ! तुम्हारे पूर्व कारणों का भी पूरा जानने वाला 'आविद्वान्' हो जाता है। तुम्हारा जो इस संसार में सनातन कर्म चल रहा है और वह जिन सनातन शुद्ध साधनों, करणों, से चल रहा है उसे वह साक्षात् जानने लगता है । अतः वही बता सकता है, कि अमुक समय में कर्त्तव्य कर्म क्या है, वही दूसरों का पथप्रदर्शक हो सकता है, वही सच्चे ज्ञान का उपदेष्टा हो सकता है वही है जो सच्चे अर्थों में भविष्यद् वाणी कर सकता है, तेरे सनातन करणों के जानने के कारण बता सकता है कि तेरी सृष्टि में अब तेरा क्या कर्म होने वाला है । निःसन्देह ये बातें आम लोगों से करने की नहीं होती । 'आविद्वान्' की इन बातों को विद्वान् ही समझ सकता है । विद्वान् पुरुष ही परस्पर, हे सर्वज्ञ ! तेरे इन करणों व करणीयों की कथा चर्चा किया करते हैं । पर यह तो ठीक है कि ज्ञान की यह उच्च अवस्था उन्हीं पुरुषों को प्राप्त होती है जिन के कर्मों में तुम्हारा निवास हो जाता है । जितना जितना किसी के कर्म तुम से व्याप्त होने लगते हैं, उतना उतना ही उसमें सच्चा ज्ञान प्रकट होने लगता है. इसलिए, हे मनुष्यो ! देखो ज्ञान के साथ कर्म के इस सम्बन्ध को देखो, अपने कर्मों को बिना विशुद्ध किए कोई मनुष्य ज्ञानोपदेष्टा नहीं बन सकता, अपने कर्मों में बिना प्रभु को बसाये कोई मनुष्य प्रभु की बात करने का अधिकारी नहीं हो सकता ।

(राजन्) वे सच्चे राजा (यथा यथा) ज्यों ज्यों तू (वृष्ण्यानि) बलकारक (स्वगूर्त्ता) स्वयं अन्दर से निकले (नर्या) मनुष्यों के हितकारी (अपांसि) कर्मों को (अविवेषीः) व्याप्त करता है, त्यों त्यों (विप्र) हे सर्वज्ञानमय ! (ते) तेरे (पूर्वाणि करणानि) सनातन कर्मों, कर्म साधनों को (आविद्वान्) प्रत्यक्ष समझने वाला ज्ञानी (करांसि) कार्यों को, कर्तव्यकर्मों को (विदुषे) समझने वाले ज्ञानी के लिए (प्र आह) अधिक अधिक प्रकर्ष से कह सकता है, कहता है, कथा चर्चा करता है ।

नू ष्टुत इन्द्र नू गृणानः इषं जरित्रे नद्यो न पीपेः ।
अकारि ते हरिवो ब्रह्म नव्यं धियो स्याम रथ्यः सदासाः ।।
ऋ० 4.16,17.21, 19,20,21,22,23,24.11

हे परमेश्वर ! तू सदा सब सन्तों द्वारा स्तुति किया गया है । मैं भी आज तेरी ही स्तुति कर रहा हूँ । स्तूयमान होता हुआ तू अब तो मुझ स्तोता की भी इच्छाओं को पूर्ण करदे । मुझे वह 'इष' प्रदान कर दे जिसका मैं भूखा हूँ । इस अन्न से तू मुझे छका दे । जैसे कि नदियाँ जल से भरपूर होती हैं, वैसे तू मुझे मेरे 'इष' से भरपूर कर दे । मैं तो तेरे दर्शन का भूखा हूँ । अपना यह दर्शन देकर हे इन्द्र ! तू मुझे पूरी तरह परितृप्त कर दे । मैंने आज तेरा नया अनुभव किया है, तेरे एक नये स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया है और मैंने तेरे इसी स्वरूप के खूब गुण गाये हैं । हे हरिवन् ! तू अब अपने इस रूप के दर्शन देकर मुझे पूरी तरह तृप्त कर दे । हे हरिओं वाले ! मैं देखता हूँ कि तू अपने इस संसार रूपी रथ को अपनी ज्ञान क्रिया और बलक्रिया के हरिओं (घोड़ों) से संचालित कर रहा है । तेरे इस स्वरूप को देखकर मैं अब और कुछ नहीं चाहता, इतना ही चाहता हूँ कि मैं तेरे इस रथ के योग्य हो जाऊँ, 'रथ्य' हो जाऊँ । इस तेरे संसार में बसने योग्य हो जाऊँ, सच्चा मनुष्य बन जाऊँ, तेरा मनुष्य बन जाऊँ । अब मैं तेरा मनुष्य बन कर ही इस संसार में रहना चाहता हूँ । तेरे हरिवान् रूप को देखकर अब मैं चाहता हूँ कि अपनी बुद्धि से, अपने कर्म से तेरा रथ्य हो जाऊँ और सदा तेरा संभजन करने वाला हो जाऊँ । तेरा रथ्य होने वाले के लिए यह आवश्यक है कि मैं सदा तेरा संभजन किया करूँ । इसलिए हे इन्द्र ! अब तू ऐसी कृपा कर कि मैं अपनी प्रत्येक बुद्धि से, अपने प्रत्येक कर्म से सदा रथ्य बना रहूँ और सदा तेरा संभजन करने वाला बना रहूँ ।

(इन्द्र) हे इन्द्र (नु) निःसन्देह तू (स्तुतः) स्तुति किया गया है, (नु) अब भी तू (गृणानः) मुझ से स्तूयमान होता हुआ (जरित्रे) मुझ स्तोता के लिए (इषं) इष्ट वस्तु को, अन्न को (नद्यः न) नदियों की तरह (पीपेः) भरपूर कर दे । (हरिवः) हे हरिओं वाले (ते) तेरा (नव्यं) नया (ब्रह्म) अनुभव, ज्ञान (अकारि) मैंने किया है, मैं (धिया) बुद्धि और कर्म से (रथ्यः) तेरे रथ के योग्य और (सदासः) तेरा सदा संभजन करने वाला (स्याम) होऊँ ।

8 पौष

एवा वस्व इन्द्रः सत्यः सम्राट्, हन्ता वृत्रं वरिवः पूरवे कः ।
पुरुष्टुत क्रत्वा नः शग्धि रायः, भक्षीय तेऽवसो दैव्यस्य ।।

ऋ० 4 21.10

परमेश्वर ही सच्चे सम्राट् हैं। इस संसार में मेरे लिए और कोई सम्राट् नहीं है। दुनियाँ के सम्राट् कहे जाने वाले मनुष्य झूठे सम्राट् हैं, बिलकुल अनीश्वर अशक्त तुच्छ प्राणी हैं, यह मुझे पग-पग पर अनुभव होता है। इन मनुष्य-सम्राटों की हैसियत तो उन इन्द्र के मुकाबले में खिलौने के सम्राट् से अधिक नहीं है। इन्द्र जब चाहते है, तब क्षण में इन 'सम्राटों' को ऊपर मे उठा कर नीचे रख देते हैं, इस लोक से उठा कर परलोक में कर देते हैं। इस विश्व में जो भी कुछ वसु जहाँ भी कहीं दिखाई देता है, उसके अधीश्वर तो ये इन्द्र ही हैं। इन ऐश्वर्यो का स्वामी मैंने कभी किसी और को नहीं समझा है। ऐसे जगत् के अधीश्वर होते हुए ये इन्द्र मनुष्य का सेवन कर रहे हैं, प्रत्येक मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। मनुष्य के वृत्रों, शत्रुओं का हनन करते हुए और उन्हें नाना विध ऐश्वर्य देते हुए उन की सेवा कर रहे हैं। सचमुच असली सम्राट सेवा करने वाला ही होता है। प्रजाजनों की उन्नति की सब विघ्न-बाधाओं को (वृत्रों को) हटाना तथा उनमें शारीरिक मानसिक और आत्मिक ऐश्वर्यों को विकसित करना, यही सम्राट का कर्त्तव्य होता है। हे सच्चे सम्राट ! हे सब से स्तुति किये गए प्रभो ! मैं तुझ से क्या माँगू ? मैं जिन ऐश्वर्यों के योग्य हूँ, उन्हें तुम मुझे दे ही रहे हो। मुझे तो तुम शक्ति प्रदान करो कि मैं तुम्हारे इन ऐश्वर्यों को पाने और रखने में समर्थ हो सकूँ। मेरे 'क्रतु' को, मेरे कर्म व प्रज्ञा को तुम ऐसा बनाओ, ऐसा बलवान् और शुद्ध बनाओ कि इन द्वारा मैं तेरे ऐश्वर्यों को पाने का पात्र बन जाऊँ। मैं ऐसा पात्र हो जाऊँगा तो मैं तेरे दैव रक्षणों का भी भागी हो जाऊँगा। ये दुनियावी बादशाह मेरी रक्षा करते हैं या मुझे मारते हैं, इसकी मुझे कुछ भी परवाह नहीं होती। उनके मानुष रक्षणों के पाने की मुझे तनिक भी चिन्ता नहीं रहती। मैं तो तेरे दैव रक्षणों को पाना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि तेरी दिव्य रक्षा मुझे मिलेगी तो दुनियाँ में मेरा कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकेगा। इसलिये हे सच्चे सम्राट ! मैं तो एक तेरे ही साम्राज्य के नीचे रहना चाहता हूँ और केवल तेरे ही दिव्य रक्षण को पाना चाहता हूँ।

(इन्द्रः) परमेश्वर (एव) ही (वःस्व) ऐश्वर्य का (सत्यः सम्राट्) सच्चा सम्राट् है, (वृत्रं) शत्रु को, बाधा को (हन्ता) विनाश करने वाला वह (पूरवे) मनुष्य के लिए (वरिवः) सेवन को या ऐश्वर्य को (कः) करता है। (पुरु स्तुत) हे बहुतों से स्तुति किये गये तू (नः) हमें (क्रत्वा) कर्म व प्रज्ञा से (रायः) ऐश्वर्य को [पाने के लिए] (शग्धि) समर्थ बना, मैं (ते) तेरे (दैव्यस्य अवसः) दिव्य रक्षण को (भक्षीय) भोगूँ, प्राप्त करूँ।

तस्मा अग्नि भारतः शर्म यंसत् ज्योक् पश्यात् सूर्यमुच्चरन्तम् ।
यो इन्द्राय सुनुवामेत्याह नरे नर्याय नृतमाय नृणाम् ॥

ऋ० 4.25.4

'आओ हम इन्द्र का यजन करेंगे' इस प्रकार जो मनुष्य कहता है, जो स्वयं इन्द्र का यजन करता है और दूसरों को यज्ञ करने की प्रेरणा करता है, जो यह यज्ञ करता है और करवाता है, वह मनुष्य निःसन्देह महापुरुष होता है, वह सच्चा ब्राह्मण होता है, मनुष्य समाज का सच्चा नेता होता है। वह आदर्श पुरुष बनता है। ओह ! वह इन्द्र जो कि असली नर है, असली पुरुष है, जो कि हम नरों का एकमात्र हितकारी है और जो कि हम नरों में 'नृतम' है, हम पुरुषों में पुरुषोत्तम है, उस इन्द्र का यदि नर लोग यजन नहीं करेंगे तो और किसका यजन करेंगे ? उस नेता 'नर' इन्द्र का जिसके हाथ में इस विशाल ब्रह्माण्ड की बागडोर है, जो कि इस सकल चराचर सृष्टि का संचालक है, उस 'नर' का यजन करना मनुष्य 'नर' की उन्नति के लिए आवश्यक है। इस इन्द्र 'नर' का यजन किये विना मनुष्य अपने मनुष्यत्व की पूर्णता को कभी नहीं प्राप्त कर सकता, पूर्ण नर नहीं हो सकता इसलिये वे ही महिमाशाली पुरुष अपने पुरुषार्थ को प्राप्त कर रहे हैं जो कि इन्द्र का यज्ञ कर रहे हैं और करवा रहे हैं।

ऐसे ही इन्द्रयाजी पुरुषों को 'भारत अग्नि' अपने शरण में लेता है, अपना आश्रय, अपना सुख प्रदान करता है। 'भारत अग्नि' वह अग्नि है जो कि हमारा भरण करता है, जो कि हमारे शरीर का और संसार-शरीर का भरण (धारण, पोषण) करता है। यह प्राणाग्नि है, इसी अग्नि में इन्द्र के लिए यज्ञ किया जाता है। इसमें जब हम इन्द्र के लिए अपने सब भोग्यजगत् रूपी सोम का और भोगेच्छा रूपी सोमरस का हवन करते हैं तो हम में यह प्राणाग्नि खूब प्रदीप्त होता है और प्राणरूप सूर्य 'इन्द्र' के द्वारा हमारी सोमाहुति को इन्द्र परमेश्वर तक पहुँचाता है। एवं प्रदीप्त हुआ यह 'भारत अग्नि' हमारा भरण करता है, हमारा पूरा धारण पोषण करता है। हमें अपना महान् आश्रय, महान् रक्षण, महान् आनन्द प्रदान करता हुआ हमारा पूरी तरह धारण और पोषण करता है। हम में 'भारत' प्राण भरपूर होता है और इस प्राण के साथ हमारा सम्पूर्ण मनुष्यत्व विकसित होता है।

(नरे) असली नर (नर्याय) नरों के हितकारी और (नृणां नृतमाय) नरों में नरोत्तम (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (यः) जो पुरुष (सुनुवाम इति) 'आओ, हम उसका यजन करें' ऐसा (आह) कहता है (तस्मै) उसके लिए (भारतः अग्निः) भरण करने वाला प्राणाग्नि (शर्म) अपनी शरणों, सुख को (यंसत) देता है, वह (ज्योक्) चिरकाल तक (उच्चरन्तं) उदय होते हुए (सूर्यं) सूर्य को (पश्यात) देखता है।

10 पौष

अयं होता प्रथमः पश्यतेमं, इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तो, अमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥

ऋ० 6.9.4

हे मनुष्यो ! अपनी आत्मा को देखो। यह अभौतिक अग्नि है, न मरने वाला चेतन अग्नि है। यह पहिले से विद्यमान 'होता' है, दान आदान करने वाला है। भौतिक अग्नि का हवन तो हम अब पीछे से जन्म पाकर करते हैं, पर यह आत्माग्नि का हवन अनादि काल से चल रहा है। हमें जो कुछ ज्ञान बल ऐश्वर्य का आदान मिल रहा है, यह इसी आत्माग्नि के हवन से मिल रहा है। इनका देने वाला बाहर और कोई नहीं है, अन्दर का होता हमारा यह आत्मा ही है। हे मनुष्यो ! तुम उसे देखो। उस असली अपने आपको देखो जो कभी न मरने वाला है। हमारे मरने पर जब और सब कुछ राख हो जाता है, तब भी जो रहता है, वह यही हमारी अमर आत्म-ज्योति है। मरने पर यह केवल अप्रकट हो जाता है, संसार की दृष्टि में छिप जाता है, किन्तु फिर जन्म होने पर यह ध्रुव स्थिर नित्य आत्मा, पहिले से स्थिरतया बैठा हुआ ही आत्मा पुनः प्रादुर्भूत हो जाता है, जनित हो जाता है। जैसे काष्ठ में पहिले से स्थित भौतिक अग्नि संघर्षण आदि से प्रदीप्त हो जाता है, जैसे पहिले से विद्यमान जाठर अग्नि समय आने पर भूख के रूप में प्रकट हो जाता है, वैसे ही यह 'ध्रुव आनिषत्त' आत्माग्नि उत्पत्तिकाल में केवल पुनर्जनित हो जाता है। यह तब पैदा नहीं होता है किन्तु प्रकट होता है। इसीलिए, यद्यपि यह कभी न घटने बढ़ने वाला अमर्त्य है तो भी यह पुनर्जनित होकर अपने तनू द्वारा, अपने शरीरों आदि बाह्य प्रकाश द्वारा बढ़ता है। तनू और कुछ नहीं है, यह केवल आत्मा का विस्तार है। स्थूल शरीर द्वारा ही नहीं किन्तु इससे बहुत अधिक अपने मनोमय व विज्ञानमय आदि आन्तर शरीरों द्वारा यह आत्माग्नि बढ़ता है, नानारूप से बढ़ता है। यह अपनी मन व बुद्धि की वृत्ति द्वारा तो इतना विस्तृत हो जाता है कि सब संसार को व्याप्त कर लेता है।

हे मनुष्यो ! तुम इस आत्माग्नि को क्यों नहीं देखते ? तुम अपने न जाने किन-किन मर्त्य रूपों को दिनरात देखते हो, पर इस अमृत असली अपने आपको क्यों नहीं देखते ? तुम जरा उसे देखो तो अमर हो जाओ, अभी अमर हो जाओ।

(अयं) यह आत्माग्नि (प्रथमः) पहिले से विद्यमान (होता) होता, दानादान कर्त्ता है, हे मनुष्यो ! (इमं) इसे (पश्यत) देखो। (इदं) यह (मर्त्येषु) हम मरने वालों में (अमृतं ज्योतिः) कभी न मरने वाली ज्योति है। (अयं सः) यही वह (ध्रुवः) नित्य, स्थिर (आनिषत्तः) पहिले से बैठा हुआ ही अग्नि (जज्ञे) फिर प्रादुर्भूत होता है और (अमर्त्यः) अमर्त्य,अभौतिक होकर भी (तन्वा) अपने शरीर आदि विस्तार द्वारा (वर्धमानः) बढ़ता हुआ होता है।

उपक्षेतारः तव सुप्रणीते अग्ने विश्वानि धन्या दधानाः ।
सुरेतसा श्रवसा तुंजमाना अभिष्याम पृतनायूं अदेवान् ।।

ऋक् 3.1.16

सब अदेवों को, अदैवभावों को, हम विनष्ट कर देंगे । यह राक्षस यद्यपि हम पर बार-बार हमला करते हैं, अपनी आसुरी सेना के साथ आकर हम पर चढ़ाई करते हैं परन्तु हे अग्ने ! तेरी शरण लेकर हम इनके प्रबल से प्रबल आक्रमणों को परास्त कर देंगे । तेरी शरण पकड़ लेने पर, तेरे निकटवर्ती 'उपक्षेता' हो जाने पर कोई आसुर भाव हमें दबा नहीं सकता । हे सुन्दर और प्रकृष्ट नीति वाले ! हम जब कभी आसुरी वृत्तियों के वशवर्ती होते हैं तो इसीलिये होते हैं क्यों कि हम तुम्हारी श्रेष्ठ नीति का अनुसरण नहीं करते । यदि हम तुम्हारे श्रेष्ठ और प्रबल नेतृत्व में चलें तो हम कभी किसी से पराजित न होवें । इसलिए अब हमने तेरे नैतिक नियमों का पूरा-पूरा पालन करने का निश्चय कर लिया है । तेरी नीति के अनुसार चलते हुए अब उन सब अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुणों को अपने में धारण कर लेंगे जिनके कारण मनुष्य धन्य कहलाता है । अदेवों को दूर करने वाले अभय सत्व, शुद्धि आदि दैवी सम्पत्ति से अब हम अपने को सम्पन्न कर लेंगे । इस प्रकार सब धन्य गुणों को अपने में धारण करते हुए और आत्मबलिदान करते हुए हम सब असुरों का अभिभव कर देंगे । इन धन्यगुणों के धारण करने से हम में जो एक श्रेष्ठ वीर्य से युक्त ऐश्वर्य, प्रभुत्व उत्पन्न हो जायेगा वह हमारे लिए आत्मत्याग करने को बहुत सुगम कर देगा । यह आत्मत्याग वह वज्र है जिसके सामने कोई असुर नहीं ठहर सकता । 'सुरेता श्रव' से तीक्ष्ण किये गये इसी वज्र से हम अपनी सब आसुरी वृत्तियों का पराभव कर देंगे । इसी प्रकार हे अग्ने ! तेरी दृढ़ शरण ले लेने पर कोई असुर भाव अब हम पर आक्रमणकारी नहीं हो सकेगा, तूफान की तरह उठने वाले प्रबल से प्रबल आसुरभाव का आक्रमण हम पर सफल नहीं हो सकेगा ।

(सुप्रणीते) हे श्रेष्ठ और प्रकृष्ट नीति वाले ! (तव) तेरे (उपक्षेतारः) पास रहने वाले, शरण में आये हम अपने में (विश्वानि) सब (धन्या) धन्य बनाने वाले गुणों को (दधानाः) धारण करते हुए और (सुरेतसा) श्रेष्ठ वीर्य से युक्त (श्रवसा) ऐश्वर्य द्वारा, प्रभुत्व द्वारा (तुजमाना) दान करते हुए, आत्मबलिदान करते हुए (पृतनायून्) आक्रमणकारी (अदेवान्) अदेवों को, असुरों को (अभिष्याम्) परास्त कर देव ।

को नानाम वचसा सोम्याय, मनायुर्वा भवति वस्त उस्राः ।
क इन्द्रस्य युज्यं कः सखायं भ्रात्रं वष्टि कवये क ऊती ॥
ऋक्० 4.25.2

यह दुनियाँ किधर जा रही है ? क्या करना चाहिए और क्या कर रही है ? लोग न जाने किन-किन जड़ और चेतन मूर्त्तियों के सामने झुकते हैं, पर कौन है जोकि अपने प्रभु परमेश्वर के सामने झुकता है ? उस अमूर्त्त के सामने भौतिक रूप से झुकना तो हो नहीं सकता, मानसिक और बाहरी वाणी से ही हो सकता है, तो कौन है जो उस प्रभु के सम्मुख वाणी द्वारा, विचार द्वारा व प्रार्थना द्वारा नम्र होता है ? वह तो सोम्य है, हमारे सम्पूर्ण सोम का पात्र है। हमें अपने सब भोग्य पदार्थों को, अपने सब ऐश्वर्यों को उसके सामने झुका देना चाहिए, उसे समर्पित कर देना चाहिए। नहीं, हमें तो अपने सब सोमसहित अपने आप को ही उसके चरणों में समर्पित कर देना चाहिए पर उस जगत् के एक मात्र स्वामी का भी हममें से कौन है जो सच्चा पूजन करता है ? उस का मनन करना तो मुश्किल है, पर कौन है जो उसके मनन करने का इच्छुक भी होता है ? कौन है जो मनन द्वारा उस इन्द्र की ज्ञानरूप किरणों को अपने में धारण करता है ? अथवा इन इन्द्रियों को ही 'उस्रा' समझो जो उस इन्द्र की हैं, इन्द्र की गौएं या किरणें हैं। तो कौन है जो इन इन्द्रियों को या इन शरीरों को उस इन्द्र के समझकर वस्त्र की तरह ओढ़ता है, असंग होकर धारण करता है ? हम दुनियाँ में नाना प्रकार के (धनी मानी ज्ञानी आदि) लोगों को अपना साथी संगी, इष्टमित्र, भाई बन्धु बनाते फिरते हैं बनाते हैं और मानते हैं, पर कौन है जो उस इन्द्र को अपना साथी बनाना चाहता है, कौन है जो उसे सखा करना चाहता है और ऐसा विरला कौन है जो उससे भ्रातृभाव स्थापित करना चाहता है ? क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ पुरुष के लिए कौन है जो इतनी कांति, प्रीति व भक्ति रखता है ? ओह ! इस दुनियाँ में हम अंधाधुंध अपने काम करते जा रहे हैं, पर जो इस दुनियाँ का असली स्वामी है, जो हमारा सब कुछ है, जो हमारा अपना है, उसकी तरफ हम कुछ भी ध्यान नहीं दे रहे। हम क्या कर रहे हैं ?

(सोम्याय) सोम के योग्य इन्द्र के लिए (कः) कौन (वचसा) वाणी द्वारा (नानाम) नमन करता है ? (वा) अथवा कौन है जो उस इन्द्र के (मनायुः) मनन करने की इच्छा वाला (भवति) होता है ? कौन उसकी (उस्राः) किरणों व गौओं को (वस्ते) धारण करता है ? (कः) कौन (इन्द्रस्य) इन्द्र के (युज्यं) साथ की, (कः) कौन उसकी (सखायं) मैत्री की (भ्रात्रं) या भ्रातृभाव की (वष्टि) कामना करता है ? (कः) कौन (कवये) उस क्रांतदर्शी इन्द्र के लिए (ऊती) कांति, प्रीति व भक्ति को रखता है ?

त्वं वर्धन्ति क्षितयः पृथिव्यां त्वां राय उभयासो जनानाम्।
त्वं त्राता तरणे चेत्यो भूः पिता माता सदमिन् मानुषाणाम्॥
ऋक्० 6.1.5

इस पृथ्वी पर पृथ्वी निवासी लोग नाना प्रयोजनों के लिए भौतिक अग्नि को बढ़ाते हैं, प्रदीप्त करते हैं। मनुष्य अपने वैयक्तिक और सामूहिक धनों द्वारा भी वैयक्तिक और सामूहिक भौतिकाग्नि को नाना प्रकार से बढ़ाते हैं परन्तु हे अभौतिक अग्ने ! तुझे भी हम पृथ्वीनिवासी इस पृथ्वी पर बढ़ाते हैं। बेशक हम इस बात को जानते नहीं। इस पृथ्वी पर जो भी कुछ दिखाई देता है, जो भी कुछ बल तेज ज्ञान की उन्नति कार्य हो रहा है, वह सब तेरी ही महिमा है, तेरी ही विभूति है, तेरी ही वृद्धि है। इसी तरह मनुष्यों के दोनों प्रकार के धनों—वैयक्तिक सामूहिक धनों—से जो भी कुछ घटित हो रहा है, जो भी कुछ वैयक्तिक या सामूहिक उन्नति प्रगति के कार्य हो रहे हैं, वह सब हे अग्ने ! तेरा ही ज्वलन है, तेरा ही प्रकाश है। इस तरह इस पृथ्वी पर चारों तरफ तू ही तू प्रकाशित हो रहा है, सब तरफ तू ही तू चमक रहा है। पर आश्चर्य की बात है तेरे बढ़ाने वाले होते हुए भी हम इस संसार के दु:खसागर में गोते खा रहे हैं। चौबीसों घंटे दु:खी और संतप्त हैं। इसका कारण यह है कि हम तुझे जानते हुए नहीं बढ़ा रहे हैं। तू तो चेत्य है, हमारा संज्ञेय है, हमारा एक मात्र जानने योग्य है। यदि हम तुझे सम्यक् प्रकार से जान कर बढ़ायें तो हम इस दु:ख सागर से तर जायें क्योंकि तब हम तेरा यज्ञ करने वाले हो जायें। यदि हम जान लेवें कि इस संसार में यह जो कुछ दीख रहा है, वह सब तेरा ही तेज प्रकाशित हो रहा है तो हमारे लिये संसार में कोई दु:खप्रद वस्तु न रहे, सब कुछ पवित्र यज्ञिय बन जाये। इसलिये हे तरणे ! हे हमारे तराने वाले ! तू हमें अपना ज्ञान करा हमारा त्राता हो जा, हमारा रक्षक हो जा। हे अग्ने ! तू तो सदा ही हम मनुष्यों का पिता और माता है पर हम तुझे जानते नहीं हैं। हे सब तरफ प्रज्वलित होने वाले अग्ने ! हे हम द्वारा बढ़ाये जाने वाले प्रभो ! अब तू हमारा त्राता होजा, हमारा पिता और माता होजा।

(त्वां) तुझको (पृथिव्यां) पृथिवी पर (क्षितयः) पृथ्वीनिवासी पुरुष (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, (त्वां) तुझ को (जनानां) मनुष्यों के (उभयासः) दोनों प्रकार के (रायः) धन बढ़ाते हैं। (तरणे) हे दु:ख सागर से पार तराने वाले ! (त्वं) तू (चेत्यः) संज्ञेय, सम्यक् प्रकार से जानने योग्य होकर (त्राता) हमारा रक्षक (भूः) हो, तू तो (सदं इत्) सदा ही (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (पिता माता) पिता और माता है।

शिक्षेयमिन् महयते दिवे दिवे राय आ कुहचिद् विदे।
नहि त्वदन्यन् मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन॥
ऋ० 7.32.19, अथर्व० 20.82.2

हे परमेश्वर ! हे मेरे पिता ! मैं तुम्हें देना चाहता हूँ, अपना सब कुछ दे देना चाहता हूँ। जब मैं तेरे अनन्त उपकारों को अनुभव करता हूँ तो हे प्रतिपालक ! मैं तुझे अपना सर्वस्व समर्पण किये बिना नहीं रह सकता। तब अपना सब कुछ तेरे चरणों में रख देने को आतुर हो उठता हूँ। परन्तु हे इन्द्र ! तू कहाँ विद्यमान है ? मैं तुझे कहाँ पाऊँ ? मैं तुझे देने कहाँ जाऊँ ? यह सब कुछ मैं नहीं समझ पाता। इस दुनियाँ में जो तेरे सच्चे भक्त होते हैं, जिनमें तेरा अधिक से अधिक प्रकाश होता है, उन पूजनीय तेरा पूजन करने वाले भक्तों को मैं सदा अपना धन देता रहता हूँ। उनका निरन्तर भरण-पोषण करता रहता हूँ। ऐसे त्यागी महात्माओं के लिए, ऐसे तेरे 'बन्दों' के लिए मेरा घर हर समय खुला हुआ है। नहीं, ये सन्त तो जहाँ भी कहीं विद्यमान हों, मैं इन्हें प्रतिदिन अपना धन पहुँचाता हुआ अपने धन को सफल किया करता हूँ। इस तरह इन महानुभावों को नित्य दान देता हुआ मैं अनुभव करता हूँ कि मैं तुम्हें देता हूँ। इन तेरी महिमा बढ़ाने वाले पूजनीयों की तृप्ति करने से, हे इन्द्र ! क्या तुम्हारी तृप्ति नहीं होती है ? तुम्हें तृप्त करने के लिए मैं और क्या करूँ ? सचमुच, हे मघवन ! तुम्हारे सिवाय हमारा और कोई बन्धु नहीं है, और कोई प्राप्तव्य नहीं है तथा कोई तुम्हारे जैसा प्रतिपालक पिता नहीं है, कोई श्रेष्ठ सच्चा पिता नहीं है। पर तुझ पिता को हम अपनी भेंट कैसे पहुँचावें ? तुम्हें पहुँचाने के लिए ही तो मैं प्रतिदिन तेरे सन्तों की सेवा किया करता हूँ, तुम्हें तृप्त करने के लिए ही मैं प्रतिदिन तेरे भक्तों को दान किया करता हूँ।

(कुहचिद् विदे) जहाँ भी कहीं विद्यमान (महयते) तेरा स्तुति पूजन करने वाले तेरे भक्त के लिए मैं (रायः) धनों को (दिवे दिवे) प्रतिदिन, सदा (आ) पूरी तरह से (शिक्षेयम् इत्) देता ही रहता हूँ। (मघवन्) हे परमेश्वर ! (त्वत् अन्यत्) तेरे सिवाय और कोई (नः) हमारा (आप्यं) सम्बन्धी, प्राप्तव्य (नहि) नहीं (अस्ति) है; तथा तेरे सिवाय और कोई (वस्यः) श्रेष्ठ (पिता) पिता (चन) भी हमारा नहीं है।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम् ।
तथा करत् वसुपतिर्वसूनां देवाँ ओहानो अवसा गमिष्ठः ॥

ऋ० 6.52.5

लोग न जाने क्या क्या इच्छायें करते हैं ? पर हम तो केवल इतना चाहते हैं कि हम सदा प्रसन्न रहें, आनन्दित रहें, हर समय 'सुमनाः' रहें। हमारा आनन्द कहीं अज्ञान का आनन्द या विपरीत प्रकार का आनन्द न हो इसलिये इतना और चाहते हैं कि हम निरन्तर नव प्रकाश को पाते रहें, सूर्य के उदय को सदा देखते रहें, ज्ञानोदय को उत्तरोत्तर उपलब्ध करते रहें। इस प्रकार उत्तरोत्तर ज्ञान प्रकाश में उन्नत होते हुए हम अधिक अधिक उत्तम आनन्द से आनन्दित रहें, प्रसन्न बने रहें। बस, वसुओं के वसुपति से, सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के अधीश्वर से हम और कुछ नहीं चाहते। उसके अनन्त ऐश्वर्य-भण्डार से हम केवल यही प्राप्त करना चाहते हैं, इसे ही हम सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य समझते हैं। हम जानते हैं कि ये हमारे प्रभु देवों के देव हैं, सम्पूर्ण देवों को वहन करने वाले हैं, सम्पूर्ण दिव्य गुणों को प्राप्त कराने वाले हैं और ये प्रभु हमारी दौड़ कर रक्षा करने वाले हैं, आड़े समय पर भक्तों की रक्षा के लिए तुरन्त अपनी रक्षा सहित आ पहुँचने वाले हैं। हम चाहते हैं कि रक्षा के साथ आने वाले ये हमारे वसुपति प्रभु दिव्य गुणों को प्राप्त कराते हुए हम पर ऐसी कृपा करें कि हम उनके सूर्य प्रकाश में विकसित होते हुए सदा आनन्दित रहें, हर समय प्रसन्नमना बने रहें। बस, हमें और कुछ नहीं चाहिये, और कुछ नहीं चाहिये।

हम (विश्वदानीं) सदा, सर्वकाल (सुमनसः) आनन्दित प्रसन्नमन (स्याम), रहें (नु) और (उच्चरन्तं) उदय होते हुए (सूर्यं) सूर्य को (पश्येम) देखते रहें, (वसूनां) ऐश्वर्यों का (वसुपतिः) ऐश्वर्याधिपति (देवान्) देवों दिव्य गुणों को (ओहानः) वहन करने वाला, प्राप्त कराने वाला और (अवसा आगमिष्ठः) रक्षण शक्ति के साथ आने वालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभु (तथाकरत्) वैसा करें।

सुपर्णोऽसि गरुत्मान् पृष्ठे पृथिव्याः सीद, भासान्तरिक्षमापृण।
ज्योतिषा दिवमुत्तभान, तेजसा दिश उद् दृंह ॥

यजु 17.72

हे जीव ! तू अपने को नहीं जानता। तू तो सम्पूर्ण है, गरुत्मान् है, तू सुन्दर पतन वाला है, तू सुन्दर उड़ान उड़ने के लिए, ऊँची उन्नति करने के लिए उत्पन्न हुआ है। तू सब शुभ लक्षणों से युक्त है। तेरी आत्मा गुरु है, गौरवयुक्त है, बड़ी महान् है। तू उठ, तू इस पृथिवी के तल पर बैठ। तू सम्पूर्ण पृथिवी का आदमी है। तू एक घर का, एक देश का या एक जाति का नहीं किन्तु सम्पूर्ण पृथिवी का पुरुष है। पृथ्वी के पीठ पर स्थित होकर तू चमक और अपनी दीप्ति से अन्तरिक्ष को भर दे। जब तू अपनी मानसिक दीप्ति को दिखलाएगा तो उस की प्रभा से इस संसार का सब मानसिक जगत् चकाचौंध हो जायगा। नहीं, तू और ऊपर उठ, तू अपनी आत्मज्योति से द्युलोक को उठा ले। यह द्युलोक जिन दिव्य पुरुषों से बना है, थमा है, उनकी सी दिव्यता तुझ में भी विद्यमान है। तू जरा अपनी आत्मज्योति को चमका, जरा दिव्य ज्योति को भी प्रकाशित कर। और इस तरह ऊपर उठता हुआ तू चारों दिशाओं को भी अपनी तेजस्विता से उन्नत करता जा। तेरा तेज दिगन्तों तक ऐसा फैले कि तेरी साधना चारों दिशाओं के मनुष्यों को भी साथ लेती हुई होये, उन्हें भी साथ में दृढ़ और उन्नत करती जाये। तू साधारण आदमियों की तरह क्यों बैठा है। तू तो वह अग्नि है जिसने कि अपने प्रदीपन से सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर लेना है। तू उठ तू सुपर्ण, तू गरुत्मान् है।

तू (सुपर्णः) सुन्दर उन्नति करने वाला (गरुत्मान्) गुरु आत्मा वाला (असि) है, तू (पृथिव्याः) पृथिवी के (पृष्ठे) पृष्ठ पर (सीद) बैठ (भासा) अपनी दीप्ति से (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष को (आपृण) भर दे, (ज्योतिषा) अपनी ज्योति से (दिवं) द्युलोक को (उत्तभान) ऊपर उठा ले, और (तेजसा) अपने तेज से (दिशः) दिशाओं को (उद् दृंह) उन्नत कर।

अहं च त्वं च वृत्रहन् संयुज्याव सनिभ्य आ।
अरातीवा चिदद्रिवोऽनु नौ शूर मंसते, भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥

ऋ० 8.62.11

'इन्द्र के दान कल्याणकारी हैं, इन्द्र के दान बड़े कल्याणकारी हैं' इस टेक के साथ मैंने तेरी बहुत गुणगीतियाँ गायी हैं। हे इन्द्र! तेरे दानों की, तेरी देनों की बहुत स्तुतियाँ गायी हैं पर यह वाचिक स्तुति बहुत हो चुकीं। अब तो, हे वृत्रहन्! आओ, मैं और तुम मिल जायें और मिलकर क्रियामयी वाणी द्वारा दुनिया को दान की महिमा दिखलायें। कोई भी मेल, कोई भी संयोग, बिना दान प्रतिदान के नहीं हो सकता। मेरा और तेरा यह संयोग तभी हो सकेगा जबकि मैं अपना सर्वस्व तुझे दे दूं और प्रतिदान में तू मेरा अभीष्ट ऐश्वर्य मुझे दे दे, जबकि मैं अपने सब टेढ़ेपन को, अपने सब विकार को त्याग दूं और प्रतिदान में हे वृत्रहन्! तू सब विघ्न बाधाओं को छिन्न भिन्न करके अपनी समता से, अपनी पवित्रता से मुझे भर दे। यह हमारा संयोग, यह योग, यह योगप्रक्रिया तब तक चलेगी जब तक तुझसे मुझे मेरे सब अभीष्ट ऐश्वर्य न मिल जायेंगे, जब तक मुझे पूर्ण प्राप्ति न हो जायेगी। तो आओ, मेरे इन्द्र! तुम भी आगे आओ, मैं आत्म-बलिदान के रास्ते आज तुमसे संयुक्त होने निकला हूँ। मैं एक के बाद एक ऐसे ऐसे आत्मबलिदान करूँगा कि इन्हें देख दुनिया दहल जायेगी, कट्टर से कट्टर अदानियों के हृदय हिल जायेंगे। दान के माहात्म्य को देख यह दुनिया एक बार तो आत्मत्याग के लिये तत्पर हो जायगी। जिन्हें आत्मत्याग में जरा भी विश्वास नहीं, जिन्हें आत्मबलिदान में कुछ भी श्रद्धा नहीं, वे भी दान की शक्ति को अनुभव करेंगे, हमारी आत्माहुतियों की महिमा को समझेंगे तथा हमारे इस दान प्रतिदान का अनुमोदन करेंगे। तो लो, मैं अपने एक एक अंग को काट काट कर तुम्हारे चरणों में रखता जाता हूँ और तुम, हे वज्रवाले! भेदन कर करके मेरे लिए एक एक उच्च ऐश्वर्य को देते जाओ। ओह! मेरे इन महान् आत्म बलिदानों के प्रतिदान में, हे शूर! जब तुम मुझे पूर्ण प्राप्ति करा दोगे, जब मुझे निहाल कर दोगे, तब तो यह दुनिया भी कह उठेगी 'निःसन्देह, इन्द्र के दान बड़े कल्याणकारी हैं, इन्द्र के प्रतिदान परम कल्याणकारी हैं।'

(वृत्रहन्) हे विघ्नों के छिन्न भिन्न करने वाले इन्द्र! (अहं च त्वं च) मैं और तू, हम दोनों (संयुज्याव) संयुक्त हो जायें, तब तक (आ) जब तक (सनिभ्यः) पूर्ण प्राप्तियाँ हो जायें, जिस से (अरातीवा) अदानी, कभी त्याग न करने वाला (चित्) भी, (अद्रिवः) हे वज्र वाले? (शूर) हे शूर! (नौ) हमारा, [हमारे दान प्रतिदानों का] (अनुमंसते) अनुमोदन करे, विचार करके समझ जावे निःसन्देह (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (रातयः) दान, देने (भद्राः) कल्याणकारी हैं।

सत्यमिद् वा उ तं वयं इन्द्र स्तवाम नानृतम ।
महाँ असुन्वतो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतः, भद्रा इन्द्रस्य रातयः ॥

ऋ० 8.62.12

हमने जो इन्द्र के परम कल्याणकारी देनों की स्तुति की है, वह निःसन्देह सच्ची स्तुति है, अनृत नहीं । हमने जो उस महान् इन्द्र की महान् महिमा गायी है, वह भी निःसन्देह सच्ची है, कदापि अनृत नहीं । हम जानते हैं कि हम यह सच्चे इन्द्र का ही गुण कीर्त्तन कर रहे हैं, अनृत इन्द्र का नहीं, सच्चे परमेश्वर की ही स्तुति कर रहे हैं, मिथ्या परमेश्वर की नहीं । इसलिये हमारी यह स्तुति कभी विफल नहीं जायगी, यह अवश्य फल लायगी । यह हमारी सच्ची स्तुति हमें इन्द्र के अवश्य दर्शन करायेगी, इन्द्र के कल्याण दानों का अनुभव करायेगी । ओह ! हमारी यह स्तुति तो इतनी सच्ची है कि हम साक्षात् देख रहे हैं कि इस संसार में यज्ञ न करने वालों का, 'असुन्वत्' लोगों का, उतना ही वड़ा विनाश हो रहा है जितना बड़ा यज्ञ करने वाले 'सुन्वत्' लोगों का कल्याण हो रहा है । 'सुन्वत्' लोगों का वध इसीलिये हो रहा है चूँकि यज्ञ न करने के कारण इन्हें प्रतिफल में इन्द्र का कल्याणदान नहीं मिल रहा है। इसके विपरीत 'सुन्वत्' लोगों का इस लिये कल्याण हो रहा है, चूँकि उन्हें प्रतिफल में सब ज्योतियों का वहुत बहुत दान मिल रहा है । और ज्योतियों के मिल जाने पर फिर क्या नहीं मिलता ? हे मनुष्यो ! तुम इस साक्षात् सत्य को क्यों नहीं देखते ? सत्य इन्द्र के इस सत्य स्वभाव को क्यों नहीं अनुभव करते ? तुम किस अनृत दुनिया में रह रहे हो ? क्यों धोखे पर धोखा खा रहे हो ? यह देखो, जो हो रहा है, वह यही है कि अत्यागियों का निरन्तर वध हो रहा है और आत्मत्यागी दिनोंदिन ऊपर चढ़ रहे हैं । यह सब इन्द्र की 'भद्र राति' मिलने और न मिलने का परिणाम है । तो तुम भी क्यों नहीं अनुभव करते और एक स्वर हो कर वोलते 'इन्द्र की राति भद्र है, सचमुच इन्द्र के दान कल्याणकारी हैं ?'

(वयं) हम (तं) उस (इन्द्र) इन्द्र की (वै उ) निःसन्देह (सत्यं इत्) सच्ची ही (स्तवाम) स्तुति कर रहे हैं, (अनृतं) झूठी (न) नहीं । देखो, (असुन्वतः, यज्ञ न करने वाले का (महान्) वड़ा (वधः) विनाश हो रहा है और (सुन्वतः) यजनशील को (भूरि) वहुत बहुत (ज्योतींषि) ज्योतियाँ [मिल रही] हैं, क्योंकि (इन्द्रस्य) इन्द्र के (रातयः) दान (भद्राः) कल्याणकारी हैं ।

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन् अमर्त्य ।

तमा नो वाजसातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमाभर विवक्षसे ।।

ऋ० 10.21.4

हे शक्ति के भण्डार ! सहसावन् ! तुम महान् हो, तुम ज्ञान बल आदि सब प्रकार से महान् हो, बहुत अधिक महान् हो । तुम्हारी महत्ता को अनुभव करके, हे अमर अग्ने ! मैं तुम्हारी शरण पड़ गया हूँ । तुम्हारी शरण में आकर मैं तुम से और क्या मांगूं ? मुझे तो मांगने का शऊर ही नहीं है, मुझे वह ज्ञान ही नहीं कि अपने योग्य वस्तु को ठीक जान सकूं । इसलिये, हे अग्ने ! तुम ही जिस ऐश्वर्य को मुझे देने योग्य समझते हो, उसे मेरे लिए ला दो, मुझे प्रदान करते रहो । मेरे विकास के लिए अब किस ऐश्वर्य की आवश्यकता है, यह तुम्हीं ठीक जानते हो, तुम ही जान सकते हो । इसलिये मेरी उन्नति के लिए, मेरे बललाभ (वाजसाति) के लिए योग्य 'रयि' को तुम ही प्रदान करो । नहीं, 'अपने बललाभ (वाजसाति) के लिए' ऐसा मैं क्यों कहूँ ? बललाभ करके मैं और क्या करूंगा ? मुझे तेरे विमद के लिए, तेरी तथा देवों की विशेष प्रसन्नता के लिए, यज्ञों में तुम्हारी परितृप्ति करने के लिए तेरा दिया 'रयि' चाहिये । तेरे दिये आवश्यक रयि को पाकर ज्ञान बल आदि से सम्पन्न होकर मैंने तेरे लिए ही यज्ञ कर्म करना है, और मैंने क्या करना है ? यज्ञों में तेरी परितृप्ति कर सकूं इसीलिये, हे अग्ने ! तू मुझे अपना 'चित्र' धन प्रदान कर । तू मेरे लिए जो ऐश्वर्य देगा वह मेरे हित में अद्भुत गुणकारण सिद्ध होगा, वह मेरे लिए तेरी पवित्र पूज्य भेंट रूप होगा, उससे ही निःसन्देह मेरा कल्याण सिद्ध होगा । इसलिये हे अग्ने ! तू मुझे अपना चित्र ऐश्वर्य दे, अपनी परितृप्ति के लिए दे और उस परितृप्ति द्वारा महान् हो, अपने दिव्य रूप से महान् होता हुआ भी मेरी इस परितृप्ति द्वारा मानुषिक रूप से भी महान् हो ।

(सहसावन्) हे शक्ति के भण्डार ! (अमर्त्य अग्ने) अमर अग्ने ! तू (यं) जिसे (रयिं) मुझे देने योग्य ऐश्वर्य (मन्यसे) समझता है (तं) उसे (नः) हमें (वाजसातये) बललाभ के लिए, उन्नति के लिए (आभर) ला दे, (यज्ञेषु) यज्ञों में (वः) तुम्हारी (विमदे) विशेष प्रसन्नता व परितृप्ति के लिए (चित्रं) उस आश्चर्यकर व पूज्य धन को (आ) ला दे, (विवक्षसे) तू महान् होता है ।

हृदिस्पृशस्ते आसते सोम विश्वे धामसु।
अध कामा इमे मम वसूयवो वि वो मदे वितिष्ठन्ते विवक्षसे ॥
ऋ० 10.25.2

हे सोम ! मैं जानता हूँ कि तेरे हृदय को स्पर्श करने वाले तेरे अनन्य भक्त जगह जगह पर विराजमान हैं। सब धामों में, सब स्थानों में, सब लोकों मे तेरे ये निष्काम भक्त बैठे हुए तेरा भजन कर रहे हैं। मैं अपनी भक्ति से तेरे हृदय को स्पर्श कर सकूँगा, यह मैं नहीं जानता। कम से कम यह स्पष्ट देखता हूँ कि मैं तेरी निष्काम भक्ति नहीं कर सकूँगा। मुझमें तो ये बहुत सी कामनायें विद्यमान हैं। मुझ में महत्त्वाकांक्षायें, बड़े बनने की, प्रतिष्ठा पाने की, सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छायें विद्यमान हैं। ऐसे नाना प्रकार के वसुओं को चाहने वाली इच्छायें विविध प्रकार से मुझमें उठ रही हैं। यह ठीक है कि मेरी ये इच्छायें आखिर में तेरी प्रसन्नता व परि-तृप्ति के लिये ही उठ रही हैं, इन्होंने कभी तुझे ही समर्पित हो जाना है, पर तो भी अभी इन्होंने मेरे हृदय को घेर रखा है। हे सोम ! क्या मेरी इन कामनाओं को पूरा करके तुम मेरे हृदय को हलका न करोगे ? नहीं, तुम इन्हें पूरा करो और मेरी परितृप्ति पाकर महान् होओ। वैसे तो तेरे हृदय तक पहुँच करने वाले तेरे ज्ञानी निष्काम भक्त ही तुझे अधिक सच्चे अर्थों में बढ़ा रहे हैं, परन्तु मेरी यह अर्थार्थी भक्ति, मेरी ये इच्छायें भी अन्त में तुम्हें बढ़ाने के लिये ही हैं। इसलिये हे सोम ! तुम मेरी इन कामनाओं को पूरा करो, तो शायद मैं भी कभी तेरा निष्काम उपासक हो जाऊँगा, तेरा हृदय स्पर्शी भक्त बन जाऊँगा।

(सोम) हे सोम ! (ते) तेरे (हृदिस्पृशः) हृदय को स्पर्श करने वाले भक्त (विश्वेषु धामसु) सब स्थानों में (आसते) बैठे हुए हैं, विराजमान हैं। (अध) पर मुझमें (इमे) ये (मम) मेरी (वसूयवः) ऐश्वर्यों को चाहने वाली (कामाः) कामनायें (वः विमदे) तुम्हारी प्रसन्नता व परितृप्ति के लिये (वि तिष्ठन्ते) विविध प्रकार से उठ रहीं हैं, (विवक्षसे) तुम महान् होते हो।

21 पौष

**आ पवस्व दिशांपते आर्जीकात् सोम मीढ्वः ।
ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः इन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥**

ऋ० 9.113.2

सोम ! तुम इन्द्र के लिए परिस्रुत होओ । हे ज्ञानमय भक्तिभाव ! तुम मुझ आत्मा के लिए परिस्रुत होओ तुम कहाँ से परिस्रुत होते हो और तुम कैसे अभिषुत होते ही, यह मैं जानता हूँ । हे दिशाओ के पति ! तुम ऊपर से बरसते हो और दिशाओं का, चारों दिशाओ में बसने वाले संसार का रसप्रदान द्वारा परिपालन करते हो । तुम मेरे अन्दर की दिशाओं के, चतुविध प्रेरणाओं के भी रक्षक हो पर तुम ऊपर जिस स्थानविशेष से आते हो, वह 'आर्जीक' है, ऋजुभाव है, सरलता और समता का लोक है । जहाँ सरलता अकुटिलता नहीं है, वहाँ तुम्हारा प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । सरलभाव तुम्हारी जन्मभूमि है । इस 'आर्जीक' से आते हुए, हे सिंचन करने वाले ! तुम मेरे सम्पूर्ण अन्तस्तल को अपने रस से सिंचित कर देते हो । मेरे रोम रोम को अपने अमृत से नहला देते हो । इस प्रकार के हे सोम ! तुम मुझमें आओ । सत्य वचन, सत्य व्यवहार, श्रद्धा और तप द्वारा उत्पन्न होकर मुझमें आओ । मैं खूब जानता हूँ कि सत्यवचन और सत्यकर्म के नियमों का पालन किये बिना भक्तिभाव नहीं उदित होता है । श्रद्धापूर्वक कष्ट सहे बिना प्रेम का प्रसाद नहीं मिलता है । इन चारों साधनों को साधित कर लेने पर ही ज्ञान का निष्पादन होता है, भक्ति रस का प्रादुर्भाव होता है । इसलिये वचन और कर्म में सत्य का व्रत लेकर अटल श्रद्धा को धारण करके और कठोर तपस्या करता हुआ ही मैं प्रार्थना कर रहा हूँ 'हे सोम ! तुम मुझमें आओ । मेरी आत्मा तुम्हारी प्यासी है, इसलिये हे इन्दो ! तुम मुझमें परिस्रुत ओओ, इस आतमा के लिए क्षरित होओ ।'

(सोम) हे सोम ! (दिशांपते) हे दिशाओं के पालक ; (मीढ्वः) हे सिंचन करने वाले ! तुम (आर्जीकात्) सरलता के लोक से (आपवस्व) आओ, क्षरित रहो । तुम (ऋतवाकेन) सत्य वचन से (सत्येन) सत्य व्यवहार से (श्रद्धया) श्रद्धा से (तपसा) तप से (सुतः) अभिषुत होते हो, उत्पन्न होते हो । (इन्दो) हे सोम ! तुम (इन्द्राय) आत्मा के लिए (परिस्रव) परिस्रुत होओ ।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम् ।
तत्र मा धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते, इन्द्रायेन्दो परिस्रव ।।

ऋ० 9.113.7

सोम ! इन्द्र के लिए परिस्रुत होओ। हे ज्ञानमय भक्तिभाव ! तुम मुझ आत्मा के लिए प्रादुर्भूत होओ। मैं तुम्हारी अद्भुत महिमा को जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम मुझे ऊँचे से ऊँचे लोक में ले जा सकते हो, मोक्ष सुख तक पहुँचा सकते हो। इसलिये हे पवमान ! हे पवित्रतम ! तुझे वहाँ पहुँचा दो जहाँ प्रकाश कभी मिटता नहीं, जहाँ अनिश्वर ज्योति है। तुम मुझे उस लोक में स्थापित कर दो जहाँ सुख निहित है, जहाँ आनन्द का अखण्ड निवास है। इस प्रकार तुम मुझे अमृत के उस अक्षीण लोक को प्राप्त करा दो जहाँ मृत्यु का कभी प्रवेश नहीं, जहाँ क्षय की कोई आशंका नहीं। हे क्षरित होने वाले सोम ! तुम मुझे यह सब कुछ प्राप्त करा सकते हो। तुम्हारा सहारा पाकर मैं परमधाम तक पहुँच सकता हूँ इसीलिये मेरा आत्मा तुम्हें पाना चाह रहा है। तुम्हारी एक बूँद के लिए व्याकुल हो रहा है, इसलिये हे इन्दो ! तुम मुझ में परिस्रुत होओ, इस आत्मा के लिए क्षरित होओ।

(यत्र) जहाँ (अजस्रं) अविनश्वर (ज्योतिः) ज्योति है (यस्मिन् लोके) जिस लोक में (स्वः) सुख आनन्द (हितं) रखा हुआ है, (पवमान) हे पवित्रतम सोम ! तू (मा) मुझको (तत्र) वहाँ (अमृते) मरण रहित (अक्षिते) क्षय रहित (लोके) लोक में (धेहि) स्थापित कर दे। (इन्दो) हे सोम ! (इन्द्राय) आत्मा के लिए (परिस्रव) परिस्रुत होओ।

प्रेह्यभीहि धृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते ।
इन्द्र नृम्णं हि ते शवो हनो वृत्रं जया अप अर्चन्ननु स्वराज्यम् ।।
ऋ० 1.80.3

हे इन्द्र ! तू अपने राजत्व को, अपने राज्य को नहीं अनुभव करता । तू अपने स्वराज्य को नहीं पहिचानता । यह शरीर-राज्य, यह सब अन्दर का साम्राज्य तेरा ही है । इस समय इस पर वेशक वृत्र ने कब्जा कर रखा है । कामरूप, पाप-रूप विदेशी शत्रु ने इसे दवा रखा है । तेरी इन्द्रियाँ, तेरी मनोवृत्तियाँ, तेरी वासनायें और तेरी बुद्धियाँ भी इस समय वृत्र की ही गुलामी कर रही हैं परन्तु असल में हे इन्द्र ! ये तेरी ही प्रजा हैं। तू अब अपने स्वराज्य का आदर कर । इन अपनी प्रजाओं का फिर राजा हो । अपनी इस स्वराज्य साधना के लिए उठ । देख, तेरे सिवाय इस राज्य का अन्य कोई अधिपति नहीं हो सकता । इसलिये हे इन्द्र ! तू स्वराज्य स्थापना के लिए उठ । आगे बढ़ । मुकाबिला कर । सब शत्रुओं को घर्षित कर, हरा । तेरे वज्र को इस संसार में कोई नहीं रोक सकता । तेरी शक्ति की गति अप्रतिहत है । क्यों तू कहता है कि राग-द्वेष दुर्जेय हैं ? नहीं, तेरे संकल्प-वज्र के लिए कुछ भी दुःसाध्य नहीं है, तेरी प्रतापाग्नि में सब राग द्वेष आदि क्लेश भस्मा-वशेष हो जायेंगे । तेरी स्वराज्य-स्थापना में कौन बाधा डाल सकता है ? क्या तू समझता है कि संस्कार बड़े प्रबल हैं ? नहीं, तू अपने बल को नहीं समझता । तेरा बल तो निःसन्देह 'नृम्ण' है, सबको नमा देने वाला बल है, सच्चा बल है । वह दृढ़ से दृढ़ संस्कारों को भी हटा देगा, मिटा देगा । संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं पैदा हुई जिसे तेरा बल न नमा देवे । इस प्रकार हे इन्द्र ! तू अपने वज्र द्वारा, अपने वीर्य द्वारा 'वृत्रासुर' का हनन कर और विजयी होकर अपनी प्रजाओं को प्राप्त कर । एवं हे इन्द्र ! तू अपने स्वराज्य को स्थापित कर, अपने स्वराज्य को फिर स्थापित कर ।

(इन्द्र) हे आत्मन् ! तू (स्वराज्य अनु) स्वराज्य के अनुकूल (अर्चन्) साधन करता हुआ (प्रेहि) आगे बढ़ (अभीहि) मुकाबिला कर (धृष्णुहि) शत्रु का घर्षण कर, (ते) तेरा (वज्रः) वज्र (न) नहीं (नियंसते) रोका जा सकता है । (ते) तेरा (शवः) बल (हि) निश्चय से (नृम्णं) सबको नमाने वाला है, सच्चा बल है । (वृत्रं) वृत्रासुर को, कामरूप या पाप रूप वृत्र को (हनः) हनन कर और (अपः) अपनी प्रजाओं को (जय) जीत ।

इन्द्र तुभ्यमिदद्रिवो ऽनुत्तं वज्रिन् वीर्यम् ।
यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं मायया वधी रर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

ऋ० 1.80.7

हे इन्द्र ! तू स्वराज्य की साधना में सफल होयेगा, अवश्य सफल होयेगा। माया वाले मृग को माया द्वारा ही मारकर अवश्य सफल होयेगा क्योंकि तेरा वीर्य, तेरा बल स्वाभाविक है। संसार में एक तू ही है जिसके लिए बल कहीं बाहर से प्रेरित नहीं हुआ है, कहीं अन्यत्र से नहीं आया है। यह तेरे ही अन्दर से निकला है, तेरा अपना है, तेरा स्व-बल है। स्व-बल से ही स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। तेरे मुकाविले में जो मायावी मृग है, उसके पास स्वबल नहीं है, वह छल कपट द्वारा तेरे ही बल को तेरे विरुद्ध प्रयुक्त कर रहा है और राज्य कर रहा है। परन्तु ऐसा माया का बल कितनी देर टिक सकता है ? वह नहीं जानता कि माया उत्पन्न होते ही अपने साथ विरोधी माया को भी उत्पन्न करती है। माया जन्म के साथ ही अपने विनाश के लिए अभिशापित होती है। ऋण विद्युत् धन विद्युत् को पैदा किये विना उत्पन्न ही नहीं हो सकती है। इसलिये हे आत्मन् ! तू इन भयंकर से भयंकर भी दीखने वाले माया के बने मृगेन्द्रों से, प्रकृति के पुतलों से, क्यों भयभीत होता है ? यह माया (यह प्रकृति) तो स्वयं विनश्वर स्वभाव वाली है। अपने में ही विरुद्धता रखने के कारण स्वयं विनष्ट हो जाने वाली है। देख, ये परस्पर विरोधी रज और तम स्वयं लड़ रहे हैं, उनमें धनात्मक होने से यद्यपि रज विजयी हो रहा है पर वह भी उससे अधिक धनात्मक सत्त्व के मुकाविले में दब जाता है और फिर रज और तम के बिना न रह सकने के कारण वह विजयी सत्त्व भी तेरे सामने से स्वयं भाग जाता है। यह देह घात करने से कभी नष्ट नहीं होता, फिर फिर पैदा हो जाता है। तू इन अजेय संस्कारों को भी अपने विरुद्ध संस्कारों द्वारा ही जय कर लेता है। एवं हे इन्द्र ! तू देह से देह को दग्ध करता है, मन से मन को मार लेता है, संस्कारों से संस्कारों को नष्ट कर देता है। प्रकृति के पुतलों को प्रकृति के द्वारा ही पिघला देता है, इन माया के मृगों को माया द्वारा ही मार देता है। पर यह काया माया से इसीलिये मरती है चूँकि इसमें कुछ भी स्व-बल नहीं है। अतः, हे इन्द्र ! जब तू अपना स्वबल प्रकट करेगा तो निःसन्देह तेरा स्वराज्य हो जायेगा, तेरा स्वराज्य स्थापित हो जायेगा।

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अद्रिवः) हे दुर्भेद्य शस्त्र वाले या वृत्र को वश में करने वाले ! (वज्रिन्) हे वज्र वाले ! (तुभ्यं इत्) तेरे लिए ही (वीर्यं) वीर्य, बल (अनुत्तं) अप्रेरित है, कहीं बाहर से आया नहीं है। (यत् ह) जिस कारण से निश्चय से (स्वराज्यं अनु) स्वराज्य के लिए (अर्चन्) साधना करता हुआ (त्वं) तू उस प्रसिद्ध (मायिनं) माया वाले (मृगं) दूसरे की वस्तु को छीनने वाले असुर का (तंऊ) ऐसे असुर का भी (मायया) माया द्वारा ही (अवधीः) वध कर देता है।

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः ।
या इन्द्रेण सयावरी वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥

ऋ० 1.84.10, सा० पू० 5.1.3.1, सा० उ० 3.2.15, अथर्व० 20.109.1

स्वराज्य में ही प्रजाओं को असली सुख मिलता है। स्वराज्य में ही प्रजायें अपना अधिक से अधिक विकास कर सकती हैं। जब अन्दर स्वराज्य स्थापित हो जाता है, जब इस शरीरराज्य की बागडोर इन्द्र (आत्मा) के अपने हाथों में आ जाती है, तब गौरियों को, इन्द्रिय आदि इन्द्र-प्रजाओं को जो अलौकिक दिव्यसुख मिलता है, उनकी जो अद्भुत शोभा, दीप्ति बढ़ती है, उसका हम साधारण लोग इस समय अनुमान भी नहीं कर सकते क्योंकि हमारे अन्दर या तो आत्मिक अराजकता फैली हुई है या किसी असुर का विदेशी शासन चल रहा है, स्वराज्य नहीं है। इसलिये हमारे अन्दर तो ये गौरियाँ इस समय विषयरूपी-मदिरा का ही पान कर रही हैं और इस नशीले आत्मघातक 'सुख' को ही सुख समझ रही हैं। इन्हें उस दिव्य सोमरस के पान का सुख अभी कैसे मिल सकता है जो आत्मराज्य हुए विना नसीब नहीं होता? हाँ, जहाँ कहीं यह वृषा आत्मा फिर अपने 'स्व' राज्य को संभाल लेता है वहाँ की अवस्था बिलकुल पलट जाती है। वहाँ ये इन्द्रियाँ स्वराज्य के अनुकूल चलने वाली संयमयुक्त हो जाती हैं। ये वसुरूप, स्वराज्य की संपत्तिरूप या स्वराज्य की सच्ची वासिनी हो जाती हैं। ये अपनी प्रदीप्ति के लिए बलवान् इन्द्र के साथ चलने वाली हो जाती हैं। इन्द्र के साहचर्य से सचमुच इनकी शोभा, दीप्ति अकल्पनीय प्रकार से बढ़ जाती है। प्रातिभ श्रावण वेदन आदि सिद्धियों तथा नाना अन्य अद्भुत शक्तियों के रूप में ये अत्यन्त शोभित और प्रदीप्त हो जाती हैं। उस समय ये गौरियाँ स्वाधीनता को पाकर इन्द्र के साथ में अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करती हैं। तभी इन्हें उस 'मधु' का, उस मोक्षसुख का, उस सोम का, पान प्राप्त होता है जो स्वादु है, ब्रह्मानन्द के रस से रसीला है, दिव्य माधुर्य से भरा है और जो व्यापक है, सबके लिए समान है, भौतिक सुख की तरह एकदेशी और सापेक्ष नहीं है, अतएव विषय-मदिरा की तरह नशीला भी नहीं हैं। यही सच्चा सोमरस का पान है जिसे आत्मवश्य इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। यही असली भोग है, 'शुद्ध भोग' है, अविद्या आदि क्लेशमलों से सर्वथा रहित निर्मल भोग है जिसको मुक्तावस्था में आत्मशक्तिरूप गौरियाँ उपभोग करती हैं। ओह! हम बद्ध पुरुष तो कल्पना भी नहीं कर सकते कि 'शुद्ध भोग' भी कोई वस्तु हो सकती है, 'व्यापक मधु' भी कोई वस्तु हो सकती है।

वे (गौर्यः) प्रकाशमान इन्द्रियाँ या आत्मशक्तियाँ (इत्था) इस प्रकार से (स्वादोः) स्वादु, ब्रह्मानन्द रस से रसीले (विषूवतः) व्यापक (मध्वः) सोम रस का, शुद्ध भोग का, मोक्ष सुख का (पिबन्ति) पान करती हैं (याः) जो (स्वराज्यं अनु) स्वराज्य का अनुसरण करने वाली होकर (वस्वीः) वसुरूप या वासिनी होकर और (शोभसे) अपनी शोभा व दीप्ति के लिए (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) आत्मा से (सयावरीः) साथ मिलकर चलने वाली हो कर (मदन्ति) आनन्दयुक्त होती हैं।

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि
आ तू न इन्द्र शंसय गोषु अश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥

ऋक्० 1.29.1, अथर्व० 20.74.1

यद्यपि हम बुरे हैं, अप्रशस्त हैं, तो भी हे इन्द्र ! तुम हमें श्रेष्ठ बना दो, प्रशस्त बना दो । तेरे भक्त होकर हम बिलकुल गये बीते तो नहीं हो सकते, तो भी हम में जो बुराई भी हैं, उन्हें तुम अपनी दया से दूर कर दो । तुम्हारी दया पाकर हम प्रशस्त न बन सकेंगे तो हम और प्रशस्त कैसे बनेंगे ? हे सत्य स्वरूप ! हे सोमपान करने वाले ! तुम अपनी सत्यमयता द्वारा, अपने सोमपान के गुण द्वारा हमें प्रशस्त करदो । इस संसार में भौतिक साधारण प्रशस्तता भौतिक संपत्तियों द्वारा होती है, इसलिए हे बहुत ऐश्वर्य वाले ! तुम हमें गौओं और अश्वों के दान द्वारा और इन गौवों और अश्वों के शोभन प्रकार के तथा बहुत संख्या में दान द्वारा प्रशस्त बनाओ । हम लोगों में बड़ी सुन्दर सुन्दर गौएँ और अश्व होयें तथा ऐसे सहस्रों गौएँ और अश्व होयें । पर ये बाहर की गौएँ और अश्व निरर्थक हैं, भार भूत हैं और हमें पराधीन करने वाले हैं जब तक कि हम लोग अन्दर की असली गौओं और अश्वों में प्रशस्त न होयें । हमें वास्तव में प्रशस्त बनाने वाली जो असली गौएँ हैं, वे तो वाणी आदि इन्द्रियाँ हैं, आत्मशक्तियाँ हैं और जो असली अश्व हैं वे वीर्य आदि हैं, आत्मतेज हैं । ये ही हमारे अपने गौ और अश्व हैं। हे तुवीमघ ! तुम अपने सत्य द्वारा हमारी वाणी आदि इन्द्रियों को श्रेष्ठ सुन्दर और शुभ्रि बनाओ तथा ऐसी कृपा करो कि ऐसी सुन्दर आत्मशक्तियाँ हम में सहस्रों प्रकार से प्रकट होवें, तुम अपने सोमपान के गुणद्वारा हमारे वीर्य आदि बलों को उत्तम, तेजस्वी और शोभन बनाओ तथा ऐसी कृपा करो कि ये आत्मतेज हम में हजारों प्रकार से चमकें । हे इन्द्र ! इस प्रकार तुम हम अप्रशस्तों को प्रशस्त कर दो, गौओं और अश्वों द्वारा प्रशस्त कर दो ।

(सत्य) हे सत्य स्वरूप ! (सोमपाः) हे सोम पान करने वाले ! (यत् चित् हि) यद्यपि हम (अनाशस्ताः इव) अप्रशस्त से, बुरे से (स्मसि) हैं (तु) तो भी (तुविमघ) हे बहुत ऐश्वर्य वाले ! (इन्द्र) इन्द्र ! तू (नः) हमें (शुभ्रिषु) शोभन, श्रेष्ठ (सहस्रेषु) हजारों प्रकार के (गोषु) गौओं में (अश्वेषु) तथा अश्वों में (आ शंसय) प्रशस्त कर दे ।

ससन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः।
आ तू न इन्द्र शंसय गोषु अश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥
ऋ० 1.29.4, अथर्व० 20.74.4

हम अप्रशस्त इसीलिये हैं चूंकि हममें ये बुरी वृत्तियाँ जाग रही हैं और अच्छी वृत्तियाँ सो रही हैं। हे शूर इन्द्र ! तुम अपने पराक्रम से इस क्रम को उलटा दो। ऐसी कृपा करो कि हममें वे अदान की बुरी वृत्तियाँ सो जायें और दान की शुभ वृतियाँ जाग जायें। हममें अदान की, कंजूसी की, स्वार्थ की, हिंसा की आसुरी वृत्तियाँ प्रसुप्त हो जायें और दग्धबीजभाव को प्राप्त हो जायें तथा दान की, उदारता की, यज्ञ की, प्रेम की दैवी वृत्तियां जाग जायें और पूर्ण रूप में विकसित हो जायें। ये अरातियाँ, ये स्वार्थादि की क्लिष्ट वृत्तियाँ ही हैं जो हमें बुरी, अप्रशस्त बना रही हैं, अत: ये ही हमारी शत्रु हैं। हमारे बन्धु तो वे यज्ञ आदि की वृत्तियाँ हैं जो हमें शोभन बनाती हैं और हमें ऊँचा उठाती हैं। इसलिये हे शूर ! तुम ऐसी लडाई लड़ो कि हमारे ये सब स्वार्थादि शत्रु अब इस हृदय की रणभूमि में सदा के लिए सो जायें और ये यज्ञादि बन्धु इस हृदय-मन्दिर में सदा जागने वाले हो जायें। जब ऐसा हो जायेगा तो हममें अशोभन गौएं तथा अशुभ अश्व नहीं रहेंगे, किन्तु हममें श्रेष्ठ ही आत्म-शक्तियाँ तथा श्रेष्ठ ही वीर्य प्रकट होयेंगे तथा सहस्रों प्रकार से प्रकट होयेंगे। इस तरह हे तुविमघ ! तुम हमें अब प्रशस्त करदो, श्रेष्ठ गौओं तथा शुभ्रि अश्वों द्वारा प्रशस्त करदो।

(शूर) हे शूर ! (त्याः) वे (अरातयः) अदान वृत्तियाँ, शत्रु (ससन्तु, सो जायें तथा (रातयः) दानवृत्तियाँ, बन्धु (बोधन्तु) जाग जायें। (तु) इस प्रकार (तुवीमघ) हे बहुत ऐश्वर्य वाले (इन्द्र) इन्द्र ! तू (नः) हमें (शुभ्रिषु) शोभन श्रेष्ठ (सहस्रेषु) हजारों प्रकार के (गोषु) गौओं में (अश्वेषु) तथा अश्वों में (आ शंसय) प्रशस्त कर दे।

नकि र्देवा मिनीमसि नकि रायोपयामसि, मंत्रश्रु त्यं चरामसि ।
पक्षेभि रपिकक्षेभि रत्राभि संरभामहे ।।

ऋ० 10.134.7, सा० पू० 2.2.9.2

हे देवो ! वेदोक्त देवो ! हमने इस संसार में वेदमन्त्रों की शरण ले ली है। हम समझ गये हैं कि मन्त्रों के मनन करने से, वेदज्ञान पा लेने से, हम भवसागर से तर जायेंगे इसलिये हम अब वेद के अनुसार चलते हैं, वेदानुकूल ही आचरण करते हैं। मन्त्रों से जो कुछ सुनते हैं, मन्त्र के मनन से जो उपदेश ग्रहण करते हैं ठीक उसी के अनुसार अपना आचरण करते हैं। न तो हम किसी की हिंसा करते हैं और नाहीं किसी को विमोहित करते हैं। क्रोध, द्वेष आदि के वश होकर हम न तो किसी भाई का हिंसन करते हैं, किसी को दुःख पहुँचाते हैं और न किसी भाई को लुभा ललचा कर, मोहित करके कोई अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। जो द्वेषराग-ग्रस्त मलिनमन लोग हिंसा करने तथा धोखा देने में प्रवृत्त होते हैं, वे तो पवित्र वेदमन्त्रों के अध्ययन के अधिकारी ही नहीं होते, वे वेद के आशय को समझ ही नहीं सकते। हे देवो ! वे तुम्हें जान ही नहीं सकते। इसलिये हमने तो हिंसन और विमोहन के कीचड़ से सर्वथा निकल कर अब वेदमन्त्रों की पावन शरण ले ली है और इस प्रकार, हे देवो ! हमने तुम्हारे महान् अवलम्बन को ग्रहण कर लिया है। हमने अपने दोनों पार्श्वों से तुम्हारा सहारा ले लिया और अपने दोनों बाहुओं से भी तुम्हारा आश्रय पकड़ लिया है। मानो हिंसा के त्याग द्वारा हमने 'पक्षों' से तुम्हारा सहारा ले लिया है, तो विमोहन के त्याग द्वारा हमने 'अपिकक्षों' से भी तुम्हारा अवलम्बन पा लिया है। इस प्रकार पूरी तरह तुम्हारा अवलम्बन ग्रहण करके हम आज निश्चिन्त हो गये हैं और देख रहे हैं कि इस प्रकार तुम्हारा आँचल पकड़े हम ठीक ही रास्ते जायेंगे, पुरुषार्थ को पा जायेंगे, मनुष्य जन्म सफल कर जायेंगे।

(देवाः) हे देवो ! हम (नकिः) न तो (मिनीमसि) हिंसा करते हैं (आ) और (नकिः) ना ही कभी (योपयामसि) विमोहन करते हैं, हम (मंत्र श्रु त्यं) मन्त्र श्रुति के अनुसार ही (चरामसि) आचरण करते हैं। इस प्रकार हमने (अत्र) इस संसार में (पक्षेभिः) अपने पार्श्वों द्वारा (अपिकक्षेभिः) और अपने बाहुओं द्वारा तुम्हें (अभिसंरभमाहे) सब तरह से अवलम्बन कर लिया है।

यो भूतानां अधिपति यस्मिँल्लोकां अधिश्रिताः ।
य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ।।
यजु० 20.32

मैं तेरे रूप को देख रहा हूँ, तेरे एक महान् रूप को देख रहा हूँ। हे परमात्मन् ! इसी रूप में तुझ परमात्मा को मैं अपनी आत्मा में ग्रहण कर लेना चाहता हूं। तू वह है जो सब भूतों का अधिपति है, सकल चराचर प्राणिमात्र का अधिष्ठाता और परिपालक है; तू वह है जिसके आधार पर सब लोक स्थित हैं, जिसके अन्दर सब अनन्तों लोक और सब ब्रह्माण्ड आश्रित हैं, स्थान पा रहे हैं; और तू वह महान् है जो महत् तत्व आदि से लेकर सब प्रकृति के विकारों का, आकाश आदि महान् से महान् पदार्थों का मालिक है, ईश्वर है। हे महान् ! उसी तेरे महत्त्व से, उसी तेरे स्वरूप द्वारा मैं तुझे ग्रहण करता हूं। मुझ में (अपने में) मैं तुझे ग्रहण करता हूं। हां, मैं क्षुद्र तुझ इतने महान् को अपने में धारण करता हूं। इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि मैं तुझे तेरे ही उस महत्त्व द्वारा, तेरे ही उस ईश्वरत्व द्वारा धारण करता हूं जिससे कि तू इतना महान् हुआ है, इतना ईश्वर हुआ है। और '(मयि) मुझ में' धारण करने का भी तो यही अर्थ है कि तेरा होकर, तेरा बन कर मैं मुझ में (अपने में) तुझे धारण करता हूं, आत्मा बन कर तुझ आत्मा को धारण करता हूं। ओह ! इस प्रकार तुझे अपने में धारण करके मैंने सब तेरा साम्राज्य, सब तेरा ब्रह्माण्ड अपने में धारण कर लिया है, सचमुच सब कुछ अपने में धारण कर लिया है।

(यः) जो (भूतानां) सब प्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता और पति है। (यस्मिन्) जिसमें (लोकाः) सब लोक (अधिश्रिताः) आश्रय पा रहे हैं और (यः) जो (महान्) महान् (महतः) सब महत् आदि महान् वस्तुओं का (ईशे) ईश्वर है, (तेन) उससे, उसके इस महत्त्व व ईश्वरत्व द्वारा (अहं) मैं (त्वां) तुझ को (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं, धारण करता हूं; (मयि) मुझ में अपने में (अहं) मैं (त्वां) तुझ को (गृह्णामि) धारण करता हूं।

शिशिर

शिशिर की ऋतुचर्या

लक्षण—पूर्ण जाड़े की ऋतु के बाद जब जाड़ा कुछ कम होने लगता है, शीत ढलने लगता है पर इतना कम नहीं होता कि समता (वसन्त) का मौसम आ जाये, उसका नाम शिशिर है। इसे पतझड़ भी कहते हैं, क्योंकि इस समय पत्तों को शीर्ण करने वाली वायु चलने लगती है। प्रायः इसके महीने माघ और फाल्गुन हैं।

महिमा—शिशिर में सूर्य भगवान् उत्तरायण हो जाते हैं। उत्तरायण वह दिव्य प्रशस्त काल है जिसमें शरीर त्यागने के लिए भीष्मपितामह जैसे महापुरुष छः महीने प्रतीक्षा करते रहे थे। यह ज्ञानियों को मुक्ति प्रदान करने वाला ज्योतिर्मय काल शिशिर में प्रारम्भ होता है। इसमें अति शीत की सब तंगियां हट जाती हैं। सह्य अच्छा शीत पड़ता है। जो शीत पड़ता है वह वायु का शीत होता है, तीखा कठोर शीत समाप्त हो जाता है। इसमें चलने वाली वायु से वृक्ष वनस्पतियों के पुराने पत्ते फल आदि झड़ने लगते हैं और वे वसन्त के नये अंकुर पाने के लिए तैयार हो जाते हैं।

गुण—शिशिर ऋतु शीतल, अत्यन्त रुक्ष, वायु और अग्नि को बढ़ाने वाला है।

पथ्यापथ्य—इस में हेमन्त जैसा ही व्यवहार करना चाहिये। भेद यह है कि हेमन्त स्निग्ध होती है, परन्तु यह शिशिर आदान काल आ जाने से अतिरुक्ष होती है तथा 'वात' कारक होती है। इसलिये भोजनाच्छादन में वातवृद्धि से बचने का ध्यान रखना चाहिये। वात पित्त कफ किस-किस ऋतु में संचित कुपित व शान्त होते हैं, इसके लिए निम्नलिखित तालिका देखिये।

दोष	संचित	कुपित	शान्त
वात	ग्रीष्म में	वर्षा में	शरद् में
पित्त	वर्षा में	शरद् में	हेमन्त में
कफ	शिशिर में	वसंत में	ग्रीष्म से

एवं शिशिर में कफ संचित होता है। यह संचित कफ इस ऋतु की शीतलता के साथ-साथ शुष्कता के कारण इस समय तो कुपित नहीं होता पर वसन्त में जाकर कुपित होता है अतः इस ऋतु में स्निग्ध पदार्थों का अति सेवन भी छोड़ देना चाहिये जिससे कफ अधिक संचित न हो सके।

कहावत के अनुसार माघ में मिश्री तथा फाल्गुन में चना नहीं खाना चाहिये।

माघ (मकर) के लिए प्राणदायक व्यायाम

पूर्व निर्दिष्ट विधि से खड़े हो जाइये। हाथ नीचे लटके हों, छाती आगे उभरी हो। हथेलियां शरीर की ओर रखते हुए हाथों की मुट्ठियां बांध लीजिये और भुजाओं की मांसपेशियों को कस लीजिये। अब पैर के अंगूठों के बल पर अपने को खड़ा करके घुटने को मोड़ते हुए सारे शरीर को जहां तक नीचे फर्श के पास ले जा सकें, ले जाइये। फिर धीरे-धीरे सीधे खड़े हो जाइये। इस सारे व्यायाम में अपने पैर के अंगूठों पर ही सारा शरीर तुला रहना चाहिये और एड़ियां फर्श से न छूनी चाहियें। जब अपना शरीर नीचे ले जा रहे हों तो गहरा श्वास अन्दर भरिये और जब खड़े हो रहे हों तो श्वास बाहिर निकालिये।

अपना मन टखनों, गुल्फों (गिट्टों) पर रखिये।

ध्यान—ध्यान कीजिये कि 'मेरी टांगें मजबूत हैं। मुझ में चलने का अपार सामर्थ्य है। मैं पूर्ण स्वस्थ हो रहा हूँ।'

इन अंगों के लिए गौणतया वैसाख, श्रावण और कार्तिक मास की व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

मूषो न शिश्ना व्यदन्ति माध्यः स्तोतारं ते शतक्रतो ।
सकृत् सु नो मघवन्निन्द्र मडयाधा पितेव नो भव ॥
ऋ० 10.33.3

मैं तेरा स्तोता हूँ, तेरा सन्ध्या वन्दन करने वाला हूँ, तेरा हवन पूजन करने वाला हूँ। तो भी, हे शतक्रतो ! मुझे ये 'आधियां', ये मानसिक पीड़ायें खाये जा रही हैं। जैसे पान चढ़ाये गये, आटे से स्नान कराये गये सूत को चूहे काटने लगते हैं, सब तरफ़ से चिपट कर खाने लगते हैं, उसी तरह ये मानसिक पीड़ायें मुझे नाना तरह से सता रही हैं, खाये जा रही हैं। अपूर्ण रहती हुई मेरी अनगिनत कामनायें मुझे काट रही हैं, काम क्रोध लोभ मुझ में उछल रहे हैं, रागद्वेष मुझे पीड़ित कर रहे हैं, नाना मोह मुझे दबा रहे हैं, भयंकर भय मुझे व्यथित कर रहे हैं, मद मत्सर मुझे मार रहे हैं, विविध चिन्तायें मुझे जला रही हैं, इस प्रकार अनगिनत आधियां मुझ पर सब तरफ से चढ़ रही हैं, मुझे पल-पल में व्याकुल कर रही हैं। हे प्रभो ! मैं कब तक इनका भक्ष्य बना रहूँगा ? कब तक इस तरह बेचैन बना रहूँगा ? इनसे मेरी कौन रक्षा करेगा ? तेरे स्तोता की और कौन रक्षा करेगा ? हे मघवन् ! तुम्हीं मुझे अब एक बार अच्छी तरह सुखी कर दो, इन आधियों को हटा कर, इन मूषकों को भगाकर मुझे सुखी कर दो और पिता की तरह मेरे पालक हो जाओ। तेरे सिवाय इस दुनियां में मेरा रक्षक कौन है ? मेरा पिता कौन है ? इसलिये हे इन्द्र ! तुम्हीं मुझ स्तोता के, मुझ पुत्र के पिता होओ, रक्षक होओ। पिता की तरह तुम मुझे अब ऊपर अपनी गोद में उठा लेओ, मुझे अपनी उस शान्त, निरुपद्रव, सुरक्षित शरण में उठा लेओ, जहाँ कभी इन आधियों की पहुँच नहीं है, जहाँ कभी इन मूषकों की गति नहीं है।

(शतक्रतो) हे बहुत कर्म वाले ! (ते) तेरे (स्तोतारं) स्तोता होते हुए भी (मा) मुझको (आध्यः) मानसिक पीड़ायें (वि अदन्ति) विविध प्रकार से खा रही हैं (मूषो न) जैसे चूहे (शिश्ना) आटे से स्नान कराये गए, पान किये हुए सूत को खाते हैं। (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! तू (नः) हमें (सकृत्) एक बार (सु) अच्छी तरह (मृडय) सुखी कर दे, (अध) और (नः) हमारा (पिता इव) पिता की तरह रक्षक (भव) होजा।

वयं घा ते त्वे इद्विन्द्र विप्रा अपि स्मसि ।
न हि त्वदन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता ।।

ऋ० 8.66.13

हे परमेश्वर ! हम तेरे हैं, निश्चय से तेरे हैं । हम सोच समझ कर तेरे हो चुके हैं, अपने आपको तुझे समर्पित कर चुके हैं । और अब तुझ में ही रहना चाहते हैं, तुझ में ही अपना सब आत्मविकास पाना चाहते हैं । ज्ञानी, विप्र भी हम तुझ में तेरे आश्रय से ही होना चाहते हैं । वह ज्ञान तो ज्ञान नही है, निरा अज्ञान है, जो तेरे आश्रय से नहीं उत्पन्न हुआ है । ऐसी विप्रता को, ऐसीं पण्डिताई को हम क्या करेंगे, जो हमें तुझ से दूर करने वाली हो ? उससे तो मूर्खता भली है ! हमें पण्डित कहलाने की, ब्राह्मण कहलाने की, विद्वान् कहलाने की जरा भी इच्छा नहीं है, यदि यह तुझ से दूर हटने से मिलती हो । हम तो संसार के हरेक ज्ञान में, हरेक कर्म में, हरेक बात में पहिले यह देख लेते हैं कि उसमें तेरा अवलम्बन है कि नहीं । जिसमें तेरा अवलम्बन, तेरा निवास नहीं होता, उससे कुछ भी मतलब नहीं रहता, फिर वह वस्तु इस संसार में चाहे बड़े से बड़ा पाण्डित्य हो, बड़े से बड़ा धन हो, बड़ी से बड़ी सेना हो, बड़े से बड़ा साम्राज्य हो । हमारे लिए वह सब निस्सार है क्योंकि हमने खूब अच्छी तरह जान लिया है कि इस संसार में तेरे सिवाय और कहीं सुख नहीं है, तेरे सिवाय इस संसार में और कोई सुख देने वाला नहीं हैं, दे सकने वाला ही नहीं है । संसार की एक-एक वस्तु को परख-परख कर देख लिया है कि कहीं भी सुख नहीं है, जहाँ कि तू नहीं हैं । तो हे पुरुहूत ! हे सदा सब से बहुत बार पुकारे गये प्रभो ! तुझे छोड़ कर हम और कहाँ जायें ? हम तो इसलिये हे मघवन् ! तेरे होकर शान्त हो गये हैं । तेरे हो गये हैं, पूरी तरह तेरे हो गये हैं ।

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (वयं) हम (घ) निश्चय से (ते) तेरे हैं, और (त्वे) तुझ में, तेरे आश्रय से (इत उ) ही हम (विप्राः) ज्ञानी, विप्र (अपि) भी (स्मसि) होवें । (पुरुहूत) हे बहुतों से पुकारे गये ! (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) अन्य (कश्चन) कोई (मर्डिता) सुख देने वाला (हि) निश्चय से (न) नहीं (अस्ति) है ।

यद् द्याव इन्द्र ते शतं, शतं भूमी रुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन् सहस्त्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ।।

ऋ० 8.70.5, सा० पू० 3.2.9.6, सा० उ० 2.2.11,
अथर्व 20.81.1, 20 92.20

परमेश्वर ! यह जो विशाल द्यौ दीख रहा है, यदि ऐसे-ऐसे सैंकड़ों द्युलोक उत्पन्न हो जायें, ऐसे-ऐसे सैंकड़ों आकाश उत्पन्न हो जायें तो भी वे तेरी अनन्तता को नहीं पहुँच सकते । यह विस्तृत पृथिवी ही नहीं, किन्तु यदि ऐसी-ऐसी सैंकड़ों पृथिवियाँ एकत्रित कर दी जायें तो भी वे तेरे विस्तार को नहीं व्याप सकतीं । यह जीवों से भरी भूमि ही नहीं, किन्तु यदि ऐसी-ऐसी सैंकड़ों भूमियाँ हो जायें तो भी उनके अनन्यों जीव मिलकर तेरे चैतन्य का पार नहीं पा सकते । हे वज्रिन् ! हे अनन्त सामर्थ्य ! वह एक जाज्वल्यमान सूर्य तो क्या, ऐसे सहस्रों सूर्य, ऐसे अनन्तों सूर्य मिलकर चमकें, एक बार इकट्ठे होकर चमकें, तो भी वे तेरी ज्योति की बराबरी नहीं कर सकते, तेरे परम प्रकाश को नहीं पा सकते । यह जो उत्पन्न संसार चल रहा है, ऐसे-ऐसे हजारों, बल्कि अनन्तों संसार, एक के बाद एक उत्पन्न हो हो कर समाप्त होते जायेंगे, परन्तु वे तेरी आयु को अनन्त काल में भी नहीं माप सकेंगे । और यह रोदसी, यह द्यावापृथिवी, यह जमीन और आसमान, यह ब्रह्माण्ड और ऐसे-ऐसे हजारों लाखों ब्रह्माण्ड भी तेरी विशालता की, तेरी गंभीरता की कभी थाह नहीं लगा सकेंगे । तो हे इन्द्र ! हम भला क्षुद्रातिक्षुद्र जीव तुझे अपने तुच्छ ज्ञान से कहाँ व्याप्त कर सकते हैं ? तेरी कल्पना करने में ही हमारी तो सब विचारशक्ति कुंठित हो जाती है, हमारी बुद्धि चुप हो जाती है । हम इतना ही कह सकते हैं, 'तुम अनन्त हो, तुम अनन्त हो, हे प्रभो ! तुम असीम हो, तुम असीम हो, तुम कल्पना के भी अगोचर हो, अगोचर हो ।'

(इन्द्र) परमेश्वर ! (यत) यदि (ते) तेरे (शतं) सौ (द्यावः) द्युलोक हों (उत) और यदि (शतं) सौ (भूमीः) भूमियां (स्युः) हों [तो भी वे तेरा प्रतिमान नहीं कर सकते] (वज्रिन्) हे अनन्त सामर्थ्य ! (सहस्त्रं) हजारो अनन्तों (सूर्याः) सूर्य (त्वा) तुझे (न) नहीं व्याप्त कर सकते और (जातं) यह उत्पन्न हुआ संसार तथा (रोदसी) ये विशाल द्यावापृथिवी, ये जमीन आसमान सहस्रों होकर भी (न अनु अष्ट) तुझे नहीं व्याप्त कर सकते, तेरी अनन्तता को नहीं पहुँच सकते ।

न पापासो मनामहे नारायासो न जल्हवः ।
यदिन्नु इन्द्रं वृषणं सचा सुते सखायं कृणवामहै ।।

ऋ० 8.61.11

देखो, हमने 'वृषण' इन्द्र को अपना सखा बना लिया है, बलवान् सर्वशक्तिमान् इन्द्र को, सब कामनाओं के बरसाने वाले इन्द्र को अपना सखा बना लिया है। हमने उसे अपना ऐसा सखा बना चिया है कि अपने हरिकीर्त्तनों में, अपने सम्मिलित ध्यानों में, अपने यज्ञ कर्मों में, अपने सोमाभिषव के सब अवसरों में हम इकट्ठे होकर तन्मग्न होकर सदा उस की मित्रता का अनुभव करते हैं। क्या तुम पूछते हो कि हमने उससे ऐसा सख्य कैसे प्राप्त कर लिया है? इसका कारण यह है कि हम कभी पापी होकर उसको नहीं मानते हैं, उसकी नहीं उपासना करते हैं। अपने को परमेश्वर का मानने वाला कहना और साथ ही पाप करना, ब्रह्मचर्य आदि नियमों का भंग करना, यह कितनी लाञ्छनीय बात है! हम तो निष्पाप होकर ही परमेश्वर की उपासना करते हैं। और फिर कभी हम दानहीन होकर भी परमेश्वर का भजन नहीं करते। अनुदार होना या आत्मत्याग से डरना और परमेश्वर की राह चलना, ये बिलकुल उलटी बातें हैं। अतः हम तो सर्वस्व त्यागते हुए, अपने को भी समर्पण करते हुए ही प्रभु का भजन करते हैं। इसी तरह ज्वलन-रहित होकर भी हम कभी इन्द्र का आराधना नहीं करते। जो अग्न्याधान नहीं करता, अपने को प्रज्वलित नहीं करता, उसकी स्तुति प्रार्थनायें निष्फल होती हैं, वे इन्द्र तक नहीं पहुँचती, वे उसे परमेश्वर से जोड़ने वाली नहीं होतीं। इसलिये हम अग्निचर्या करते हुए अपने को संप्रदीप्त करके ही इन्द्र के आराधन में बैठते हैं। ये ही तीन कारण हैं जिनसे हमने इन्द्र के हृदय को हर लिया है। ओह! वे इन्द्र तो हम सब मनुष्यों को इकट्ठा अपना मित्र बना सकते हैं और बनाने को उद्यत हैं और उन जैसा सर्वशक्तिमान् सब कामनाओं का पूरक मित्र और कौन हो सकता है? पर यह तभी है, यदि हम पापी न होकर, अदानी न होकर अनग्नि न होकर उनके पास पहुँचें, यदि हम निष्पाप, उदार और प्रज्वलित होकर अपनी मित्रता का हाथ आगे बढ़ायें, यदि हम इन तीन गुणों को धारण करके उनके सख्य के पात्र हो जायें।

हम (न) न तो (पापासः) पापी होकर, (न) न (अरायासः) अदानी होकर (न) और न (जल्हवः) अप्रज्वलित होकर (मनामहे) इन्द्र को मानते हैं, उनकी उपासना करते हैं। (यत् इत्) जिस कारण से ही हम (नु) अब (वृषणं) बलवान्, कामों के वर्षक (इन्द्रं) परमेश्वर को (सुते) अपने यज्ञ कर्मों में (सचा) सम्मिलित होकर, तन्मग्न होकर (सखायं कृणवामहै) सखा कर लेते हैं, मित्र बना लेते हैं।

अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः ।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय ।।

ऋ० 10.22.8

हे परमेश्वर ! तेरा अमित्र, तेरा शत्रु कौन हो सकता है ? और तेरा शत्रु होकर कोई इस तेरे संसार में कैसे रह सकता है ? नहीं, मनुष्य तो इतना गिरता है कि वह तेरा शत्रु भी बनता है। वह तेरा शत्रु तब होता है जब वह तेरे संसार से शत्रुता करता है, जब वह संसार का उपक्षय करने वाला 'दस्यु' बनता है। 'दस्यु' वह मनुष्य होता है जो अकर्मा होता है, जो कर्महीन होता है, जो बिना कर्म किये जीना चाहता है, बिना श्रम किये खाना चाहता है, बिना यज्ञ किये भोगना चाहता है। ऐसा मनुष्य अपने इस अकर्म द्वारा जगत् का उपक्षय करता है, इसीलिये वह 'दस्यु' व 'दास' कहलाता है। ऐसा दस्यु 'अमन्तु' अमननशील होता है। यदि वह मनन करने लगे, तब तो वह कभी अकर्मा व दस्यु न रहे। पर वह तो अन्यव्रत होता है, कुछ अन्य ही प्रकार के उलटे व्रत लिये होता है। वह मनन क्यों करेगा ? वह तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सच्चे व्रतों से उलटा हिंसा, असत्य, स्तेय आदि के कर्मों को निःशंक होकर करता है अतएव वह 'अमानुष' मनुष्यता से गिरा हुआ, नामधारी मनुष्य ही होता है। ऐसा मनुष्यत्वहीन मनुष्य तुझ से अमित्रता न करेगा तो और क्या करेगा ? जब ऐसा दस्यु हमारे अभिमुख होता है, हम पर हमला करता है तो हे अमित्रहन् ! ऐसे दास के लिए, इस प्रकार जगत् के उपक्षय करने वाले के लिए तू वधरूप हो जाता है, सहज स्वभाव से मृत्युरूप हो जाता है। हे इन्द्र ! तू सदा ही ऐसे दस्युओं का दमन करता रह, विनाश करता रह और इस प्रकार से संसार का रक्षण करता रह, पालन करता रह।

हे इन्द्र ! (अकर्मा) कर्महीन मनुष्य (दस्युः) दस्यु, उपक्षय करने वाला होता है, यह (नः) हमारे (अभि) अभिमुख होता है, हमला करता है, (अमन्तुः) यह मनन न करने वाला (अन्यव्रतः) अन्य उलटे व्रत व कर्म वाला (अमानुषः) और मनुष्यता से गिरा हुआ होता है। (अमित्रहन्) हे शत्रुनाशक ! (तस्य) उस (दासस्य) दस्यु का (त्वं) तू (वधः) वध, मृत्यु होता है, (दंभय) तू उसका नाश कर।

अस्मे ता त इन्द्र सन्तु सत्याऽहिंसन्तीरुपस्पृशः ।
विद्याम यासां भुजो धेनूनां न वज्रिवः ॥

ऋ० 10. 21. 12

हे प्रभो ! हम तुम से शुभ ही प्रार्थनायें कर रहे हैं । हम तुम से जो प्रार्थनायें कर रहे हैं, वे सर्वथा हिंसारहित हैं, वे किसी का अनिष्ट चाहने वाली नहीं हैं, वे सदा सब के सब प्रकार से भले की ही कामना करने वाली हैं और ये प्रार्थनायें हमारे सच्चे दिल से निकली हैं, निर्मल अन्तःकरण से निकली हैं अतः ये अवश्य तुम्हें समीपता से स्पर्श करने वाली हैं, तुम्हारे हृदय तक पहुँचने वाली हैं । हे परमेश्वर ! हमारी ऐसी प्रार्थनाओं को तुम अवश्य सत्य करो, क्रियान्वित करो । जैसे दूध देने वाली 'धेनु' से गोस्वामी दूध आदि नाना भोगों को प्राप्त करता है, उस तरह हमारी ये प्रार्थनायें धेनु होकर हमें भोगों से, अभीष्ट फलों से परिपूरित कर देवें । अपनी इन प्रार्थनाओं से हम जो-जो क्रिया व फल रूप भोग चाह रहे हैं, उन्हें हम अवश्य प्राप्त कर लेवें । हे वज्रवाले ! हे शक्तिमय ! तुम से की गयीं और तुम से हिंसा-हीन तथा हृदयस्पर्शी रूप से की गयीं ये हमारी प्रार्थनायें कैसे निष्फल हो सकती हैं, कैसे असत्य व अपूर्ण रह सकती हैं ?

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (ते) तेरे प्रति की गयी (ताः) वे (अहिंसन्तीः) हिंसारहित, सब का भला चाहने वाली (उपस्पृशः) तुझे समीपता से स्पर्श करने वाली प्रार्थनायें (अस्मे) हमारे लिए (सत्या) सत्य (सन्तु) हो जायें; ऐसी हो जायें कि (यासां) जिन प्रार्थनाओं के (भुजः) भोगों को, फलों को (वज्रिवः) हे वज्र वाले ! हम (धेनूनां न) दुहने वाली गौओं के [भोगों की] तरह (विद्याम) प्राप्त करें ।

7 माघ

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा।
त्वं यज्ञेषु ईड्यः॥

ऋ० 8. 11. 1, य० 4. 16, अथ० 19. 59. 1

हे अग्ने ! तू व्रतों का पालन करनेवाला है, पूरी तरह सब सत्य नियमों का स्वभावतः पालन करनेवाला है। तू ऐसा पूरा व्रतपालक है इसीलिये तू देव है, पूरा देव है और ऐसा देव होकर तू हम मर्त्य मनुष्यों में आया हुआ है, समाया हुआ है। तू पूर्ण व्रतपालक होकर हम मनुष्यों के अन्दर आकर बैठा हुआ है। हे आत्मन् ! इस तरह तुझे अपने में पाकर भी यदि हम व्रतपालक न बन सकें तो हम कितने अभागे हैं ! तू तो हममें इसीलिये आया हुआ है कि हम भी तुझ द्वारा व्रतपालक हो जायें, हम भी तेरे व्रतपालन के स्वभाव को अपने में पूरी तरह प्रतिबिम्बित कर लेवें। और जो तू सब यज्ञों में हमारा ईड्य हो रहा है,। हमारे सब शरीरों में, हमारे सब स्वरूपों में अग्निदेव होकर हमारा पूजनीय हो रहा है वह भी इसीलिये है कि हम तेरा यजन कर करके व्रतपालक बन जायें, तुझे योग्य हवि प्रदान कर करके 'व्रतपाः' अवस्था को पाजायें। हे अग्ने ! आज हम तेरे 'व्रतपाः' स्वरूप को साक्षात् अनुभव कर रहे हैं और चाह रहे हैं कि हम भी इसी तरह अपने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य आदि व्रतों के पूरे पालन करने वाले हो जायें। इसलिये हे हमारे अग्ने ! तू हमें भी 'व्रतपा' बना, अपने जैसा पूरा और दृढ़ व्रतपालक बना।

(अग्ने) आत्मन् ! (त्वं) तू (व्रतपाः) व्रत पालक (असि) है, (देवः) तू देव है (आ) और (मर्त्येषु) हम मनुष्यों में (आ) समन्तात् है, समाया हुआ है। (त्वं) तू (यज्ञेषु) यज्ञों में (ईड्यः) पूजनीय है।

न देवानामति व्रतं शतात्मा चन जीवति ।
तथा युजा विववृते ॥

ऋ० 10.33.9

मनुष्यो ! देखो, देव लोग अपने व्रतपालन में बड़े कठोर हैं । इन देवों के नियम अटल हैं । ये किसी के लिए टल नहीं सकते । इन ईश्वरीय नियमों को तोड़ने का यत्न करना बड़ी मूर्खता है । इन्हें तोड़ने का यत्न करने वाला टूट जायगा, पर ये नियम न तोड़े जा सकेंगे । इसका अतिक्रमण करके, इनका उल्लंघन करके 'शतात्मा पुरुष भी नहीं बच सकता, सौ मनुष्यों की शक्ति रखने वाला, शतगुणा वीर्य रखने वाला मनुष्य भी जीवित नहीं रह सकता । उसे उस समय अपने बड़े से बड़े साथी से भी बलात् वियुक्त हो जाना पड़ता है । दैव नियमों का भंग करने पर हमारे सब सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाते हैं, हमारे सब जोड़ टूट जाते हैं । उस समय हमारी सहायता करना चाहता हुआ भी हमारा बलवान् से बलवान् जोड़ीदार, हमारा समर्थ से समर्थ साथी, हमारी सहायता नहीं कर सकता । उसके देखते-देखते हमें नियमभंग का कठोर दण्ड भोगना पड़ता है । वह भी हमें बचा नहीं सकता । इसलिये हे भाइयो ! हमें कभी मद में आकर, अपने किसी भी प्रकार के बल के घमंड में आकर, कभी भूल कर भी देवों के व्रतों का अतिक्रमण नहीं करना चाहिये, देवों के नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये ।

(देवानां) देवों के (व्रतं) अटल नियम को (अति) अतिक्रमण करके (शतात्मा) सौ मनुष्यों की शक्ति रखने वाला, शतगुणा वीर्य वाला पुरुष (चन) भी (न) नहीं (जीवति) जीता, बचता । (तथा) और वैसे ही, वह (युजा) अपने साथी से, साथी की सहायता से (विववृते) वियुक्त हो जाता है ।

नहि नु ते महिमनः समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्मः ।
न राधसो राधसः नूतनस्य, इन्द्र न कि ददृशे इन्द्रियं ते ॥
ऋ० 6.27.3

हे परमेश्वर ! हम तेरी महिमा को कहाँ जान सकते हैं ? तू महान् है, तू ज्ञान में, कर्म में, शक्ति में, परिमाण में, सब गुणों में अति महान् है. बहुत बहुत बड़ा है; यह हम प्रायः सदा ही अनुभव करते हैं और अपने इस अनुभव को मनुष्य साथियों में नाना तरह से बखान भी करते रहते हैं। परन्तु हे प्रभो ! हम तेरी सम्पूर्ण महिमा को कैसे समझ सकते हैं ? हे मघवन् ! हम तेरे मघवत्त्व को भी कहाँ जान सकते हैं ? हे ऐश्वर्य वाले ! हम तेरे ऐश्वर्यत्व की, तेरे ऐश्वर्यों की थाह भी कहाँ पा सकते हैं ? संसार के कुछ ऐश्वर्यों को देखकर हम कल्पना करते हैं कि ऐसे ही कोई बड़े बड़े दिव्य ऐश्वर्य भी होंगे और कल्पना करते हैं कि इसी तरह सब स्थानों में, सब ब्रह्माण्डों में जो तेरे ऐश्वर्य बरस रहे हैं तथा सब कालों में, अनादि भूत और अनन्त भविष्यत् में, जो तेरे ऐश्वर्य फैले पड़े हैं—वे कितने अनन्त हैं, वे कितने अद्भुत हैं ? इसी प्रकार तेरे राधसों का, तेरी सिद्धियों का, तेरे सफलता दिलाने वाले सामर्थ्यों का, तेरे इन साधक ऐश्वर्यों का अन्त भी हम मनुष्य कहाँ पा सकते हैं ? हम सोचते हैं तेरे 'राधस्' ऐसे हैं, तू इस इस प्रकार से सिद्धि प्राप्त कराता है, परन्तु तू तो अपने कभी समाप्त न होने वाले एक अद्भुत नये से नये राधसों को, साधक सामर्थ्यों को, निकालता ही चला जाता है और दुनियाँ को आश्चर्यचकित करता रहता है। सचमुच, हे इन्द्र ! हम तेरे इन्द्रिय को, तेरे इन्द्रपन को नहीं पा सकते, नहीं समझ सकते। तेरी इन्द्रियशक्ति गम्भीर है। बड़ी गम्भीर है। हम जैसे अपनी इन्द्रियों से काम करते हैं, वैसे तेरी कोई इन्द्रिय दृष्टिगोचर होती नहीं, तो भी तू न जाने कैसे इन सब ब्रह्माण्डों को हिला रहा है, प्रत्येक वस्तु में अन्तर्यामी हुआ हुआ किस अद्भुतता से उसे ठीक ठीक चला रहा है। ओह ! इन्द्र ! तेरी शक्ति असीम है, तेरा राधस् अगाध है, तेरा ऐश्वर्य अनन्त है, तेरी महिमा अपार है।

(ते) तेरी (समस्य) समस्त (महिमनः) महिमा को (नु) निःसंदेह (नहि) हम नहीं (विद्मः) जान सकते, (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (मघवत्त्वस्य) तेरी ऐश्वर्य-मत्ता को भी (न) हम नहीं समझ सकते। और तेरे (नूतनस्य) नये से नये (राधसो राधसः) एक एक राधस को, साधक ऐश्वर्य को (न) हम नहीं जान सकते तथा (इन्द्र) हे इन्द्र ! (ते) तेरी (इन्द्रियं) इन्द्र शक्ति, तेरा इन्द्रपना (न किः) नहीं (ददृशे) देखा जा सकता है।

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः ।
इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ॥

ऋ० 8.16.11

वे 'पप्रि' परमेश्वर और वे 'पुरुहूत' परमेश्वर हमें भी पार लगावें। हम उन प्रभु का स्मरण कर रहे हैं जो पूरण करने वाले हैं, कमियों को भरपूर कर देने वाले हैं और उन प्रभु को पुकार रहे हैं जिन्हें सन्त लोग सदा पुकारते रहे हैं और जिन्हें सभी लोग समय समय पर पुकारते रहते हैं। वे ही प्रभु हमें इस द्वेष सागर से पार लगायें। हमने बहुत द्वेष किया है और बहुत द्वेष पाया है। बहुतों से शत्रुता की है और बहुतों को शत्रु बनाया है। हमें इस समय जब जगह अपने द्वेषी नजर आते हैं, सब जगह अपने शत्रु ही शत्रु दिखाई देते हैं। हम इनमे कैसे पार उतरें ? यह और कुछ नहीं है, हमारे ही अन्तर की द्वेष भावना दुस्तर समुद्र बन कर हमारे सामने आ गयी है। जब से हमें ज्ञान हुआ है, तब से हम उन 'पप्रि' प्रभु की ही याद में रहने लगे हैं। हम जान गए हैं कि यदि वे पूरण करने वाले हमें अपनी शरण रूपी नौका प्रदान कर देंगे तो हम कुशल क्षेम से इस भयंकर द्वेषसागर को तर जायेंगे। हम जान गये हैं कि यदि हमारे हृदय की क्षुद्रताओं के गढ़े भरपूर हो जायेंगे और हमारा हृदय विशाल तथा प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण हो जायगा, तो हमारे अन्दर द्वेष की वासना भी नहीं ठहर सकेगी। इसलिये अब हम उस पूरण करने वाले प्रभु को ही पुकार रहे हैं, बार बार पुकार रहे हैं। ओह ! अब तो वे ही पुरुहूत 'पप्रि' परमेश्वर हमें इस द्वेष सागर से पार लगायें, इस दुस्तर सागर से पार उतारें।

(सः) वह (पप्रिः) पूरण करने वाले (पुरुहूतः) बहुतों से पुकारे गये (इन्द्रः) परमेश्वर (नावा) नौका द्वारा, अपनी शरण रूपी तरणसाधन द्वारा (नः) हमें (स्वस्ति) कुशलतापूर्वक (विश्वा द्विषः अति) सब द्वेषों से लंघा कर (पारयाति) पार लगायें।

स नः शक्रश्चिदाशकद् दानवाँ अन्तराभरः ।
इन्द्रो विश्वाभिरूतिभिः ॥

ऋ० 8.32.12

वे शक्र परमेश्वर हमें भी शक्तिसंयुक्त करें। हम अशक्त, पगपग पर गिरने वाले हम असमर्थ, शक्ति याचना के लिए और कहां जायें? सिवाय उन सर्व शक्तिमान इन्द्र के शक्ति प्राप्ति की आशा हम और कहां से लगावें? ओह! वे शक्र तो 'दानवान्' हैं और 'अन्तराभर' हैं। उन परिपूर्ण परमेश्वर ने कभी किसी से कुछ लेना नहीं है, उन्होंने तो सदा सब को देना ही देना है। ऐसे दानवान् होकर वे हमारे अन्तरों को, हमारे छिद्रों और कमियों को भरने वाले हैं, हमारे अन्तस्तल को (उसके दोषों और त्रुटियों को) पूरने वाले हैं। वे अन्दर से भरने वाले हैं, अन्दर से हमारे आन्तर स्थल को भरपूर कर देने वाले हैं। वे इन्द्र यदि चाहें तो हमें अपनी सब ऊतियों से, सब रक्षाओं से, सब पालनायों से, तृप्तियों से हमारी सब कमियां दूर कर सकते हैं और हमें अन्दर से भरकर शक्त बना सकते हैं। हम उन्नति पथ पर चढ़ते हुए पग पग पर अपनी अशक्ति अनुभव कर रहे हैं। इस तरह अपनी घोर अशक्ति, भारी निर्बलता को अनुभव करते हुए ही हम आज शक्ति के भिखारी हुए हैं। और जब से हमें ज्ञान मिला है कि हमें शक्ति अन्दर से ही मिलेगी तथा हमारे आन्तर को भर सकने वाले वे शक्र प्रभु ही हैं, तब से हम उन शक्र के द्वारे आ बैठे हैं। हम आज साक्षात् देख रहे हैं कि उन शक्र के सिवाय इस संसार में और कोई शक्ति देने वाला नहीं है, उनके सिवाय इस संसार में और कोई हमारे आन्तर को भरने वाला नहीं है। ओह! अब तो वे सर्वशक्तिमान् शक्र ही हमें शक्ति से युक्त कर देवें, वे सर्व समर्थ इन्द्र ही हमें सामर्थ्य प्रदान कर देवें।

(सः) वह (शक्रः) शक्तिमान् (नः) हमें (चित्) भी (आ अशकत्) शक्तियुक्त करे, समर्थ करे। क्योंकि वह (दानवान्) दान देने वाला (अन्तराभरः) अन्दर के अन्तस्तल को भरने वाला, अन्दर के अन्तर (छिद्र, कमी) को भरने वाला है। (इन्द्रः) वह परमेश्वर अपनी (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षाओं आदि से [हमें शक्तियुक्त करे, समर्थ करे]।

त्वं ह्यग्ने अग्निना विप्रो विप्रेण सन् सता ।
सखा सख्या समिध्यसे ।।

ऋ० 8.43.14

हे अग्ने ! तू निःसंदेह अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त किया जाता है । जैसे इस संसार में आग से आग जलायी जाती है, जैसे एक ज्ञानी विप्र द्वारा दूसरा मनुष्य भी ज्ञान संपन्न हो जाता है, विप्र आचार्य द्वारा ब्रह्मचारी ज्ञान से प्रसिद्ध हो जाता है, जैसे एक श्रेष्ठ सात्त्विक पुरुष से दूसरे में भी सात्त्विक भाव जग जाते हैं, साधु के सत्संग से दूसरा भी साधु हो जाता है और जैसे सच्चे मित्र द्वारा दूसरे में भी मैत्री भाव पैदा हो जाता है, सच्चे प्रेम द्वारा दूसरे में भी प्रेम उपज जाता है, वैसे ही हे अग्ने ! हे मेरे परम आत्माग्ने ! मैं जान गया हूँ कि तू आत्माग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है, मुझ अग्नि द्वारा ही प्रदीप्त हो सकता है । मैं अग्नि बनकर अपनी आत्मा को तेजस्वी करके ही तुझे अपने में प्रदीप्त कर सकूँगा । मैं ज्ञानी विप्र बनकर, सच्चा ब्राह्मण बनकर ही तुझ ज्ञानमय ब्रह्म को अपने में प्रकाशित कर सकूँगा । मैं श्रेष्ठ सज्जन सात्त्विक पुरुष होकर अपनी सज्जनता द्वारा, अपने सात्त्विक भावों द्वारा ही तुझ 'सत्' को प्राप्त कर सकूँगा । और मैं अपने सख्य भाव द्वारा, अपने प्रेममय भक्तिभाव द्वारा ही तुझ सच्चे सखा को अपना सखा बना सकूँगा । ओ, अग्ने ! मैं तुझे समिद्ध करूँगा, अवश्य समिद्ध करूँगा । मैं तुझे अग्नि द्वारा ही समिद्ध करूँगा । मैं ज्ञान की अग्नि, श्रेष्ठता की अग्नि और प्रेम की अग्नि बनकर तुझे अपने में समिद्ध करूँगा ।

(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वं) तू (हि) निःसंदेह (अग्निना) अग्नि द्वारा (समिध्यसे) प्रदीप्त किया जाता है । (विप्रः) तू विप्र परम ज्ञानी (विप्रेण) मुझ ज्ञानी द्वारा, (सन्) तू सत् श्रेष्ठ (सता) मुझ साधु श्रेष्ठ द्वारा और (सखा) तू सच्चा सखा (सख्या) मुझ सखा द्वारा प्रदीप्त किया जाता है, प्रकाशित किया जाता है ।

ते घेदग्ने स्वाध्यो अहा विश्वा नृचक्षसः ।

तरन्तः स्याम दुर्गहा ॥

ऋ० 8.43.30

हे प्रभु ! हम तेरे लिए ही कर्म करने वाले होयें । हम सदा, सब काल, आठों पहर दिन और रात जो कुछ करें, वह सब तेरे लिए ही करें और सब सुकर्म ही करें। अहा, अपने छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कर्म को तुझे समर्पित करते जाना, अपने एक एक कर्म से आठों पहरों में निरन्तर तेरा ही पूजन करते जाना, यह कितना सात्त्विक जीवन है, कितना शान्त और सुखमय जीवन है ! जब हम श्वसन तक के अपने प्रत्येक कर्म को इसी तरह तेरे ही लिए पवित्र भाव से करने लगते हैं, तब हमारा ज्ञान भी पवित्र और विशुद्ध हो जाता है, तब हम प्रत्येक वस्तु को निर्लेप होकर उसके विशुद्ध स्वरूप में देखने लगते हैं, तब हम सब मनुष्यों को और सब बातों को उनके ठीक ठीक रूप में देखने और पहिचानने लगते हैं 'नृचक्षस्' हो जाते हैं। इस तरह उत्तम कृति और विशुद्ध दृष्टि वाले होकर, हे परमात्मन् ! हम सब दुर्गहों को आसानी से तरते चले जाते हैं । ओह, सचमुच निर्लेप होकर काम करने वाले 'नृचक्षस्' पुरुषों के लिए इस संसार में कठिन से कठिन प्रसंग 'सुतर' हो जाते हैं, उनके लिए भयंकर से भयंकर दीखने वाली आपत्तियाँ कुछ भी भयंकरता नहीं रखतीं । हम भी इसी तरह हे अग्ने ! । तेरी कृपा से सब दुर्गाहनीय अवसरों को आसानी से तरते जायें, 'स्वाध्यः' और 'नृचक्षस्' होकर आसानी से तरते जायें ।

(अग्ने) हे परमात्मन् ! हम (विश्वा अहा) सब दिन, सदा (घ) निश्चय से (ते इत्) तेरे ही लिए (स्वाध्यः) उत्तम कर्म करने वाले होयें, (नृचक्षसः) मनुष्यों को ठीक पहिचानने वाले होवें और इस तरह (दुर्गहा) दुर्गाहनीय प्रसंगों को (तरन्तः) तरते जाने वाले (स्याम) होयें ।

अग्नि मन्द्रं पुरुप्रियं शीरं पावकशोचिषम्।
हृद्भिः मन्द्रेभिः ईमहे ॥

ऋ० 8. 43. 31

यह अग्निदेव मन्द्र है, हर्षित कर देने वाला है, आनन्द रूप है। यह ऐसा मन्द्र है, ऐसा मस्त कर देनेवाला है कि इसके दर्शनमात्र से, इसके स्मरण मात्र से हममें आनन्द की लहरें चल उठती हैं। इसीलिये यह अग्नि बहुत प्यारा है, सब तरह से प्यारा है और असल में सब का प्यारा है। परन्तु यह अग्नि हममें सोया पड़ा है। यह पवित्र दीप्ति अग्नि हम में सोया पड़ा है। इसकी शोचि, इसकी ज्योति इतनी पवित्रताकारक है कि यदि यह हममें जग जाये तो हमें नख से शिख तक पवित्र कर देवें, हमारी नस नस को, हमारे रोम रोम को पवित्र कर देवे, बल्कि हमारे प्राण और मन के एक एक परमाणु को पवित्र कर देवे। पर हा! यह हम में जग नहीं रहा है, सोया हुआ है। इसे कौन जगाये? इसे कैसे जगायें? ओह, यह मन्द्र अग्नि मन्द्रों द्वारा ही जगाया जा सकता है, मन्द्र हृदयों द्वारा ही जगाया जा सकता है। इसे जगाने के लिए हृदय चाहिये, और मन्द्र हृदय चाहिये। आओ, भाइयो! हम अपने मन्द्र हृदयों द्वारा इस मन्द्र परमात्मा को अपने में प्राप्त कर लेवें, प्रबुद्ध कर लेवें। यह देखो, भक्त लोग अपने उन भक्ति भाव भरे हृदयों द्वारा जो प्रभु वाणी सुनकर मोर की तरह आनन्द मस्ती में नाच उठते हैं, अपने हृदय के उन कोमल मनोभावों द्वारा जो हरिनाम का स्मरण हो आते ही हमें रोमांचित और पुलकित कर देते हैं और अपने अन्तःकरण के उन मनोवेगों द्वारा जो प्रभु का हार्दिक अनुभव करके हमें आनन्दाश्रुओं में रुला देते हैं, अपने मन्द्र प्रभु को नाना तरह से जगा रहे हैं, नाना तरह से रिझा रहे हैं। आओ, हम भी क्यों न इसी तरह इस मन्द्र अग्नि को अपने में जगायें और अपने मन्द्र हृदयों द्वारा इसे प्रतिदिन रिझावें!

(पुरुप्रियं) बहुत प्यारे और (पावकशोचिषं) पवित्र ज्योति वाले (शीरं) किन्तु सोये पड़े हुए (मन्द्रं) मस्ती देनेवाले, हर्षित करने वाले, आनन्दरूप (अग्निं) परमात्मा को हम (मन्द्रैः) मादन, हर्षित होनेवाले ही (हृद्भिः) हृदयों से (ईमहे) चाह रहे हैं, प्राप्त करना चाह रहे हैं।

यो अग्निं तन्वो दमे देवं मर्त्तः सपर्यति ।
तस्मा इद्दीदयद् वसु ।।

ऋ० 8. 44. 15

हे मनुष्यो ! वसु देने वाले जिस अग्नि को तुम ढूँढते हो, वह कहीं बाहर नहीं है। वह तो हमारे अन्दर है, हमारे शरीर में ही विद्यमान है। यह अग्नि हमारे शरीर के घर में, हमारे शरीर रूपी यज्ञशाला में नाना प्रकार से जल रहा है, प्रदीप्त हो रहा है। जो मनुष्य इस शरीर-गृह में जलने वाले देव अग्नि का ठीक प्रकार पूजन करता है, उसे ही वसु, अभीष्ट फल मिलता है। यह देखो, जाठराग्नि से लेकर आत्माग्नि व परम आत्माग्नि तक, पार्थिव अग्नि से लेकर परम दिव्य अग्नि तक सब स्वरूपों में अग्नि देव हमारे शरीर रूपी यज्ञगृह में ही जल रहा है। यदि नियमित भोजन, शयन और व्यायाम आदि द्वारा जाठर अग्नि का ठीक प्रकार परिचरण करेंगे तो हमें शारीरिक वसु मिलेगा। यदि हम प्राणायामादि से प्राणाग्नि का सेवन करेंगे तो हमें प्राणबल प्राप्त होगा। सूक्ष्म प्राणाग्नि में व इन्द्रियाग्नि में हवन करने से हमें इच्छा-संयम व शब्दादि विषयों का वसु प्राप्त होगा। चित्ताग्नि की ठीक परिचर्या से हमें वासनाशुद्धि प्राप्त होगी। मनरूपी अग्नि का विधिवत् यजन करने से हमें बहुमूल्य विचारों का निधि (खजाना) प्राप्त हो जायगा और बुद्धि अग्नि के पूजन से ज्ञान का दिव्य ऐश्वर्य भी हस्तगत हो जायगा। इसी तरह आत्मसंयम-योगाग्नि में सब प्रकार के कर्मों का हवन करने से तथा आत्माग्नि व ब्रह्माग्नि में नाना प्रकार के उच्च यज्ञ करने से हमें वे सब ऊँचे से ऊँचे अध्यात्म ऐश्वर्य प्राप्त हो जायेंगे जिन के लिए देव भी तरसते हैं। इस लिये हे मनुष्यो ! आओ, हम अपने शरीर के दम में, दमन करने में ही, उस सच्चे अग्नि को ढूँढ लेवें जिसकी ही ज्वालायें हमारे काय प्राण, मन आदि में जल रही हैं। उसी के हवन से हमें वसु मिल सकता है, केवल उसी के यजन से हमें सब ऐश्वर्य मिल सकता है।

(यः) जो (मर्त्तः) मनुष्य (तन्वः) शरीर के (दमे) गृह में या दमन में (देवं) देव (अग्निं) अग्नि को (सपर्यति) सेवन करता है, यजन करता है (तस्मै) उसके (इत्) ही लिए (वह अग्नि देव) (वसु) ऐश्वर्य को (दीदयत्) देता है।

त्वामग्ने मनीषिणः त्वां हिन्वन्ति चित्तिभिः ।
त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥

ऋ० 8.44.19

हे अग्ने ! तुम्हारा असली प्रीणन करने वाले, तुम्हें अच्छी तरह बढ़ाने वाले तो वे पुरुष होते हैं जो मनीषी हैं, जो मन के ईश्वर हैं, जो अपने मन के पूरे मालिक हैं । मन के गुलाम तो इस संसार में प्रायः सभी लोग होते हैं, पर विरले ही हैं जो मन के स्वामी होते हैं, जो अपने मन को पूरी तरह अपने काबू में रखते हैं । ऐसे मनीषी लोग इस मन के संयम के लिए जो सतत आत्मबलिदान करते हैं, उन आहुतियों से हे अग्ने ! तुम खूब संतृप्त होते हो, खूब प्रदीप्त होते हो । दूसरे हैं जो चित्तियों से, चित्त-कर्मों से तुम्हारा संतर्पण करते हैं । ये चित्त शुद्धि द्वारा और चित्त शुद्धि कराने वाले निष्काम कर्मों द्वारा तुम्हें बढ़ाते हैं । इस चित्त-शुद्धि और निष्कामता के लिए जो इन्हें आत्मत्याग करना पड़ता है उन आहुतियों से भी, हे अग्ने ! तुम खूब संतृप्त होते हो खूब प्रदीप्त होते हो । यद्यपि तुम्हारा असली प्रचार, तुम्हारी महिमा का विस्तार ये मनीषी और चित्ति वाले लोग ही करते हैं तो भी हमारी वाणियों द्वारा भी – हमारे मन्त्रपाठों, स्तुतिगीतों और कथा चर्चाओं द्वारा भी – कुछ न कुछ अवश्य तुम्हारी महिमा बढ़ती है, तुम्हारा प्रचार होता है । नहीं, यदि ये हमारे पाठ, स्तोत्र वैखरी वाणी से ही नहीं किन्तु अन्दर की वाणियों से भी निकले होते हैं, तब तो इन से भी तुम्हारी महिमा पूरी पूरी ही बढ़ती है, तुम्हारा सच्चा प्रचार होता है । इसलिये हे अग्ने ! हमारे आत्माग्ने ! तुम हमारी इन वाणियों द्वारा भी बढ़ो; जहाँ तुम मनीषियों और शुद्ध चित्त पुरुषों के मनों और चित्तों द्वारा बढ़ते हो, वहाँ तुम हमारी इन वाणियों द्वारा भी बढ़ो, प्रदीप्त होओ ।

(अग्ने) हे अग्ने । (त्वां) तुझे (मनीषिणः) मन के ईश्वर लोग (हिन्वन्ति) प्रीणित करते हैं, बढ़ाते हैं और (त्वां) तुझे [दूसरे लोग] (चित्तिभिः) चिन्तनों से या चित्तशुद्धि के कर्मों से बढ़ाते हैं । तथा (नः) हमारी (गिरः) ये वाणियां भी (त्वां) तुझे (वर्धन्तु) बढ़ायें ।

17 माघ

अग्निः शुचिव्रततमः शुचिर्विप्रः शुचिः कविः ।
शुची रोचत आहुतः ॥

ऋ० 8.44.21

इस अग्नि देव से बढ़कर संसार में और कोई पवित्र वस्तु नहीं है, शुचिव्रत वस्तु नहीं है । यह शुचिव्रततम है । शुचि तो इसका व्रत है, नियम है, स्वाभाविक गुण है । यह ऐसा शुचिव्रत है कि इसके संस्पर्श में आकर कोई वस्तु अशुचि नहीं रह सकती, इसमें पड़कर कोई वस्तु अपवित्र नहीं रह सकती । यह सकल संसार निःसंदेह महामलिन है पर इस पवित्र अग्नि के इसमें रमने के कारण यह भी उपादेय हो गया है । अग्नि रहित हो जाने पर इस देह को छूने से भी शौच करना पड़ता है, परन्तु यह ऐसा महा-अशुचि देह भी इस पावक अग्नि के निवास के कारण कितना पवित्र हो गया है । यह अग्नि शुचि ज्ञानी है और शुचि कवि है । इस आत्मा से जो ज्ञान उतरता है, वह पवित्र ही ज्ञान होता है । इस आत्मा से जो काव्य निकलता है, वह पवित्र ही काव्य होता है । यह ज्ञान और काव्य ही क्या, अग्निदेव का तो प्रत्येक प्रकाश, प्रत्येक दीप्ति ही शुचि होती है, पवित्र ही पवित्र होती है । क्या तुमने कभी आहुत होते हुए अग्निदेव के दर्शन किये हैं ? अहा ! जब अग्नि में आहुतियाँ पड़ती हैं और इन आहुतिओं को पाकर यह अग्नि प्रदीप्त होता है, विशाल रूप में देदीप्यमान होता है, उस समय उसकी इस रोचमान मूर्त्ति की पवित्रता, इस छवि की पवित्रता बस देखने योग्य होती है, अनुभव करने योग्य होती है । ओह, अग्नि देव की पावनी मूरत पर हम सो सो बार बलि जायें ! इसकी इन पवित्र ज्वालाओं में कोई अपवित्रता कैसे ठहर सकती है ? सचमुच सचमुच, अग्निदेव से बढ़कर इस संसार में और कोई पवित्रताकारक वस्तु नहीं है । हे मनुष्यो ! यदि तुम्हें पवित्रता प्राप्त करनी है तो तुम इस अग्निदेव का आराधन क्यों नहीं करते ? इस अपने अन्दर के अग्नि का प्रदीपन क्यों नहीं करते ?

(अग्निः) अग्नि (शुचिव्रततमः) सबसे अधिक पवित्र व्रत वाला है, यह (शुचिः विप्रः) पवित्र ज्ञानी और (शुचिः कवि) पवित्र कवि है । यह (आहुतः) आहुतियाँ पाकर (शुचिः) पवित्र होकर, पवित्र रूप में ही (रोचते) प्रकाशित होता है ।

बृहन्नित् इध्म एषां भूरि शस्तं पृथुः स्वरुः ।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

ऋ० 8.45.2, सा० उ० 5.2.21

जिनका सदाशक्ति इन्द्र सखा होता है, वे इस संसार में बहुत चमकते हैं। जिसको कभी बुढ़ापा नहीं आ सकता, जिसकी शक्ति का कभी ह्रास नहीं हो सकता, वह सदातरुण परमेश्वर जिनको अपना सख्य प्रदान करता है, वे महान् यज्ञ करते हैं और महायज्ञ द्वारा इस संसार में बहुत देदीप्यमान होते हैं। वे ऐसा महान् यज्ञ करते हैं जिसमें 'इध्म' अग्नि से दीपन बहुत भारी होता है, जिसमें 'शस्त' स्तुतिपाठ बहुत बहुत होता है और जिसका 'स्वरु' यज्ञस्तम्भ बहुत बड़ा होता है। बाहर के द्रव्यमय यज्ञ में तो बड़े से बड़ा इध्म संसार भर की काष्ठसमिधाओं को जलाने से हो सकता है, बड़े से बडा 'शस्त' चारों वेदों का बार बार पाठ करने से हो सकता है और बड़े से बडा 'स्वरु' एक बड़े वृक्ष से बनाया जा सकता है परन्तु इन्द्र-सखा लोग ज्ञानमय यज्ञ को करते हैं। उसका अग्निसंदीपन तो बहुत ही बृहत् होता है, चूँकि वे 'आत्मा'[1] को अपने आपको इध्म बना कर जला देते हैं, अपने को इतना संदीपित करते हैं कि सब संसार में चमक उठते हैं, अपनी आत्माग्नि से विश्व भर को प्रकाशित कर देते हैं। इनके इस अन्दर के यज्ञ में 'शस्त' भी बहुत अधिक होता है, चूँकि ये भक्त लोग दिन रात में जो भी कुछ जिह्वा से बोलते हैं, जो कुछ भी मानसिक वाणी से उच्चारण करते हैं, वह सब भगवान् का स्तुतिपाठ ही होता है, वह सब इन्द्र का शंसन ही होता है, इस तरह इनके यज्ञ में अखण्ड स्तुतिपाठ चलता है, ऐसा भूरि शस्त होता है जो कभी समाप्त नहीं होता। इसी तरह इनके इस यज्ञ का 'स्वरु' भी बहुत ही बड़ा होता है चूँकि ये इस 'आदित्य'[2] को यूप बनाकर अपना अध्यात्म-यज्ञ करते हैं जिससे यह समस्त संसार रूपी पशु बंधा हुआ है, उनके इस यज्ञ का झंडा (केतु) वह देदीप्यमान सूर्य होता है जो कभी म्लान नहीं हो सकता, कभी नीचा नहीं हो सकता। ओह! इन्द्र का सखा हो जाने पर मनुष्य कितना महान् हो जाता है, कितना महान् हो जाता है!

(येषां) जिनका (युवा) सदा शक्ति (इन्द्रः) परमेश्वर (सखा) सखा होता है (तेषां) उनका (इध्मः) अग्निसंदीपन (बृहत् इत्) बहुत ही बृहत् होता है, (शस्तं) उनका स्तुतिपाठ (भूरि) बहुत होता है, और (स्वरुः) उनका यज्ञस्तम्भ (पृथुः) बहुत बड़ा होता है।

---

1. 'आत्मा वा इध्मः' तै० 3.2.10.3
2. 'आदित्यो वै यूपः' ऐत० 5.28, तै० 2.1.5.2

अयुद्ध इत् युधावृतं शूर आजति सत्वभिः।
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥

ऋ० 8.45.3, आ० उ० 5.2.21.3

युद्धों में विजय पाने के लिए हम सेनायें रखते हैं, छावनियाँ बनाते हैं, सैनिकों में हिंस्रवृत्ति जगाते और पुष्ट करते हैं, युद्धविद्या के शिक्षणालय चलाते हैं और घातक से घातक शस्त्रास्त्रों का आविष्कार करते हैं, परन्तु क्या हम इसके लिए कभी सदा-युवा 'इन्द्र' का सख्य पाने का भी यत्न करते हैं ? क्या हम विजय पाने के लिए कभी मनुष्यों की सात्त्विक वृत्तियाँ जगा कर उनके महान् सत्त्वों, महान् बलों को संग्रह करने की भी जरूरत समझते हैं ? बात यह है कि हमें इसमें विश्वास नहीं कि जिसका इन्द्र सखा है, उसमें इतनी शूरता आती है कि वह अकेला ही, बिना युद्धविद्या जाने, बिना युद्ध का अनुभव प्राप्त किये, योद्धाओं से घिरे हुए सैन्य को भगा देता है, अपने सत्त्वों द्वारा हरा देता है। असल में यह सच है कि परमेश्वर की मैत्री पाने वाला मनुष्य बिना युद्ध किये, श्रीकृष्ण की तरह बिना हथियार उठाये, प्रतिद्वन्द्वी को जीत लेता है। सचमुच परमेश्वर से शक्ति पाने वाला महापुरुष अकेला ही चतुरंगिणी सेना रखने वाले महाशत्रु को अपनी इन्द्र-शक्ति के सामने झुका देता है। इस सत्य में हमें विश्वास इसलिये नहीं होता चूँकि हम परमेश्वर को नहीं जानते, उसकी शक्ति को नहीं देखते, उस रास्ते नहीं चलते। ओह ! हम कब उस रास्ते चलेंगे ? हम कब विजय प्राप्ति के लिए परमेश्वर का सख्य पाना अनिवार्य समझेंगे ? हम कब पशुबल का संग्रह करने की अपेक्षा आत्मिक सत्त्वों को बढ़ाना सिखा कर संसार को सुखी करेंगे ?

(येषां) जिनका (युवा) सदायुवा, नित्यशक्ति (इन्द्रः) परमेश्वर (सखा) सखा है, (शूरः) शूर होकर वह (अयुद्ध इत्) युद्ध विद्या न जानने वाला, युद्ध का अनुभव न रखने वाला भी (युधावृतं) योद्धाओं से घिरे हुए शत्रुबल को (सत्त्वभिः) अपने आत्मिक सत्त्वों से, सात्त्विक बलों से (आ अजति) परास्त कर देता है।

उत त्वं मघवन् शृणु, यस्ते वष्टि ववक्षि तत् ।
यद् वीलयासि वीलु तत् ।।

ऋ० 8.45.6

हे मघवन् ! तू मुझे भी सुन, जरा मेरी प्रार्थना को भी सुन ! तू तो प्रार्थनाओं को ऐसा सुनने वाला है कि तुझसे जो प्रार्थी जो कुछ चाहता है, कामना करता है, उसे तू वह प्राप्त करा देता है। मैं जानता हूँ, अच्छी तरह जानता हूँ कि तू मनुष्य को सब कुछ दे देता है, उसकी सब शुभ कामना को पूर्ण कर देता है। पर फिर भी तू मेरी प्रार्थना को क्यों नहीं सुनता, इसे क्यों नहीं पूरी करता ? हे इन्द्र ! तू मुझे दृढ़ कर दे, शक्तियुक्त कर दे, पूरा समर्थ बना दे। ओह ! तू तो जिसे दृढ़ करना चाहता है और दृढ़ बना देता है, वह पूरी तरह दृढ़ हो जाता है, अडिग हो जाता है। फिर उसे संसार की कोई शक्ति दबा नहीं सकती । वह अच्छेद्य, अभेद्य हो जाता है। इस संसार के हज़ारों शत्रु उसे हरा नहीं सकते, लाखों दुःख क्लेश उसे डरा नहीं सकते, असंख्य प्रलोभन उसे गिरा नहीं सकते वह पूर्ण 'वीलु' हो जाता है। हे इन्द्र ! तू मुझे भी ऐसा दृढ़ वीर बना दे। तू मेरी इस प्रार्थना को सुन, मेरी इस कामना को पूर्ण कर।

(मघवन्) हे ऐश्वर्यवान् ! ईश्वर ! (त्वं) तू (उत) और भी, मुझे भी (शृणु) सुन, (यः) जो प्रार्थी (ते) तुझसे जो कुछ (वष्टि) चाहता है, कामना करता है, उसे तू (तत्) वह (विवक्षि) प्राप्त करा देता है। (यत्) जिसे तू (वीलयसि) दृढ़ करता है (तत्) वह (वीलु) दृढ़ हो जाता है।

21 माघ

यच्चिद्धि शश्वतामसि इन्द्र साधारणस्त्वम् ।
तं त्वा वयं हवामहे ॥

ऋ० 8.65.7

परमेश्वर ! तुम सभी मनुष्यों में व्याप रहे हो । तुम तो सभी वस्तुओं में व्याप रहे हो और समानरूप से व्याप रहे हो । तुम सब के लिए साधारण हो । तुम सब के हो, समान रूप से सब के हो । छोटा बड़ा, अमीर गरीब, इस देश का उस देश का, इस धर्म का उस धर्म का – तुम सब के हो, समानभाव से सब के हो । अनादि काल से जो जीव होते रहे हैं उन सभी के तुम रहे हो, और अनन्तकाल तक जो जीव होते रहेंगे उन सभी के तुम रहोगे । इस तरह तुम सनातन सर्व साधारण हो । तो भी हम तुम्हें पुकारते हैं; उन्हीं तुम्हें पुकारते हैं जो तुम सर्व साधारण हो । तुम ऐसे अद्भुत हो कि सब के लिए साधारण होते हुए भी तुम सब के लिए विशेष भी होते हो । सब भक्तों की आवश्यकताओं को तुम इतनी पूरी तरह पूर्ण कर रहे हो कि हर एक यही अनुभव करता है कि मानो तुम्हें उसके सिवाय और किसी की चिन्ता नहीं है । सभी मनुष्यों का विकास तुम इतनी सूक्ष्मता से और इतनी परिपूर्णता के साथ कर रहे हो कि हरेक मनुष्य को अनुभव होगा कि मानो तुम अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसी के विकास में लगे हुए हो । इसलिये, हे इन्द्र ! हम तुम्हें पुकारते हैं । सब का कल्याण करते हुए तुम हमारे कल्याण के लिए आओ, सभी की उन्नति करते हुए तुम हमारी उन्नति के निमित्त आओ । जो दूसरों का अकल्याण व अवनति चाहता हुआ तुम्हें अपने लिये पुकारता है, वह अज्ञानी तुम्हें जानता नहीं । इसलिये हे इन्द्र ! हे साधारण ! तुम तो सब के होते हुए हमारी उन्नति के कल्याण के लिये आओ । हम तुम्हें पुकार रहे हैं, हे इन्द्र ! हम तुम्हें प्रेमवश पुकार रहे हैं ।

(इन्द्र) परमेश्वर ! (यत्‌चित्) यद्यपि (हि) सचमुच (त्वं) तुम (शश्वतां) सनातन रूप से सब के, सब मनुष्यों के लिए (साधारणः) साधारण (असि) हो, तो भी (तं) उन्हीं (त्वा) तुम्हें (वयं) हम (हवामहे) पुकारते हैं ।

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः ।
इन्द्रं वाणी रनूषत समोजसे ।।

ऋ० 8.12.22

देव लोग वृत्रवध के लिए इन्द्र को आगे करते हैं, इन्द्र को पुरोहित बनाते हैं। यह इन्द्र ही है जो वृत्रासुर का वध कर सकता है जैसे आधिदैविक जगत् में सूर्य-इन्द्र मेघवृत्र का वध किया करता है, जैसे अधिभूत के देव विद्वान् लोग राजा इन्द्र द्वारा पापियों का विनाश करते हैं, वैसे यहां अध्यात्म में आत्मा इन्द्र है जो 'पाप्मा' वृत्र का हनन करता है। पाप हम पर दिन रात हमला करता रहता है और प्रायः सदा सफल होता रहता है। हम जानते हैं कि यह पाप है, यह नहीं करना चाहिए तो भी हम रुक नहीं सकते। हम इन्द्रियों को रोकते हैं, मन से विचार करते हैं और बुद्धि से निश्चय करते हैं पर फिर भी हम रुक नहीं सकते। इसका कारण यह है कि हम आत्मा द्वारा पाप का नाश नहीं करते हैं, हमने आत्मा को पीछे डाल रक्खा है। देखो, इन्द्रियों से परे मन है, मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी परे जो है, वह हमारा असली आत्मा है। यदि हम उस आत्मा को आगे ले आयें, पुरोहित कर लेवें, इन्द्रियादि देवों को इस आत्मा का अनुयायी, वश्य, पीछे चलने वाला बना लेवें तो फिर वृत्रासुर कभी दुबारा हमारे सामने न आ सके, इसका समूल नाश हो जाये। यह काम है, इच्छा है, स्वार्थ है जो सब पापों की जड़, मूल है पर आत्मप्रकाश हो जाने पर इस स्वार्थ का हममें कुछ काम नहीं रहता, यह विलीन हो जाता है। आत्मराज्य हो जाने पर यह 'काम' इन्द्रियादियों को अपना अधिष्ठान नहीं बना सकता, तब तो ये हमारे देव आत्मिक ओज के अधिष्ठान बन जाते हैं। वृत्र का अन्धकार हटकर हमारे अन्दर आत्मसूर्य का ओज चमकने लगता है। और देखो, आत्मा के इस ओज को प्रकट करने के लिए ये वाणियाँ, वाणी की स्तुतियाँ बहुत सहायक होती हैं। जब हम सुनते हैं, स्वाध्याय करते हैं या स्वयं गाते हैं कि आत्मा की शक्ति इतनी महान् है तो इससे आत्मा का ओज हममें जागृत होता है। वेद मंत्र जो इन्द्र की स्तुतियों से भरे पड़े हैं, वे इसलिये हैं कि हम इस दिव्य वाणी द्वारा आत्मिक ओज को अपने में सम्यक्तया प्रकट कर लेवें और उस द्वारा महाबली वृत्र का संहार कर देवें। अतः आओ, भाईयो ! हम भी इन्द्र को पुरोहित करके अपने में वृत्र का समूल नाश कर लेवें और इसके लिए अपने में आत्मिक ओज को स्तुति प्रार्थनाओं द्वारा सम्यक्तया भर लेवें।

(देवासः) देवों ने **(वृत्राय हन्तवे)** वृत्र के हनन के लिए **(इन्द्रं)** इन्द्र को **(पुरः दधिरे)** पुरोहित किया है और **(संओजसे)** आत्मिक ओज की सम्यक् प्रकार से उत्पत्ति के लिए ये **(वाणीः)** ये वाणियाँ **(इन्द्रं)** इन्द्र की ही **(अनूषत)** स्तुति कर रही हैं।

23 माघ

न ह्यंग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे ।
राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः ॥

ऋ० 8.24.12

हे नचाने वाले ! हे इन सब चराचर सृष्टियों को कठ-पुतलियों की तरह हिलाने वाले ! मैं तुम्हारी शरण पड़ा हूं । जब से मैंने अनुभव किया है कि इस गतिमय समस्त ब्रह्माण्ड को गति देने वाले तुम हो, इस संसार में होने वाले छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कर्मों को प्रेरित करने वाले तुम हो, तुम्हारी इच्छा बिना इस संसार में घास का एक तिनका भी नहीं हिल सकता और तुम्हारी इच्छा होने पर एक पल में इस पृथिवी पर प्रलय आ सकता है, तब से मैं तुम्हारी शरण में आ पड़ा हूं । मैं देखता हूं कि तुम्हारी कृपा बिना मैं कुछ नहीं पा सकता । इस संसार में तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है जो मुझे कोई सिद्धि व सफलता दिला सके । मुझे कोई नहीं दिखायी देता जो मेरे छोटे से छोटे अभीष्ट को सिद्ध कर सके । मेरी जीवन-साधना के तो एक मात्र तुम्हीं आधार हो ! पर हे वाणियों से संभजनीय ! मैं तो देखता हूं कि यदि मैं धन पाना चाहूं, तेज पाना चाहूं, बल पाना चाहूं या कुछ और पाना चाहूं, तो मैं और किस का आश्रय लूं ? इन सब वस्तुओं को भी दे सकने वाला तुम्हारे सिवाय इस संसार में मेरे लिए और कोई नहीं है । मैं तो हे इन्द्र ! तुम्हारी शरण पड़ा हूं, सब जगह भटक-भटक कर अब तुम्हारी शरण पड़ा हूं ।

(अंग) हां, (नृतः) हे नाचने वाले ! (राधसे) साधना-सिद्धि व सफलता लिए मैं (त्वत्) तुझ से (अन्यं) अन्य किसी को (न हि) नहीं (विन्दामि) पाता हूँ, (गिर्वणः) हे वाणी से संभजनीय ! (राये) धन के लिए (द्युम्नाद) तेज के लिए (च) और (शवसे) बल के लिए मैं और किसी को नहीं पाता हूँ ।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्यः, अभयं नः पशुभ्यः ॥

यजु० 36.22

हम किसी भी घटना से, किसी भी स्थान में, किसी भी काल में क्यों डरते हैं ? वास्तव में डरने का कहीं भी कोई कारण नहीं है । फिर भी हे परमेश्वर ! हम इस लिये डरते हैं क्योंकि हम तुम्हें भूल जाते हैं, क्योंकि सदा हम सर्वत्र सब घटनाओं में तुम्हारा हाथ नहीं देखते । यदि हम संसार की सब घटनाओं को तुम्हारा 'संचेष्टित' देखें, तुम द्वारा की गयी, तुम द्वारा सम्क्यतया की गयी देखें तो हम कभी भी भयभीत न होवें । तुम तो परम मंगलकारी हो, सम्यक् ही चेष्टा करने वाले हो, सदा सब का कल्याण ही करने वाले हो । इसलिये हे प्रभो ! तुम जहाँ जहाँ से चेष्टा करते हो, जिस जिस स्थान, काल, कारण व कर्म से अपना संचेष्टन करते हो, वहाँ-वहाँ से हमें अभय कर दो, वहाँ वहाँ से हमें बिल्कुल निर्भयता ला दो । पर तुम कहाँ संचेष्टन नहीं कर रहे हो ? तुम किस जगह नहीं जाग रहे हो ? ओह, यदि हम संसारी मनुष्य इतना अनुभव करें तो इस संसार में हमारे लिए अभय ही अभय हो जाये । इस संसार में सुख सौहार्द प्रेम और निर्भयता का राज्य हो जाये । कहीं कोई निर्बल को न सतावे, कभी कोई मूक पशुओं पर भी हाथ न उठाये । तब न केवल सब प्रजायें सुख शान्ति पायें, न केवल बालक आदि सब मनुष्य प्राणी क्षेम मनायें, किन्तु संसार की आगे आने वाली संततियां भी कल्याण को प्राप्त करें तथा सब पशु पक्षी भी इस वृहत् प्राणी परिवार के अंग होते हुए निर्भय होकर इस पृथ्वी पर विचरें । इस समय जो यह संसार स्वार्थान्ध होकर गरीबों को नाना प्रकार से सता रहा है, अपने भोग विलास के लिए प्रतिदिन असंख्य पशुओं को काट रहा है—यह सब घोर अनर्थ तब शान्त हो जाये । सब पाप अन्याय समाप्त हो जाये । प्रभो ! हे जगदीश्वर ! तुम ऐसी ही कृपा करो । हम सब प्राणी सदा सर्वत्र तुम्हारे ही 'समीहन' को अनुभव करें, तुम ऐसी ही कृपा करो । और हमारी प्रजाओं के लिए तुम ऐसा ही 'शं' कर दो, हमारे पशुओं के लिए भी तुम ऐसा ही परिपूर्ण 'अभय' कर दो ।

(यतः यतः) जहाँ जहाँ से तुम (सं ईहसे) सम्यक् चेष्टा करते हो (ततः) वहां से (नः) हमें (अभय) अभय (कुरु) करदो । (नः) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिए (शं) कल्याण) (कुरु) करदो और (नः) हमारे (पशुभ्यः) पशुओं के लिए (अभयं) अभय करदो ।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः द्यौः समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ।।

यजु० 23.48

क्या तुम इस स्वयंप्रकाश और सर्वजगत् प्रकाशक सूर्य को देखकर आश्चर्य करते हो कि इसके समान कोई दूसरी ज्योति इस संसार में कहाँ हो सकती है ? पर देखो, यह ब्रह्म, यह वेद उसी तरह स्वयं प्रकाश और सर्वजगत् प्रकाशक है । हमारे अन्दर यह ब्रह्म, यह ज्ञान, यह ज्ञानमय ब्रह्म अन्दर की ज्योति है, अन्दर का सूर्य है, असली सूर्य है । क्या तुम इस पारावार समुद्र को देखकर समझते हो कि इस जैसा जलाशय, इतना बड़ा सरोवर और कोई नहीं हो सकता ? नहीं, जरा सूक्ष्मता से देखो कि यह अन्तरिक्ष इसी प्रकार का जलवाष्प-मय बड़ा भारी जलसमुद्र है, हमारे अन्दर इसी प्रकार का हृदयान्तरिक्ष, बहुत बड़ा मानस सरोवर है, इतना ही गम्भीर, इतनी बड़ी बड़ी तरंगों वाला मनस्तत्त्व का बना हुआ दिव्य समुद्र है । क्या तुम बड़ी भारी पृथिवी को देखकर सोचते हो कि इससे अधिक बड़ा, इससे अधिक वर्षों वाली चिरकालीन कोई और वस्तु क्या हो सकती है ? परन्तु, देखो यह इन्द्र, यह आदित्य इस पृथ्वी से लाखों गुना बड़ा और इस पृथिवी से लाखों वर्षों बड़ा है । हमारे अन्दर यह 'इन्द्र' आत्मा, यह परमात्मा पृथिवी से अनन्तों गुणा बड़ा है और यदि उसकी वर्षों में गणना करें तो इसका कभी आदि ही नहीं है, यह अनादि है, सनातन है । क्या तुम इस पृथिवी के बृहत् परिमाण को देखकर पूछते हो कि क्या कोई ऐसी वस्तु भी हो सकती है जिसकी कोई मात्रा नहीं, कोई परिमाण नहीं ? तो देखो, इस आदित्य की 'गौ' रूप किरणें इतनी हैं कि उनकी मात्रा नहीं हो सकती, वे गिनीं नहीं जा सकतीं । अन्दर आत्मा-इन्द्र की गोरूप किरणें, वाणी आदि आत्म-शक्तियाँ इतनी हैं कि उनका किसी तरह परिमाण नहीं किया जा सकता; बस, यही कहा जा सकता है कि ये अनन्त हैं, ये अनन्त हैं ।

(ब्रह्म) वेद या ज्ञानमय ब्रह्म (सूर्यसमं) सूर्य जैसी (ज्योतिः) ज्योति है । (द्यौः) अन्तरिक्ष सागर या मानस सागर (समुद्र समं) पार्थिव समुद्र जैसा (सरः) जलाशय, सरोवर है । (इन्द्रः) आदित्य या महान् आत्मा (पृथिव्यै) पृथिवी से (वर्षीयात्) बड़ा या अधिक वृद्ध है । (गोः) किरणों का या आत्मशक्तियों का (मात्रा) परिमाण (न विद्यते) नहीं है

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः, अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥

ऋ० 1.164.35 यजु० 23.62 अथर्व० 9.10.14

क्या तुम पूछते हो कि इस अति विस्तीर्यमाण पृथ्वी का परला सिरा किस जगह है, अन्तिम सीमा कहाँ है ? अरे जहाँ तुम खड़े हो यह वेदि, यह यज्ञवेदि ही इस पृथ्वी की समाप्ति सीमा है। प्रत्येक मनुष्य की अपनी यज्ञवेदि ही उसके लिए इस गोलाकार पृथ्वी की अन्तिम सीमा है। यज्ञ के रहस्य के जानने वाले जानते हैं कि यह सम्पूर्ण ही पृथ्वी वेदि रूप है और अध्यात्मयज्ञ के लिये हम स्वयं, हमारा यह शरीर, ही वेदिरूप है। इस घूमने वाले संसार चक्र की, इस संसार संसरण की सीमा भी हमारी यह शरीर रूपी वेदि ही है। इस संसार सागर के परले किनारे पर पहुंचने के लिए हमें और कहीं जाने की जरूरत नहीं है, यहाँ 'परो अन्तः' हमारे अन्दर 'उरः' (हृदय) रूपी यज्ञवेदि पर ही है। जब मनुष्य को इस असली यज्ञवेदि का पता लग जाता है तभी वह भवसागर के परले पार पहुंच जाता है।

तुम इस संपूर्ण भवन के नाभि स्थान की पूछते हो ? देखो, यह यज्ञ ही वह केन्द्रीय वस्तु है जिससे कि यह सब ब्रह्माण्ड, इस ब्रह्माण्ड के सब संसार, संसारों की सब वस्तुएँ परस्पर बंधी हुई हैं। यज्ञ रूप से ही परमेश्वर इस सब संसार को यथावत् जोड़े हुए हैं। यज्ञ न रहे तो सब संसार बिखर जाये, सब वस्तुएँ जुदा-जुदा होकर नष्ट हो जायें। यज्ञ ही वह वस्तु है जो सबका संगति करण करने वाली, सब को ठीक तरह बाँध रखने वाली, सर्वत्र सर्वांकि नाभि है।

क्या तुम पूछते हो कि इस आदित्य रूपी महावीर्यशाली 'अश्व' का वीर्य क्या है ? तो देखो, यह वीर्य सोम है। सोमादि वनस्पति केरस के हवन से आदित्य द्वारा सब संसार में सब प्रकार की समृद्धि उत्पन्न होती है, वृष्टि रूप सोम रस के सेचन से सब अन्न और अन्नाश्रित समस्त संसार उत्पन्न होता है। यह सभी संसार उस वृषा 'आदित्य' पुरुष द्वारा प्रकृति की भोग्यता रूपी सोम से या जीवों में रहने वाले भोग प्राप्त करने के रस (इच्छा) रूपी सोम से उत्पन्न हुआ है और होता रहता है।

और तुम पूछते हो कि सब वाणियों का परम व्योम कौन है ? ब्रह्मा, चारों वेदों का ज्ञाता ब्रह्मज्ञ, ब्रह्मा या चारों प्रकार के सम्पूर्ण ज्ञान का आश्रय स्वयं परम ब्रह्मा वह परम आकाश है जहाँ से संसार भर की सब वाणियाँ निकलती हैं और लीन होती हैं। हमारे सब शास्त्रों का, सब वाणियों का, सब ज्ञानों का यही एक रक्षा-स्थान है, यही नित्य आधार है। यही परम व्योम है।

(इयं) यह **(वेदिः)** यज्ञवेदि **(पृथिव्याः)** पृथ्वी का **(परः)** परला **(अन्तः)** किनारा है, **(अयं)** यह **(यज्ञः)** यज्ञ **(विश्वस्य)** संम्पूर्ण **(भुवनस्य)** ब्रह्माण्ड का **(नाभिः)** बाँधने वाला नाभि स्थान है। **(अयं)** यह **(सोमः)** सोम **(वृष्णः)** महा-वीर्यशाली **(अश्वस्य)** व्यापक आदित्य का **(रेतः)** वीर्य, उत्पादक बीज है, और **(अयं)** यह **(ब्रह्मा)** चारों वेदों का ज्ञाता **(वाचः)** वाणी का **(परमं)** परम **(व्योम)** आश्रय स्थान है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यजु० 34. 1

यह मन बड़ा प्रबल है। यह सोते जागते कभी भी चैन नहीं लेता। जितनी देर मैं जागता रहता हूं, उतनी देर यह कुछ न कुछ सोचता हुआ प्रतिक्षण भटकता ही फिरता रहता है; कभी भूत की, कभी भविष्यत् की, कभी यहाँ की, कभी वहाँ की, बड़ी दूर-दूर की, किन्हीं न किन्हीं बातों के विषय में लगातार संकल्प विकल्प करता है और जब मैं सो जाता हूं, मेरी सब जागृत क्रियायें बन्द हो जाती हैं, तब भी यह मन अपने में ही उसी तरह काम करता रहता है. कहीं-कहीं के दूर दूर के स्वप्न देखता फिरता रहता है बल्कि सुषुप्ति काल में भी इसकी वृत्ति बन्द नहीं होती। सचमुच यह कथानक के 'भूत' की तरह चौबीसों घन्टे बड़े वेग से कुछ न कुछ करता ही रहता है। अगले ही क्षण में न जाने कितनी दूर जा पहुंचता है? बाह्य प्रकाश का प्रसिद्ध अति तीव्र गतिवेग भी इसके गतिवेग के सामने तुच्छ है। यह आन्तर प्रकाश तो एक क्षण में चाहे कितनी दूर, असंख्यातों मील पहुंच सकता है। उस 'भूत' की तरह यह भी क्षण में बड़े-बड़े कार्य पूरे कर सकने वाली एक महान् शक्ति है। परन्तु दैव शक्ति है, प्रकाशमय ज्योतिर्मय शक्ति है। यह आन्तर ज्योति है। यह मन महाशक्ति है, दिव्य ज्योतिर्मय महाशक्ति है। मुझे तो, हे प्रभो! जब से इस मन का, इस संकल्पमय दिव्य महाशक्ति का, ज्ञान हुआ है तब से मेरा तुम से अन्य कुछ प्रार्थना करना समाप्त हो गया है, तब से मेरी तुमसे केवल एक प्रार्थना रह गयी है, 'तुम मुझे इतना बल दो कि मेरा यह मन केवल शुभ, कल्याण संकल्पों का ही करने वाला हो जाये।' यह जो मन मुझ में चौबीसों घण्टे कुछ न कुछ संकल्पन करता रहता है, उस संकल्प का प्रवाह में एक भी बुरा अशुभ संकल्प मुझ में न उठे। बस, इतना हो जायेगा तो शेष सब कुछ स्वयमेव हो जायगा। तूने मुझे इस दिव्य शक्ति को प्रदान करके मुझे सब कुछ प्रदान कर दिया है। बस मुझे इतनी शक्ति और दे दे कि मैं तेरे इस यन्त्र की दिव्यता को कायम रख सकूं, इस मन द्वारा निरन्तर दिव्य शुभ कल्याणकारी संकल्पों का ही प्रवाह चला सकूं, कभी अहित चाहने वाले, गिराने वाले अपवित्र अशिव संकल्पों को न उठने दे सकूं। बस, हे प्रभो! तू मेरे मन को इस तरह शिवसंकल्प बना दे, इस महाशक्ति को शिव-संकल्पमयी कर दे। फिर मुझे और कुछ नहीं चाहिए, और कुछ नहीं चाहिए।

(यत्) जो (दैवं) दिव्य शक्ति रूप [मेरा मन] (यत्) जो (जाग्रतः) मेरे जागते हुए (दूरं उदैति) दूर-दूर फिरता है और (सुप्तस्य) मेरे सोते हुए (उ) भी (तत्) जो वह (तथैव एति) उसी तरह दूर दूर जाता है, (तत्) वह (दूरंगमं) दूर दूर पहुंचने वाला (ज्योतिषां एकं ज्योतिः) ज्योतिओं की एक ज्योति (मे मनः) मेरा मन (शिवसंकल्पं) सदा शुभ ही संकल्प करने वाला (अस्तु) हो जाये।

अहस्ता यदपदी वर्धत क्षाः शचीभिर्वेद्यानाम् ।
शुष्णं परि प्रदक्षिणित् विश्वायवे निशिश्नथः ।।

ऋ० 10.22.14

हे इन्द्र ! तुम सब मनुष्यों का भला करने वाले हो सब विश्व का कल्याण करने वाले हो । जब कभी कोई महाअसुर विश्वव्यापी होकर विश्व भर को पीड़ित कर देता है तो तुम ही उसका संहार करके विश्व का पालन करते हो । यह मायावी 'शुष्ण असुर' हमारे रुधिर को, धन जन भोजन जीवन प्राण आदि रुधिर को, इस प्रकार शोषण करता है कि हमें इस का कुछ भी पता नहीं लगता ! असली शोषण कर्म करने वाले और इस चूस में बड़ा भाग बटाने वाले इसके बड़े-बड़े साथी असुर भी अपने आप को अन्त तक छिपाये रखते हैं । रुधिर आदि की वहुत कमी हो जाने पर जब हम जानना चाहते हैं कि ये हमारा शोषण करने वाले कौन हैं, तब भी ये विदित नहीं होते हैं, 'वेद्य' ही रहते हैं । इतना ही नहीं किन्तु ये 'वेद्य' असुर अपने इस राक्षसी शोषण के नृशंस कृत्य को छिपाने के लिए अपनी आसुरी 'शचीओं' द्वारा, शक्तियों व कर्मों द्वारा एक बहुत बड़ा आवरण खड़ा कर लेते हैं । एक नयी पृथिवी, एक नयी सृष्टि रचकर हमारी आँखों में धूल डालते रहते हैं । हम आँखों से इनकी इस कौशल पूर्ण पार्थिव रचना को देखते हुए 'वाह वाह' करते जाते हैं और अपने आप को चुसवाते जाते हैं । परन्तु हे इन्द्र ! छिपे हुए इन शोषक असुरों का यह पार्थिव विस्तार चाहे कितना बड़ा हो, चाहें कितना आडम्बर पूर्ण हो, किन्तु न इसके हाथ होते हैं और न पैर । यह माया ही माया होता है । तुमसे अनुप्रणित न होने के कारण न तो इसमें कोई असली कर्म शक्ति होती है और न उसका कोई आधार होता है । अतः इस 'अहस्ता अपदी' मायामयी पृथिवी को तुम काफी हद तक बढ़ने भी देते हो । शुष्णासुर अपने इस विश्वव्यापी शोषण की आड़ करने के लिए इसे इतना बढ़ाता जाता है कि इस आवरण को विश्व भर में फैला देता है और इस विश्वव्यापी आवरण द्वारा अपने आप को सब जगह परिवेष्टित कर लेता है, सब तरफ से लपेट लेता है, पूरी तरह से छिपा लेता है और एक विश्व-व्यापी माया दुर्ग में अपने को सुरक्षित कर लेता है । पर इसके इतना बढ़ जाने पर भी हे इन्द्र ! तुम इस 'शुष्ण के सब पार्थिव विस्तार को एक बार में छिन्न-भिन्न कर देते हो, शुष्णासुर के सब ठाठ को गिरा देते हो, सम्पूर्ण माया को पूरी तरह मिटा देते हो ।

हे इन्द्र ! (यत्) जब (वेद्यानां) वेदितव्य, छिपे हुए [शोषक असुरों] की (शचीभिः) शक्तियों से (अहस्ता) बिना हाथ वाली (अपदी) बिना पैर वाली (क्षाः) पृथिवी पार्थिव आवरण, माया की भूमि (वर्धत) बढ़ती है तो तुम (शुष्णं) शुष्णासुर को (परि) परिवेष्टित करके (प्रदक्षिणित्) घेरे हुए, लपेटे हुए, छिपाये हुए [इस पृथिवी को] (विश्वायवे) सब मनुष्यों के हित के लिए (निशिश्नथः) पूरी तरह नष्ट कर देते हो ।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि । वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि ।
बलमसि बलं मयि धेहि । ओजोऽस्योजो मयि धेहि ।
मन्युरसि मन्युं मयि धेहि । सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥

यजु० 19·9

हे सोम ! तू तेजः स्वरूप है, तू मुझमें तेज को धारण करा । तेजस्विता, उग्रता के बिना मैं प्रलोभनों को नहीं जीत सकता और प्रलोभनों को बिना जीते मैं शारीरिक वीर्य का भी संरक्षण नहीं कर सकता । इसलिए तेज को देकर, हे वीर्य के भण्डार ! तू मुझमें वीर्य को धारण करा, मुझे ऊर्ध्वरेता बना, मेरे सब अंगों में नव-जीवन की स्फूर्ति उत्पन्न करा, जिससे मैं सच्चे बल को धारण कर सकूँ । तू तो बल है, संसार के सब बल—हस्ति बल, विद्युत्‌बल पृथ्वी आदि को धारण करने का इन्द्रबल तक सब बल—तेरे ही सेवन से प्राप्त होते हैं । तो, मैं निर्बल तेरे सिवाय और कहाँ से बल की याचना करूँ ? बलहीन रहकर मैं आत्मा को नहीं पा सकता, कभी ओज को, आत्मिक तेज को नहीं प्राप्त कर सकता । अतः मुझे बली बनाकर, हे ओजोमय ! तू मुझे ओज भी प्रदान कर । जब मुझमें ओज आ जायगा, आत्म तेज समा जायगा तो हे मन्युरूप ! मुझ में भी पाप के दलन के लिए, अन्याय के विध्वंस के लिए स्वभावतः मन्यु प्रदीप्त हुआ करेगा, वह राग द्वेष रहित प्रशान्त आत्म-ज्वलन प्रकट हुआ करेगा, जिस के उदय होने पर सब पाप भस्म हो जाता है और सब असत्य विलीन हो जाता है । परन्तु साथ ही, हे सहःस्वरूप ! तू मुझे आत्मा की वह 'सह-शक्ति भी प्रदान कर जिससे मैं घोर से घोर मुसीबतों को भी हँसता हुआ सह सकूँ, उस तपस्या की शक्ति को धारण करा जिसके सामने कोई विरोधनी शक्ति नहीं ठहर सकती, जिसके होने पर असह्य से असह्य विपत्तियाँ खेल हो जाती हैं और जिसकी अग्नि में कठोर से कठोर हृदय भी पिघल जाते हैं । इस प्रकार हे सोम ! तुझे अपने में बसा कर, तेरा पान करके मैं स्थूल तेज से लेकर तपस्या के तेज तक तेरे सब तेजों को प्राप्त कर लेऊँ, हे सोम ! तेरे छहों सामर्थ्यों को अपने में धारण कर सोममय होऊँ ।

(तेजः) तू तेज (असि) है, (तेजः) तेज को (मयि) मुझ में (धेहि) धारण करा । (वीर्यं) तू वीर्य (असि) है (वीर्य) वीर्य को (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा । (बलं) तू बल (असि) है, (बलं) बल को (मयि) मुझ में (धेहि) धारण करा । (ओजः) तू ओज (असि) है (ओजः) ओज को (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा । (मन्यु) मन्यु को मन्यु (असि) (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा । (सहः) तू सहः (असि) है, (सहः) सहः को (मयि) मुझमें (धेहि) धारण करा ।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतं, शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतं, अदीनाः स्याम शरदः शतं, भूयश्च शरदः शतात् ।

यजु० 36.24, ऋ० 7.66.16

देखो, सामने यह सूर्य, यह संसार की आँख, यह देवों का हितकारी चक्षु अपने निर्मल शुक्र प्रकाश में चमक रहा है, उदित हो रहा है । नहीं और गंभीरता से देखो, वह महान् सूर्य, प्रेरक प्रभु, हम में से प्रत्येक के सम्मुख सदा उदय हुआ हुआ है । अपने प्रकाश से सब संसार को दर्शनशक्ति देता हुआ, सदा सब देवस्वभाव मनुष्यों का निरन्तर हित करता हुआ यह परम विशुद्ध चक्षु अनादि काल से चमक रहा है। आओ मनुष्यो ! आओ, हम इस सूर्य को देखते हुए सौ वर्ष तक जीते रहें, हम सौ वर्ष तक इस दिव्य सूर्य को आन्तर नेत्रों से अनुभव करते रहें और सौ वर्ष तक उसकी अनुकूलता में प्राणों को धारण करते रहें । ओह ! यदि हम याद रखें कि ऊपर वह आँख हमें सदा देख रही है, वह विशुद्ध चक्षु हमें निरन्तर ठीक-ठीक जान रही है तो हम क्यों न विशुद्ध आचरण वाले होंगे और क्यों न पूरे सौ वर्ष तक जीने वाले होंगे ? यदि हम ध्यान रखें कि वह देवों का हित चक्षु निरन्तर हमारी अध्यक्षता कर रहा है तो हम क्यों न दिव्य आचरण वाले होंगे क्यों, न सौ वर्ष तक दिव्य जीवन ही बितायेंगे ? तो, भाइयो ! आओ, हम उस सूर्य के प्रकाश को सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें; उस दिव्य आँख के नीचे सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक प्रवचन करें; और उसकी ही अध्यक्षता में सौ वर्ष तक अदीन स्वावलम्बी और उत्साहपूर्ण जीवन व्यतीत करें । उसकी अध्यक्षता मे रहना और दीन पराधीन होना यह कैसे हो सकता है ? नहीं-नहीं, हम तो सौ वर्ष से भी अधिक देर तक देखते और जीते हुए, सुनते और सुनाते हुए अपराधीन पुरुषार्थमय पूर्ण जीवन बितायेंगे । एवं अदीन होकर हम सौ वर्ष से भी अधिक जीवेंगे । अवश्य सौ वर्ष से भी अधिक जीवेंगे ।

(तत्) वह (देवहित) देवों का हितकारी (चक्षुः) चक्षु, सबको दिखाने वाला, सर्वाध्यक्ष, ज्ञानस्वरूप (पुरस्तात्) हमारे सामने, सदा समक्ष (शुक्रं) शुद्ध रूप (उत् चरत्) उदय हुआ, हुआ है । उसकी सहायता ले हम (शतं शरदः) सौ वर्ष तक (पश्येम) देखें, (शत शरदः जीवेम) सौ वर्ष तक जीवें, (शतं शरदः शृणुयाम) सौ वर्ष तक सुनें (शतं शरदः प्रब्रवाम) सौ वर्ष तक बोलें, (शतं शरदः अदीनाः स्याम) सौ वर्ष तक अदीन रहें, (शतात् शरदः भूयश्च) सौ वर्ष से अधिक भी देखते सुनते बोलते हुए अदीन होकर जीते रहें ।

फाल्गुन (कुम्भ) के लिए
प्राणदायक व्यायाम

अपने शरीर को पृथ्वी की तरफ मुँह करके इस प्रकार दिगन्तसम फैलाइये कि हाथों की हथेलियाँ और पैरों के अँगूठे के सिवाय कोई अंग भूमि को न छू रहा हो। अब कोहनी से हाथों को मोड़ते हुए यहाँ तक शरीर को नीचे लाइये कि आपकी ठोड़ी जमीन को छू जाय। फिर हाथों को सीधा करते हुए शरीर को ऊपर उठाइए। ध्यान रखिये कि आपके घुटने भूमि को न छुयें। इसे बार बार कीजिये। जब शरीर को नीचे ले जा रहे हों तो गहरा श्वास अन्दर भरिये। जब शरीर को ऊपर उठा रहे हों तो श्वास बाहिर निकालिये।

(2)

इस दूसरी व्यायाम के लिए सीधे खड़े हो जाइये। हथेलियाँ शरीर की ओर रखते हुए मुट्ठियाँ बाँध लीजिए। अब अपने पैरों के अँगूठों के बल होकर अपने शरीर को ऊपर उठाइए, इस अवस्था में अपने हाथ और पैर की मांसपेशियों को ताने रखिये। फिर शरीर को नीचे ले आइए। इसे बार बार कीजिये। जब आप अँगूठे पर खड़े हों तब श्वास अन्दर भरिये और जब शरीर नीचे ले जायें तो श्वास को बाहर निकालिये और मांसपेशियों को ढीला कर दीजिये।

ध्यान—इस प्राणायाम में अपना मन पैरों पर एकाग्र कर इन्हें स्वस्थ तथा पूर्ण चित्रित कीजिये।

'मुझ में अद्भुत स्फूर्ति है, मुझ में जीवन प्रवाह बह रहा है।' इस प्रकार ध्यान कीजिये।

इन अंगों को गौणतया ज्येष्ठ, भाद्रपद और मार्गशीर्ष के व्यायामों से भी लाभ पहुँचता है।

अति तृष्टं ववक्षिथ अथैव सुमना असि।
प्रप्रान्ये यन्ति पर्यन्य आसते येषां सख्ये असि श्रितः॥

ऋ० 3.9.3

जो प्यासा है, जिसे तेरी सच्ची लगन है, जो तुझे पाने को सचमुच व्याकुल है, अतएव जो तीव्र वैरागी है, उसे तू भी अतिशय प्रेम से वहन करना चाहता है, उसके अभीष्ट को तू प्राप्त करा देता है, उसकी प्यास तू बुझा देता है। अरे, तू तो उसकी प्यास बुझा कर ही संतुष्टमना होता है, 'सुमना' होता है। वैसे तो तूने 'सुमनाः' या 'दुर्मनाः' क्या होना है, परन्तु यदि तू कभी सुमना होता कहा जा सकता है तो अपने इन भक्तों की इच्छा को पूर्ण करने में अवश्य सुमना होता है, अवश्य प्रसन्न होता है। तू तो सदा संसार के अपने हम पुत्रों की, भक्तों की कामनाओं को पूरा कर रहा है और सदा ही सुमना हो रहा है परन्तु देखना यह है कि हम तेरे पुत्रों में कितने हैं जो तुझे इस तरह सुमना कर रहे हैं? कितने हैं जिनमें तुझे पाने की सच्ची लगन है? कितने हैं जो सचमुच तेरी कामना कर रहे हैं? ओह! ये सब सांसारिक लोग तो विषय भोगों की ही—केवल विषय भोगों की ही कामना कर रहे हैं परन्तु जिनके सख्य में तू विद्यमान है, जो तेरा मिलकर आराधन करते हैं, जो तेरे उपासक हैं, उन तेरे सखाओं में भी तेरे ऐसे अनन्य भक्त विरले ही हैं जिनमें तेरे पाने की उत्कट इच्छा है, जो एक मात्र तेरी ही कामना कर रहे हैं। ये धार्मिक लोग अपने संगतों, समाजों में जब कभी तेरी महिमा का हृदयस्पर्शी वर्णन सुनते हैं तो ये भी तेरा अनन्य भजन करना प्रारम्भ कर देते हैं परन्तु कुछ देर में ही ये ऊब जाते हैं, इनकी सांसारिक वासनायें इन्हें खींचने लगती हैं, सुख वैभव प्रतिष्ठा आदि पाने की दबी हुई कामनायें काम करने लगती हैं और ये उठ कर फिर अपने उन्हीं पुराने रास्ते चल पड़ते हैं। थोड़े ही होते हैं जो भजन में लगे रहते हैं, निरन्तर दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक तेरी ही भक्ति करते जाते हैं। इस संसार रूपी मेले में तेरा नाम सुन कर तेरा दर्शन करने तो सभी सखा आते हैं, परन्तु एक तो वे भक्त होते हैं जो तुझे मौनमुद्रा में देख कर कुछ देर प्रतीक्षा करके उठ जाते हैं, तुझे प्रणाम करके चले जाते हैं। दूसरे वे लोग हैं जो तुझे पहिचान लेते हैं और तुझे घेर कर बैठ जाते हैं और तेरे ध्यान में दृढ़ आसन लगा कर समाहित हो जाते हैं।

(तृष्टं) प्यासे को तू (अति ववक्षिथ) अतिशय वहन करना चाहता है (अथ एव) और तभी (सुमनाः) तू प्रसन्नमना (असि) होता है। (येषां) जिनके (सख्ये) सखिभाव में तू (श्रितः असि) विद्यमान है, उनमें भी (अन्ये) एक हैं जो (प्रप्रयन्ति) अपने अपने रास्ते चले जाते हैं और (अन्ये) दूसरे हैं जो (परिआसते) तुझे घेर कर बैठ जाते हैं, तेरी उपासना में बैठ जाते हैं।

मा चिदन्यत् विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्थ्या च शंसत ॥

ऋ० 8.1.1, सा० पू० 3.1.10,
सा० उ० 6.1.5, अथ० 20.85.1

भाइयो ! उस प्रभु के सिवाय इस संसार में हमारा कोई अन्य स्तुति करने योग्य नहीं है । किसी भी अन्य की स्तुति करने से हमारा कुछ बनेगा नहीं और हम जो यूँ ही दिनभर बोलते रहते हैं, उससे अपनी हानि ही करते हैं । जो वाणी प्रभु सेवा के उद्देश्य से उच्चारण नहीं की जाती, जो परमात्मा को साक्षी रखकर नहीं बोली जाती, जिसका प्रभु से कोई सम्बन्ध नहीं होता—ऐसी सब हमारी वाणी न केवल वृथा है, किन्तु हमारा नाश करने वाली है । जैसे मेंढक के टर्र-टर्र करने का और कुछ परिणाम नहीं होता सिवाय इसके कि सांप को अपने भक्ष्य का पता मिल जाता है, उसी तरह मनुष्य अपने निरर्थक और परमेश्वरहीन प्रलापों के करते रहने से काल का ही शीघ्र ग्रास बन जाता है । इसलिये हे मनुष्य जन्म पाने वालो ! हे सखाओ ! तुम क्यों यूँ ही विनष्ट होते हो, अपने प्रभु के सिवाय अन्यों की स्तुति करके क्यों हिंसित होते हो, स्वार्थ हिंसा रागद्वेष से भरी वाणियाँ बोल-बोलकर क्यों हिंसक बनते हो और फलतः स्वयं विनष्ट हो जाते होते हो ? यदि तुम निरन्तर प्रभु नाम नहीं ले सकते, तो कम से कम चुप रहो पर किसी अन्य अस्तुत्य की स्तुति तो न करो, ऐसी वाणी तो न बोलो जो तुम्हें प्रभु से हटाकर विनाश की तरफ ले जाने वाली हो । इसलिये भाइयो ! जागो, आज से एक मात्र उस इन्द्र का ही दिनरात स्तवन करो, सब अभीष्टों को बरसाने वाले सर्वशक्तिमान् केवल उस परमेश्वर का ही स्तुति-कीर्तन करो । इस संसार यज्ञ में सम्मिलित हुए हुए सब सखा मिलकर उसी परम प्रभु के स्तोत्रों को गुंजाओ, अपने प्रत्येक यज्ञ कर्म में उस इन्द्र का ही तन्मग्न होकर गुण-गान गाओ । जरा देखो उस 'वृषण' प्रभु के सिवाय इस संसार में और कौन है जो हम पर सब सुखों और अभीष्टों को बरसा रहा है । हम यूँ ही मूर्खतावश कभी किसी मनुष्य: स्वामी व राजा को या किसी अन्य शक्ति को समर्थ समझ कर उसकी स्तुति में लग जाते हैं । परन्तु देखो ! उस सर्व समर्थ परमेश्वर के सिवाय हमारा और कौन है जो हमें सब कुछ प्रदान कर सकता है ? अतः आओ ! अब हम सदा उसके ही गीत गायें और सब कुछ भूल जायें; मस्त होकर उसके ही स्तोत्र बार-बार सुनायें, प्रेमाश्रु से गद्गद होकर उसके ही गीत निरन्तर गाते जायें ।

(अन्यत्) अन्य किसी के स्तोत्रों को (मा चित्) कभी मत (विशंसत) उच्चारण करो, और इस तरह (सखायः) हे सखाओ, हे मनुष्य भाइयो ! (मा) मत (रिषण्यत) अपने को विनष्ट करो । (सुते) इस संसार यज्ञ में, प्रत्येक यज्ञ कर्म में (सचा) मिलकर, तन्मग्न होकर (वृषणं) अभीष्टों को बरसाने वाले, सर्वशक्तिमान् (इन्द्रं) परमेश्वर की (इत्) ही (स्तोत) स्तुति करो (च) और (मुहुः) बारंबार (उक्थ्या) [उसके ही] भजनों का (शंसत) उच्चारण करो ।

वैदिक विनय/380

**अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् ।
इदमह मनृतात् सत्य मुपैमि ॥**

यजु० 1.5

हे अग्ने ! तुम व्रतपति हो । मैं तो बहुत से व्रत धारण करता हूं, पर उन्हें निभा नहीं सकता । एक समय पर दृढ़ निश्चय से, पूरी गम्भीरता से किसी व्रत को ग्रहण करता हूं, पर पीछे से गिरावट हो जाती है, धीरे-धीरे वह व्रत नियम ढीला होता जाता है और छूट जाता है। इसलिए हे व्रतपते ! मैं आज तेरी शरण आया हूं। आज वह दिन आ गया है जबकि मैं तुझ व्रतपति के सामने अटल, अडिग व्रत को धारण कर सकूंगा । हे अग्ने ! आज मैं तुझे साक्षी रखकर तेरे प्रताप से ऐसे परिपूर्णतया व्रत को धारण करूंगा कि इस व्रत का आगे कभी भंग नहीं हो सकेगा । मैं अन्तःकरण से कहता हूं कि इस लिए हुए व्रत को अब मैं प्राणपण से निबाहूंगा, इस पर अवश्यक आचरण करूंगा, इसमें रत्ती भर भी इधर-उधर विचलित नहीं होऊंगा। हे व्रतपते ! मैं जानता हूं तुम अपने व्रतों के ऐसे परिपूर्ण पति हो कि तुम्हारे व्रत कभी कहीं किसी के लिये कुछ भी नहीं टल सकते; तुम मेरे व्रत के पति हो जाओ, मेरे इस व्रत की भी रक्षा करो, इसके पालक हो जाओ । तुम ऐसी कृपा करो ऐसी शक्ति प्रदान करो कि मैं इस इस व्रत को पूरा कर सकूं, इसे पूरा करने में अवश्य समर्थ हो सकूं । मेरा यह व्रत संसिद्ध होय, अवश्य पूर्ण होय । मैं आज अन्य बातों को छोड़कर सत्य के ही महान व्रत को ग्रहण करता हूं । यदि मैं इस सत्य के व्रत का पालन कर सकूंगा, तो अन्य व्रतों को पाल सकना मेरे लिए कुछ भी कठिन नहीं रहेगा । तो यह लो, हे अग्ने ! मैं आज से अनृत को छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हूं; हे प्रकाशस्वरूप ! मैं अनृत से सत्य को प्राप्त हो जाता हूं । मैं आज से, मन वाणी और कर्म से सत्य का पालन करूंगा । मैं सत्य को जानूंगा और सत्य को ही प्रकट करूंगा । मेरे अन्दर हृदय में जो कुछ होगा, उसे ही वाणी में लाऊंगा और उसे ही अपनी क्रिया द्वारा प्रकट करूंगा । मैं जानता हूं कि यह कठिन है, परन्तु हे अग्ने ! तेरी सहायता से इस संसार में कुछ भी कठिन नहीं है, कुछ भी असम्भव नहीं है। इसलिए हे व्रतपते ! लो, मैं तो आज से सत्यव्रती हो गया हूं, आज से 'सत्य' का हो गया हूं ।

(अग्ने) हे अग्ने **(व्रतपते)** के व्रत के पालक ! मैं **(व्रतं)** व्रत का **(चरिष्यामि)** आचरण करूंगा, पालूंगा । ऐसी कृपा करोकि **(तत्)** उस व्रत को मैं **(शकेयं)** पूरा कर सकूं, **(मे)** मेरा **(तत्)** वह व्रत **(राध्यतां)** सिद्ध होये, पूरा होय **(अहं)** मैं **(इदं)** यह, आज से **(अनृतात्)** अनृत से हट कर **(सत्यं)** सत्य को, सत्य के व्रत को **(उपैमि)** प्राप्त होता हूं, लेता हूं ।

त्वं विश्वस्य धनदा असि श्रुतोयईं भवन्त्याजयः ।
तवायं विश्वः पुरुहूत पार्थिवो अवस्युर्नाम भिक्षते ॥

ऋ० 7.32.17

इस सब जहान को धन देने वाले अकेले तुम ही हो । इस विश्व में जिस किसी को जिस किसी प्रकार का ऐश्वर्य मिल रहा है, वह तुम ही से मिल रहा है । तुम ऐश्वर्य देने वाले प्रसिद्ध हो । तुम इन्द्र हो, परम ऐश्वर्य वाले हो । इस ससार में नाना प्रकार के ऐश्वर्यों को पाने के लिए जो ये विविध संघर्ष होते रहते हैं, देवासुर संग्राम चलते रहते हैं, उनमें विजेता होकर जो लोग ऐश्वर्यों को प्राप्त कर रहे हैं, वे तेरे ही दिये ऐश्वर्यों को प्राप्त कर रहे हैं । हम सदा से सुनते आये हैं कि धन ऐश्वर्यों को जिताने वाले तुम ही हो । तो तुम क्यों नहीं देखते कि इस पृथ्वी पर इस समय कैसी तबाही मची हुई है, महान् विनाश उपस्थित हो रहा है ? सब धर्म की मर्यादायें टूट गयी हैं, सब क्रम बिगड़ गये हैं । यह संसार तुम्हारे ऐश्वर्य से सर्वथा रहित हो गया है । पृथ्वी पर एक ऐसा संग्राम चल रहा है कि सब लोग दुःखी और निर्बल हो गये हैं, सच्चे ऐश्वर्य से हीन हो गये हैं । संत्रस्त हुए ये सब लोग अब तुम्हें याद कर रहे हैं, हे पुरुहूत ! बार बार तुम्हें पुकार रहे हैं । हे इन्द्र ! तुम कब इस पृथिवी को सुखी करोगे, कब इस संग्राम में विजयी कराकर अपना ऐश्वर्य प्रदान करोगे ? देखो, ये सब के सब पृथिवीवासी तुम्हारे रक्षण की भिक्षा मांग रहे हैं, सब मनुष्य रक्षा चाहते हुए तुम्हारा नाम पुकार रहे हैं ।

(त्वं) तुम (विश्वस्य) सब संसार के (धनदाः) धन ऐश्वर्य देनेवाले (श्रुतः) प्रसिद्ध (असि) हो, (ये) जो (ईं) ये (संसार में) (आजयः) संग्राम (भवन्ति) होते हैं उनमें धन जितानेवाले तुम ही हो । देखो, (अयं) यह (विश्वः) सब (पार्थिवः) पृथिवी लोक (पुरुहूत) हे बहुत पुकारे गये ! (अवस्युः) रक्षा चाहता हुआ (तव) तेरे (नाम) नाम की, प्रसिद्ध रक्षण की (भिक्षते) भिक्षा मांग रहा है ।

ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः ।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूरयः ॥

ऋ० 7. 66. 13

हे आदित्यो ! हम अब तुम्हारे 'सुम्न' में रहना चाहते हैं, तुम्हारे सुख व ऐश्वर्य में बचना चाहते हैं । अभी तक हम तुम्हारी महिमा नहीं जानते थे, तुमने जो अखण्ड ब्रह्मचर्य धारण करके दिव्य प्रकाश प्राप्त किया है और आदित्य बने हो—उसका सामर्थ्य नहीं समझते थे । तुम तो इस संसार के 'नर' हो, नेतृत्व करनेवाले हो । तुम संसार-नेता यदि हमें अपनी शरण प्रदान करोगे तो हम अवश्य कृतकृत्य हो जायेंगे परन्तु हम तुम्हारी इस सर्व श्रेष्ठ सुखमय शरण को तभी प्राप्त कर सकेंगे जब हम सत्य-सेवी हो जायेंगे । हम जानते हैं कि तुम कितने भारी 'ऋत' के उपासक हो और कितने घोर 'अनृत' के विरोधी हो । तुमने जो इतना ऊँचा पद प्राप्त किया है, उसका रहस्य यही है कि तुमने अनन्य भाव से सत्य का सेवन किया है । जब कोई मनुष्य सत्य का आराधन शुरू करता है तो सब से पहिले यज्ञ के, त्याग के महान् सत्यसिद्धान्त का प्रकाश हो जाता है, इसीलिए 'ऋत' शब्द यज्ञ का भी वाचक हो गया है । तुम न केवल सत्य व यज्ञ से पूर्णतया युक्त हो, 'ऋतावान्' हो किन्तु तुम तो 'ऋतजात' भी हो, तुम ऋत से उत्पन्न हुए हो, तुमने अपने आप को बिलकुल बदल कर सत्य में अपना दूसरा जन्म प्राप्त किया है, तुम्हारा अणु-अणु सत्य का बना हुआ है, यज्ञभावना से भावित हुआ है और अब तुम्हारा जीवन सत्य के ही बढ़ाने में लगा हुआ है । तुम 'ऋतावृध्' हो । अनृत को हटा कर निरन्तर सत्य की वृद्धि कर रहे हो । इसलिए तुम अनृत के घोर शत्रु हो । अनृत के साथ तुम्हारा सहज वैर है । जहाँ तुम हो, वहाँ अनृत नहीं ठहर सकता । तुम अनृत की छाया तक को नहीं सहन कर सकते । इसलिए हे नरो ! हम भी अब सत्यसेवी होकर ही तुम्हारे 'सुम्न' को प्राप्त करना चाहते हैं, तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ शरणतम सुख को प्राप्त करना चाहते हैं । हम ही नहीं किन्तु हमारी तरह और भी जो कोई तुम्हारी इस महिमा को जानते हैं, जो 'सूरि' व ज्ञानी हुए हैं उन सब को, हे आदित्यो ! उन सब को तुम अपना सुख प्राप्त कराओ, सर्व श्रेष्ठ शरण देनेवाला अपना महान् सुख प्राप्त कराओ ।

(नरः) हे संसार के नेताओ ! आदित्यो ! जो तुम (ऋतावानः) सत्य व यज्ञ से युक्त (ऋतजाताः) सत्य में जन्मे हुए (ऋतावृधः) सत्य को बढ़ाने वाले और (घोरासः) घोर (अनृतद्विषः) असत्यविरोधी हो (तेषां) उन (वः) तुम्हारे (सुच्छर्दिष्टमे) उत्तम सर्वश्रेष्ठ शरण देनेवाले (सुम्ने) सुख व ऐश्वर्य में (स्याम) हम होयें; (ये च) तथा जो अन्य (सूरयः) ज्ञानी हैं वे भी होयें ।

6 फाल्गुन

द्यामिन्द्रो हरिधायसं पृथिवीं हरिवर्पसम् ।
अधारयद् हरितोर्भूरि भोजनं ययोरन्तः हरिश्चरत् ।।

ऋ० 3.44.3

ये इन्द्र ये परमेश्वर 'हरि' हैं, पाप ताप को हरण करने वाले हैं । इसलिए इन इन्द्र-सूर्य की असंख्य रश्मियां 'हरि' कहलाती हैं, ये भी अज्ञान अन्धकार मलिनता और रोग का हरण करती हैं और इसीलिए इन इन्द्र की दो प्रसिद्ध शक्तियों का नाम भी 'हरि' हुआ है, इन्हें ऋक् और साम कहो, वाणी और प्राण कहो, ज्ञान और बल कहो । इन हरियों सहित वे हरि इस संसार के अणु में, रोम रोम में रम रहे हैं और इस को हरिमय कर रहे हैं । तभी तो वह द्यौः 'हरिधायस्' हुआ है, यह पृथिवी 'हरिवर्पस्' हुई है और द्यावापृथिवी 'हरित्' बने हैं । वह 'द्यौः' हरि की उन असंख्यातों हरि रश्मियों से भरपूर है, उन ही द्वारा धारित हुआ हुआ है । यह पृथिवी भी उन्हीं हरि-रश्मियों से ढकी हुई है, उसके हरित्व से रंगी हुई हरिवर्णा हो रही है और ये द्यावा-पृथिवी हरित्, हरिमय बन गये हैं। इस प्रकार इन इन्द्र ने हरि होकर द्यौ और पृथिवी को धारण कर रखा है । उसने इस द्यावापृथिवी को न केवल धारण कर रखा है किन्तु वह इसका लगातार पोषण भी कर रहा है । वह इन हरितों (द्यावापृथिवी) में प्रभूत भोजन, बहुत बहुत भोग सामग्री, सब चराचर प्राणियों के लिए अनगिनत प्रकार के भोग उत्पन्न करके उनका निरन्तर पालन पोषण भी कर रहा है । उसने द्यावापृथिवी को हीं नहीं, किन्तु इसके लिए अमित भोजन को भी धारण कर रखा है । इस धारण पोषण के लिए वह हरि इनके अन्दर गया हुआ है, इन द्यावापृथिवी का अन्तर्यामी होकर विचर रहा है, प्रत्येक वाणी व पदार्थ के अन्दर प्राण होकर उसे अन्दर से गति दे रहा है । वह हरि चूंकि इस प्रकार अपनी हरि शक्तियों सहित इन द्यावापृथिवी का अन्तश्चारी हो रहा है, यही कारण है जिससे ये द्यावापृथिवी 'हरित' हो गये हैं । ओ ! यह सब संसार कैसा हरिमय हो रहा है, हमारे 'हरि' प्रभु के रमने के कारण देखो, कैसा हरिमय हो रहा है !

(इन्द्र) परमेश्वर (हरिधायसं द्यां) अपनी 'हरि' रश्मियों से धारित हुए हुए द्युलोक को तथा (हरिवर्पसं पृथिवीं) हरित्व से रंगी हुई, हरिवर्णा भूमि को (अधा-रयत्) धारे हुए है, और वह उन (हरितोः) हरित्, हरिमय हुए हुए [द्यावापृथिवी] के (भूरि) बहुत, अगणित (भोजनं) भोग सामग्री को भी धारे हुए है, (ययोः) जिन (हरितों, द्यावापृथिवी) के (अन्तः) अन्तर्यामी होकर (हरिः) वह हरि प्रभु (चरत्) चल रहा है; चरण कर रहा है ।

7 फाल्गुन

नहि ते शूर राधसो अन्तं विन्दामि सत्रा।
दशस्या नो मघवन् नू चिद्, अद्रिवो धियो वाजेभि राविथ ।।

ऋ० 8 46.11

अहो ! तेरे राधसों का कुछ भी अन्त नहीं है। तेरे सफलता प्राप्त कराने वाले ऐश्वर्य, तेरे सिद्धि दिलाने वाले सामर्थ्य एक से एक बढ़ कर हैं। इस संसार के जो नानाविधि भौतिक धन हैं, जो विज्ञान के चमत्कारी ऐश्वर्य हैं, हमारे लिए तो वे ही अनगनित हैं। अग्नि आदि एक ही तेरा देव जितने हमारे प्रयोजन संसिद्ध कर सकता है, उन्हीं का हम पार नहीं पा सकते। परन्तु जब मनुष्य ऊँची भूमियों को प्राप्त करता है तो जो दिव्य सिद्धियों के ऐश्वर्य का भंडार उसके लिए खुल जाता है, वह सब तो अनन्त है, अद्भुत है, अपार है; उसके विषय में और कुछ नहीं कहा जा सकता। सचमुच, हे शूर ! तू अपने जिन चित्र विचित्र राधसों को बरसाता हुआ संसार के छोटे बड़े पुरुषों को उनके अपने अपने अनन्त क्षेत्रों में विजय दिला रहा है और संसार को अग्रसर कर रहा है – उनका पार हम क्षुद्र मनुष्य कहाँ पा सकते हैं ? हे मघवन् ! तू हमें भी हमारे योग्य ऐश्वर्यों को प्रदान कर, अवश्य अवश्य प्रदान कर। पर नहीं हे इन्द्र ! हम तुझ से ऐश्वर्य क्यों मांगें ? ऐश्वर्यों की तो तू बिना मांगे हम पर अनन्त वर्षा कर रहा है। तू तो हमारी धियों को ठीक कर, जिनके ठीक न होने के कारण ही हम इस ऐश्वर्य वर्षा में रहते हुए भी तेरे ऐश्वर्यों को प्राप्त नहीं कर रहे हैं। तेरे ऐश्वर्यों को हम अपनी धियों, बुद्धियों तथा कर्मों, द्वारा ही ग्रहण कर सकते हैं। परन्तु हमारे ये ज्ञान और कर्म विगड़े हुए हैं, बड़े अरक्षित हुए हैं। काम क्रोध आदि प्रबल शत्रुओं के लगातार आक्रमणों के कारण हमारी बुद्धियाँ ही ठीक प्रकार से नहीं सोच सकती हैं और हमारे कर्म ठीक नहीं होते हैं, इसीलिये हम तेरे ऐश्वर्यों से बंचित रहते हैं। हे वज्रवाले ! तू हमारी इन आक्रमणों से रक्षा कर। तू अपने वाजों द्वारा, अपने ज्ञानों और बलों द्वारा हमारी बुद्धियों और कृतियों की रक्षा कर। हम तो तुझ से यही मांगते हैं, हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! हम तुझसे यही चाहते हैं।

(शूर) हे शूर ! (सत्रा) सचमुच ही (ते) तेरे (राधसः) ऐश्वर्यों का (अन्तं) अन्त (नहि) मैं नहीं (विन्दामि) पाता हूँ। (मघवन्) हे ऐश्वर्य वाले ! (नः) हमें (नूचित्) अवश्य ही तू (दशस्य) [ऐश्वर्य] प्रदान कर, (वाजेभिः) ज्ञानों और बलों द्वारा (धियः) हमारी बुद्धियों व कर्मों की (अद्रिवः) हे वज्र वाले ! (आविथ) रक्षा कर।

अभ्यूर्णोति यन्नग्नं भिषक्ति विश्वं यत् तुरम् ।
प्रेमन्धः ख्यत्, निः श्रोणो भूत् ।।

ऋ० 8.79.2

उस परमदेव की महिमा के स्तुति गीत मैं कहाँ तक गाऊँ ? उस परम दयालु की दयालुता का वर्णन करने के लिए मैं वाणी कहाँ से लाऊँ ? वे सोमप्रभु तो इस दुर्बल दुनिया पर जो प्रतिक्षण अनन्त उपकार कर रहे हैं, इस दुःखी संसार पर जो हर समय अपनी करुणा बरसा रहे हैं, उसका जब मैं ध्यान करता हूँ तो मेरा हृदय भर आता है, मेरा कण्ठ रुद्ध हो जाता है । उस प्रेम सागर की प्रेम कहानी कहने की चीज नहीं है । वह तो अनुभव करने की, स्वयं अनुभव करने की वस्तु है । अरे, मैं तो साक्षात् देख रहा हूँ कि वह दयामय पिता होकर जो कोई नंगा है उसे ढक रहा है और वैद्य बनकर जो कोई रोगग्रस्त हैं उन सबको भला चंगा कर रहा है । यह बात केवल भौतिक अर्थ में ही नहीं है । वह प्रेममय सोम तो जिसको गुण से नग्न देखता है उसे वह गुण देकर, उसी गुण-वस्त्र द्वारा उसे आच्छादित कर रहा है और यह सारा संसार जो अपनी अपनी व्याधि से आतुर हुआ पड़ा है, वह करुणा परायण उन सब की चिकित्सा कर रहा है और उन सब को ही उल्लाघ (नीरोग) कर रहा है । और क्या कहूँ, उस सोम की कृपा होती है तो अन्धा भी देखने लगता है और पंगु भी चल निकलता है । एक क्षण में अज्ञानी ज्ञान प्रकाश पा जाता है और असमर्थ शक्ति-पूर्ण हो जाता है । हमारे लिए ये बातें बेशक बड़े चमत्कार की हैं, पर ये इसीलिये हैं चूँकि हम अल्पज्ञानी जीव उस सोम की महान् विभूतियों को नहीं समझ सकते । सचमुच ही, उस सोम की करुणा का कभी वाणी से वर्णन नहीं हो सकता और कोई 'असंभव' नहीं जो उसकी कृपा से संभव नहीं हो सकता ।

(यत्) जो (नग्नं) नग्न है उसे (सोम प्रभु) (अभ्यूर्णोति) ढक देता है, आच्छादित कर देता है, और (यत्) जो (तुरं) आतुर, रुग्ण है (विश्वं) उस सब की, सब संसार की वह (भिषक्ति) चिकित्सा कर देता है । उसकी कृपा से (अन्धः ईं) अन्धा भी (प्रख्यात्) देखने लगता है और (श्रोणः) लूला भी (निर्भूत्) चल निकलता है ।

9 फाल्गुन

सुशेवो नो मृडयाकुः अदृप्तक्रतुः अवातः ।
भवा नः सोम शं हृदे ।।

ऋ० 8.79.7

हे सोम ! निःसन्देह तुम हमारे हृदयों में समाये हुए हो । हम जानते हैं कि तुम्हारे रस, सोमरस, का पान इन हमारे हृदयों द्वारा ही होता है । तो फिर हमारे हृदयों में बसते हुए भी, हे सोम ! तुम हमें शान्त और सुखी क्यों नहीं करते, हमें अपना रसपान कराकर सरस और सुखमय क्यों नहीं बनाते ? आओ, अब हमारे हृदयों के लिए तुम उत्तम-सुख-वाले हो जाओ, सुखप्रदाता हो जाओ । हमें सुखी करो, अपने उत्तम सुख से सुखी करो । अपने सुख से, अपने उत्तम सुख से हमें ऐसा भरपूर कर दो कि दुनियाँ के सब बुरे सुख, परिणाम में विषरूप होने वाले सब विषय आदि के सुख हमारे लिए स्वयमेव त्याज्य हो जायें, सदा के लिए परित्यक्त हो जायें । यदि तुम हमारे ऐसे सु-सुखयिता हो जाओगे तो तुम हमारे लिए 'अदृप्तक्रतु' और 'अवात' भी हो जाओगे । तो तुम्हारी कृपा से हम अभिमानरहित ज्ञान व कर्म वाले तथा अचलायमान हो जायेंगे । हम जो ज्ञान का अभिमान करने वाले, बड़े अभिमान से कर्म करने वाले, अभिमान की क्षुद्रता में उछलने कूदने वाले होते हैं तथा उद्विग्न और चंचलचित्त होते हैं, वह इसीलिये होते हैं क्योंकि हम अनुभव नहीं करते कि तुम अपने सोम रूप से हमारे हृदयों में समाये हुए हो, क्योंकि तुम्हें हृदय में रखते हुए भी हम तुम्हारे सोमरस से इस तरह सर्वथा वंचित रहते हैं । जिन धन्य पुरुषों के हृदयों को तुम अपने रस से परिपूर्ण करते हो, वे तो सर्वथा निरहंकार और शान्त होते हैं, वे महान् ज्ञान और कर्म की शक्ति रखते हुए भी बिलकुल निरभिमान और नम्र होते हैं, गंभीर और प्रशान्त होते हैं । इसीलिये हे सोम ! हम तुमसे प्रार्थना करते हैं कि तुम हमारे हृदयों के लिए कल्याणकारी होओ, अपनी परम सरसता और शीतता प्रदान करते हुए हमारे हृदयों के लिए सुखकारी होओ ।

(सोम) हे सोम ! तुम (नः) हमारे लिये (सुशेवः) उत्तम सुख वाले (मृडयाकुः) सुख प्रदाता होओ, (अदृप्तक्रतुः) अभिमानरहित ज्ञान और कर्म वाले और (अवातः) अचलायमान शान्त होओ, (नः) हमारे (हृदे) हृदय के लिए (शं) कल्याणकारी, सुखकारी (भव) होओ ।

न ह्यन्यं बळाऽकरं मर्डितारं शतक्रतो ।
त्वं न इन्द्र मृळय ।।

ऋ० 8.80.1

सचमुच तेरे सिवाय, हे शतक्रतो ! इस संसार में और कोई सुखयिता नहीं है। इन भोग्य विषयों को, जिनके सुख पाने को यह संसार मरा जाता है, मैंने खूब जांचा है, खूब परखा है, परन्तु हे इन्द्र ! मैंने देखा है कि इनमें तो सुख का लेश भी नहीं है। स्वजनों का प्रेम, धन वैभव मान, प्रतिष्ठा आदि को सुखदाता प्रायः सभी अनुभव करते हैं परन्तु हे इन्द्र ! मैंने देखा है कि उनमें भी कोई सुख नहीं है, जो कुछ इनमें उपलब्ध होता है, वह भी इनका अपना नहीं है। मैं तो देखता हूं कि तेज भूख में रूखा सूखा खा लेने से जो स्वाभाविक सुख होता है या गुरुचरणों के स्पर्श करने से जो सात्त्विक सुख मिलता है, उसका भी कारण वह भोजन व गुरुचरण नहीं हैं, किन्तु तू है, हे शतक्रतो ! केवल तू है। तो फिर मुझ जैसा पुरुष सुख पाने के लिए अब इस संसार में दर दर मारा क्यों फिरेगा ? जिसने देख लिया है कि यह सब संसार जिस के जूठन और आंशिक सुख को भोग रहा है, वह असली सुख भंडार तू है, वह पुरुष सुख पाने के लिए अब और कहाँ जायेगा ? इसलिये मैंने तो सुखयिता तुझे ही कर लिया है। तेरे सिवाय मेरे लिए इस संसार में और कोई सुख दे सकने वाला नहीं रहा है। ये सांसारिक विषय बेशक अपना सुखद रूप धारण करके, बड़े मनमोहक हृदयहारी रूप धारण करके, मेरे भी इर्द गिर्द घूमते हैं, पर मैं इनके दुःखरूप नाम-सुख को लेकर क्या करूँगा ? मैं इनकी तरफ दृष्टिपात तक नहीं करता। इसी तरह धन मान आदि भी अपने मलिन सुखों का प्रस्ताव मेरे सामने रखते हैं, पर मैं इन्हें अस्वीकृत करने के सिवाय और क्या करूँ ? मुझे तो अब जिस सुख की प्यास है, वह तेरा सुख है, सीधा तुझसे मिलनेवाला विशुद्ध सुख है। मुझे दूसरे, तीसरे और हजारों हाथों से आया तेरा सुख भी नहीं चाहिये। मुझ चातक की प्यास तो अब ऊपर तुझसे आने वाले तेरे निर्मल दिव्य सुख से ही मिट सकती है। इसलिये हे इन्द्र ! तू अब मुझे अपना सुख प्रदान कर, स्वयं अपना सुख प्रदान कर।

(शतक्रतो) हे शतयज्ञ ! (अन्यं) तुझसे अन्य किसी (मर्डितारं) सुखयिता को (बळा) सचमुच ही मैं (नहि अकरं) नहीं करता हूँ, अतः (इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वं) तू (नः) हमें (मृळय) सुखी कर।

योनः शश्वत् पुरविथा, अमृध्रो वाजसातये।
स त्वं न इन्द्र मृडय ॥

ऋ० 8.80.2

हे इन्द्र ! तू वह है जो सर्वथा अहिंसक है, इतना प्रेममय और सर्वसमर्थ है कि तुझे कभी हिंसा करने की जरूरत नहीं होती, और अहिंसक होने से ही तू सर्वथा अहिंसित भी है, तेरा कभी विनाश नहीं किया जा सकता। और हे इन्द्र ! तू वह है जो ऐसा अहिंसक होकर, ऐसा प्रेममय होकर पहिले से सदैव ही हमारी रक्षा करता आया है, जब जब कठिन समय आया है, जब जब दुनिया के सब बलों को हारकर भग्नाभिमान निर्बल होकर हमने तुझे पुकारा है तब तब तू ने हमारी रक्षा की है और हमें बललाभ कराया है। सदा नये नये बललाभ के लिए तू हमारी रक्षा करता आया है। हे इन्द्र ! हे वही हमारे इन्द्र ! तू इस समय भी हमारी रक्षा कर और हमें सुखी कर। इस समय चारों तरफ निराशा ही निराशा छा रही है, पाप की शक्तियों ने हमें चारों तरफ से दबा लिया है, हमारा कुछ बस नहीं चलता है। हे इन्द्र ! इस समय तू ही हमें बचा, तू ही हमारा उद्धार कर। हमें नया बल प्राप्त कराता हुआ फिर सुखी कर। हे सदा से हमारे बचाने वाले ! अमृध्र ! हमें सुखी कर, फिर सुखी कर।

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यः) जिस (अमृध्रः) अहिंसक एवं अहिंसनीय तू ने (नः) हमारी (पुरा) पहिले (शश्वत्) सदा (वाजसातये) बल प्राप्ति के लिए (आविथ) रक्षा की है (सः त्वं) वही तू (नः) हमें (मृडय) सुखी कर।

12 फाल्गुन

इन्द्र प्र णो रथं अव, पश्चाच्चित् सन्त मद्रिवः ।
पुरस्तात् एनं मे कृधि ॥

ऋ० 8.80.4

हे इन्द्र ! तुम मेरे रथ की रक्षा करो, मेरे पिछड़े हुए जीवनरथ की भी रक्षा करो; बल्कि यह मेरा रथ पिछड़ा हुआ है इसलिये हे वज्र वाले ! इसकी तुम विशेषतया, प्रकृष्टतया रक्षा करो । मैं देख रहा हूँ कि बहुत से मेरे साथी आगे निकल गये हैं, मेरे देखते देखते अपने जीवनों को उन्नत बनाकर मुझ से बहुत आगे बढ़ गये हैं । कोई धृति आदि धार्मिक गुणों को अपने जीवन में धारण कर उन्नत हो गया है, कोई 'अभय' आदि दैवी संपत् के कारण आगे बढ़ गया है, कोई कठोर 'तपस्या' की शक्ति से विशेष वेगवान् होकर मुझ से आगे निकल गया है, तो कोई विवेक वैराग्य आदि साधनचतुष्टय की साधना द्वारा मुझ से बहुत ही आगे हो गया है, तथा कोई महान् आत्मा आत्मिक शक्तियों के दिव्य घोड़े पाकर एकदम हम सब का अतिक्रमण करके अग्रणी बन गया है । ये देखो, कर्मशूर कर्मयोगियों के एक से एक बढ़कर रमणीय रथ ज्ञानियों योगियों के एक से एक तेजस्वी रथ तथा भक्तों महात्माओं के एक से एक दिव्य-रथ मुझे पीछे छोड़कर आगे निकलते चले जा रहे हैं; पीछे से आकर भी 'तीव्र संवेग' के कारण मुझ से आगे निकलते चले जा रहे हैं । तो हे परमेश्वर ! मैं ही कब तक इस तरह पीछे रहता जाऊँगा ? अपनी इस मन्दगति से घिसटता हुआ चलूँगा ? तुम्हीं मुझे इस तरह निरन्तर पिछड़ने से बचाओ, इस सतत अवनति से मेरी रक्षा करो । नहीं नहीं, तुम केवल मुझे इस अवनति से ही नहीं बचाओ किन्तु मेरी उन्नति करो, निरन्तर प्रगति करो । मेरे इस जीवन रथ को आगे बढ़ाओ, इसमें अपना इन्द्रबल भर कर इसे अन्य रथों से भी आगे बढ़ाओ ।

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अद्रिवः) हे वज्र वाले ! (नः) हमारे (पश्चात् चित्-सन्तं) पीछे भी होते हुए, पिछड़ते भी हुए (रथं) रथ को (प्रअव) प्रकृष्टतया रक्षा करो । (मे) मेरे (एनं) इस रथ को (पुरस्तात्) आगे, आगे बढ़ा हुआ (कृधि) कर दो ।

हन्तो नु किमाससे प्रथमं नो रथं कृधि ।
उपमं वाजयु श्रवः ॥

ऋ० 8.80.4

तो फिर, हे इन्द्र ! अब क्या देर है ? तुम अब क्यों बैठे हो ? उठो, आज्ञा करो, कृपा करो, मेरे रथ को सब से आगे कर दो, प्रथम स्थान पर पहुँचा दो । हाँ सचमुच मैं सर्वश्रेष्ठ मनुष्य बनूँगा, सर्वप्रथम बनूँगा । मैं राम की तरह मर्यादा पुरुषोत्तम होऊँगा, मैं कृष्ण की तरह पूर्णपुरुष बनूँगा, मैं जीवन की दौड़ में सर्वप्रथम रहूँगा । मेरी यह महत्त्वाकांक्षा स्वाभाविक है । हरेक मनुष्य पूर्ण होने के लिए उत्पन्न हुआ है । जो कार्य कोई भी एक मनुष्य कर चुका है, वह मैं भी अवश्य कर सकता हूँ । मुझ में भी बिलकुल वैसा ही आत्मा विद्यमान है जैसा राम में था, जैसा कृष्ण में था या जैसा किसी भी महापुरुष में था । तो फिर मेरे उन जैसे होने में क्या रुकावट हो सकती है ? और सर्वश्रेष्ठ बनाने का जो साधन है, वह सब तुम्हारे पास विद्यमान है, मेरे लिये 'वाज' को चाहता हुआ 'श्रवः' तुम्हारे पास उपस्थित है । तुम यदि चाहो तो अपने 'श्रवस्' द्वारा, ऐश्वर्य द्वारा मेरे जीवन में 'वाज', बल और ज्ञान प्रदान करके मुझे अधिक से अधिक उन्नत कर सकते हो । तो फिर हे इन्द्र ! अब तुम उठो, मुझमें उठो जागो; यदि तुम मुझ में उठोगे तो मुझ में वहाँ तक वाज, वहाँ तक ज्ञान व बल, प्रकट होता जायेगा जहाँ तक सर्वश्रेष्ठ पुरुष होने के लिए आवश्यक है । अतः अब तुम क्यों बैठे हो ? अपने ऐश्वर्य द्वारा वाज देकर मेरे जीवन को सर्वोच्च बना दो, मेरे जीवन-रथ को सर्वप्रथम स्थान पर लाकर स्थापित कर दो ।

(हन्तो) तो फिर (इन्द्र) हे इन्द्र तुम (नु) अब (किं) क्यों (आससे) बैठे हो ? (नः) हमारे (रथं) रथ को (प्रथमं) सबसे आगे, प्रथमस्थान पर (कृधि) कर दो । (वाजयु) वाज बल ज्ञान चाहता हुआ (श्रवः) ऐश्वर्य तो (उपमं) तुम्हारे पास [विद्यमान ही है] ।

अवा नो वाजयुं रथं सुकरं ते किमित् परि।
अस्मत् सु जिग्युषः कृधि।

ऋ० 8.80.6

ये देखो, हे इन्द्र ! हमारा रथ, हमारा जीवन तुम्हारे 'वाज' को चाह रहा है, आगे बढ़ने के लिए तुम से ज्ञान सामर्थ्य और बल माँग रहा है। जितना वाज इसे तुमसे प्राप्त होगा, उतना ही यह रथ आगे आगे बढ़ सकेगा। इसलिये मेरे उस 'वाजयु' रथ को अपना ज्ञान और बल देकर इसकी तुम रक्षा करो, तृप्त करो, पूर्णता करो। अरे, मैंने तो जीवन की दौड़ में सर्वप्रथम होना है, विजय पर विजय प्राप्त करके जीवन के लक्ष्य को पूर्ण करना है। इसलिये हे इन्द्र ! तू मेरे इस वाजयु रथ को अपने वाज से इतना पूर्णतया भरपूर कर दे कि मेरा जीवन पूर्ण जीवन हो जाये, मेरा रथ सब का अग्रणी हो जाये। हे इन्द्र ! तेरे लिए सब कुछ सम्भव है। तू कुछ भी कर सकता है और बड़ी सुगमता से कर सकता है। तेरे लिए कुछ भी करना सर्वथा सुकर है। तू हमें उत्तम विजेता बना दे। तू हमें ऐसा श्रेष्ठ विजेता बना दे कि हम मार्ग की सब बाधाओं को विजय करते हुए, जीवन नाशिनी आसुरी शक्तियों पर एक से एक महिमाशालिनी विजय प्राप्त करते हुए अपनी यात्रा को सफल कर लेवें, जीवन की पूर्णता को प्राप्त कर लेवें।

(नः) हमारे (वाजयुं) वाज, ज्ञानसामर्थ्य और बल, चाहते हुए (रथं) जीवन रथ की (अव) रक्षा करो, तृप्ति करो। (ते) तेरे लिए (किं इत्) कुछ भी, सब कुछ (परि) सब तरह, सर्वथा (सुकरं) सुकर है। (अस्मत्) हमें (सु जिग्युषः) उत्तम विजयी श्रेष्ठ विजेता (कृधि) कर दो।

15 फाल्गुन

विद्मा हि त्वा तुविकूर्मिं तुविदेष्णं तुवीमघम् ।
तुविमात्रं अवोभिः ।।

ऋ० 8.81.2, सा० उ० 1.2.6

ओह, हमने जाना, हमने समझा कि तू कितना कितना कृपालु है, तू किस तरह हम पर अनवरत दया की वर्षा कर रहा है। तेरी रक्षायें, तेरी तृप्तियाँ, तेरी दीप्तियाँ, तेरी वृद्धियाँ, तेरी सब प्रकार की कृपायें, तेरे सब प्रकार के 'अवस्' हमें प्रतिक्षण अनगिनत प्रकार से प्राप्त हो रहे हैं। ओह, तू तो हम पर अपनी दया बरसाने के लिए ही 'तुविकूर्मि' हुआ है, बहुत प्रकार के कर्म करने वाला अनन्त-कर्मा हुआ है। अपने लिए तो तुझे तीनों कालों में, तीनों लोकों में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, फिर भी जो तू अपने इन अनन्त ब्रह्माण्डों में अपना अखण्ड महान् कर्म प्रतिक्षण चला रहा है, वह हम जीवों के कल्याण के लिए, हम जीवों के प्रेमवश होकर ही कर रहा है। हम पर कृपालु होकर ही तू 'तुविदेष्ण' बहुत बहुत देने वाला, प्रतिक्षण सबको लगातार यथायोग्य देने वाला हो रहा है। मनुष्य जब तेरे दानों का अनुभव करने लगता है तो वह देखता है कि तूने सदा हमको देना ही देना है और तेरे इन देने का कहीं अन्त नहीं है। इसी तरह तू हमारे लिए, केवल हमारे लिए, 'तुविमघ' भी हुआ है, बहुत बहुत ऐश्वर्य वाला ऐश्वर्य-भण्डार बना है। स्वयं तो तू परिपूर्ण आप्तकाम है, तुझे कभी त्रिकाल में भी किसी भोग की आवश्यकता नहीं है, तो भी जो तू इस संसार में हर समय भोगों को उत्पन्न कर रहा है और उनका दान कर रहा है, वह हम जीवों की तृप्ति के लिए हमारी पूर्णता के लिए ही कर रहा है। और जो तू 'तुविमात्र' हुआ है, बहुत परिमाण वाला हुआ है वह भी अपने 'अवसो' से हुआ है, अपने रक्षण आदियों को हमें पहुँचाने के लिए हुआ है। हमें तू सदा सर्वत्र अपनी रक्षा प्रदान कर सके इसीलिये मानो तूने अपने को अनन्त काल और अनन्त देश तक फैला दिया है। आह, तू किस तरह हम पुत्रों के हित के लिए प्रेमविह्वल होकर अनन्तकर्मा, अनन्तदानी, अनन्तधन और अनन्तपरिमाण हो रहा है! हे प्रभो! हम तेरे इन अगणित उपकारों का कभी कैसे बदला चुका सकते हैं, तेरी अनन्त कृपाओं से हम अनन्त काल में भी कैसे उऋण हो सकते हैं?

(हि) निःसन्देह हम (त्वा) तुझे (अवोभिः) रक्षा, तृप्ति, दीप्ति, वृद्धि आदियों से (तुविकूर्मि) बहुत कर्मों वाला (तुविदेष्णं) बहुत दानी (तुविमघं) बहुत धन वाला तथा (तुविमात्रं) बहुत परिमाण वाला (विद्म) जानते हैं।

एतो न्विन्द्रं स्तवाम ईशानं वस्वः स्वराजम् ।
न राधसा मर्धिषन्नः ॥

ऋ० 8.81.4

देखो, आजकल यह संसार धन के कारण नष्ट हुआ जा रहा है। लोग धन के पीछे पागल तो इसीलिये हो रहे हैं, धन को इतनी बुरी तरह से कमा तो इसीलिये रहे हैं कि इससे उन्हें जीवन मिलेगा किन्तु यह उन्हें मार रहा है। धन आजकल इतना मर्यादा को लांघ गया है कि वह 'स्व' होने की जगह हमारा स्वामी बन गया है; इसीलिये इस धन ने हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति को बिलकुल रोक दिया है। धन का जंग लगकर हमारा यह त्रिविध तेज जाता रहा है, भोग में पड़ कर हमारा त्रिविध वीर्य नष्ट हो गया है। इसलिये, हे मनुष्यो ! आओ, हम इस धन की मार से किसी तरह बचें। हे संसार भर के मनुष्यो ! आओ, हम उस अपने इन्द्र की स्तुति करें, उसके सामने झुकें, जो हमारा परम ऐश्वर्य वाला प्रभु है। यदि हम उस परमैश्वर्य वाले को न भूलेंगे, यदि हम अपने ऊपर उस 'ऐश्वर्यों के ईश्वर' के राज्य को देखेंगे, यदि हम उस स्वयंराजमान के 'स्वराज्' के नियमों में सदा चलेंगे तो ये धन हमें पागल नहीं कर सकेंगे, ये हमारे मालिक नहीं हो सकेंगे। हम पागल इसीलिये होते हैं क्योंकि हम अपने उस 'वस्वःईशान' को भूल जाते हैं जो हमें जब जिस ऐश्वर्य की जरूरत होती है, तब उसी ऐश्वर्य को हमें स्वयमेव दे रहा है; हम धन के गुलाम इसीलिये होते हैं क्योंकि हम स्वयंराजमान होने के स्थान पर धन से राजमान होना चाहते हैं, अपने 'स्व' पर—अपने शरीर इन्द्रिय आदि धन तथा बाह्य धन पर—राज्य करने की जगह उनके वशवर्ती हो जाते हैं। तभी यह होता है कि भौतिक धन तथा आध्यात्मिक ऐश्वर्य (विभूतियां, सिद्धियाँ) हमारे साधन होने की जगह हमारे लक्ष्य बन जाते हैं और हमारी उन्नति को रोक देते हैं। इसीलिये आओ, भाइयो ! अब हम अपने ऐश्वर्यों के ईशान, 'स्वराट्' प्रभु का भजन करें। उसका भजन किये बिना कभी उसके धन का भोग न करें। अहा, क्या ही सुन्दर दृश्य होगा जब संसार भर के हम मनुष्य भाई मिलकर के उस अपने 'इन्द्र' प्रभु की स्तुति करेंगे और उसका पूजन करते हुए ही इन धनों का भोग करेंगे और तब ये धन भी नौकरों की तरह हमारी सेवा करने वाले हो जायेंगे, हमारी उन्नति कराने के लिए उचित साधन हो जायेंगे !

हे मनुष्यो ! (एत उ) आओ, हम (नु) अब (वस्वः ईशानं) ऐश्वर्यों के ईश्वर (स्वराजं) स्वयं राजमान स्वराट् (इन्द्रं) परमेश्वर की (स्तवाम) स्तुति करें, भजन करें, जिससे वह (नः) हमें (राधसा) धन द्वारा, सिद्धियों के ऐश्वर्य द्वारा (न मर्धिषत्) न मार देवे, न मिटा देवे।

विश्वा हि मर्त्यत्वना ऽनुकामा शतक्रतो ।
अगन्म वज्रिन् आशसः ।।

ऋ० 8.92.13

हे शतक्रतो ! हम मर्त्य हैं, मरणशील मनुष्य हैं। यह स्वाभाविक है कि हमारे हृदय कामनाओं से भरे हुए हों। यदि हम में कामनाएँ नहीं रहेंगी तो हम मर्त्य नहीं रहेंगे। मर्त्य से ऊपर कुछ वस्तु हो जायेंगे, अमर्त्य हो जायेंगे। सब मनुष्य-पन कामनाओं के अनुगत हैं। जितने मर्त्यपन हैं, वे कामनाओं के पीछे चलने के कारण हैं। हम नाना प्रकार की मृत्युओं के वश इसीलिये होते हैं, दुःख के गर्त्त में इसीलिये गिरते हैं, क्योंकि हम कामनाओं से घिरे होते हैं, इच्छाओं से सताये होते हैं। इसलिये हे इन्द्र ! तुम हमें किसी तरह कामनाओं से ऊपर उठाओ परन्तु बड़ी मुश्किल यह है कि यदि हम इन कामनाओं को दबाते हैं तो ये दबती नहीं, अन्दर अन्दर से हमें खाने लगती हैं; और यदि हम इन्हें तृप्त करते हैं तो ये और बढ़ती हैं, जैसे घृताहुति को पाकर अग्नि और भड़कती है। उसी तरह ये और बढ़ती हैं। इसलिये, हे शतक्रतो ! हे प्रभूतसंकल्प ! हम तुम से प्रार्थना करते हैं, तुम ऐसी कृपा करो, कि हमारी ये कामनायें 'आशस्' के रूप में परिणत हो जायें। हे वज्र वाले ! तुम हमें ऐसी विवेक-शक्ति प्रदान करो कि हम अपनी सब क्षुद्र अनुचित कामनाओं का ज्ञानपूर्वक उन्मूलन कर सकें और इस तरह अपनी व्यापी और अच्छी इच्छाओं को, आशसों को पनपा सकें। यदि तुम ऐसी कृपा करोगे तो जहाँ हमारी सब दबाने योग्य बुरी इच्छायें निर्मूल हो जायेंगी, वहां हमारी सब बढ़ाने योग्य अच्छी इच्छायें संकल्प रूप बन जायेंगी, शक्तिरूप हो जायेंगी। यही प्रकार है जिससे कि हम इन कामनाओं की साधना द्वारा मर्त्य से अमर्त्य हो जायेंगे और एक दिन तुम्हें पा जायेंगे। इसीलिये हे प्रभो ! हम तुम से विनती करते हैं कि तुम हमें कामनाओं से 'आशसों' को प्राप्त कराओ, हमारी विशाल और दृढ़ आशाओं को पूर्ण कराओ।

(शतक्रतो) हे प्रभूत संकल्प ! (विश्वा हि) सब ही (मर्त्य त्वना) मर्त्यत्त्व, मरणशीलतायें, मनुष्यपन (अनुकामाः) कामनाओं में अनुगत हैं, कामनाओं के कारण हैं। (वज्रिन्) हे वज्रवाले ! हम (आशसः) आशाओं को, दृढ़ विशाल इच्छाओं को (अगन्म) प्राप्त हों।

18 फाल्गुन

त्वयेदिन्द्र युजा वयं प्रति ब्रुवीमहि स्पृधः।
त्वमस्माकं तव स्मसि ।।

ऋ० 8.92.32

हे जगदीश्वर ! इस स्पर्द्धामय जगत् में हमने तुम्हारा आंचल पकड़ लिया है। तुमसे जुड़े रहकर ही हम इस संसार में विजयी हो सकते हैं। लोग बेशक कहते हैं कि संसार में विजयी होने के लिए धन चाहिये, प्रचार चाहिये, सैन्य चाहियें, हथियार चाहियें; किन्तु हम तो देखते हैं कि ये सब तीर तोपें धरी रह जाती हैं, यदि हम तुम से जुड़े नहीं रहते। सच्चाई, प्रेम आदि अविनश्वर सत्य नियम हैं जिनसे हम तुम से जुड़े हुए हैं। यदि कभी हम इन तुम्हारे प्रेम बन्धनों को तोड़कर जुदा खड़े हो जाते हैं, किसी स्पर्द्धा में शीघ्र विजय होने के लिए या किसी शत्रु को किसी न किसी तरह अवश्य पराजित करने के लिए यदि हम तुम्हारे इन प्रेम बन्धनों को तोड़कर तुम से जुदा हो जाते हैं तो हम कहीं के नहीं रहते, हम विनष्ट हो जाते हैं। इसलिये हे इन्द्र ! हम तो अब तुम्हारे सहाय से—केवल तुम्हारे सी साथ से - अपने प्रतिस्पर्धियों का मुकाबिला करना चाहते हैं, अपने शत्रुओं का प्रतीकार करना चाहते हैं। तुम हमें ऐसी शक्ति प्रदान करो कि हम बड़े से बड़ा प्रलोभन आने पर भी कभी तुम्हारे सत्य नियमों का उल्लंघन करने का विचार तक न कर सकें और इस तरह तुमसे कभी जुदा न हो सकें। ओह, हम तुमसे जुदा हो ही कैसे सकते हैं, तुम्हें छोड़ ही कैसे सकते हैं ? तुम तो हमारे हो और हम तुम्हारे हैं। तुम ही हमारे हो और हम तुम्हारे ही हैं। तुम हमारे पिता हो, माता हो, स्वामी हो, सखा हो, गुरु हो, पति हो, सब कुछ हो। तुम हमारे क्या नहीं हो ? इसलिए हम तो कहते हैं कि तुम हमारे हो, बस हमारे हो। हम तुम्हारे हैं, तुम्हारे पुत्र हैं, दुलारें हैं. सेवक हैं, सखा हैं, शिष्य हैं, जो भी कुछ हैं, तुम्हारे हैं, हे प्रभो ! तुम्हारे ही हैं। सचमुच; तुम ही हमारे हो और हम तुम्हारे ही हैं। तो हमें तुमसे कौन जुदा कर सकता है ? हम तुम से कैसे जुदा हो सकते हैं ?

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वया इत्) तेरे ही (युजा) साथ से, जुड़े रहने से (वयं) हम (स्पृधः) स्पर्द्धा करने वालों का, प्रतिद्वन्द्वियों का (प्रतिब्रुवीमहि) प्रतीकार करें, मुकाबिला करें, जीतें। (त्वं) तू (अस्माकं) हमारा है और हम (तव) तेरे (स्मसि) हैं।

त्वामिद्धि त्वायवो ऽनुनोनुवतश्चरान् ।
सखाय इन्द्र कारवः ॥

ऋ० 8.92.33

हे इन्द्र ! हम लोग, हम सब सखा लोग तेरी ही परिचर्या करें; हम सब 'कारु' सखा लोग सदा तेरा ही सेवन करें। जिनके हृदयों में तेरे भजन की इच्छा उत्पन्न हुई है, जिनको थोड़ी बहुत तेरी प्रीति प्राप्त हुई है, ऐसे हम सब सखा लोग कारु होकर तेरा ही परिचरण करें, अपने एक एक आचरण द्वारा तेरा ही सेवन करें। तुझे चाहते हुए, तुझे प्राप्त करना चाहते हुए, तुझ तक पहुँच करना चाहते हुए हम प्रेम में मस्त होकर तेरे ही स्तुति-गीत गायें, जगह-जगह तेरी ही अलख जगायें। हम कारु होवें, तेरे स्तोता होवें और तेरे कर्म करने वाले स्तोता होवें। हम तेरे कोरे स्तोता न होवें, केवल वाणी से तेरे स्तोत्र पाठ करने वाले न होवें, किन्तु हमारा एक एक कर्म ही तुम्हारी स्तुति-रूप होवे, हमारा एक एक कार्य ही मुखरित होकर तुम्हारी गुण गाथा कहने वाला होवे। ऐसे कारु होकर तेरा बहुत बहुत स्तवन करते हुए, तेरे बार बार गुणगान गाते हुए हम विचरें, संसार भर में विचरें। हम तेरे सखा लोग तेरा ऐसा भक्ति प्रचार करते हुए एक के बाद एक अपने जीवनों को तेरी सेवा में लय करते जाएँ, तेरी सक्रिय सेवा में समर्पित करते जाएँ और इस तरह इस संसार को ऊँचा ऊँचा उठाते जाएँ। आह ! इस प्रकार हे इन्द्र ! तेरा यह व्यापक क्रियामय भजन हम सखाओं द्वारा अनवरत चलता रहे, तेरी शक्तिमती भक्ति का प्रवाह इस संसार में निरन्तर बहता रहे, हे प्रभो ! निरन्तर बहता रहे।

(इन्द्र) परमेश्वर ! (त्वायवः) तुझे चाहते हुए (कारवः) तेरी सक्रिय स्तुति करने वाले (सखायः) हम भक्त साथी लोग (अनुनोनुवतः) एक के बाद एक तेरी बहुत और बार बार स्तुति करते हुए (त्वां इत् हि) केवल तुझे ही (चरान्) परिचर्या करें।

20 फाल्गुन

अभ्यादधामि समिधं अग्ने व्रतपते त्वयि।
व्रतं च श्रद्धां चोपैमि इन्धे त्वा दीक्षितो अहम् ॥

यजु० 20.24

हे अग्ने ! हे व्रतपते ! मैं तुझमें अपनी समिधा को रखता हूँ। इस समिधा को रखता हुआ मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। इस तरह दीक्षित होकर मैं, हे अग्ने ! तुझे समिद्ध करता हूँ, तुझे प्रदीप्त करता हूँ।

आचार्य अग्ने ! तुम स्वयं व्रतों का ठीक ठीक पालन करने वाले हो और अतएव मुझे भी व्रतों का पालन करवा सकने वाले हो। इसलिए हे व्रतपते ! तुम अग्नि में मैं अपने आप को समिधा बनाकर आहित करता हूँ, समिद्ध होने योग्य अपने आप को तुमसे समिद्ध होने के लिए तुममें समर्पित करता हूँ। इस तरह अपने आप को पूरी तरह तुम्हारे अधीन करके मैं व्रत और श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ; सत्य पालन आदि शिष्य के व्रत को तथा सत्य की धारणा रूप, सत्य धारण कराने के लिए तुममें दृढ़ विश्वास रूप श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। सत्य व्यवहार आदि व्रतों के पालन करने का दृढ़ निश्चय करके तथा सत्य में और तुममें अविचल श्रद्धा रखकर मैं आज से तुम्हें अपने आप को सर्वथा समर्पित करता हूँ। इस प्रकार तुमसे दीक्षित होकर, ब्रह्मचर्याश्रम में प्रविष्ट होकर, तुम्हारा ब्रह्मचारी बनकर, हे ज्ञानमय अग्ने ! मैं तुम्हें समिद्ध करता हूं, तुम्हें भी प्रदीप्त करता हूँ। निःसन्देह, तुम पवित्र अग्नि में अपने आप को जलाकर जहाँ मैं प्रदीप्त होता हूँ, वहां मुझ जलती हुई समिधा को प्राप्त करके हे अग्ने ! तुम भी अवश्य प्रदीप्त होते हो, जगत् में प्रकाशित होते हो।

हे परम आचार्य ! परम अग्ने ! हे पूर्णतया व्रत को पालन करने और करा सकने वाले ! मैं तुममें अपनी समिधा को पूर्णतया प्रदीप्त करने के लिए, संसार में जन्म पाने के अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए रखता हूँ। मैं अपने महान् व्रत को और तुममें अटल श्रद्धा को प्राप्त होता हूँ। इस तरह तुम्हारा बनकर हे परम अग्ने ! मैं तुम्हें बढ़ाता हूँ, तुम्हारे परम तेज को प्रकाशित करता हूँ।

(अग्ने) हे अग्ने ! (व्रतपते) हे व्रतों के पालक ! (त्वयि) तुझमें मैं (समिधं) समिधा को (अभि आ दधामि) रखता हूँ। (व्रतं च) व्रत को (श्रद्धां च) और श्रद्धा को (उपैमि) प्राप्त होता हूँ। (दीक्षितः) एवं दीक्षित होकर (अहं) मैं मुझे (त्वा) तुझे (ईन्धे) प्रदीप्त करता हूँ।

21 फाल्गुन

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणाय अक्षये।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन् स्वः॥

अथर्व 19.52.3

ओः ! आज मेरी सुनवाई हो गई है, मुझे मेरा 'प्रतिपालन' मिल गया है, मैं सुखी हो गया हूँ। दिशाओं ने मेरी प्रार्थना को सुन लिया है। न केवल सुन लिया है किन्तु संकल्प के कारण मुझे मेरा अभीष्ट प्राप्त कराकर मुझ में उसका सुख भी उत्पन्न कर दिया है। एक समय था जब मैं दूर से इसकी इच्छा करता था, बार बार कामना करता था। इस दूरस्थ विषय की, इस दुष्प्राप्य सी वस्तु की बार बार प्रार्थना करता था। उस समय लोग मुझ पर हंसते थे, मुझे पागल समझते थे। कहते थे 'यह असम्भव है', 'अभी इसका समय नहीं आया है' 'इस देश के लोगों को रक्षण अभी कैसे मिल सकता है', 'इस जन्म में तो यह होने वाला नहीं है'। परन्तु मेरी धारणा दृढ़ थी, मेरी इच्छा सच्ची थी। अतः मैंने इस प्रार्थना को जारी रखा। मेरा हृदय प्रतिपालन, रक्षण पाने के लिए निरन्तर पुकार मचाता रहा। उस समय बेशक यही दीखता था कि मेरे हृदय से निकली ये सब पुकारें, ये सब प्रार्थनायें केवल इस शून्य आकाश में लीन हो जाती हैं, नष्ट हो जाती हैं, बिलकुल बेकार जाती हैं। पर अब मैं देखता हूँ कि मेरी हृदय से निकलीं ये प्रार्थनायें प्रभु के अक्षय हृदय में, अक्षय अन्तरिक्ष हृदय में, ईश्वरीय मनोमय वायुमण्डल में ठीक प्रकार से गृहीत होती थीं और वहाँ सुरक्षित रहती थीं। अब देखता हूँ कि मेरी एक बार की प्रार्थना भी व्यर्थ नहीं गयी है। उन्हीं का फल है कि एक वह समय भी आया जब कि दिशाओं ने इन्हें सुना, चारों दिशाओं के वासियों में इसकी खूब चर्चा हुई। लोग इसे सम्भव, उचित और शीघ्र हो सकने वाली वस्तु समझने लगे। और आज तो यह 'प्रतिपालन' साक्षात् उपस्थित ही हो गया है और इस समय हमें सुखी कर रहा है। सचमुच, इस प्रभु की सृष्टि में कोई सच्चा और दृढ़संकल्प ('काम') व्यर्थ नहीं जाता, कभी व्यर्थ नहीं जाता।

(दूरात्) दूर से, दूरस्थ विषय की (चकमानाय) बार बार कामना करते हुए (अक्षये) अक्षय [ईश्वरीय हृदय] में (प्रतिपाणाय) प्रतिपालन के लिए, रक्षण के लिए, [पुकारते हुए] (अस्मै) इस मुझे (आशाः) दिशाओं ने (आ अशृण्वन्) सुन लिया है और (कामेन) संकल्प द्वारा (स्वः) उसके सुख को (अजनयन्) उत्पन्न कर दिया है।

मेधामहं प्रथमा ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानां अवसे हुवे ॥

अथर्व 6.108.2

मेधा के बिना मैं विनष्ट हुआ जा रहा हूँ। मैं बहुत कुछ पढ़ता हूँ, उत्तम उत्तम उपदेश सुनता हूँ परन्तु उन्हें धारण नहीं कर सकता। मेरे मानसिक देह की ऐसी अवस्था हो रही है जैसे वमन या प्रवाहिका रोग से ग्रस्त पुरुष की होती है। मेरी ऐसी दयनीय दशा इसलिये हो गई है क्योंकि मुझ में धारणावती बुद्धि या मेधा की कमी है। 'मेधा शक्ति' न होने के कारण, न केवल मेरी आगे की उन्नति रुक गई है किन्तु मुझ में जो विद्यमान 'देव' है, दिव्य शक्तियां हैं, वे भी क्षीण होती जा रही हैं, ज्ञान-भोजन न मिलने के कारण विनष्ट होती जा रही हैं। इसलिये मैं अब मेधा का भिक्षुक हुआ हूँ। मैं आज मेधा-शक्ति का आह्वान कर रहा हूँ, अपनी दिव्य शक्तियों की रक्षा के लिए मेधा देवी को पुकार रहा हूँ। ओह, मेधा तो वह मुख्य सर्वश्रेष्ठ शक्ति है जो कि 'ब्रह्मण्वती' है, ब्रह्म को, ज्ञान को, वेद ज्ञान को धारण करने वाली है; अतएव जो 'ब्रह्मजूत' है, ज्ञानियों, ब्रह्मज्ञानियों ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणों द्वारा सदा सेवित की गई है। मेधा के बिना तो वेदज्ञान भी नहीं मिल सकता, अतएव सब ज्ञानी लोग सदा इस मेधा का सेवन करते रहे हैं। 'मेधा' वह प्रशस्त शक्ति है जिसका ऋषियों ने भी स्तवन किया है, जिसका साक्षात् दर्शन करने वाले मुनियों ने भी गुणगान किया है और 'मेधा' वह अमृत है जिसका ब्रह्मचारी पान करते रहे हैं, जिसका पान कर तेजस्वी हुए ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य-शक्ति की पूर्णता को प्राप्त करते रहे हैं, जिसका पान कर अमृत हुए ब्रह्मचारी अपने अन्दर तीनों लोकों तथा सब देवों को धारण करते रहे हैं। उसी मेधा को मैं पुकार रहा हूँ, उसी दिव्य शक्ति का मैं अपने में आह्वान कर रहा हूँ। हे मेधे ! तुम आओ, मेरे इन देवों को विनष्ट होने से बचाओ।

(अहं) मैं (प्रथमां) मुख्य, प्रथम (ब्रह्मण्वतीं) ज्ञान, वेदज्ञान रखने वाली (ब्रह्मजूतां) ब्रह्मज्ञानियों से सेवित (ऋषिष्टुतां) ऋषियों से स्तुति की गई (ब्रह्मचारिभिः प्रपीतां) ब्रह्मचारियों द्वारा पान की गई (मेधा) मेधा शक्ति को (देवानां अवसे) अपनी दिव्य शक्तियों की रक्षा के लिये (हुवे) आह्वान करता हूँ, पुकारता हूँ।

महे नो अद्य बोधय उषो राये दिवित्मती ।
यथा चिन्नो अबोधयः सत्यश्रवसि वाय्ये सुजाते अश्वसूनृते ॥

ऋ० 5.79.1, सा० पू० 5.1.4 3, सा० उ०8-3.11

हे उषः ! तू मुझे आज महान् ऐश्वर्य के लिये जगा । हे जगाने वाली देवि ! तू मुझे ऐसा जागृत कर कि मेरे लिए आज आत्मज्ञान का प्रकाश हो जाये, मुझें वह आत्मज्ञान मिल जाये जो सब ऐश्वर्यों का ऐश्वर्य है, जो बड़े से बड़ा दिव्य ऐश्वर्य है । तू तो 'दिवित्मती' है, दिव्य प्रकाश को रखने वाली देवी है । तू मुझे अपने इस सर्वश्रेष्ठ दिव्य प्रकाश को और कब प्राप्त करावेगी ? जिस तरह तू मुझे समय समय पर जगाती रही है, मुझ में नये नये ज्ञान प्रकाश को चमकाती रहीं है, मुझे दिव्य उद्‌बोधनों से ठीक समय पर प्रबुद्ध करती रही है; उसी तरह तू आज हे सुजाते ! हे अश्वसूनृते ! तू आज मेरे इस 'सत्यश्रवा', वाय्य जीवन में उस अपनी परम ज्योति को भी जगमगा दे, उसे जगाकर मेरे इस जीवन को ही सफल कर दे । मेरा जीवन सत्य पर ही आश्रित है, सदा सत्यश्रवण के अनुसार चलने वाला 'सत्य श्रवा' है । इसलिये यह अवश्य तुझ द्वारा 'वाय्य' है, निरन्तर प्रापणीय है, अविच्छिन्नरूप से विस्तारणीय है । तू तो महान् व्यापक प्रियसत्यात्मिका वाणी है, तू महान् सत्य संकल्प-रूपा है । तो मैं अपने इस 'सत्य श्रवस्' जीवन के अवि-च्छिन्न विस्तार के लिए तुझ से प्रार्थना न करूँ तो किस से प्रार्थना करूँ ? इसलिये, हे अश्वसूनृते ! आज तो तू मुझे अपने उस परम सत्य को भी सुना दे । हे सुजाते ! हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मने वाली ! हे उत्तम ज्ञान के साथ प्रकट होने वाली ! तू मेरे लिए और किस दिन सुजाता होवेगी ? देख, भौतिक धनों की तो मैंने कभी चाहना ही नहीं की है, ऋद्धि सिद्धि के दिव्य ऐश्वर्यों की कामना को छोड़े हुए भी मुझे बहुत समय हो गया है, तो अब तो मैं अवश्य तेरे इस परम ऐश्वर्य का अधिकारी बन चुका हूँगा । इसलिये हे उषः ! तू मुझे आज अवश्य जगा, मुझे अपने उस आत्मज्ञान के महान् ऐश्वर्य में जगा, जिसे प्राप्त कर सब महात्मा लोग मालामाल होते रहे हैं । जिसमें जागकर सब मुक्तजीव निहाल होते रहे हैं । हे उषः ! तू मुझे आज ऐसा ही जगा, ऐसे ही निहाल करने वाले महान् धन के लिए जगा ।

(उषः) हे उषः ! (दिवित्मती) दिव्य प्रकाश वाली तू (नः) हमें (अद्य) आज (महे राय) महान् ऐश्वर्य के लिए (बोधय) जगा । (यथाचित्) जिस प्रकार तू पहले (नः) हमें (अबोधयः) जगाती रही है उसी प्रकार (सुजाते) हे सुन्दर प्रकाश के साथ जन्मने वाली ! (अश्वसूनृते) हे महान् व्यापक प्रिय सत्यात्मिका वाणि ! तू आज तेरे इस (सत्यश्रवसि) सत्य ज्ञान वाले (वाय्ये) निरन्तर विस्तारणीय जीवन में [प्रकट हो] ।

24 फाल्गुन

प्रजाभ्यः पुष्टिं विभजन्त आसते रयिमिव पृष्ठं प्रभवन्तमायते।
असिन्वन् दंष्ट्रैः पितुरत्ति भोजनं, यस्ता अकृणोः प्रथमं सास्युक्थ्यः ॥ ऋ० 2.13.1

हे प्रभो ! हम देख रहे हैं कि जो लोग सच्चा यज्ञ कर रहे हैं वे, शुष्णासुर के वश होकर कभी अपनी ही पुष्टि में न लगकर, सदा सब ही प्रजाओं के लिए पुष्टि को बांट रहे हैं, विभाजन कर रहे हैं। वे बैठे हुए ऐसा यज्ञचक्र चला रहे हैं, संपत्ति की उत्पत्ति विनिमय व्यय आदि का ऐसे यज्ञिय प्रकार से संचालन कर रहे हैं कि उनके धन की पुष्टि प्रत्येक प्रजा-जन को पहुँच रही है, प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त हो रही है। अतएव उनके यहाँ अमीर गरीब के भयंकर भेद और उनके उपद्रव भी नहीं हो रहे हैं। वे तो अतिथियज्ञ के सिद्धान्त को अपने सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए लगा रहे हैं। जैसे आये हुए अतिथि के सम्मुख अपना सर्वश्रेष्ठ और बड़े से बड़ा ऐश्वर्य प्रस्तुत कर दिया जाता है, वैसे वे लोग धारक से धारक को प्रभावशाली से प्रभावशाली संपत्ति को समान भोग के लिए सब प्रजाओं में बांट देते हैं, सब मनुष्यों को सुलभ कर देते हैं। इस प्रकार इनका वह राष्ट्र, हे इन्द्र ! तुझ पिता से आये हुए, सब के पालन के लिये तुझ से आये हुए भोजन को ठीक प्रकार खाता है, भोग प्राप्त करता है। यह दंष्ट्रों से उसे न बांधता हुआ खाता है, भोगता है। यही कारण है जिससे वहाँ तुझ पिता का भोजन सब पुत्रों को पहुँचता है, प्राप्त होता है। यदि दंष्ट्र उस प्राप्त भोजन से अपनी ही पुष्टि करने के लिए उसे बांध लेवें, उसे मुख में ही रोक लेवें तो वास्तव में उन्हें भी उसकी पुष्टि न मिल सके। इसलिये सब की पुष्टि में अपनी पुष्टि समझने के कारण उस राष्ट्र में धनप्राप्ति का साधन बनने वाले लोग धन को, भोजन को, कभी बांधते नहीं हैं, किन्तु इस भोजन को सब को यथोचित रूप से पहुँचा देते हैं और इस प्रकार प्रत्येक प्रजा-जन को अधिक से अधिक सुख प्राप्त कराते हैं। यह सब यज्ञ-सिद्धान्त की महिमा है, यज्ञ-सिद्धान्त पर आचरण करने का माहात्म्य है। पर नहीं, हे इन्द्र ! इसके लिये हम तुम्हारी ही स्तुति करते हैं, चूँकि इस यज्ञ-सिद्धान्त के मूल में तो तुम हो, प्रथम यज्ञ करने वाले यज्ञरूप तो तुम हो। सबसे पहिले तुम ही 'अनश्नन्' होकर, सब संसार के लिए भोगों को, सब भोजनों को त्याग रहे हो, उनमे यज्ञ हवन कर रहे हो।

(इव) जैसे (आयते) आये हुए अतिथि के लिए (पृष्ठं) धारक (प्रभवन्तं) प्रभावशाली (रयिं) ऐश्वर्य को प्रस्तुत किया जाता है, वैसे सच्चे याज्ञिक लोग (पुष्टिं) पुष्टि को (प्रजाभ्यः) सब प्रजाओं के लिए (विभजन्तः) बांटते हुए (आसते) बैठे हुए यज्ञ कर रहे हैं। ऐसा राष्ट्र (पितुः) तुम पिता से आये हुए (भोजनं) भोग को (दंष्ट्रैः असिन्वन्) दाँतों से न बांधता हुआ (अत्ति) खाता है, भोगता है, (ता) उन भोजनों का (यः) जिस तूने (प्रथमं) सबसे प्रथम (आकृणोः) यज्ञ किया है, हवन किया है (सः) वह तू (उक्थ्यः) स्तुत्य (असि) है।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मी र्निहिताधिवाचि ।।

ऋ० 10.71.2

जैसे चलनी से छानकर सत्तुओं को साफ किया जाता है उसी तरह मन से विचार मन के साधन से, वाणी को शुद्ध और पवित्र किया जाता है। जो धीर पुरुष बड़ी सावधानी से पवित्र हुई वाणी बोलते हैं, जो खूब सोच समझ कर, मन की चलनी से छान कर, कल्याणकारी और पवित्र शब्दों को ही मुख से निकालते हैं, उनकी वाणी में लक्ष्मी का निवास हो जाता है। किन्तु जैसे सत्तुओं का साफ करना कठिन काम है, वैसे वाणी को शुद्ध पवित्र बनाना भी बहुत ही दुःसाध्य है। पर जो धैर्यशाली, प्रज्ञावान् मनुष्य मनन के साधन द्वारा वाणी को निर्दोष और निर्मल बनाने का यत्न करते जाते हैं, वे एक समय उस अवस्था को पहुँच जाते हैं जब कि उनकी वाणी अपनी अद्‌भुत शक्ति को प्रकट करने लगती है। उस अवस्था में पहुँचा कर ये धीर लोग वाणी के ऐसे सखा हो जाते हैं, शब्द शक्ति से ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध में आ जाते हैं कि वे वाणी के संख्यों को, सब शब्दों के हृदयों और आत्माओं को जानने लगते हैं; ये शब्द अर्थ के साहचर्य को, नित्य सम्बन्ध को साक्षात् अनुभव करने लगते हैं। उस समय उनकी वाणी में वह तेज आ जाता है जिससे कि उनकी वाणी से निकले शब्द अर्थों को उपस्थित करने में समर्थ हो जाते हैं। सचमुच, उनकी वाणी में कल्याणी लक्ष्मी निहित हो जाती है, उनकी वाणी उनके लिए जब जिस ऐश्वर्य को चाहें, तब उसे ही उपस्थित कर सकती है।

(यत्र) जिस अवस्था में (धीराः) धैर्यशाली ज्ञानी पुरुष (तित उना सक्तुं इव) जैसे चलनी द्वारा सत्तुओं को उस तरह (मनसा) मन द्वारा मनन द्वारा (पुनन्तः) पवित्र करते हुए (वाचं) वाणी को (अक्रत) करते हैं, बोलते हैं, (अत्र) उस अवस्था में (सखायः) वाणी के सखा हुए ये लोग (सख्यानि) उनके सख्यों को, हृदयों को (जानते) अनुभव करते हैं, तब (एषां) इन लोगों की (अधिवाचि) वाणी में (भद्रालक्ष्मीः) कल्याणी लक्ष्मी (निहिता) निहित होती है, रक्खी होती है।

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्काय देयाम् ।
न सहस्राय नायुताय वज्रिवो न शताय शतामघ ॥

ऋ० 8.1.5, सा० पू० 3.109

हे इन्द्र ! मैं तुझे कभी न बेचूं, किसी भाव न बेचूं। चाहे कोई मुझे हज़ार देवे, लाख देवे, करोड़ देवे, इस पृथ्वी को सुवर्ण और रत्नों से भर कर देवे तो भी मैं उसके बदले में कभी तुझे न देऊं, कभी तुझे न छोड़ूं। हे अद्रिवः ! हे संसार वृत्र के वश करने वाले ! अपने सब ऐश्वर्यों सहित यह सम्पूर्ण संसार तो तेरे चरणरज के एक कण की भी बराबरी नहीं कर सकता। तो शतामघ ! हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! इस संसार का वह कौन-सा ऐश्वर्य है, वह कौन-सा भोग है जिसे पाने के लिए मैं तुझे दे दूं, मैं तुझे छोड़ दूं ? हे शतामघ ! हमारी वाणी तेरे परम परम ऐश्वर्य को क्या जान सकती हैं ? तेरे मूल्य को क्या बोल सकती है ? बस, तू तो हे मेरे इन्द्र ! अनमोल है, अनमोल है। और ऐसा अनमोल तू संसार के सभी प्राणियों को प्राप्त हुआ हुआ है, सभी जीवों के अन्दर आया हुआ है। पर हा ! ये सोये हुए जीव तुझे नहीं देखते, तेरे मूल्य को नहीं पहिचानते। ये नादान लोग तो जरा जरा से लोभ से या जरा जरा से डर से रोज तुझे त्यागते हैं, रोज तुझे बेचते हैं। ये लोग केवल अपने अपने अभ्यस्त आराम न मिलने के डर से या 'रोज़ी' छिन जाने जैसे क्षुद्र भय से ही तुझे छोड़ देते हैं, सत्य को त्यागते हुए न्याय आदि सत्य नियमों का उल्लंघन करते हुए तुझे छोड़ देते हैं। ये लोग धन प्राप्ति के प्रलोभन से, कुछ सांसारिक सुख मिलने के लालच में तुझे बेच देते हैं। असत्य अन्याय को स्वीकार कर तुझे बेच देते हैं। परन्तु वे अज्ञानी तुझे समझते नहीं, हे वज्र वाले ! तेरी कीमत को जानते नहीं पर तुझ अनमोल रत्न को पाकर अब मैं कैसे कभी तुझे गवां सकता हूँ ? तुझे पाकर मैंने तो सब कुछ पा लिया है। मुझे तो कोई वस्तु नहीं दीखती जिसे पाने के लिए अब मैं तुझे किसी को दे सकूं। मैं तो अब भयंकर से भयंकर उपस्थित हो जाने पर भी और मोहक से मोहक प्रलोभन के आ जाने पर भी तुझे कभी नहीं छोड़ सकता। मैं संसार के सब भोगों को छोड़ दूंगा, मैं असंख्यों मृत्युओं को सह लूंगा, पर मैंने तुझे ऐसा जान लिया है, ऐसा पहचान लिया है कि मैं अब तेरे त्यागने की बात भी नहीं सोच सकता, मैं तुझे छोड़ने का अर्थ ही नहीं समझ सकता।

(अद्रिवः) हे संसार के वश करने वाले ! मैं (त्वां) तुझे (महे) बड़े से बड़े (शुल्काय) मूल्य से (चन) भी नहीं (परादेयां) बेचूं, दे डालूं। (शतामघ) हे अनन्त ऐश्वर्य वाले ! (वज्रिवः) हे वज्र वाले ! (न सहस्राय) न सहस्र के बदले में (न अयुताय) न लाख करोड़ के बदले में और (न शताय) न अनगिनत राशि के बदले में मैं तुझे देऊं, छोड़ूं।

उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृलीकं सुमना अभि ख्यम् ॥
ऋ० 7.86.2

अब मुझे वरुण प्रभु का दर्शन हुए विना चैन नहीं मिल सकता। मैं तो अब उस पाप-निवारक देव को साक्षात् देख लेना चाहता हूँ। सोते-जागते, उठते-बैठते मेरा मन उधर ही गया रहता है। खाते हुए, पीते हुए, चलते हुए, फिरते हुए, मुझ में उसी के विषय में नाना प्रकार के विचार-वितर्क उठते रहते हैं। मैं अपने ही शरीर के साथ अपने ही आप में उस वरुण के विषय में वार्तालाप करने लगता हूँ। अब कब मैं उस प्रभु के ध्यान में निमग्न हो सकूँगा ? क्या कभी मैं वरुण के अन्दर हो सकूँगा ? उस वरुण के महान् आश्रय को पाकर क्या कभी मैं उसी के आधार से प्राण धारण करता हुआ निरन्तर उसी में रम सकूँगा ? मैं तो उसके दर्शन पाने के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा करने के लिये तय्यार हूँ, अपनी बड़ी से बड़ी भेंट चढ़ाने को उद्यत हूँ पर न जाने वह मेरे इस हव्य को स्वीकार भी करेगा या नहीं ? कहीं वह इसे अयोग्य, अमेध्य तो नहीं समझेगा ? कहीं वह इस क्षुद्र भेंट से अप्रसन्न तो नहीं हो जायगा ? क्या वह सचमुच मेरे इस समर्पण को अक्रुद्ध, प्रसन्न होता हुआ सेवन करेगा ? ओह ! न जाने मेरे लिए भी क्या कभी वह सुदिन होवेगा, जिस प्रभु दर्शन से मैं अपने जीवन को सफल कर सकूँगा ? मेरे परम आनन्द का वह दिन, मुझे 'सुमनाः' कर देने वाला वह दिन कभी आवेगा जब कि मैं उस परम सुखकारी अपने आनन्दरूप वरुण का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकूँगा, आमने सामने होकर उसका साक्षात् कर सकूँगा ?

(उत) और मैं (तत्) उस वरुण के विषय में (स्वया तन्वा) अपने शरीर के साथ, अपने आप में ही (संवदे) वार्त्तालाप करने लगता हूँ, (कदा नु) अब कब मैं (वरुणे अन्तः) वरुण के अन्दर (भुवानि) होऊँगा ? (किम्) क्या (अहृणानः) अक्रुद्ध, प्रसन्न होता हुआ वह (मे) मेरे (हव्यं) हवि का, भेंट का (जुषेत) सेवन करेगा ? (कदा) कब (सुमनाः) सुमना होकर मैं (मृडीकं) उस सुखकारी वरुण को (अभिख्यं) देखूँगा, साक्षात् दर्शन करूँगा ?

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य, आत्मनात्मानमभि सं विवेश ।।

यजु० 32.11

यह जीव भटकता है, खूब भटकता है, अपने प्रभु को पाने से पहिले जगह जगह भटकता है । जब तक कि इसे सब संसार की निःसारता का, अन्य सब वस्तुओं की निस्सारता का, पूरा अनुभव न हो जाय तब तक यह जीव कैसे उस सारभूत परमसार परमेश्वर की शरण पकड़ सकता है ? इसीलिये यह सब भूतों में, सब प्राणियों में, नाना प्रकार की अनगिनत योनियों में घूमता है; यह सब लोकों, ऊपर नीचे मध्य के अच्छे बुरे लोकों में फिरता है, अच्छे बुरे अनुभव पाता हुआ फिरता है । सुख की चाह में, शान्ति की तलाश में यह सब दिशाओं में मारा मारा घूमता है, सब उपदिशाओं में, कोने कोने में, खोजता हुआ भटकता है । अन्त में जब उसे निश्चय हो जाता है कि ये सब अनात्म वस्तुएँ हैं इनमें उसे कुछ नहीं मिल सकता, जब उसे इन से सच्चा ज्ञान-युक्त वैराग्य हो जाता है, इनमें कुछ भी आकर्षण नहीं रहता, तभी वह इनसे मुख मोड़कर अपने परमात्मा के प्रति अभिमुख होता है, भोग के मार्ग को छोड़कर अपवर्ग का यात्री बनता है । इस यात्रा में उसे उस सत्य-स्वरूप 'ऋत' से सबसे पहिले उपजी हुई, अतएव उसकी सबसे नजदीकी, जिस शक्ति का अनुभव होता है—उसे बुद्धि कहो, 'महत्-तत्व' कहो, ब्रह्म-वाणी कहो या शक्ति ही कहो—उस 'ऋतस्य प्रथमजा' का आश्रय-ग्रहण करता है, अच्छी तरह सेवन करता है । उसके उपस्थान से, संसेवन से उसका आत्मा जागृत हो जाता है, वह आत्मा हो जाता है, अपने स्वरूप को पा जाता है । इसी आत्मा द्वारा तब वह अपने आत्मा को, परम आत्मा को, संप्राप्त कर लेता है; उसमें संप्रविष्ट हो जाता है, सम्मुखतया अवस्थित हो जाता है ।

(भूतानि) प्राणियों में, योनियों में (परीत्य) घूमकर (लोकान्) नाना लोकों में (परीत्य) घूमकर (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं (प्रदिशःच) और विदिशाओं में (परीत्य) घूमकर (ऋतस्य) सत्य स्वरूप की (प्रथमजां) प्रथमोत्पन्ना शक्ति का (उपस्थाय) आश्रयण, संसेवन करके (आत्मना) आत्मा द्वारा (आत्मानं) अपने आत्मा को (अभि संविवेश) संमुखतया संप्राप्त हो जाता है ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।।

यजु० 31.19

मैं उस पुरुष को, उस महान् पुरुष को जानता हूँ जो कि सब संसार में परिपूर्ण हो रहा है, जो इतना महान् है कि ये सब चराचर सृष्टियां और ये सब ब्रह्माण्ड उसके एक अंश में स्थित हैं। वह परिपूर्ण पुरुष है, वह सब तरह महान् है। मैं उसे देख रहा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ। वह अपने प्रकाश स्वरूप में, अपने उज्ज्वल ज्योतिर्मय रूप में सदा सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है, सदा सर्वत्र भासित हो रहा है। वह तम से सर्वथा परे है, अज्ञान-अन्धकार उस विशुद्ध ज्योति को, उस पवित्र प्रकाश को छू तक नहीं सकते। इस संसार में यदि किसी वस्तु से उसके स्वरूप के प्रति निर्देश किया जा सकता है तो इस जाज्वल्यमान आदित्य को देख लो। वह आदित्य-वर्ण है, प्रचण्ड उज्ज्वल स्वयं प्रकाशरूप है। हे मनुष्यो ! तुम उसे देखो, उसे जानो। उसे ही जानकर मनुष्य मृत्यु को अतिक्रमण कर सकता है। हे मृत्यु से मारे हुए मर्त्यो ! हे नाना क्लेशों मे सताये हुए संसारियो ! तुम उसे क्यों नहीं देखते ? उसे देख लेने पर तो, संसार के अन्य क्लेश तो क्या मृत्यु का महा क्लेश भी मिट जाता है। देखकर मनुष्य अमर और अभय हो जाता है। इसलिये यदि तुम सब दुःख भयों से पार होना चाहते हो, इन क्लेश बन्धनों से छुटकारा पाना चाहते हो तो तुम उस व्यापक प्रभु को जानो उस आदित्य वर्ण को पहिचानो। सुख शान्ति की अभीष्ट स्थिति में पहुँचने के लिए छुटकारे का महान् सुख प्राप्त करने के लिए अपने परम अयन को पाने के लिए उस प्रभु को जानने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं है, उस पूर्ण पुरुष को देख लेने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है।

(अहं) मैं (एतं) इस (महान्तं) बडे महान् (पुरुषं) व्यापक परिपूर्ण पुरुष [परमेश्वर] को (आदित्यवर्णं) आदित्य जैसे स्वयं प्रकाश स्वरूप वाला (तमसःपर-स्तात्) और अज्ञान अन्धकार से बिल्कुल परे (वेद) जानता हूँ, देख रहा हूँ। (तं एव) उसको ही (विदित्वा) जान कर मनुष्य (मृत्युं) मृत्यु को (अति एति) अतिक्रमण करता है, (अयनाय) अभीष्ट स्थान तक पहुँचने के लिए, परमपद पाने के लिए (अन्यः) और कोई (पन्थाः) मार्ग (न) नहीं (विद्यते) है।

द्यौः शान्ति रन्तरिक्ष ँ शान्तिः पृथिवी शान्ति रापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्ति र्विश्वेदेवा शान्ति र्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्ति ँ शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥

यजु 36, 17

हे प्रभो ! तीनों ही लोक हमारे लिए शान्ति देने वाले होवें। वह ऊपर का प्रकाशमय आध्यात्मिक द्युलोक, मध्य का मनोमय अन्तरिक्ष लोक तथा यह स्थूल अन्नमय पार्थिक लोक हमें शान्ति प्रदान करे। हमें आत्मिक, मानसिक और शरीरिक शान्ति प्राप्त होवे। और फिर यह पार्थिवलोक भी हमें अपने तीनों रूप में शान्ति प्रदान करे। ये सब आप, ये सब रस, ये सब प्राण इस लोक के दिव्य रूप के लिए शान्तिदायक होवें। ये सोमादि ओषधियां रोगों को शमन करती हुई हृदय को, मध्य भाग को, शान्ति देने वाली होवें। और ये सब भोज्य वनस्पतियां हमारे शरीर के पार्थिव भाग का ठीक तरह पोषण करने वाली होवें। इस प्रकार तीनों लोकों के देव, तीनों लोकों के अन्दर फिर जो और तीन लोक हैं उनके भी सब देव, सब के सब देव, हमारे लिए शान्तिदायक होवे। सब ज्ञानमय देव और उनका ज्ञान, सब ज्ञान, वेदज्ञान परब्रह्म हमें शान्ति देनेवाला होवे। इस प्रकार यह सभी 'ब्रह्म' ब्रह्माण्ड, यह सभी संसार इस संसार का सब कुछ हमें सदा शान्ति प्रदान करता रहे। परन्तु यह शान्ति भी वास्तव में शान्ति ही होवे। यह झूठी या बनावटी शान्ति न होवे। निर्जीवता में जो 'शान्ति' दिखाई देती है यह मुर्दा शान्ति हमें नहीं चाहिये; और अशान्ति को छिपाने के लिए जो दिखावटी शान्ति बनाई जाती है, वह झूठी शान्ति भी हमें नहीं चाहिये। हमें तो वही असली शान्ति चाहिये जो सच्ची शान्ति होवे और जीवित शान्ति होवे। इसलिये हे प्रभो ! तुम हमें सदा ऐसी ही शान्ति प्राप्त कराओ, ऐसी ही सच्ची और जीवित शान्ति प्राप्त कराओ।

(द्यौः) द्युलोक (शान्तिः) शान्ति दे, (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्ष (शान्तिः) शान्ति दे, (पृथिवी) पार्थिवलोक (शान्तिः) शान्ति दे, (आपः) जल, प्राण (शान्तिः) शान्ति दे, (ओषधयः) रोगनाशक औषधियां (शान्तिः) शान्ति देवें, (वनस्पतयः) भोज्य वनस्पतियां (शान्तिः) शान्ति देवें, (विश्वे देवाः) सब के सब देव (शान्तिः) शान्तिदायक होवें, (ब्रह्म) ज्ञान (शान्तिः) शान्ति देवे, (सर्वं) सभी कुछ (शान्तिः) शान्ति देवे, (शान्ति) शान्ति भी (शान्तिःएव) सचमुच शान्ति ही होवे, (सा) वह, ऐसी (शान्तिः) शान्ति (मा) मुझे (एधि) प्राप्त होवे।

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् साकं त्रिशता न शंकवो अर्पिताः षष्ठिर्न चलाचलासः ॥
ऋ० 1.164.48, अथर्व 108.4

देखो, यह चक्र निरन्तर घूम रहा है, चक्कर लगा रहा है, इसमें बारह प्रधियां, बारह अरे लगे हुए हैं। इसमें तीन नभ्य, नाभि को जोड़ने वाली तीन धुरियां जुड़ी हुई हैं। और इसमें, ठुके हुये कीलकों की तरह, तीन सौ और आठ चलाचल 'अहोरात्र' अर्पित हुए हुए डले हुए हैं। क्या तुम समझे कि यह कौन सा चक्र है ? फिर फिर घूम कर आने वाला यह कैसा चक्र है ? इतना तो स्पष्ट है कि यह सदा चलते हुए संवत्सर चक्र का वर्णन है जिस में बारह महीने, बारह अरों की तरह बार बार घूम कर आ रहे हैं, जिसमें तीन 'चातुर्मास', गर्मी, वर्षा और सर्दी के तीन ऋतुकाल एक के बाद एक आते जा रहे हैं, जिसमें तीन सौ साठ दिन रात निरन्तर आते हुए अपना चलाचल कर रहे हैं। पर वास्तव में इस एक चक्र को तत्वतः कौन समझता है ? यह 'काल चक्र' किसलिये निरन्तर घूम रहा है ? इस चक्र पर चढ़ा हुआ यह समस्त संसार कहाँ पहुँचना चाह रहा है ? इस चक्र के इन रहस्यों को हम में से कौन जानता है ? इसलिये आओ ! हम इस चक्र के चलाने वाले कालदेव को जानें, इस चक्र के प्रवर्त्तक अपने प्रभु को पहिचानें। वर्ष के ये तीन सौ साठ अहोरात्र इसी प्रयोजन के लिये प्रतिदिन हमारे पास आ रहे हैं, ये चैत्र वैशाख आदि महीने इसलिये हमारे जीवन में चक्कर लगा रहे हैं, ये तीनों ऋतु-युगल इसीलिये बार बार हमें अपना अनुभव करा रहे हैं। तो, आओ ! अब से हम आने वाले इन तीनों वर्ष-खंडों का ऐसी ही उच्च भावना से स्वागत करें, अपने प्रत्येक महीने में इसी पवित्र लक्ष्य से प्रवेश करें और अपने प्रत्येक अहोरात्र को इसी प्रकार से व्यतीत करें जिससे हम उस 'एक' को जान सकें, उस परम प्रभु को पहुँच सकें।

(एकं) एक (चक्रं) चक्र है, जिसमें (द्वादश) बारह (प्रधयः) अरे हैं, (त्रीणि) तीन (नभ्यानि) नाभिस्थान हैं। (तस्मिन्) उस चक्र में (साकं) साथ ही (शंकवो न) कीलकों की तरह (त्रिशता षष्ठिर्न) तीन सौ और आठ (चलाचलासः) चल और अचल, दिन और रात, चलते जाने वाले अहोरात्र (अर्पिताः) अर्पित हैं, पड़े हुए हैं। (कःउ) कौन है जो (तत्) उस एक चक्र के रहस्य को (चिकेत) समझता है ?

'वैदिक विनय' कैसे लिखी गई ?

आचार्य अभयदेव जी ने 'वैदिक विनय' की भूमिका 'प्रारम्भिक वचन' में लिखा है कि इस ग्रन्थ की रचना उन्होंने कानपुर जेल में रहते हुए की थी। यहाँ उनकी अप्रकाशित आत्मकथा का वह अंश उद्धृत है जिसमें इसकी रचना की पृष्ठ-भूमि का विवरण मिलता है। —सम्पादक

एक दिन जब सर्किल-पुलिस-इन्स्पेक्टर अचानक गुरुकुल में मुझे गिरफ्तार करने आये तो उसकी खबर गुरुकुल में एकदम फैल गई। कुछ घन्टों में तैयारी कर ली गई। गुरुकुल की माताओं ने तिलक करके विदाई दी। सर्किल-इन्स्पेक्टर ने बड़ा अच्छा बर्ताव किया। उसने मुझे रेल में भी बढ़िया भोजन खिलवाया कि जेल में पहुँचने तक जेल का भोजन समाप्त हो चुका होगा।

जेल में पहुँचते ही जेलर साहिब (गुरु प्रसाद) ने मुझे 'ए' क्लास में रख लिया। उन्होंने जब सुना कि गुरुकुल से स्नातकों का जत्था तो पहिले ही जेल पहुँच चुका था और अब मैं भी यहाँ पहुँच गया तो उसने मुझसे पूछा कि गुरुकुल में कितने ब्रह्मचारी हैं ? मैंने जब बताया कि कुल मिलाकर पाँच सौ होंगे तो उसने कहा, "तो मुझे अब पाँच सौ को जेल में रखने का और प्रबन्ध करना होगा।" मेरे जेल मे पहुँचने का उसने यही अर्थ लगाया।

कुछ दिनों बाद जेल में हमारे मुकदमे का 'नाटक' हुआ। मजिस्ट्रेट स्वयं जेल में पधारकर कचहरी करते थे। 'नाटक' इसलिये कहता हूँ कि सरकार को भी पता था कि ये लोग कोई बचाव नहीं करेंगे। नमक-कानून के तोड़ने पर सब स्नातकों को छह-छह मास की कड़ी कैद सुना दी गई। मुझे 108 की धारा में एक वर्ष की सादी सजा दे दी गई। उस समय मैंने जो अपना लिखित बयान दिया था, वह और कहीं तो नहीं छप सका क्योंकि छापने वाले का प्रेस जब्त हो जाने का डर था। उस बयान में भी कई आर्डिनेंसों को तोड़ा गया था। पर पं० सातवलेकर जी के औंध के 'वैदिक धर्म' में वह छोटा सा बयान अविकल रूप से छपा था।

मजिस्ट्रेट ने मेरी 'ए' क्लास भी पक्की कर दी।

कुछ दिनों बाद ही सहारनपुर के सवजज बाबू रतनलाल जी मुझसे जेल में मिलने आये। मैंने उनसे कहा था कि आप तो सरकारी नौकर हैं, आप क्यों इन बातों में पड़ते हैं ? तो उन्होंने कहा कि मेरे ऊपर तो जज है, जिले का कलेक्टर मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? असल में उस समय वायुमण्डल ही ऐसा था। ये रतन लाल जी मेरे योगानन्द जी वाली क्रिया के साथी थे।

सहारनपुर जेल में जिले भर के कांग्रेस कार्यकर्ता इकट्ठे हुए थे, केवल हमारे स्नातक साथी या रुड़की तहसील के हमारे अन्य स्वयंसेवक साथी ही नहीं थे। ये कार्यकर्ता कुछ न कुछ उपद्रव करे रखते थे। हमारे साथियों में भी कई कुछ न कुछ 'पॉइन्ट' ढूंढते रहते थे झगड़ा करने को। कभी कोई भूख हड़ताल कर देता था तो कभी आपस में ही झगड़ा हो जाता था। कुछ भी मामला हो, मुझे वहाँ जाकर ठीक ठाक करना होता था। सहारनपुर का जेलर मुझे कहीं भी किसी भी बैरक में जाने देता था। मुझे सारे जेल में कहीं भी जाने में रोक नहीं थी। सो मेरा बहुत सा समय तो सहारनपुर जेल में अपने सत्याग्रही कैदियों के झगड़े निपटाने में ही लग जाता था।

इसका भी कुछ अच्छा ही फल हुआ। कुछ बातें हमारे कैदियों को समझ में में आईं। हम सब सत्याग्रही कैदी 'ए' क्लास, 'बी' क्लास और 'सी' क्लास का खाना मिलाकर इकट्ठा ही खाते थे। जेलर को कहने सुनने से हमारा खाना भी कुछ अच्छा बनने लगा था। जेलर, जहाँ तक बन पड़े, हमारी माँगें पूरी करने को उद्यत रहता था पर जेल में अपने रोबदाब को कम करना नहीं मान सकता था। यह स्वाभाविक था। इस प्रकार जेल में एक नया सार्वजनिक जीवन बीतने लगा।

सहारनपुर जेल में एक डाक्टर साहब थे जिनका नाम हमारे साथियों ने 'टिंचर प्रसाद' रख छोड़ा था। कहते हैं कि वे प्रत्येक बीमारी में एक ही दवा 'टिंचर आयोडीन' बताया करते थे। जुकाम होने पर नाक पर 'टिंचर आयोडीन' लगा देने की उनकी कहानी प्रसिद्ध थी। उनके लिए 'टिंचर' अमृतधारा थी। मुझे लगा कि शायद प्रत्येक जेल में ऐसे ही डाक्टर रखे जाते थे। कानपुर में भी एक ऐसे ही डाक्टर दीखते थे।

शेष समय मैं सहारनपुर जेल में 'अग्नि देवता' पर एक पुस्तक लिखने में लगाता था जिसका संकल्प मैं गुरुकुल से करके आया था। उसके लिए 'निरुक्त' आदि वैदिक साहित्य की पुस्तकें भी लेकर आया था। 'ए' क्लास का कैदी छह धार्मिक पुस्तकें भी रख सकता था। मैं खाली समय में बहुत से कागजातों पर भिन्न-भिन्न नोट किया करता था।

'ए' क्लास में मेरे साथ मथुरा के हकीम बृजलाल जी थे। असल में तो जेल के मेरे साथी वे ही थे।

एक बार ऐसा हुआ कि जेलर गुरुप्रसाद ने एक इखलाकी (गैर-सत्याग्रही) कैदी को पीटा। जेलर किसी को पीट नहीं सकता था। तब मैंने यूं ही पॉइन्ट

निकालने वालों को कहा कि यह है ठीक पॉइन्ट जिसपर हम ठीक तौर से लड़ सकते हैं, यूं ही बिना बात पर सरकार से झगड़ने में कोई लाभ नहीं। सो उस पॉइन्ट पर मैंने भी जेलर को कहा। पर वह क्षमा माँगने को तैयार नहीं होता था। तब मैंने उसकी शिकायत ऊपर लिखी और अपनी जो चिट्ठियाँ 'ए' क्लास वाला लिख सकता है, उन्हीं में लिखकर भेजीं।

जब जेलर ने यह देखा कि मामला बढ़ रहा है तो उसने हम सब गुरुकुल के स्नातकों का तबादला तार देकर करा दिया। सब स्नातक दो-दो करके यू० पी० की दूर-दूर की जेलों में भेज दिये गये और मुझे संयुक्त प्रान्त की बड़ी जेल कानपुर को भेज दिया गया। तार से तबादले के हुकम आ गए। नियमानुसार कैदियों को नहीं बताया जाता कि तुम किस जेल में जा रहे हो लेकिन बाहर निकलने पर ले जाने वाले पुलिस सिपाहियों से पता लग जाता था कि हमें किस जेल में भेजा जा रहा है। धर्मवीर जी शिमले वाले को सहारनपुर जेल में ही छोड़कर शेष दस स्नातकों को दो-दो करके दूर की पाँच जेलों में भेज दिया गया।

जब मेरा सहारनपुर से तबादला होने लगा तो जेलर ने विदाई के समय मुझसे 'अग्नि देवता' पर जो पुस्तक मैंने लिखनी प्रारम्भ की थी, उसके सब कागजात मांग लिये। उसने कहा कि ये मैं संभालकर रखूंगा और आपको वहीं जेल में भेज दूंगा जहाँ आप जायेंगे, अभी उनके रास्ते में खोये जाने का डर है। पीछे की घटनाओं से यह साबित हुआ कि जेलर ने यह कार्य बहुत ठीक किया था, यद्यपि उस समय मुझे संदेह हुआ था कि वह क्यों ऐसा कर रहा है।

मुझे एक सिपाही कानपुर पहुंचाने चल दिया। जब मुझे सिपाही से पता चला कि मुझे कानपुर भेजा जा रहा है तो मैंने कानपुर डी. ए. वी. कालेज के फिलासफी के प्रोफेसर श्री कृष्ण कुमार जी को एक लिफाफा लिख दिया था कि मैं कानपुर जेल आ रहा हूं। सिपाही ने ही वह चिट्ठी डाक में डाली थी।

× × × ×

कानपुर जेल पहुंचने पर सिपाही ने भी गंगा जी के दर्शन किये, क्योंकि कानपुर जेल गंगा के तट पर बनी हुई है। अन्दर पहुंचते ही वार्डर ने याद दिलाया और ठीक याद दिलाया, "यह कानपुर जेल है, कानपुर।" इस जेल के जेलर साहिब एक खान बहादुर मुसलमान थे और सुपरिन्टेन्डेन्ट कर्नल ओनील एक अंग्रेज थे। मेरा सामान दफ्तर में रख लिया गया और मुझे तुरन्त 'ए' क्लास की बैरक 16 नम्बर में भेज दिया गया। यह बैरक जेल के अन्त में एक कोने पर थी जहाँ अन्य कोई व्यक्ति बल्कि पक्षी तक नहीं पहुंच सकता था। 'ए' क्लास के कैदी वहाँ बड़े-बड़े आदमी थे। कृष्णकान्त मालवीय, कानपुर के डाक्टर जवाहरलाल जी थे, बुद्धू बाबू, हकीम जी तथा शुक्ला जी थे, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि थे। मेरठ के एक एम. एल. ए. श्री चौधरी विजयपाल सिंह थे पर जेल में हम अन्य किसी व्यक्ति से मिल नहीं सकते थे।

मेरा हवनकुण्ड भी मेरे सामान में था। बिना हवन किये मैं खाना नहीं खा सकता था। अतः कई बार सामान के लिए कहलाया। शाम को 4 बजे जब हवन का सामान मुझे मिला तो हवन करने के बाद मैंने भोजन खाया। प्रथम दिन ही कानपुर जेल में इस तरह बीता। हमारे साथियों को आर्यसमाजी का जेल आना विचित्र लगा क्योंकि कानपुर का तथा विशेषतया यू. पी. का उनका अनुभव यह था कि आर्य समाजी 'जी हजूर' होते हैं।

दो एक दिन बाद ही मुझे दफ्तर में बुलाया गया। सामने कुर्सी पर कर्नल ओनील बैठे थे। उन्होंने केवल इतना कहा कि "A contraband paper was found in your luggage, hence chain fettery for a month". एकदम मुझे वहाँ से हटा लिया गया और मुझे कहा गया कि आपको एक महीने के लिए जंजीर की वेड़ियों की सजा दी गई है। यह अधिक से अधिक सजा थी जो कि 'ए' क्लास के कैदी को दी जा सकती है। मैं बेड़ी पहने हुए अपने वार्ड में पहुंचा। सब साथी आश्चर्य करने लगे कि यह क्या बात है? Contraband paper मेरे यहाँ कोई नहीं था। पीछे पता लगा कि सहारनपुर के जेलर की जो शिकायत मैंने लिखी थी, उसकी प्रतिलिपि मेरे सामान में थी। अगले दिन मैंने जेल के एक अधिकारी को कहा भी कि वह तो Contraband (अनधिकृत) paper नहीं था, वह तो जेल द्वारा बाकायदा भेजी गई चिट्ठी की नकल थी। वह चिट्ठी वस्तुतः भेजी गई थी पर वहाँ सुनने वाला कौन था? उस समय तो तुरन्त मुझे वहाँ से हटा लिया गया अतः कुछ कह ही नहीं सकता था। मुझे 'ए' क्लास के साथियों ने ही बताया था कि वह अधिक से अधिक सजा है जो कि 'ए' क्लास के कैदी को दी जा सकती है। कृष्णकान्त मालवीय ने कहा और चाहा कि बेड़ी पहने हुए की मेरी फोटो ले ली जानी चाहिये। उन बेड़ियों से मुझे और कुछ तकलीफ नहीं थी। मैं दिनभर उन्हें समेटकर बैठा रहता था। हमारे साथी यह भी देखते रहे कि ठीक एक महीने में वे हट जाती हैं कि नहीं। नहीं तो यही एक बात जेल अधिकारियों के विरुद्ध बन जाती। पर ठीक समय पर ही वे मेरी बेड़ी काट दी गईं।

सुपरिन्टेन्डेन्ट एक बार—केवल एक बार हमारी बैरक में आया। हम परेड तो करते नहीं थे। सुपरिन्टेन्डेन्ट के आने की सूचना हमें पहले दे दी गई थी। हम सोचने लगे कि उससे क्या कहा जाय? मेरी बेड़ी तो कट ही चुकी थी। उसके कहने का कुछ मतलब नहीं था। जब वह अंग्रेज (कहते हैं कि वह जेलों का इन्स्पेक्टर जनरल होने वाला था) आया तो कृष्णकान्त मालवीय ने कहा कि हमें लिखने को कागज और लिखने का सामान नहीं मिलता है। तो उसने एकदम कहा, "You are doing short work" अर्थात् तुम्हारी तो काम कम करने की शिकायत है। तुम्हारे पास समय ही लिखने को कहाँ है? तो मुझे बोलने का मौका मिल गया। मैंने कहा "But I have a simple imprisonment, I have no other work". उसने पूछा, "What will you write?"

मैंने कहा "I shall write something on Vedas".

तो उसे वेद का भी पता नहीं था, उसने पूछा "What is Veda" ?

तो मेरे मुंह से निकला "Hindu scriptures".

तो उसने कहा "Oh, I shall see to it". यह कहकर वह हमारी बैरक से चला गया।

अगले रोज मुझे बताया गया कि सुपरिन्टेन्डेन्ट ने मेरी प्रार्थना मान ली है और मुझको लिखने का सामान मिल जायेगा।

सादी सजा तो वहाँ औरों को भी कई को मिली थी परन्तु सब ने जान-बूझकर 'मशक्कत' ले ली थी। मशक्कत करने वालों को 'रिमिशन' दिन मिलते थे—वे जल्दी छूट जाते थे। मुझे भी साथियों ने मशक्कत ले लेने की सलाह दी थी। और कुछ नहीं, वहाँ मशक्कत बान बटने की मिलती थी। वहाँ बैरक में बान आ जाते थे, हमारे साथी थोड़ा सा बट लेते थे (तभी सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कहा था कि तुम्हारी काम कम करने की शिकायत है)। पर मैंने मशक्कत नहीं ली थी। मैं हँसी के साथ कहा करता था कि हम सब इकट्ठे ही छूटेंगे, मशक्कत लेकर क्या करना है? कुछ ऐसा ही हुआ भी और गांधी-इर्विन समझौते के कारण हम सब इकट्ठे ही छूटे।

हमारी बैरक में कभी कभी जेल के दढ़ियल मोटे-ताज़े और ढीले-ढाले डाक्टर साहब हालचाल पूछने आया करते थे। पर उन्हें जब कोई अपनी बीमारी बताता था जैसे दर्द हो गया, ज्वर हो गया तो हमेशा वे कहते थे कि "हाँ, आज कुछ ऐसी हवा चली कि मुझे भी दर्द हो गया है या मुझे भी ज्वर हो गया है।" वे सहारनपुर जेल के 'टिंचर प्रसाद' की तरह 'हवा प्रसाद' थे, ऐसा कहना चाहिए।

जैसा कि तबादला होते समय मैंने प्रोफेसर कृष्णकुमार जी को सूचित किया था, वे 15वें दिन मुझसे मिलने जेल में आते थे। एक बार मिलाई के दिन डी. ए. वी. कालेज के प्रिंसीपल दीवानचन्द जी भी पधारे और एक बार तो स्वामी सत्यानन्द जी महाराज मिलने के लिए आये बैठे थे, उन्होंने बड़ी कृपा की थी।

कानपुर का मुसलमान जेलर हमें सब सहूलियत देता था पर कागज का एक पुरजा भी हमें नहीं रखने देता था और न हमें किसी अन्य कैदी का मुंह देखने देता था।

हमारे खाने को रोज कानपुर से ताजी पूरी, कचौड़ी, मिठाई, फल आ जाते थे; हम जो कुछ चाहें खाते थे। पढ़ने की किताबें जितनी चाहें, रख सकते थे, छह की ही क़ैद नहीं थी। पर दूसरे कैदियों को हम कोई सन्देश न भेज दें, इसकी पूरी एहतियात रखी जाती थी अतः कागज का एक पुर्जा व पेन्सिल हम नहीं रख सकते थे। जब मुझे एक रजिस्टर (लम्बे आकार की कापी) लाकर दिया गया कि मैं इस पर पुस्तक लिख सकता हूँ तो मुझे हिदायत दी गई कि देखना इसका एक कोना भी नहीं फटना चाहिए। इस रजिस्टर पर जहाँ-तहाँ बहुत से पृष्ठों पर सुपरिन्टेन्डेन्ट की

मोहर लगी हुई थी और मुझे कहा गया कि हर सातवें दिन यह रजिस्टर देखा जाया करेगा, यद्यपि वह फिर कभी देखा नहीं गया।

मुझे कई बार ऐसा लगा कि बद्रीनाथ के रास्ते पर एकान्त में रहते हुए अन्तिम दिनों में जो मुझे 'लिखे हुए पृष्ठ' सामने आते थे, वे शायद 'वैदिक-विनय' के ही पृष्ठ थे।

कई कहते थे कि कर्नल ओनील ने बेड़ियाँ देने का पछतावा-सा किया, अतएव लिखने का सामान देना खुशी से मान लिया।

तो फिर मैं सोचने लगा इस कापी पर कैसे किताब लिखी जा सकती है? किताब लिखने के लिए तो बहुत कुछ रफ दूसरे कागजों पर लिखना होता है। सहारनपुर जेल में 'अग्नि देवता' पर जो 'अग्नि होत्र रहस्य' नामक पुस्तक लिखनी शुरू की थी, उसके कागज भी मुझे नहीं वापस मिले थे, यद्यपि गुरुप्रसाद जेलर साहिब ने भेजने का वायदा किया था। मैंने कानपुर से उन्हें पत्र भी लिखे। जब मैंने उन कागजों के मिलने की आशा छोड़ दी तो सोचने लगा कि इस रजिस्टर पर ऐसी चीज लिखनी चाहिए, शुरू करनी चाहिए जिसमें बहुत काटना न पड़े और इधर उधर रफ लिखना न पड़े। तो मुझे याद आया कि एक बार अन्तरंग सभा के प्रोफेसर शिवदयाल आदि सदस्यों ने ईसाइयों की एक पुस्तक दिखाई थी जिसमें प्रतिदिन के लिए एक प्रार्थना थी। तब से ऐसी ही वैदिक मन्त्रों की एक पुस्तक लिखने का संकल्प था। इच्छा हुई कि उसी संकल्प को क्यों न पूरा किया जाये? तो मैंने उस रजिस्टर पर गायत्री आदि छन्दों के अनुसार छांटकर मन्त्र लिखने प्रारम्भ कर दिये। जो-जो अर्थ लिखने योग्य मन्त्र लगे, उन्हें छांटकर लिखने लगा। मन्त्रों का चुनाव तो प्रायः सारी पुस्तक का कर डाला और प्रारम्भ की तीन ऋतुओं के मन्त्रों के अर्थ भी लिख डाले।

आजकल कानपुर जेल में मेरे जैसे अच्छे दिन बीते, वैसे बहुत कम बीते हैं। वहाँ बड़ा एकान्त था, सहारनपुर जेल से बिल्कुल उलटा था। हमारे साथी सब अच्छे सज्जन थे तथा वे सब मेरे स्वभाव को अच्छी तरह समझ गये थे। अतः कोई मुझसे यूँ ही बात नहीं करता था। मुझ से बात करने के लिए मुझसे पहले समय मांग कर निश्चित कर लिया जाता था। मैं दिन रात वेदमन्त्रों की अपनी दुनिया में रहता था। जिस मन्त्र का अर्थ लिखना होता था, उसे मैं मन ही मन गुनगुनाता रहता था, जब एक समय मन्त्रार्थ इतना स्पष्ट हो जाता था, उसकी विनय का एक-एक शब्द मन में निश्चित हो जाता था तो मैं उसे कापी पर लिख डालता था। तब लिखने में देर नहीं लगती थी क्योंकि शब्द-शब्द निश्चित हो चुका होता था। सब देर मन्त्रार्थ के स्पष्ट होने में लगती थी। तब तक मैं उसी में मग्न या ग्रस्त रहता था। कभी दिन में कई मन्त्र लिखे जाते थे, कभी एक भी नहीं। रात को भी मन्त्र गुनगुनाता सो जाता था। प्रायः प्रातः उसका अर्थ लिखा जाता था। इस तरह बड़े अच्छे दिन बीत रहे थे।

उन दिनों कई अनुभूतियां भी हुईं। एक साथी जिस दिन रिहा होने वाला था, उसी दिन (उसको भी पता नहीं था) प्रातः उसे एक विशेष भगवान् का नाम दे देने की बात सुनी कि 'जाती विटिया ·· नाम गुंजा दे।' जब उसे रिहाई की सूचना मिली तो वह मेरे पास आया और भजन की विधि पूछी तो मैंने वही नाम उसे बता दिया। गांधी इर्विन की बातचीत का कुछ अंश सुनाई दिया, दोनों की मूर्त्तियां सामने दिखाई दीं। हम सायंकाल बैरक बन्द होने पर मिलकर 'झण्डा प्रार्थना' किया करते थे; तब मैं मानसिक तौर पर अपने तिरंगे झण्डे को सामने चित्रित किया करता था। पर मुझे उसके रंग बदलते से लगते थे। पीछे पता लगा कि कांग्रेस ने झण्डे को स्वयं जो बदला था, उसी के अनुसार वे रंग बदलते थे। जैसे लाल रंग की जगह पीछे केसरिया रंग कर दिया गया। शायद रंगों का क्रम भी बदला था।

'नवीन' जी अब नहीं रहे हैं, अतः उनका नाम ले देने में भी कुछ हर्ज नहीं। उन्हें बीड़ी पीने की आदत थी। मेरे कहने पर कि हमें यह शोभा नहीं देता, उन्होंने बीड़ी छोड़ देने का संकल्प किया। शायद दो दिन छोड़े रखी। फिर आकर बालक की तरह स्वच्छ हृदय से मुझे बोले, "अभय जी, अब मुझसे बीड़ी बिना नहीं रहा जाता।" ऐसे सच्चे, खरे सीधे थे वे भाई।

हमारे विजयपालसिंह जी दोनों समय खूब कसरत करते थे पर खाते बहुत कम थे, वह भी ठीक प्रकार चबाकर।

चुपचाप रहते हुए भी जेल में (चौबीस घंटे साथ रहने वाले) इन साथियों से एक प्रेम-सम्बन्ध बन गया था। कृष्णकान्त मालवीय जी पीछे हमारे यहाँ एक कान्फ्रेंस में पधारे भी थे। उमा नेहरू भी साथ आई थीं।

कानपुर जेल में ऐसे अच्छे दिन बीत रहे थे कि जब हमें मार्च 1931 में गांधी-इर्विन पैक्ट के अनुसार रिहा होने की सूचना मिली, तो आनन्द के स्थान पर कुछ बुरा सा लगा जैसे हमारे चलते (मेरी सजा तो जुलाई में समाप्त होती थी) कार्यों में कुछ विघ्न सा डाल दिया गया हो।

मुझे मुजफ्फरनगर का टिकट दिया गया था। मैं देहली कुछ घंटे लाला नारायण दत्त ठेकेदार के यहाँ पंचकुइयाँ रोड पर ठहर कर मुजफ्फरनगर से चरथावल चला गया। वहाँ कुछ लोगों को पता लग गया कि मैं आ रहा हूँ, तो उन्होंने ढोल-ढपड़े के साथ कुछ स्वागत सा भी किया। दो दिन वहाँ ठहरकर हरिद्वार जाने के लिए मैं सहारनपुर में जानबूझकर रुका। जेल के दरवाजे पहुँच कर जेलर साहब को खबर भिजवाई। जेलर साहब आये और बिना कहे ही मेरे वे 'अग्नि देवता' सम्बन्धी सब कागज एक कपड़े में लिपटे हुए वैसे के वैसे सुरक्षित लेते आये और बोले "यह है आपकी अमानत; मैं जानता था कि ये कितने कीमती कागज हैं, अतएव उन्हें इतना सुरक्षित रखा था, आपके कहने पर भी मैंने कानपुर नहीं भेजे।" ●●
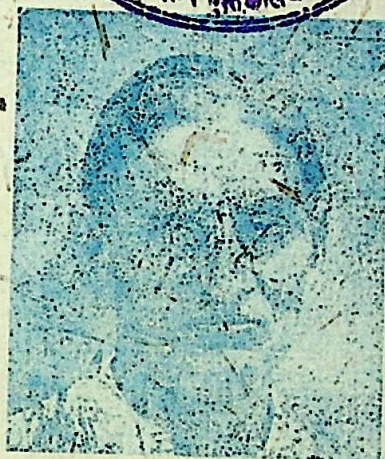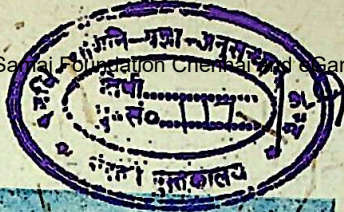
(1896—1970)

आर्य-समाज के सच्चे सेवक, वेदों के प्रकाण्ड पंडित, स्वाधीनता संग्राम के अथक सेनानी, श्री अरविन्द के दृढ़ अनुयायी आचार्य अभयदेव के बारे में स्वामी श्रद्धानन्द ने लिखा था—"यद्यपि सांसारिक बोल-चाल में चिरञ्जीव देवशर्मा को अपना शिष्य पुकारने का अभिमान मुझे प्राप्त है तथापि जिस शिष्य के जीवन से उसका आचार्य भी किसी अंश में, शिक्षा ग्रहण कर सके, वह शिष्य धन्य है।"

ब्राह्मण की गौ, वैदिक ब्रह्मचर्य गीत, वैदिक उपदेश माला, तरंगित हृदय, वैदिक विनय आदि ग्रंथों के रचयिता; अलंकार, अदिति, वेदसुधा पत्रिकाओं के संपादक; श्री अरविन्द निकेतन चरथावल के संस्थापक।